ध्वन्यालोकोज्जीवनी

सु.नीलकण्ठशास्त्री

DHVANYALOKOJJIVANI is a critical edition of Anandavardhana's monumental work on Alankarasastra based on most of the available manuscripts in India and printed editions adorned with an original commentary. The learned and appealing commentary has been very appropriately named Ujjivani, in that it aims at bringing out the ideas of the author as discernible in the work itself without being led by the views of the earlier commentatorswhich sometimes cause confusion more than giving clarification. Ujjivani gives satisfactory explanations to obscure passages and helps to remove apparent contradictions noticed in the work. This commentary is a valuable contribution to the field of Sanskrit literary criticism:

Dr. S. Venkitaşubrahmonia Iyer

ध्वन्यालोकोज्जीवनी

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रगोतस्य **ध्यन्यानोकस्य** व्यःख्या

> न्याख्याता पण्डितराज महोपाध्याय सु. नीलकएठशास्त्री



प्रकाशनविभागः केरलविश्वविद्यालयः तिरुवनन्तपुरम्

[Sanskrit]

DHVANYĀLOKOJJĪVANĪ

An original commentary on Dhvanyaloka

Commentator.

S. NEELAKANTA SASTRY

Printed at
The Rashtravani Mudranalaya
Trivandrum

First Published 1981

Price: Rs. 35.00

Published by
Chemmanam Chacko
Director
Department of Publications
For the University of Kerala

विषयानुक्रमणी

| आ | सर | द्धम् |
|-----|----|--------|
| -41 | | /a . * |

| ٩. | श्रीमदानन्दवर्धनाभिमतं कवित्वम् | ٩ |
|--------|--|----------------|
| ٦. | अलङ्कारशास्त्रग्रन्थेभ्यः ध्वन्यालोकस्य वैशिष्ट्यम् | १२ |
| ₹. | ध्वन्यालोकपाठे लोचनकृत्कृतः क्वाचित्कोऽर्थभेदस्तेन सञ्जातोऽतर्थश्च | १६ |
| .لا. | कारिकावृत्त्योगिन्नकर्तृ कत्वभ्रमनिरासः | २२ |
| ሂ. | मतान्तरेण व्यञ्जनाविचारः | २५ |
| દ્દ્દ. | ध्वनिमण्डनम् — व्यक्तिविवेकक्रन्महिमभट्टकृतस्य | |
| | ध्व निखण्डनस्य खण्डनम् | ጸጸ |
| प्रथम | उद्योत: | |
| | मङ्गलाचरणम् | .6 |
| | काव्यस्वरूपोपवर्णनम् | २ |
| | ध्व निस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञानम् | પ્ |
| | ध्वनिविषये भामहभट्टोद्भटादीनामाशयप्रदर्शनम् | ૭ |
| | ध्वन्यभाववादिंनां विकल्पत्रयप्रतिपादनम् | 5 |
| | गुणालङ्कारादिभिन्नो ध्वनिर्नास्ति इति प्रथमविकल्पनिरूपणम् | ९ |
| | भट्टोद्भटमतेन वृत्तीनां निरूपणम् | 90 |
| | ,, अलङ्कारनिरूपणम् | ,, |
| | वामनमतेन रीतिनिरूपणम् | 99 |
| | रसवदादीनलङ्कारत्वेन परिगणयतां प्राचामाशयाविष्करणम् | 92 |
| | द्वितीयविप्रतिपत्तिप्रदर्शनम् | ,, |
| | तृतीयविप्रतिपत्तिप्रदर्शनम् [°] | 93 |
| | <u> </u> | 9 4 |
| | तत्र भट्टोद्भटमतप्रदर्शनम् | १ ६ |
| | | • • |

vi

| ध्वनेरनाख्येयत्वकथनम् | 9= |
|---|----|
| अनुबन्धचनुष्टयप्रदर्शनम् | १९ |
| काव्यस्य वतुर्वर्गफलप्राप्त्युपायत्वकथनम् | ,, |
| क <i>्चि</i> सामान्यलक्षणकथनम् | २० |
| सहृदयश्लाच्ययोर् वाच ्यप्रतीयमानयोरभयोरिः काव्यार्थत्वकथनम् | २१ |
| दाच्यस्य भट्टोद्भटादिभिर्व्याकृतस्वाद् इहदानीं न प्रतन्यत इति | २३ |
| विप्रतिपत्तिग्रस्तत्वात् प्रतीयमानस्यास्तित्यसाध नायोपक्रमणम् | २४ |
| वस्त्वलङ्काररसादिरूपस्यानेकप्रभेदप्रभिन्नस्य व्यङ्गचस्य वाच्याद्भेदप्रदर्शनम् | २७ |
| तिबिधस्यापि व्यङ्गचस्य वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्ववर्ण नम् | २८ |
| काव्यात्मकशब्दसन्दर्भादेव प्रतीयमानस्याप्यर्थस्य काव्यार्थत्त्रं सहृदया - | |
| स्वाद्यत्वंच भवतीत्यत्नेतिहासप्रामाण्यप्रतिपादनप् | ३५ |
| रसस्वरूपनिरूपणम् | ३६ |
| महाकवीनां वाणी तेषां प्रतिभाविशेषमभिव्यनक्तीति कथनम् | ३९ |
| प्रतिभायाः काव्यहेतुत्वकथनम् | ४० |
| प्रतीयमानस्यास्तित्वोपपादने प्रमाणान्तरोपन्यासः | ४१ |
| क.व्ये व्यङ्गचस्य प्राधान्यकथनम् | ४३ |
| व्यङ्गचमर्थं प्रत्यादृतेन वाच्यमर्थमभिसन्धाय वाचकशब्दप्रयोग आदौ | |
| कर्तव्य इति कथनम् | 88 |
| व्य ङ्गचप्रतीतेर्वाच्यप्रतीतिपूर्वकत्वकथनम् | ४४ |
| तथापि व्यङ्गचस्य प्राधान्यव्यालोपो न भवतीति कथनम् | ४६ |
| ध्वनिसामान्यलक्षणम् काव्यविशेषलक्षणं च | ४७ |
| ध्वनिगुणीभूतव्य ङ्गचित्रभेदेन काव्यस्य त्रैविध्यकथनम् | ধণ |
| काव्यविशेषलक्षणपरकारिकायाम् उपसर्जनोकृतस्वार्यत्वस्य प्रयोजनकथतम् | ५२ |
| समासोक्तेर्ध्वं नित्विनराकरणम् | ५३ |
| आक्षेपस्य ध्वनित्वनिराकरणम् | ५४ |
| अनुरागवती सन्ध्येति पद्यस्याक्षेयोदाहरणत्वमेत्रेति कथनम् | ५६ |
| भट्टोद्भटमतेन दीपकस्यापह् नृतेश्च लक्षणोदाहरणप्रदर्शनम् | ሂട |
| अनुक्तनिमिक्तवि शेषोक्तेध्वंतित्वनिराकरणम् | ५९ |
| पर्यायोक्तस्य ध्वनावन्तर्भावकथन ध्वनस्तत्नान्तभीवनिरसनं च | ६० |

vii

| दण्डिमतेन पर्यायोक्तस्य लक्षणोदाहरणप्रदर्शनम् | ६१ |
|---|-----------------------|
| भामहोक्ते पर्यायोक्तोदाहरणे व्यङ्गचस्य प्राधान्यप्रतिषेधकथनम् | ६२ |
| सङ्करालङ्कारस्य ध्वनित्वनिराकरणम् | ६३ |
| भट्टोद्भटमतेन सङ्करनिरूपणम् | ६५ |
| अप्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यव्यङ्गचयोः सप्तश्रधान्यकथनम् | द् ७ |
| भामहोक्तलक्षणानुसारेणाप्रस्तुतप्रशंसाया निरूपणम् | 17 |
| उक्तविषयाणां संक्षेपेण प्रतिपादनम् | ७२ |
| काव्यविशेषनिरूपणपरे पद्ये सृरिभिः कथित इत्यंशस्य विवरणन् | ७४ |
| अभाववादिनां मतत्रयनिराकरणपुरःसरं ध्वनेरस्तित्वकथनं | |
| तद्भेदप्रदर्शनं च | ওখ্ |
| अविवक्षितवाच्योदाहरणम् | " |
| विवक्षितान्यपरवाच्योदाहरणम् | ७६ |
| ध्वनेर्भाक्तत्वनिराक रणम् | . ૭૯ |
| भाक्तत्वस्य ध्वनिलक्षणत्वनिराकरणम् | <i>'</i> 9 <i>'</i> ⊊ |
| ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवप्रदर्शनम् | ,, |
| लक्ष्यव्यङ्गचयोर्भेदप्रतिपादनम् | द३ |
| ध्वनौ भाक्तत्वस्योपलक्षणत्वनिराकरणम् | 50 |
| ध्वनेरनाख्येयत्वनिरा क रणम् | न्द ९ |
| द्वितीय उद्द्योतः । | |
| अविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदवर्णनम् | 97 |
| अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्योदाहरणम् | ९३ |
| अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्योदाहरणम् | જ પ્ર |
| विवक्षितवाच्यस्य प्रभेदवर्णनम् | .90 |
| रसभावादीनामलक्ष्यक्रमत्वकथनम् | 77 |
| रसवदाद्यलङ्काराद् ध्वनेर्भे दकथनम् | ९९ |
| रसवदाद्यलङ्कारनिरूपणं तदुदाहरणप्रदर्शनम् | 909 |
| अलङ्कृतीनामलङ्कारसाधनत्वकथनम् | 408 |
| ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्गरस्य च विविक्तविषयत्वोपसंहारः | ХоР |

viii

| गुणालङ्कारपोर्भेदकथनम् | 9 0 % |
|---|-------------|
| माधुर्यस्य सम्भोगविप्रलम्भकरुणेषूत्तरोत्तराङ्काद।तिशयहेनुत्वशितपादनम् | ११२ |
| ओजसो वीराद्भुतरौद्रेषु उत्तरोत्तरदीप्त्यतिशयहेतुत्वप्रदर्शनं | |
| तदुदाहरणं च | ११२ |
| प्रसादस्य सर्वरससाधारणत्वकथनम् | ११५ |
| श्रुतिदुण्टादीनामनित्यदोषत्वकथनम् | ११६ |
| श्रृङ्गारे तेषां हेयत्वकथनं च | " |
| विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेरङ्गानाम् आनन्त्यकथनम् | ११७ |
| शृङ्गारस्य प्रभेदेषु अनुप्रासस्य प्रकाशकत्वाभावकथनम् | ११९ |
| विशेषतो विप्रलम्भशृङ्गारे यमकादीनां प्रतिषेधः | १२० |
| अपृथग्यत्निर्वर्त्यस्यालङ्कारस्य ध्वनावभ्यनुज्ञानमुदाहरणं च | १२१ |
| श्रुङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितानां रूपकादीनामलङ्कारत्वकथनम् | १२६ |
| समीक्षानिरूपणम् उदाहरणानि च | 979 |
| संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य विभागकथनम् | १३७ |
| शब्दशक्तिमूलध्वनेः इतेषस्य च विविक्तविषयत्वप्रतिपादनम् | १३९ |
| भट्टोद्भटमतेन क्लेषनिरूपणम् | 9 89 |
| व्यङ्गचस्यार्थस्य स्वोक्तचाविष्करणे अलङ्कारत्वकथनम् | १४३ |
| अर्थशक्तिमूलध्वनौ व्यञ्जकस्यार्थस्य द्वैविध्यकथनम् | १५४ |
| दीपकादानुपमाया व्यङ्गचत्वेऽपि ध्वनिव्यपदेशो नास्तीति कथनम् | १६५ |
| उ पमाध्वने ह्दाहरणम् | १६८ |
| आक्षेपध्वनेरुदाहरणम् | १६९ |
| अर्थान्तरन्यासध्वनेरुदाह र णम् | १७० |
| व्यतिरेकध्वनेरुदाहरणम् | १७२ |
| उत्प्रक्षाध्वनेरुदाहरणम् | १७३ |
| ब्लेष ध्वनेरुदाहरणम् | १७६ |
| यथासङ्ख्यध्वनेरुदाहरणम् | ,, |
| रसाभासनिरूपणम् | १८१ |
| अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेराभासनिरूपणम् | ঀৢৼৢৼ |
| ध्वनिलक्षणोपसंहार: | 11 |

हतीय उद्योतः ।

| अविवक्षितवाच्यस्य पदप्रकाशकवर्णनमुदाहरणानि च | १८७ |
|---|-----|
| अर्थान्त रसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशकत्ववर्णनमुदाहरणानि ःव | १९० |
| विवक्षिताभिन्नेयस्य शब्दशक्तयुद्भक्ष प्रभेदे पदप्रकाशकत्वोदाहरणम् | १९२ |
| तस्यैव वाक्यप्रकाशकत्वोदाहरणम् | ९९३ |
| कवित्रौढोक्तिनिष्यत्रशरीरस्यार्थशक्तचुद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशतोदाहरणम् | १९४ |
| तस्यैत स्वतःसम्भवि शरीरार्थशक्तशुद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशतो सहरणम् | ૧૧૫ |
| तंस्यैव वाक्यप्रकाशतोदाहरणम् | १९६ |
| काव्यविशेषस्य ध्वनेः पदप्रकाशत्वानुपर्यात्तशङ्कापरिहारौ | १९७ |
| उक्तानां विषयाणां सङ्ग्रहेण कथनम् | १९८ |
| वर्णानां रसद्योतकत्वकथनम् | १९९ |
| पदस्यालक्ष्यक्रमद्योतकत्वोदाहर गम् | २०० |
| पदावयवस्यालक्ष्यक्रमद्योतकत्त्रोदाहरणम् | २०१ |
| सङ्घटनास्वरूपनिरूपणम् | २०३ |
| गुणानाश्रित्य सङ्घटनाया रसाभिव्यङ्गकत्वप्रति ।।दनम् | २०४ |
| गुणानां सङ्घटनायाश्च भेदवर्णनम् | ,, |
| गुणानामाश्रयकथनम् | २०५ |
| सङ्घटनायां वक्ताद्यौचित्यस्य निरामकत्रकत्रतम् | २१२ |
| विषयाश्रितस्याप्यौचित्यस्य सङ्घटनानियामकत्यकथनम् | २१६ |
| अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्वनेः प्रबन्धप्रकाशताप्रतिपादनम् | २२० |
| अनौचित्यस्य रसभङ्गहेतुत्ववर्णनम् | २२६ |
| प्रकृत्यौचित्यप्रकाशनम् | २२७ |
| काव्ये सन्धिसन्ध्यङ्गघटनस्यावश्यकताप्रतिपादनम् | २३२ |
| संलक्ष्यक्रमन्यङ्गचोऽपि ध्वनि: केषुचित् प्रबन्धेषु दृश्यत इति कथनं, | |
| तदुदाहरणप्रदर्शनं च | २३४ |
| षुप्तिङ्वचनसम्बन्धादीनामि सोदाहरणं व्यञ्जकत्व प्रति पादनम् | २३७ |
| रसादीन् बन्धुनिच्छतः कवेः विरोधि । रिहारे यत्नः कर्तव्य इति कथनम् | २५१ |
| रसविरोधनिरूपणम् | २५२ |
| | |
| उक्तविषयाणां संक्षेपेण कथनम् | २५५ |

| विरोधिरसानामेकप्रबन्धतिवेशनकमकथनम् | २६५ |
|--|-----|
| रसिवरोधनिरूपणं तत्परिहारोपायवर्णनं च | २६६ |
| एकवाक्यस्थयोरपि विरोधिरसयोः रसान्तरान्तरितत्वेन | |
| विरोधप रिहा रकथनमुदाहरणं च | २७५ |
| काव्ये रससमावेशे कवेरवधानस्यावश्यकत्वकथनम् | २७७ |
| रसादितात्पर्येण सन्निवेशितानां वृत्तीनां नाटचकाव्ययोः | |
| शोभावहत्वकथनम् | २६१ |
| रसादीनामलक्ष्यक्रमत्वप्रतिपादनम् | २८३ |
| वाच्यव्यङ्गचयोः सहभावि विधः | २८४ |
| अनुस्वानरूपव्यङ्गचप्रतीतौ वाच्यव्यङ्गचयोः क्रमस्य संलक्ष्यत्वकथनम् | २८६ |
| व्यञ्जकत्वनिरूपणोपऋमः | २८९ |
| याचकत्वव्यञ्जकत्वयोः विषयस्वरूपभेदप्रतिपादनम् | २९१ |
| व्यञ्जकत्वविषये वैयाकरणमतम् | २९४ |
| लक्षकत्वव्यञ्जकत्वयोः विषयस्वरूपभेदप्रतिपादनम् | २९७ |
| व्यञ्जकत्वविषये मीमांसकमतम् | ७०६ |
| वैयाकरणमतानुसारेण | ₹99 |
| व्यञ्जकत्वविषये तार्किकमतम् | ३१३ |
| ध्वनिकाव्यनिरूपणोपसंहार: | 322 |
| गुणीभूतव्यङ्गचनिरूपणम् | 1) |
| गुणीभूतव्य ङ्गचस्य बहुविधलक्ष्यव्यापकत्वप्रतिपादनम् | ३२५ |
| अलङ्कारस्यापि गुणीभूतव्यङ्गचत्वेन चारुत्वप्रतिपादनम् | 12 |
| काक्वा अर्थान्तरप्रतीताविष गुणीभूतव्यङ्गचत्वकथनम् | ३३१ |
| तस्योदाहरणम् | ३३१ |
| गुणीभूतन्यङ्गचस्य सङ्कीर्णविषयत्वोपपादनम् | ३३२ |
| गुणीभूतव्यङ्गचस्यापि काव्यप्रकारत्वोपपादनम् | ₹₹ |
| चित्रकाव्यनिरूपणम् | ३४३ |
| चित्रशब्दार्थतिरूपणम् | ३४४ |
| चित्रकाव्यरचने कवेः स्वातन्त्यप्रतिपादनम् | 387 |
| उक्तानां विषयाणां संक्षेपेण प्रतिपादनम् | ३४७ |

хi

| ध्वने रतन्तप्रका रत्ववर्णनम् | 389 |
|---|------|
| उदाहरणानि | ३५० |
| ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्गचसङ्कीर्णत्वोदाहरणम् | इध्र |
| संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वोदाहरणम् | ३५५ |
| ध्वितप्रभेदानामानन्त्यकथनम् | ३५७ |
| ध्वनिनिरूपणस्यः त्रयोजनकथनम् | ,,, |
| ध्वने रनाख्येयत।वादनिरासः | ३६० |
| ध्दिनकृदुक्तस्यैव ध्वनिलक्षणस्य साधीयस्त्वोपसंहृतिः | ३६१ |

चतुर्थ उद्द्योतः ।

| भगुणाभूतव्यङ्गचस्य ध्वनः प्रयाजनान्तरकथनम् | ३६२ |
|---|-----|
| वनेरन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषितायाः कविवाण्या नयत्वकथनम् | ३६३ |
| तस्योदाहरणप्रदर्शनम् | ३६४ |
| रसभावादिसमाश्रयेण काव्यमार्गस्यानन्त्यप्रतिपादनम् | ३६७ |
| व्यञ्जभेदमःश्रित्यापि काव्यार्थानां सोदाहरणं नवत्वप्रतिपादनम् | ३६९ |
| रामायणे करुणरसस्य मुख्यत्वप्रतिपादनम् | ३७३ |
| महाभारते शान्तरसस्य मुख्यत्वप्रतिपादनम् | " |
| महाभारतस्य शास्त्रत्वं काव्यत्वं चास्तीति कथनम् | ३७८ |
| गुणीभृतव्यङ्गचर्समाश्रयेणापि काव्यार्थानां नवत्ववर्गनम् | ३८१ |
| प्रतिभायां सत्यां काव्यार्थविरामाभावकथनम् | 12 |
| शुद्धस्य वाच्यस्यापि अवस्थादेशकालादिविशेषभेदेन | |
| सोदाहरणमानन्त्यकथनम् | ३८३ |
| अनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्ताया अपि काव्यस्थितेः सोदाहरणं | |
| क्षयाभावकथनम् | 389 |
| कविवाचां संवादे सत्यपि तासां विभिन्नविषयकत्वकथनम् | ३९२ |
| संवादविभागकथनम् | " |
| पूर्वोक्तवस्तुवर्णने कवेदोंषाभावप्रतिपादनम् | ३९३ |
| सुकविवाण्या माहात्म्यवर्णनम् | ३९५ |
| | |

उपसंहार: ३९६

ध्वन्यालोककारिकार्धानुक्रमणी ध्वन्यालोकपरिकरश्लोकार्धानुक्रमणी ध्वन्यालोकोदाहृतगद्यपद्यानुक्रमणी उज्जीवन्युद्धृतपद्यानुक्रमणी

॥ श्री ॥

आमुखम्

१, श्रीमदानन्दवर्धनाभिमतं कवित्वम्

शब्दोऽर्थश्चेति द्विविधः पदार्थः। कण्डताल्याद्यभिघातजन्यः श्रवणदेशं प्राप्य प्रत्यक्षविषयो भवति यः, स शब्दः। यथा आत्मनो भोगायतने शरीरे आत्मनः समावेशेन चैत्रमैत्रादिव्यवहारो जायते, तथा वर्णसमुदायात्मके शरीरे अर्थस्यानुप्रवेशे सत्येत्र तस्य शब्दशब्देन व्यवहारः। किमु शब्दोऽप्यर्थो भवितुमहित इति प्रश्नस्य नैवेत्युत्तरम्। शब्दः शब्द एव, अर्थोऽर्थं एव। अग्निरिति शब्द उच्चार्यमाणो न जिह्नां दहति। अग्निरूपोऽर्थस्तु स्पृष्टो दह्रयेव। एवं च शब्दस्य शरीरस्थानीयो वर्णसमुदायः। अर्थस्यापि आत्मस्यानीयस्य शब्दरूपशरीराव-च्छेदेनैव प्रमातृज्ञानविषयत्वम्। बाह्यप्रत्यक्षाविषयस्य आत्मनो यथा शरीराव-च्छेदेनैव प्रमातृज्ञानविषयत्वम्। बाह्यप्रत्यक्षाविषयस्य आत्मनो यथा शरीराव-च्छेदेनैव प्रमातृज्ञानविषयत्वम्, तथा श्रात्रणप्रत्यक्षविषयस्य शब्दस्य श्रवणे, शक्ति-ज्ञानसहकारेण प्रमानुरात्मिन संस्काररूपेणावस्थितस्योपस्थित्या बाधविषयो यः सोऽर्थः। तस्य च ज्ञानं शब्द जन्यत्वाच्छाब्दबोधात्मकमेव। अतः शाब्दज्ञान-हेतुभूतं पदज्ञानं श्रावणम्। अर्थज्ञानं तु मानसम् इति भेदः।

"यावदर्धं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः। अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः। नामधेयशब्देन व्यवदिश्यमानं सच्छाब्दं भवति।" (न्यायसूत्रवात्स्यायनः भाष्यम्।) यावन्तोऽर्था यावदर्थं "यावदवधारण" (पा॰ सू० २. १. ८) इति अव्ययीभावः। यथा — यावन्तः श्लोकाः (तावन्तोऽच्युतप्रणामाः) यावच्छ नोकम्। प्रतिश्लोकम् अच्युतप्रणामाः कर्तव्या इत्यर्थः। तथा यावन्तोऽर्थाः (पदार्थाः) तावन्तो नामधेयशब्दा अपि विहिता इति वेदितव्यम्। तत्तन्नामधेयशब्दैस्ते तेऽर्थाः प्रत्याय्यन्ते। ततो व्यवहारो भवति। नामधेयशब्देन

व्यपदिश्यमानं ज्ञानं शाब्दज्ञानं च भवति । एतेन अर्थबोधकाः शब्दा एअ शब्द शब्दाभिधेया इति ज्ञायते ।

'शास्त्रे शब्दस्तु वाचकः' (अमर्रसिहः) । शास्त्रे व्याकरणादौ यो वाचकः साधुः स एव शब्दः । स एव निरुपपदेन शब्दशब्देन व्यविह्नयते । (भानुजी - दीक्षितः) । अनेतापि अर्थवानेव शब्दः 'शब्दं शब्देनाभिधीयत इति ज्ञातं शब्यते

अर्थवदधातु प्रत्ययः प्रातिपदिकम् (पा० सू० १. २. ४५.)। अर्थोऽस्यास्ती-स्थिवत् । प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम् । सुप्तिङातं पदम् । पदे प्रकृतिः प्रत्ययश्च वर्तते । प्रकृत्यात्मकम् अर्थवच्छ ब्दस्वरूपमेव प्रातिपदिकमिःयुच्यते । तस्मादेव स्वादयः प्रत्यया भवन्ति । अर्थवन्ति च शब्दस्वरूपणि स्वादीनामायो-जनेन पदानि भवन्ति । अत एव चार्थवानेन शब्दः शब्दशब्देन व्यवह्रियतं इत्युदतं भवति ।

ईश्वर: पदार्थान् सृष्ट्वा तेषां नामधेयान्यकलपयत् । अस्माच्छन्दादयमथीं बोद्धच्य इति सङ्केतं चाकरोत् । शब्दस्यार्थस्य च सम्बन्धः शक्तः सङ्केतापर-पर्याया । शक्त्यार्थप्रतिपादक: शब्द: शक्तः । शक्तेन (पदेन) शक्त्या (अभिध्या) प्रतिपाद्यमानोऽर्थश्च शक्यः । आत्मनो भोगायतनं शरीरम् । शरीराविच्छन्नात्मिन भोगो जायते । यथा चैत्रात्मनो भोगायतनं तच्छरीरं, तदवच्छेदेन च 'अहं सुखी'-त्यादिकं ज्ञानं तस्य भवति, तथा अर्थस्य स्वनामधेयशब्दमाश्चित्य प्रमानृज्ञान-विषयत्वं, शब्दस्य स्वश्वयार्थायतनत्वं च विद्यत इति शरीरस्थानीयत्वं शब्दस्य, आत्मस्थानीयत्वमर्थस्य च युक्तम् । ज्ञानाधिक रणत्वमात्मनो लक्षणम् । 'अहं सुखी'त्यादिज्ञानविषयत्वमपि तस्यास्ति । तद्भिन्नस्य स्वंस्यापि पदार्थस्य (शब्दस्यार्थस्य वा) ज्ञानाधिक रणत्वरूपं मुख्यमात्मत्वं न सम्भवति, किंतु ज्ञानविषयत्वमेवित वेदितवः म् । शब्दज्ञाने (श्रवणे) गृहीतशक्ति स्यार्थस्य स्मृतिस्ततः शब्दबोधश्च जायते । एवं च श्रूयमाणशब्दाज्जायमानमर्थज्ञानं शाब्दज्ञानमेव । तद्वतं—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थघीः ।

शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।। इति ।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि । प्रमा च प्रत्यक्षानुमित्युपिमतिकाब्द-भेदाच्चतुर्विधा । इन्द्रियार्थसन्निक वीत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । अनुमित्युपिमतिकाब्दानाः व्याप्तिज्ञान, सादश्यज्ञान, पदज्ञानानि करणानि । अतो ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यणि वस्तुं शक्यम् । तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो- दृष्टं चेत्यनेन प्रत्यक्षपूर्वकत्वमनुमानस्य प्रदिशितम् । अतः शब्दश्रवणतदर्थोप- स्थितिपूर्वकं यज्ज्ञानं तच्छाब्दबोधात्मकमेव न त्वनुमितिक्यम् । तथा च 'तदुदितः स हि यो यदनन्तरः' इति युक्त्या शब्दज्ञानः नन्तरभावि अर्थेक्षानं शाब्दबोधात्मकं, तत्करणं च पद्यक्षितम् इति प्रद्वचिति ।

तत्तत्पदचन्यबोधिवषयत्वप्रकारकत्विशिष्टेच्छया प्रयुक्तानां तत्तत्पदानां तत्तत्वयें सङ्केतितत्वात् पृथगवस्थितानि तत्तत्त्वानि तं तमर्थं बोधयन्तीति वाचक-त्वमेव पदानामिति ज्ञायते । पदान्तरसमनधाने च यत्र मुख्यार्थस्य समिभिव्याहृतप-दान्तरार्थेन साकमन्द्रयस्य तात्पर्यस्य वानुपपत्तौ, विवेचकत्वादिना, प्रामीप्यादिना वा सम्बन्धेन, रूढितः, प्रयोजनाद्वा, मुख्यार्थसम्बद्धस्यार्थन्तरस्य बोधो लक्षणया भवति । कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणादिरूपस्य वाच्यार्थस्य बाधे, विवेच-कत्वादिसम्बन्धेन, रूढितः (प्रसिद्धेः) समर्थं इत्यर्थस्य प्रतीतिर्लक्षणया भवति । सेयं निरूढलक्षणत्युच्यते । अनादितात्पर्यविषयीभूता लक्षणा निरूढलक्षणा । गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गाशब्दमुख्यार्थस्य प्रवाहस्य घोषपदार्थेन साकमन्व-यस्य बाधितत्वात् सामीप्येन सम्बन्धेन तीर्रूपार्थस्य लक्षणया बोधो जायते । प्रयोजनस्य शैत्यपावनत्वादेः प्रतीतिस्तु व्यञ्जनया च भवतीत्यालङ्कारिकसमयः । एवं शब्दस्यैव वाचकत्वं, लक्षकत्वं, व्यञ्जकत्वं च स्थलभेदेन सम्पद्यते ।

वावयं तु पदसमूहः । "तिङ्सुबन्तचयो वावयं क्रिया वा कारकान्विता" इत्यमरः । तात्पर्यविषयीभूतस्य वस्तुनः परप्रतिपत्तावभीष्सितायां तत्तदर्थावबोध-कानि पदानि प्रयुज्यन्ते । तानि च वृत्त्या तत्तदर्थोपस्थापनद्वारा तत्तदर्थान् बोध-यन्ति । तत्रश्चाकाङ्क्षायोग्यतासन्निध्यादिवशाद् विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिवाक्या-र्थंज्ञानं जायते । तत्र च वाक्यं वाचकं, तात्पर्यं व्यापारः, वाक्यार्थंबोधः फलं च भवति । एवं च वाक्यस्थितानि पदान्येव वाचकानि । वाक्ये तु विशिष्टे न शक्तः । अत एव न लक्षणानि । अत एवोक्तम्—अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या (शक्त्या लक्षणया वा) पदैष्पस्थितानामर्थानाम् आकाङ्क्षादिभिः परस्परमन्वय-मभिहितान्वयवादिनो वदन्तीति । गदाधरभट्टाचार्येणाप्युक्तं—"शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते" इति ।

सह्दयश्लाघ्यार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम् । अत्रत्यशब्दशब्दो दाक्यपरः । "शब्दोऽक्षरे यशोगीत्योद्यां से श्रवणे घ्वनौ" इति हैमः । तस्यैव काव्य-त्वात् । वाक्यस्थितानि पदानि पृथक् पृथक् स्वं स्वमर्थं बोधियत्वा संसर्गमर्यादया विशिष्टमर्थं बोध्यन्ति । अतो वाक्यं वाचकत्वव्यापारेण वाच्यं तद्धटक शब्दशक्यानितिरिक्तं सहृदयश्लाघ्यमर्थं बोध्यति । इत्विच्च वाक्यं उक्तरीत्या वाक्यार्थबोधजननद्वारा अङ्गनासु निखलाववयवव्यतिरेकि लावण्यमिव, वाक्यघ्यकेनैकेनाणि पदेनानिभिधेयं प्रतीयमानं वस्तु प्रकाः अकत्वव्यापारेण प्रत्याययति । तद्कतं ध्वनिकृता—

योऽर्थः सहदयश्लाघ्यः काच्यात्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ इति ।

एतेन सहृदयश्लाघ्यवाच्यप्रतीयमानान्यतराथंविषयक बोधजनक शब्दत्वं काव्यसामान्यलक्षणं घ्वनिकाराभिमतिमिति ज्ञायते । तदनुकुलैव वृत्तिरिष — "काव्यस्य हि लिलतोचितसन्निवेशचाष्ठणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थंस्तस्य वाच्यः प्रतोयमानश्चेति द्वौ भेदौ " इति । शरीरस्यात्मेव शरीरस्येव काव्यरूपशब्दसन्दर्भस्य, सारभूतोऽर्थं इति स्फुटतया व्याख्यानात् । योऽर्थः सारभूत इत्यनेन यस्य काव्यस्य काव्यव्यप्देशो यद्यंनिबन्धनः स तत्र सारभूत इत्यर्थः । यथा — "कमलिय मुखं मनोज्ञमेतद्" इत्यत्र उपमावाचकेन इव शब्देन बोध्यस्य साद्ययाख्यस्योप-मालङ्कारस्य वाच्यत्वेन तस्य काव्यव्यपदेशो वाच्योपमालङ्काराधीन इति स एव सारभूतः । सच वाच्योऽलङ्कारवर्गः घ्वन्यालोके सप्रपञ्चं कृतो न निरूपित इति ध्वनिकार एवाह—

तत वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः । बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यत्तक्ष्मविधायिभिः ॥ भद्दोद्भटप्रभृतिभिस्ततो नेह प्रतन्यते ॥ इति ।

तत:---

एवं वादिनि देवषौँ पाश्वे ि पितुरधोम्रुखी । लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ इत्यत्र लोजाकमलपत्रगणनस्यानुभावस्य वाच्यत्वेन तद्द्वाषा अवहित्थाख्यः सञ्चारिभावः प्रकाशते । अत्र अवहित्थात्मकभावस्य प्रतीयमानस्य सार-भूतत्वेन तन्निबन्धनो भावध्वनिव्यपदेशः काव्यस्य इति व्यवस्थितिः । एवमनया कारिकया काव्यसामान्यलक्षणम् अभिहितं वेदितव्यम् ।

तत्र सह्दपश्लाघ्यः काव्यस्य सारभूतो यो वाच्योऽर्थः स वस्तुरूपोऽलङ्कार-रूपश्च भवति । वस्तुरूपो यथा—

''असम्भृतं अग्रहनमङ्गयष्टेरनासवारूयं करणं सदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात् परं साथ वयः प्रपेदे ॥"
कुमारसम्भवे पार्वत्याः कौमारावस्थाविभविरूपं वस्तु काव्यस्थास्य सार-भूतोऽर्थाः ।

अलङ्काररूपो यथा—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन । सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदक्षयेव ॥

अत्र एकस्थसौन्दर्यदिद्याया अहेतोर्हेतुभावेन सम्भावनया हेतूत्प्रेक्षारूपः सहदयश्लाघ्यो वाच्योऽलङ्कारः सारभूतोऽर्थः।

तथा प्रतीयमानश्च सारभूतः काव्यार्थो वस्त्वलङ्कारसात्मनाः त्रिविधः । वस्तुरूपो यथा—

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद् भयग्रुपस्थितम् । बाले वारय पान्थस्य वासदानविधानतः ॥

अत्र उपभोगं देहि इति वस्तु व्यज्यते । यद्यप्ययमर्थं उपभोगं देहीति शब्द समुदायेनाप्यभिघातुं शक्यते, तथापि नृपितचन्द्ररूपोभयार्थशक्तेन राजशब्देन द्वितीयया शक्त्याभिहितेन चन्द्ररूपार्थेनोपश्लिष्टाद् वाक्यार्थात् प्रतीयमानस्य तस्यार्थस्य सारभूतत्वादस्य वस्तुष्विनव्यपदेशः । तस्य च व्यङ्गचस्य वस्तुन: "उपभोगं देही"ति शब्देनाप्यभिधानं भवतीति तस्य वाच्यत्वमपि सम्भवति ।

अलङ्काररूपो यथा---

करतत्तिनिर्गलद्विरलदानजलोञ्जासितावनीवलयः। धनदाग्रमहितम्तिंर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम्।।

इत्यत्र नानार्थस्य सार्वभौगशब्दस्य श्रवणे (पदज्ञाने) तद्वाच्यस्यानेकार्थस्य उपस्थितौ सत्यां प्रकरणादिना, प्रकरणादिनन्यतात्पर्यज्ञानेन वा चक्रवितिरूपस्य प्रकृतार्थस्य बोधानन्तरं कर, दान, धनदादिशब्दसमदधानेन स्मृतिविषयस्य दिगा-जरूपस्य द्वितीयस्याप्यर्थस्य तत्पदसङ्केतितत्वात् तस्यापि शाब्दबोधो जायते । ततश्च सम्राचो दिग्गजसाद्ध्यरूप उपमालङ्कारो व्यज्यत इत्यालङ्कारिकसमयः । स च सादश्यवाचकशब्दाभावाद् अनेकार्थशब्दप्रयोगरूपस्य कविव्यापारस्य महिम्ना प्रतीयत इत्यभ्युपगम्यते । सोऽपि प्रतीयमानार्थप्रकाशकत्वरूपो व्यापारः शब्दनिष्ठ एव । किंच दिग्गज इव सम्राड् जयतितरामिति शब्दसन्द-भणापि सादश्यमभिद्यातुं शव्यमिति उपमादीनामलङ्काराणां वाच्यत्वमि सम्भवति । रसादोनां तु स्वप्नेऽपि न वाच्यत्वम् ।

एवं शब्दार्थस्य वाच्यत्व, लक्ष्यत्वं, व्यङ्ग्यत्वं च वर्तते। काव्यार्थभूतस्य वाक्यार्थस्य तु समुदायार्थभूतस्य तस्य वाक्यघटकपदाधिष्ठितत्वेन अभिधेयत्वं सम्भवति। तथापि काव्ये प्रकाशमानस्यार्थान्तरस्य तद्घटकशब्दानभिधेयत्वेन तन्निष्ठमर्थत्वं वस्तुत्वरूपमेव भवति। "अर्थोऽभिधेयरेवस्तुप्रयोजनिवृत्तिषु" इत्यमरः। अतो घ्वन्यालोके 'काव्यस्यात्मा'' इत्यादिषु श्रूयमाणस्यात्मशब्दस्य ज्ञानाधिकरणत्वलक्षणलक्षितः मुख्य आत्मक्योऽर्थः नैवाभिधेयः। शरीरस्ये-वात्मा सारभूतोऽर्थं इति घानिकृता स्वयं व्याख्यानेन च वाच्यव्यङ्ग्ययो इभयोरित काव्यार्थयोर्मुख्यमात्मत्वं नास्तीति च स्कुटमवगम्यते।

एवं स्थिते योऽर्थः सहृदयश्लाच्य इति कारिकाया व्याख्यानावसरे लोचनकारेण यदुक्तं— "तुल्येऽर्थे रूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः क्लाघन्ते, तद् भवितव्यं तत्र केनिबद् विशेषेण । यो विशेषः ॥ प्रतीय-मानभागो विवेकिभिविशेषहेतुत्वाद् आत्मेति व्यवस्थाप्यते । वाच्य-संवलनाविमोहितहृद्येस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते चार्वाकेरिवातमपृथ-

ग्भावे । अत एवार्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाध्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधाय अपोद्धारदशा तस्य द्वौ भेदावंशौ इत्युक्तम् । न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति । दिति तत् कथमुपपद्यत इति सुधीभिविभावनीयम् ।

प्रतीयमानस्यार्थस्य उक्तयुक्त्या अभिघेयत्वाभावेन वस्तुरूपत्वं, तस्य ज्ञाब्दनिष्ठःववेव च सम्भवतीति मतति कृत्वाह व्वनिकारः—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति बाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विमाति लावरायमिवाङ्गनासु ॥ इति ।

समुचितेन।ङ्गानां सन्तिवेशेन अङ्गानां प्रसिद्धकरचरणाद्यव्यवेभ्योऽतिरिक्त लावण्यं यथा प्रतीयते, तथा रसाद्यनुगुणवर्णरचनादिना महाकवीनां वाणीषु माधुर्यादयो गुणाः प्रतीयन्ते । आङ्कादकत्वं माधुर्यं श्रङ्गारे द्रुतिकारणमित्यनेन यथा अङ्गनामु लावण्यं, तथा काव्यरूपे वाक्ये माधुर्यं प्रकाशते । तच्च सहृदया-त्मिन आङ्कादं जनयति । सहृदयात्मिन भावनारूपेणावस्थितस्य स्थाय्यादेरा-स्वाद एव रसःदिरिति, तस्य काव्यशोभाकरत्वादलङ्कारत्वमिति च प्राचां भतम् ।

किंच, प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति इत्यनेन अङ्गनासु लावण्यमिव महाकृविवाणीषु प्रतीयमानं माधुर्यादिकं (आह्लादकत्वादिकं) वस्तु वाच्यादन्यदस्ति इत्यनेनापि द्वयोरिप काव्यार्थत्वमिश्रमतिमत्यवगभ्यते । एवं च प्रतीयमानस्यार्थस्य वस्त्वातमकत्वं द्योतियतुं नपुंसक्तिर्देशोऽप्युचित एव ।

"काव्यस्यात्मा घ्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वं" इत्यत्रापि आत्मराब्दस्य सारभूतोऽर्थं इत्येवार्थः । योऽर्थः सहृदयश्लाघ्य इत्यनेन काव्यसामान्यलक्षणं, सहृदयश्लाघ्यस्य साररूपस्य वाच्यस्य प्रतीयमानस्यापि काव्यार्थत्वं च घ्वनिकृदिभमतम् । तत्र वाच्यस्यार्थस्य निरूपणं पूर्वेः कृतमतो
नोच्यते । अन्यश्च सहृदयश्लाघ्योऽर्थः प्रतीयमानोऽपि चमत्कृतिमादधानोऽनुभूयते काव्येभ्यः । स चाविद्यमानत्वभाक्तत्वानिर्वचनोयत्वादिवादैः विप्रतिपद्यते कश्चित् । अतस्तिनिरूपणम् आवश्यकम् । तन्मया क्रियते—इत्येव पन्था
घ्वनिकारेणादतः । एवं काव्यस्यार्थद्वये सिद्धे, यदि प्रतीयमानस्यार्थस्य आत्मत्वं

ताहि वाच्यस्य।पि तत्त्वमङ्गीकरणीयम् । एवं सित यत्र काव्ये वाच्यो व्यङ्गच-श्चार्थः सहृदयश्लाध्यः सारभूतश्च विद्येते, तस्य किंकृतो व्यपदेण इति निर्णये कर्तव्यतयोपस्थिते, यस्याधिकचमत्कृतिजनकत्वं मुख्यवाक्यार्थःवेन, तत्कृतो व्यपदेश इत्येव वक्तव्यम् । सत्यपि व्यङ्ग्येऽर्थे यत्र वाच्यस्य सारभूतत्वं तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशः, व्यङ्ग्यस्य सारभूतत्वे ध्वनिव्यपदेशः इत्यत्र वस्यापि न विप्रतिपत्तिः । एतेन तभयोरप्यर्थयोः मुख्यात्मत्वस्याभावात्, कथं द्वावात्यानौः काव्यस्येति लोचनकृतो भीतेग्पि नावकाशः । एवं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा । कौश्चद्रनद्ववियोगोत्यः शोकः श्लोकत्वमागतः ।

इत्यत्रापि आत्मशब्दस्य सारभूतोऽर्थ इत्येवार्थः। यथा च काव्यशब्दा-दिभिधेयोऽर्थोऽस्ति कश्चित् सारभूतः, न च सोऽर्थो विप्रतिपन्नः। तदन्यः प्रतीयमानश्च कश्चिदर्थोऽस्ति यो विप्रतिपत्तिविषयः। तस्य च समर्थनाय ध्वन्यालोकाख्यो ग्रन्थः प्रवृत्त इति निरूपितं पूर्वम् । तथाच काव्यस्यैवात्मा अर्थः क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः स शोकः, पुरा आदिकवेः श्लोकत्वमागत इत्यन्वयः। क्रौञ्च व्याधेन निहतं स्ष्ट्रा क्रौञ्च्याः शोकः समभवत् । काव्य-स्यैव आत्मा सारभूतोऽर्थः, यस्य समावेशेन शब्दसन्दर्भस्य काव्यत्वं सिद्धचितः सः (शोकरूपोऽर्थः) आदिकविकर्तृ कश्लोकरूपतां प्रापद् इत्यर्थः।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

इति वचनालौकिकानि कार्यकारणसहकारीणि नाट्यकाव्ययोः अलौकिकवि-भावानुभावव्यित्विचारिशब्दव्यपदेश्यानि भवन्ति । वस्तुतो यः परेण पीड्यते, तस्य शोको लौकिकः । अत्र क्रौञ्चः शोकस्याश्रयः, तस्य कारणं व्याधशरानु-वेधः । तद्दर्शनेन जातं क्रौञ्च्या आक्रन्दनं कार्यम् । व्याधशरानुविद्धस्य क्रौञ्चस्य दर्शनेन, क्रौञ्च्या आक्रन्दनस्य श्रवणेन च क्रौञ्चगतः शोकः महर्षिणा साक्षात्कृतः। वस्तुतः शोकस्य साक्षादाश्रया इदानीं न सन्ति। कान्यश्रवणेन, नाट्यदर्शनेन वा सह्दयानां मनिस वासनारूपेणावस्थितः स्थायी आस्वाद्यमानो रसो भवति। स एवालौिककः। महर्षेः क्रौश्ववधाख्यानात्मककाव्यस्य श्रवणं, तादशनाट्यदर्शनं वा न सञ्जातिमिति तस्यालौिककः शोको नास्ति। क्रौश्ववधादेः प्रत्यक्षदर्शनेऽपि पीडामनुभवन्नेत्र लौिकक-शोकस्याश्रय इत्यती लौिककोऽपि शोको महर्षेनं विद्यते। किंतु क्रौडच्याः शोकस्तरयां करुणया, व्याधे क्रोधेन च महर्षेरास्यात् श्लोकस्योद्भवे हेतुर्जातः। तदिभव्यञ्ज विभावानुभावादीनां वाचकशब्दसमुदायात्मकं काव्यरूपमाश्रय-मिधगत्य श्लोकत्वं प्राप्तः। तस्य च—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत् क्रौश्र्वमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इत्येवंरूपस्य श्लोकात्मकस्य काव्यस्यैव सारभूतोऽर्थः शोकात्मकं प्रतीयमानं वस्तु इति तात्पर्यम् । अत्र च व्याधशरानुविद्धः क्रौश्व आलम्बनम् । कौञ्च्या आक्रन्दनम् उद्दीपनम् । तेन सहृदयानां हृदये भावनारूपेण स्थितः शोकाख्यः स्थायी उद्बुद्धसंस्कारः सहृदयैरास्वाद्यते । स एव करुणरसतां प्रतिपद्यते ।

अर्थः सहृदयश्लाध्य इत्यनेन काञ्यसामान्यलक्षणमभिहितम्।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थग्रुपसर्जनीकृतस्वार्थी। व्यङ्कतः काव्यदिशेषः स ध्वनिश्ति स्र्रिभिः कथितः ॥

इत्यनेन प्रतीयमानार्थव्यञ्जकोण्सर्जनीभूतार्थंबोधकशब्दत्वं, प्रतीयमानार्थं-व्यञ्जकोषसर्जनीकृतार्थंबोधकशब्दत्वान्यतरत्वं (अविवक्षितवाच्य-विवक्षिता-न्यपरवाच्यत्वान्यतरत्वपर्यवसन्नं) काव्यविशेषलक्षणं च प्रदिशतम्।

प्रतीयमानार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिरिति, प्रतीयमानापेक्षया वाच्यस्य प्राधान्ये (प्रतीयमानस्याप्राधान्ये) गुणीभूतव्यङ्गचमिति च काव्यस्य द्वी भेदा-विप प्रदिश्वती । उक्तं च ध्वनिकृता तृतीयोद्द्योतान्ते—

इत्युक्तलक्षणो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्धिः । सत्काव्यं कतु वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तः ॥ इति ।

ततश्च चतुर्थोद्द्योते—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतत्यक्रम्याध्वा प्रदर्शितः। अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥ अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता । वाणी नवस्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥

इत्यनेन पुरातनकविप्रतिपादितार्थसंस्पर्शवत्यिप कविवाणी घ्वनेरन्य-तमस्यापि प्रकारस्य प्राधान्येनाप्राधान्येन वा आयोजनेनापि नवतां याति । तेन कवीनां प्रतिभागुणोऽप्यभिवृद्धिमायाति । तथा—

> "अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते । आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्य स्वभावतः आनन्त्यमेव जायते । स्वंभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनाचेतनानां यद् अवस्थाभेदाद् देशभेदात् कालभेदात् स्वाल-क्षण्य (स्वरूप) भेदाच्च अनन्तता भवति । तैश्च तथावस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धाने-कस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबघ्यमानैः (वाच्यार्थैः) निरविधः काव्यार्थः सम्पद्यते' इत्यनेन वाच्यस्याप्यर्थस्य देशकालादिविशेषै-रानन्त्यम् । तेन वाण्या नवत्वं च प्रतिपादितम् ।

इत्थं च वाच्यव्यङ्ग्योरुभयोरिष काव्यार्थत्वं, पूर्वार्थान्वयवत्यपि कवि-वाणो ध्वनिना गुणीभूतव्यङ्येन वा विभूषिता अनवद्यैवेति च स्वाभिमतमर्थं सुनिपुणमुपवणितवान् श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यः । यदिष तदिष रम्यं यत्र लोकस्य किश्चित् स्फुरितमिदिमितीयं बुद्धिरम्युज्जिहीते । अनुमतमिष पूर्वच्छायया वस्तु ताहक् सुकविरूपनिवध्नन् निन्द्यतां तैव याति ॥

प्रतायन्तां वाचो निमित्तविविधार्थामृतरसा न वादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये । परशादानेच्छाविस्तमनसो वस्तु सुकवेः सरस्वत्यवैषा घटयति यथेष्टं भगवती !!

इत्याशीर्वचनेनोपसंहतवांश्च ॥

आचार्याणामयमाशय:— काव्यस्य कारणं प्रतिभा । सा च व्युत्पत्त्य-भ्यासाभ्यां जायते । कचिच्च देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्याददृष्टाद् भवति । ध्वन्यालोकग्रन्थेऽस्मिन् निरूपितस्य ध्वनेस्तत्त्वज्ञानेन प्रतिभां नवनवोन्मेषशालिनीं सम्प्राप्य नवनवार्थंनिर्वर्णनिपुणः कविः सम्पद्यत एव । किंतु अदृष्टविशेषेण समुपजातप्रतिभानां महतां कवीनां सहृदयश्लाध्यं तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना सरस्वती परिस्फुरन्तमलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषम् अभिव्यनक्ति । तादशाश्च महाकवयः कालिदासप्रभृतयः पञ्चषा एव विद्यन्ते । सुकृतिनां कवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिः । तेषां परोप-रचितार्थनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न कचिदुपयुज्यते । सैव भगवती सरस्वती स्वयमिभनतमर्थमाविभीवयति । एतदेव हि महाकवीनां महाकवित्वम् ।

वाल्मोकिस्तु आदिकविः। यतस्तदर्थवस्तु श्लोक छ्वेण परिणतम्। इतरेण कवीनां शब्दादर्थोऽवगम्यते। वाल्मीकेस्तु अर्थः शब्दमनुगतः। तथा चोक्तं—

सौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

इत्योम् ॥

२. अलङ्कारशास्त्रप्रन्थेभ्यः ध्वन्यालोकस्य वैशिष्ट्यम् ।

ध्यतेरालोको ध्वन्यालोक इति व्युत्पत्तिः । रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोक-स्याश्रयो दीप इव वाच्यार्थेन वा वाचकशब्देन वा प्रकाशमानस्य ध्वते : कारणी-भूतस्य व्यञ्जकत्वस्य (प्रकाशकत्वस्य) आश्रयः शब्दसन्दर्शतमकः वाव्यविद्योषो व्यङ्ग्यमर्थं प्रकाशयति । "शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः" इति कोशेन नादात्मकः शब्दो ध्वनिपर्यायत्वेन निर्दिष्टः । तदाहुर्नैयायिकाः— 'श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः । स द्विविधः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्वेति ।' 'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः' इति महाभाष्येण अर्थवान् वर्णात्मकः शब्दो ध्वनिरिति व्यपदिष्टः । स च कण्ठतात्वाद्यभिधातजन्येन वर्णात्मकेन शब्देनाभिव्यङ्ग्यस्य स्फोटरूपप्रधानशब्दस्याभिव्यञ्जकः इति च तन्मतम् । तदनुसारेण काव्यात्मकशब्दात् प्रतीयमानस्यार्थस्याभिव्यञ्जकः शब्दो ध्वनिरिति संज्ञापितः आनन्दवर्धनेन । ततश्च व्युत्पत्तिभेदेन व्यञ्जकः शब्दः व्यञ्जकोऽर्थः व्यञ्जनाव्यापारः व्यङ्ग्योऽर्थः व्यङ्ग्यार्थप्रधानं काव्यं च ध्वतिसंज्ञया संज्ञातानि । ग्रन्थकृदपि ध्वनिकार इति प्रसिद्धमुपगतः ।

"संयोगाद विभागाच्य शब्दाच्य शब्दनिष्पत्तः" (कणादसूत्रम् ।) घण्टायां ताल्यमानायां घण्टादण्डसंयोगेन शब्द उत्पद्यते । स च वीचीतरङ्ग-न्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रवणदेशं प्राप्य श्रावणप्रत्यक्षविषयो भवति । तत्र प्रथमशब्दस्य घण्टादण्डसंयोगः कारणम् । द्वितीयादिशब्दस्य तु पूर्वपूर्वः शब्दः । अयमेवानुरणनध्वनिरिति प्रसिद्धः । सुकविप्रयुक्तो नानार्थः शब्दः श्रूयमाणः प्रथमं प्रकृतमर्थं बोघयन्ननुस्वानसाद्दश्ये-नार्थान्तरं, तथा शब्दबोध्योऽर्थश्च तत्प्रकाश्यानन्यानर्थाश्च ध्वनयतीति शब्दस्या-र्थस्यापि व्यञ्चकत्वरूपं ध्वनित्वम् अनुगतार्थम् ।

काव्यप्रकाशादिषु "शिवतिनिषुणते" त्यादिना वाव्यस्य कारणं, "काव्यः यशसे" त्यादिना प्रयोजनं, "तददोषौ सगुणावित्यादिना काव्यस्वरूपं,

काव्यदोषपरिहारोपयुक्तदोषज्ञानिवषयान् दोषान्, काव्यशोभाकरान् गुणान् अलङ्कारांश्च निरूपयता मम्मटभट्टेन काव्यप्रकाशाख्यस्य स्वग्रन्थस्य विरचनेन तदशीयानानां कि प्रयोजनं ? को वा विषयः ? प्रतिपाद्यप्रतिपादक्योः कः सम्बन्धः ? को वाधिकारी ? इत्यादिकं कण्ठतो नोक्तम् ।

ध्वन्यालोके तु सर्वे यथावदुक्तम् । ध्वनिरूपोऽर्थः प्रतिपाद्यः । तस्य अविद्यमानत्वभाक्तत्वानिर्वचनीयत्वादिवादिनराकरणपुरःसरं सहृदयहृदयाह्ना-दजनकत्वं प्रयोजन, ध्वनितत्त्विज्ञासुरिधकारी, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्धश्च सम्यक् प्रतिपादितः ।

कान्यस्यातमा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-स्तस्य।भावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये । केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमृचुस्तदीयं तेन ब्रूमः सहृद्यमनःश्रीतये तत्स्वरूपम् ॥

इति पद्येन ध्वितस्वरूपिक्षपणस्य सहुदयमनःप्रीतिः प्रयोजनम् ।

इत्युक्तलक्षणो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भः । सत्काव्यं कुर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगमियुक्तैः ॥ इति ध्वनेस्तत्त्वज्ञानात् सत्कवित्वं, सत्काव्यास्वादकत्वं वा प्रयोजनम् ।

पुनश्चतुथोद्द्योते

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः । अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥

इत्यनेन प्रतिभानन्त्यरूपं प्रयोजनान्तरमपि प्रदर्शते ।

अस्मिन् ग्रन्थे ध्वने: (व्यङ्ग्यस्यार्थस्य) स्थापनं मुख्यं चिकीर्षितम् । तच्च भङ्ग्या निर्व्यूढम् । व्यङ्ग्योऽर्थो नास्तीति च कैश्चिदपि पूर्वे रालङ्कारिकेनीकम् । र्विकतु तेषां काव्यशोभाकराणां काव्यालङ्कारत्वेन तैः परिगणना कृता । अत्र तु ध्यनि प्रसाध्य, तस्य भेदप्रभेदान् प्रदर्श, यत्र स वाच्यापेक्षया चः तः तत्र तस्यालङ्कार्यत्वेन प्राधाः यं, तस्य काव्याश्रितत्वेनैव स्वरूपलाभ इति काव्यस्यै-वोदाहरणतया परिग्रहेण सिद्धान्तितम्। तथाविधस्य व्यङ्ग्यस्य चारुत्वे ध्वनित्वं, व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वे तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च

निरूपणीयत्वेनाभिमतो घ्वनिः किमाश्रय इत्याशङ्क्य सहुद्यश्लाध्यार्थ-प्रतिपादकशब्दात्मकं काव्यमेव तदाश्रय इति, सहृदयश्लाध्योऽर्थश्च वाच्यप्रती-यमानभेदेन द्विविध इति, वाच्यो भट्टोद्भ्रटप्रभृतिभिर्बद्धधा व्याकृतत्वादत्र नोच्यत इति च वदता, अन्यच्व प्रतीयमानं माधुर्यादिकं महाकवीनां वाणीषु अस्तीति च बोघ्यते । एवं च प्रतीयमानं वस्तु निष्यत्दमाना महतां कथीनां वाणी तेषु परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषमभिव्यनक्ति । कि च सत्यामेव प्रतिभायां काव्यं प्रादुर्भवति ।

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत् क्रौश्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इति वाल्मीकेवंदनादुद्भूतः क्लोकः, तस्य पुराकृतसुकृतपरिपाकवशात् सञ्जातां प्रतिभां व्यनक्ति इति च ग्रन्थकृदाशयः । अत्र क्रोञ्च आलम्बनिवभावः क्रोञ्चचाक्रन्दनमुद्दीपनिवभावः । सहृदयानां हृदये वासनारूपेणावस्थितः स्थायी शोकः करूणरसतां प्रतिपन्नः । क्रोञ्चस्य निहननं निशाम्य, क्रोञ्चचा आक्रन्दनं निशम्य च तत्र मुनेः कारूण्यं, व्याधे क्रोधश्च सञ्जायेते । तत्रक्च क्रोञ्चचाः शोकः तदाश्रयं मा निषादेत्यादि श्लोकं व्यङ्ग्यत्वेनानुप्राविशदिति च दृष्टान्त- प्रदर्शनपूर्वकं व्वनिनिरूपितः । स च व्वनियंत्र प्रधानवावयार्थो भवति तद् व्वनिकाव्यमिति तल्लक्षणमिष प्रत्यपादयत् ।

"तस्य हि ध्वने: स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमितरमणीयमणीय-सीभिश्चिरन्तनकाव्यलक्षणिविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहार लक्षयतां सहृदयानः म् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठ। मिति प्रकाश्यते।" इति वचनेन अदृष्टविशेष-प्रादुर्भूतप्रतिभानां वाल्मीकिव्यासप्रभृतीनां श्लोकेषु ध्वनिः स्फुटं प्रकाशत इतिः स्वाभिप्रायस्य प्रामाणिकत्वमि प्रदिशतं ध्वनिकृता। तेन ब्रूमः सहदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्-

इत्युपक्रम्य,

सत्काव्यतस्वविषयं सुचिरप्रसुप्तकल्पं ननःसु परिपक्विषयां यदासीत् । तद्व्याकरोत् सहदयोदयलाभहेतो-रानन्दवर्धन हति प्रधिताभिधानः ॥

इत्यन्तेन ग्रन्थेन सह्दयानन्दो ध्वनितत्तः ज्ञालस्य परमं प्रयोजनसिति चोपसंहत-मानन्दवर्धनेन ।

अयमत्र निष्कर्षः । यद्यपि घ्वनिशब्दो वैयाकरणैः शब्दपर एव प्रयुक्तस्तथापि आनन्दवर्धनेनानुगृहीतः स व्युत्पत्तिभेदेन बह्वर्थपरोऽपि अर्थ-परत्वेनैव प्राधान्येनाभिमत इति ज्ञातुं शक्यम् । घ्वन्यालोक इति ग्रन्थनाम्नि च घ्वनिशब्दोऽर्थपर एव । घ्वनिरूपोऽर्थ एवात्र प्राधान्येन प्रतिपाद्यः । स एव च सह्दयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं निरूप्यत इत्यत्र तच्छब्देन निर्दिश्यते । तस्य चार्थस्य आश्रयः कः ? अर्थो नाम कः ? स कतिविधः ? इत्यादिकं ज्ञापियतुं

योऽर्थः सहदयश्लाध्यः काच्यात्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य मेदावुभौ स्मृतौ ॥

इत्यनेन अर्थस्यैव च प्रधानतया विभागः प्रदर्श्यते वाच्यः, प्रतीयमानरचेति । वाच्यः सादृश्यादिः (उपमादिरलङ्कारः) व्यङ्ग्यश्च माधुर्यादिः (ध्विनः) । वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्मध्ये प्रतीयमानस्य प्रधानवावयार्थतायां ध्विनिः व्यप्तेषः । वाच्यस्य प्रधानवावयार्थत्वे व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतत्वव्यपदेशश्च अर्थस्येव । यद्यपि सर्वस्याप्यर्थस्य अश्वयः काव्यक्षपः शब्दसन्दर्भः, काव्यशो भाकरत्वं च समानं, तथापि न तिश्चबन्धनो ध्विनगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशो ध्विनकृदभिमतः । अत एव वस्त्वलङ्काररसादीनां सर्वेषामप्यर्थानां वाव्यशोधावरवैनारः ङ्कारसामाग्यरूक्षणाद्वानतानां मुख्यवावयार्थत्वं पुराकृत्यैव

व्यपदेशः प्रविशतः । एवं प्रतीयमानस्य मुख्यवाक्यार्थत्वे तस्य व्विनिव्यपदेशः । रत्यादेः प्रतीयमानस्य चारुत्वेऽिष स यत्रान्यवाक्यार्थे प्रधाने अङ्गं भविति तदानीमेव रसादिरलङ्कारः । तदेवोक्तं—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग' तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलङ्कारी रसादिरिति मे प्रतिः ॥ इति ।

अलङ्काराणः सलङ्कारत्वं च रमादिनात् गर्थमाश्रित्य विनिवेशितानामवेति च ध्यवस्था कृता । रसवदादोनामुपमादोनां चालङ्काराणां गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं, रसादीनां प्रधानवाक्यार्थत्वे ध्वनित्वं चार्थस्यैव । अत एव ध्वनिः अविवक्षित-वाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यक्चेति, तस्य भेदाः प्रभेदाश्रानन्ता भवन्तीति च प्रतिपादितम् । एकस्मिन् काव्ये (पद्ये) यद्यनेके ध्वनिभेदाः सम्भवन्ति, तथापि तत् काव्यमेकमेव । तत्रार्थानां भेदेऽपि प्रधानमर्थमाश्रित्य व्यपदेशः । अतः अर्थे निरूपिते तदाश्रयस्य काव्यस्य निरूपणं क्वामित्यवधारिवतुं शवयते ।

घ्रतेरथंस्य निरूपणं प्रतिज्ञातम्। तथा निरूपितश्च ध्वनिरूगेऽथंः। व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये काव्यं ध्वनिः, गुणोभावे गुणोभूतव्यङ्गम्, अस्फुःत्वे चित्रं चेति त्रिविधं काव्यमिति च व्यवस्थापितं ध्वनिकारेण। तस्य व्यङ्ग्यस्य तत्त्वमवगत्य तत्प्रधानतया तद्गुणभावेन वा काव्यमुपनिष्वध्नतः कवेः पूर्वार्थान्वयवत्यपि वाणी नवत्वमायाति । एवं ध्वनितत्त्वज्ञानेन, तदुचितेन प्रयोगेण च सर्वे सत्कवयः सहद्याश्च भूयासुः—इत्याशोर्वचनेन उगसंहतवांश्च ध्वनिकारः।

३. ध्वन्यालोकपाठे लोचनक्रत्कृतः क्याचित्कोऽर्थभेदस्तेन सञ्जातो-ऽनर्थश्च ।

[&]quot;काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः....."

बुधै: काव्यतत्त्विद्धिः, काव्यस्यातमा ध्वनिरिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यगासमन्तानम्नातः प्रकटितः'' इति ध्वन्यालोकपाठः । अत्र लोचनकारः—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति'' इत्यत्र "इति शब्दः स्तरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याच्छ्टे । तदर्थस्य विवादास्पदीभूतत्या निश्वयाभावेनार्थं— स्वायोगात् ।'' इति विवरणमञ्जत ।

सारभूतार्थबोधकेनात्मशब्देन साकं सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टस्य क्विनिशब्दस्य व्विनिरिति शब्दस्वरूपपरत्वं मन्यते लोचनकारः । व्विनिरित्यर्थयरत्वाभावे च तस्य सारभूतस्य व्यङ्गचार्थस्य विवादास्पदत्वं हेतुं मन्यते ।
यदि तस्य विवादास्पदत्वं नास्ति तिह् "व्विनिरिति" इत्यत्रेतिशब्दः स्वकीयं शब्दपरताबोधनस्वभावं परित्यज्यार्थपरतां बोधयितुं किमु समर्थो भवति ।
किञ्च, "व्विनिरिति" इत्यत्र इतिकरणयुक्तस्य लौकिकस्य व्विनिशब्दस्य व्विनिरिति शब्दोऽर्थ इति ज्ञायमाने काव्यस्यात्मा व्विनिरिति शब्दस्वरूपम् इति खलूक्तं स्याद् वृत्तौ । किंतु काव्यस्यात्मा व्विनसंज्ञितः इति खलु वृत्तिः ।
व्विनसंज्ञितोऽर्थं इति च युक्तरूपम् । इतिशब्देन युक्तस्य व्विनशब्दस्य सिद्धचतो व्विनस्वरूपस्य कथमिदं संज्ञित इति व्याख्यानं विवरणात्मकं भवतीति तु सुधीभिविभावनीयम् ।

उपलोचने तु एवं दश्यते—"काव्यस्यातमा ध्वितिरिति बुधैः" इति कारि— कायाम् । अत्रेतिशब्दस्य शब्दस्वरूपपरतया व्याख्यानमनादृत्य क्रमभेदेन वाक्यार्थपरामर्शकत्या व्याचक्षाणानां लोचनकाराणामयमिसिन्धः। "यदि इतिशब्दः शब्दपरोऽभविष्यद् ध्विनसंज्ञितोऽर्थं इति वृत्तावाचार्यो नावक्ष्यद्, ध्विनशब्दः काव्यस्यातमा इत्येवावक्ष्यद्" इति । अनेन ग्रन्थेन, ध्विनशब्दः काव्यस्यातमा इत्यवचनेन, ध्विनसंज्ञितोऽर्थः काव्यस्यातमा इति वचनेन च अत्रेतिशब्दो ध्विनशब्दस्य शब्दपरत्व नाचष्ट इत्यर्थपर्यवसानादत्रेतिशब्दोत्तरो ध्विनशब्दः शब्दपरो न भवतीति क्रियातिपत्तिद्योतकेन लुङा ज्ञाप्यते । अयमेवार्थों लोचनकाराणामभिमत इति च कथयन्त्युपलोचनकाराः।

किन्तु लोचनकाराः "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति" इति कारिकाविभागं, 'बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिसंज्ञितः" इति वृत्तिभागं च ध्याख्याय त्रवानुपपत्तिप्रदर्शनपूर्वकम् "एवं तु युक्ततरम्—इति शब्दो शिन्नक्रमो वाक्यार्थंपरामर्शकः ध्विनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नातः इति । एवमर्थं प्रदश्यं "शब्दपदार्थंकत्वे हि ध्विनसंज्ञितोऽर्थं इति का सङ्गितः" इत्यनुयुञ्जाना ध्विनशब्दाव्यवहितोत्तरस्येतिशब्दस्य तत्रैवावस्थाने ध्विनशब्दः शब्दपर एव स्यादित्यभिसन्दधानाः खलु दश्यन्ते । अत एव क्रमभेदश्च तैः स्वीकृतः । पदार्थविपर्यासकत्वेनाभिमतस्य इतिशब्दस्य ध्विनशब्दोत्तरं प्रयोगे ध्विनशब्दस्य शब्दपरतापत्तौ तस्य वाक्योत्तरमायोजनेन वाक्यरूप-शब्दसम्दायपरत्वं कथं निवार्यत इत्यपि चिन्तनीयमास्ते ।

वस्तुतस्तु संज्ञाशब्दोऽयम् । ध्वनिरिति, ध्वनिसंज्ञितः काव्यस्य सह्दयहृदयाह्नादजनकस्य शब्दसन्दर्भस्य आत्मा सारभूतोऽर्थं इति सामानाधिकरण्येन
निर्देशाद् ध्वनिसंज्ञितो व्यङ्ग्योऽर्थः इत्यर्थः सम्पद्यते । इत्यं च व्यञ्जकः शब्दः
व्यञ्जकोऽर्थः व्यञ्जनाव्यापारः व्यङ्ग्योऽर्थः व्यङ्ग्यार्थप्रधानं काव्यम् इत्येवंरूपाणां यावतामर्थानाम् इतिकरणयुक्तेन संज्ञाशब्देन निर्देशो भवतीति ज्ञेयप् ।
एतदभिप्रायकत्वमेव काव्यस्यात्मा ध्वनिरित्युक्तवतः काव्यस्यात्मा ध्वनिसंज्ञितोऽर्थं इति स्वयं व्याख्यातवतश्च ध्वन्यात्नोककर्तुरिति शक्यं ववतुम् । एवं
"काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः" इति काव्यविशेषलक्षणपरे पद्ये
ध्वनिरिति काव्यविशेषः इति सामानाधिकरण्येन निर्देशाद् ध्वनिसंज्ञा काव्यविशेषात्मकशब्दसन्दर्भस्येति च प्रदिशितं ग्रन्थकारेण।

एवम् इतिशब्दस्य पदार्थविपर्यासकत्विविचारेण कोऽनर्थः सञ्जात इति चेदुच्यते—रन्ध्रान्वेषी घ्वनिविरोधी महिमभट्टः सभां प्रविष्टः । महिमा बूते—"काव्यस्यात्मा घ्विनिरिति इत्यत्र इतिशब्दस्य तावत् प्रक्रमभेदः, स हि काव्यत्मपदानन्तरं प्रयोक्तव्यः काव्यस्यात्मेति" इति । "अन्यथा घ्विनिनैवास्य सम्बन्धे विज्ञायमाने, तस्य सर्वनामपरामर्शाभावे, अभावो, भाक्तत्वं, वाग-विषयत्वं च न प्रतीयेत, तस्याभिधानात्मन इतिना व्यवच्छेदाद् अन्यस्य घ्वने रनु-पादानाद्" इति च । एतेन काव्यस्यात्मा घ्विनिरित्यादिपद्ये प्रक्रमभेदरूप-काव्यदोषमारोपयित महिमा ।

इदं तु तत्त्वं —यो ध्वनिशब्दोत्तरिमितिशब्दः प्रयुक्तो ध्वनिकारेण स न पदार्थविपर्यासकः । वक्तृतात्पर्यविषयोभूतस्यार्थस्य स्फुटप्रतीतिश्चोपजायते । अत इतिशब्दस्यान्यत्रोपनयनापेक्षेव न प्रसजति इति प्रक्रमभेदाविष्करणं तैत्र राङ्गच्छते । यदि तु इतिशब्दस्यान्यत्रायोजने विवक्षितार्थान्ययवोधः सुसम्प्रतिपन्नः स्यात् तदापि वाक्येषु तात्पर्यसत्त्वे योजनयान्वयबोधस्य शास्त्र-कारसम्मतत्वात् काव्यस्यात्मेति पद्य ध्वितिकारेण इतिशब्दो यत्र प्रयुक्तस्तत्रैवा-विष्ठतां, का नो हानिः ?

अपि च लोचनकारस्य वचनेऽपि महिमा दोषमाविष्करोति । वाक्योत्तर-मितिशब्द आयोजनीय इति लोचनकारमतम् । तस्यायमाशयः—'काव्यस्यात्मा घ्वनिरित्येकं वाक्यम् । तदुत्तरमितिशब्दः प्रयुक्तः । तत्र काव्यात्मन उद्देश्यत्वं घ्वनेविधेयत्वं च । एवं च समुदायोत्तरमितिशब्दस्य प्रयोगाद् घ्वनिशब्दौऽयम् अर्थप्रधानः । अतस्तस्य घनिक्पस्यार्थस्य सर्वनामपरायर्थयोग्यस्याधावादि-सम्बन्धोऽपि धटते'' इति ।

तद् दूषयन्नाह महिमा—एवं हि वाक्यार्थावच्छेदः प्रतीयते । ततश्च तत्ररामिनः सर्वनामपदादेः नपुंसकलिङ्गनिर्देशप्रसङ्गः"—इति । वाक्योत्त-रमितिशब्दस्य योजने पदार्थविपयासकत्वस्वाभाव्यात् तस्य वाक्यरूपशब्दसमु-दायपरत्वमेव स्याद् इति तदाशयः। वस्तुत इतिशब्दस्य पदार्थविपयसिक-त्वस्वाभाव्याभावाद् वाक्योत्तरमितिशब्दयोजने वाक्यार्थावच्छेदकत्वापादानम् अप्यनुचितमेव । सर्वनामपदादेः नपुंसकलिङ्गनिर्देशप्रसङ्ग इति यदुक्तं महिम्ना स दोषो न प्रसरत्येव । यतः समाम्नानक्रियाकर्मत्वं ध्वनेरेव न तु वाक्यार्थस्य ।

एतेन ध्वन्यालोके महिम्नोद्भावितो दोषोऽसङ्गतः । लोचनोपरि उद्भावितो वाक्यार्थावच्छेदकत्वरूपः नपुंसकलिङ्गनिर्देशप्रसङ्गरूपश्च दोषो यद्यपि परिहृतो भवति, तथापि वस्तुस्थित्यनुरोधेन वाक्योत्तरमितिशब्दयोजनिचन्तापि नोत्यातुमहंति । वाक्यार्थस्य समाम्नानिक्रयाकमंत्वेन तात्पर्यविषयत्वासम्भवान्नपुसकलिङ्गनिर्देशप्रसङ्गरूपो दोषो निर्दिश्यत इति यत् तदेतदविचारिताभिधानम् ।

सर्वोऽप्ययमनर्थ इतिशब्दार्थविचारेणैव सञ्जात इत्यत्र कस्य वा विप्रतिपत्तेरवकाद्यः । वस्तुतोऽसतः कस्यचित् स्वभावस्येतिशब्दशिरसि समायोजनेन महान् कोलाहुछः क्रियमाणोऽप्यनुचित एव । इदं तु बोध्यं — व्याकरणशास्त्रे शब्दस्य शब्दोऽर्थः । इतिशब्दयोगे तु सोऽर्थपरः । तथा लौकिकस्य शब्दस्य अर्थपरत्वम् । इतिशब्दयोगे तु स शब्दपरः । इदमेवेतिशब्दस्य पदार्थविपर्यासकत्वम् इति केचिवाहः । यथा — "न वेति विभाषा" इति पाणिनीयं सूत्रम् । नकारवाकारौ शब्दपरौ । इतिशब्दायोजने 'नेति', 'वेति' निषेधविकत्परूपार्थपरत्याः निषेधविकत्पयोवि-भाषासंश्चादिति सूत्रार्थः सम्पद्यत इति ते मन्यन्ते ।

तदपि न विचारसहम्। इतिकरणयुक्ताः शब्दा यत्सामानाधिकरण्येन प्रयुज्यन्ते, तमेवार्थं बोधयन्तीति वस्तुस्थितिरिति पूर्वं प्रतिपादितम्। नहि तत्रेतिशब्देन किमिप क्रियते । किंतु, 'न' इति शब्दमुच्चार्य यो निषेधो विधीयते, 'वा' इति शब्दमुच्चार्यं यो विकल्पो विधीयते तयोनिषेधविकल्पयो-विभाषासंज्ञा स्यादिति सुत्रार्थः । "नेति शत्रदः" इति शब्दस्य विशेष्यत्दे नकार: अब्दपर: । "नेत्यर्थः" इत्यर्थस्य विशेष्यत्वे नकारोऽर्थपर: । "नाभ्यस्ता= च्छतुः"—अभ्यस्तात् परस्य शतृप्रत्ययस्य नुम् न स्यादित्यर्थः । "दधद्"— अत्र नकारमुच्चार्यं नुम् निषिध्यते । तथा 'विदो लटो वा'—विदधातीर्लटोऽपि णलादय आदेशा विकल्पेन भवन्ति इति सूत्रार्थः । अत्रापि वाकारमुच्चार्य णलादयो विकल्प्यन्ते । तथा "इको गुणवृद्धी" इत्यत्रापि इयमेव गति: । गुण इति यो गुणः, वृद्धिरिति या वृद्धिः (गुण इति शब्दम् उच्चार्य यो गुणः, वृद्धिरिति शब्दमुच्चार्य या वृद्धिश्च) इति गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विषीयेते तत्र इक इति षष्ठयन्तं पदमुपतिष्ठत इति सूत्रार्थः । यथा—'आद् गुणः'' अवर्णादिचि परे पूर्वंपरवोरेको गुण आदेशः स्यात् । गुण इति शब्दमुच्चार्य यो गुणः इत्यत्र प्रथमगुणशब्दः शब्दमुच्चार्येति शब्देन सह सामानाधिकरण्येन निर्देश। च्छब्दपरः, द्वितीयस्तु अदेङ्रूपसंज्ञिपर इति विद्वदङ्गीकृतोऽयं पन्थाः ।

२, ''योऽर्थः सहृदयरलाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानारूयौ तस्य मेदानुभौ स्पृतौ ॥

काव्यस्य हि लिलतोचितसिन्नवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सह्दयश्लाच्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ'' इति ध्वन्यालोकन्याः ।

लितेन उत्रितेन च सित्रवेशेन चारुणः काव्यस्य रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दसन्दर्भस्य श्रारीरस्थानीयस्य, शरीरस्थातमेय साररूपतया चमत्कृत्याधायकः स्वेत काव्यत्वसण्पादकः सहृदयश्लाध्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति ही भेदी । एतेन सहृदयश्लाध्ययाच्यप्रतीयमानान्वतरार्थबोधकशब्दवं काव्यसामान्यलक्षणं ध्वनिकृद्धिविक्षतिमिति स्पष्टं भासते ! तदनुरोधेनैव यत्र (काव्ये) प्रतीयमानोऽर्थः वाच्यापेक्षयातिशयितचमत्कृतिजनकत्वेन सहृदय-श्लाधामहृति तत् काव्यं ध्वनिरिति—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थप्रपसर्वनीकृतस्वार्थौ । व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति ।स्रिभिः कथितः ॥

इत्यनेन, यत्र तु वाच्योऽर्थः प्रतोयमानापेक्षयाधिकचमत्कृत्याधायकत्वेन सह्दयश्लाच्यो भवति तत् काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति—

प्रकारोऽन्यो गुणीभृतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते । यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥

इत्यनेन, व्यङ्ग्यस्याविवक्षितत्वेनास्फुटतया वाच्यचारुत्वमात्रतात्पर्ये तत् काव्यं चित्रमिति—

त्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते । काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तिच्चत्रमभिधीयते ॥ चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् । तच्च किश्चिच्छव्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥

इत्यनेन च वाच्यव्यङ्ग्ययोरुभयोरप्यर्थयोः सहृदयश्लाघ्यत्वं काव्यचारुत्वहेतुत्वं चास्तीति काव्यं—घ्वनिः, गुणीभूतव्यङ्ग्यं चित्रं चेति त्रिविधमिति च श्रीमदानन्दवर्धनाचार्याभिमतमित्यपि स्फुटमवगम्यते ।

एवं स्थिते योऽर्थः सह्दयश्लाष्य इति पद्यस्य स्वकपोलकल्पितमर्थमुक्तवाः सह्दयश्लाष्यत्वं व्यङ्ग्यार्थमात्रस्येति, तस्यैकस्यैव काव्यार्थत्वमिति च महता

प्रयासेन साधियतुभुपकम्य, काव्यस्यातमा स एवार्थ इत्यस्य स्वाभिमदार्थानुक्र-लतया व्याख्यां कृतवतो लोचनकृतो वचनेन सञ्जातप्रत्ययो मिहमा वदति— काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभिः कथित इति काव्यविशेष (ध्वनिकाव्य) लक्षणपरपद्ये काव्यविशेष इति काव्यस्य विशिष्टत्वं यद् ध्वनिकारेणोवतं तदनुप-पन्नं, काव्यनात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वाद्—इति । एवं व्याख्याभेदस्य दिक् प्रदिशता । अन्यत् सर्वं विपश्चिद्धः सूक्ष्मेक्षिकयाः निरीक्षणीयमित्यतो विरम्यते ।

४. कारिकावृत्त्योभिन्नकद्^रकत्वभ्रमनिरासः ।

व्यालोके पद्यभागः कारिकारूपः, गद्यभागो दृतिरूपश्च वर्तते । कारिकाया वृत्तेश्च विभागः सर्वेष्विप पुस्तकेषु नैकरूपत्या दृश्यते । व्यनि—सग्नीपज्ञाता व्यनिकार इत्यपि प्रसिद्धिमुपगतश्च श्रोमदानन्दवर्धनाचार्यः । के चित् कारिकावृत्त्योभिन्नकर्तृ कत्वमिभमन्यन्ते । तस्य सर्वस्यापि निदानं लोचनकृदेव । काव्यस्यातमा व्वनिरिति पद्यं कारिकाकारस्यादिममिति वथ्यते । तेन बूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपमिति व्वनिस्वरूपनिरूपणं प्रतिज्ञातं च दृश्यते । कारिकाकारस्यान्यत्वे कथमिदं सङ्गच्छताम् । किथ्य कारिकाकारोऽन्य इति च कथयन्ति । स किमिभधान इत्यनुयुज्यमाना न पारयन्ति नाम्ना कमिप निर्देष्दुम् । अत आनन्दवर्धन एव कारिकाभिवृत्ति-वावयैः सङ्ग्रहश्लोकैश्व व्वनिरूपं पदार्थं सम्यङ् निरूपितवानिति युवतं वक्तुम् ।

हरिदाससंस्कृतग्रन्थमालातः प्रकाशिते बालिप्रयादिव्याख्यासमुपेते ध्वन्यालोके पण्डितश्रीपट्टाभिरामशास्त्रिमहाशयैरित्थमुक्तम्—लोचने श्रीमद-भिनवगुप्तपादाः कारिकाकारं वृत्तिकारं च भेदेन व्यपदिशन्ति । बहुषु स्यलेषु कारिकाकारस्तु' 'वृत्तिकारेण तु' इत्यैवं व्यवहरन्तः उभयोर्भेदमेवा-भिप्रयन्ति – इति । लोचनकारेण प्रकारान्तरेणाप्युक्तं दृश्यते । द्वितीयोद्द्योतस्य सप्तमकारिकाया वृत्तौ 'कारिकार्थं वृत्त्याहं' इति, तस्यैवाष्टमकारिकाविवरणे 'वृत्तौ व्याबष्टं' इत्येवमादिकमि लोचनकारेणैवाभिहितं दृश्यते । इदमिप पर्यालोचनीयं वर्तते ।

यदप्युक्तं--प्रथमोद्योते एकोनविंशकारिकाव्याख्यानावसरे, द्वितीयोहचोते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विद्धदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान् । तदाशयान्सारेण वृत्तिकृदत्रैवोहचोते मूलविभागमवोचद् । एवं द्वितीयोद्द्योते प्रथमकारिकाव्याख्यानावसरे – तत्र प्रथमोद्द्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः.... भवति भूलतो हिभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतम् इति च तेन लोचनव्याख्यानेन इदमुक्तं भवति। यद्—अस्ति ध्वनि: इति ध्वनि प्रसाध्य स द्विविधोऽविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यःचेति वृत्तावुक्तं, न कारिकायाम् । ततो द्वितीयोद्देचोते प्रथमकारिकया अविवक्षितवाच्यरूपस्य ध्वनिविशेषस्य लक्षणमूक्तम् । अतः कारिकया ध्वनैविभागस्याकरणात् (सामान्यलक्षणस्याकथनात्) वृत्त्युक्तविभागानुवादेन कारिकायां विशेषलक्षण-कथनमनुचितम् । अत एवं प्रतिपादनेन कारिकाव्त्योभिन्नकर्वं कत्वम् इति । वस्तुतो विचार्यमाणे इदमेककर्त् कत्वसाधकमेवेति सिद्धसाधनं दोषः। भिन्नकर्त् -कत्वसाधनाय प्रयुक्तो हेतु: समानकर्तृं कत्वमेव साधयतीति भिन्नकर्तृ कत्वस्या-साधनादर्थान्तरं च। प्रथमोहचोते "उक्तया नीत्या इत्यारभ्य द्वितीयीहचोते प्रथमकारिकाव्याख्यानान्तध्वन्यालोकभागस्य यथावदर्थाधिगमेऽयं संशय एव पदं न विदधीत । ध्वन्यलोकवाक्यस्यार्थावद्योधो यत्र दृष्करो वर्तते, तत्र तदर्थावगमाय व्याख्यानमन्वेष्टव्यमिति युक्तम् । किन्तु ध्वन्यालोके स्रष्टप्रतीति-जनकस्य वाक्यस्य तद्विपरीतव्याख्यामन्येन कृतामन्विष्य तदन्रोधेन मूलग्रन्थेऽ न्पपत्तिश्चिन्त्यत इति यत् तदद्भुतमेव।

इदं तु तत्त्वम्—"उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च नीत्या ध्वने: सामान्य-विशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं, तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत् प्रसक्तम्,।" इति ध्वन्यालोकः । अस्य ग्रन्थकर्तृ तात्पर्यविषयीभूतोऽयमर्थः—"उक्तया नीत्या—"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यङ्कः"इत्यन्तेन कारिकांशेन ध्वने: सामान्यलक्षणं", वक्ष्यमाणया नीत्या — "अर्थान्तरे सङ्क्रमि-तमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् । अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विषा मतम् "॥ इत्यनेन ध्वनेरिवविक्षतवाच्यात्मक्रविशेषस्य लक्षणं" च प्रतिपादितं भवति । तथाहि शब्दबोध्योपसर्जनीभूताथंव्यङ्ग्यशब्दबोध्योपसर्जनीकृतार्थंव्यङ्ग्यान्यत्रत्वम् अविवक्षितवाच्यात्मक्रविशेषस्य लक्षणं व प्रतिपादितं भवति । तथाहि शब्दबोध्योपसर्जनीभूताथंव्यङ्ग्यशब्दबोध्योपसर्जनीकृतार्थंव्यङ्ग्यान्यत्रत्वम् अविवक्षितवाच्यविविक्षतान्यपरवाच्यान्यतरत्वेन पर्यवसन्नं ध्वने: सामान्यलक्षणं विभागोपस्कृतं प्रतिपादितम् । ततो द्वितीयोद्धचोतारम्भे

अर्थान्तरसङ्कमितवाच्यात्यन्तितरस्कृतवाच्यान्यतरत्वम् अविवक्षितवाच्यात्म-कध्वनिविशेषलक्षणम् । अस्मिन् ग्रन्थे लक्षणानि तत्तद्विभागपुरःसरमेव प्रदर्शन्ते, यया न्यायशास्त्रादी पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं, द्रव्यत्वं पृथिव्याद्यन्यतम-त्वम् इति । अवक्षितवाच्यस्य लक्षणमप्येवमेव कथितम् । तत्र द्विधा सतिमिति कण्ठत उक्तम्। सन्नार्थः शब्दो वेत्यत्र तु द्विधा इति यद्यपि नोक्तं, तथापि उक्तरीत्या विभागपूरःसरमेव लक्षणकथनाद् वाकारषटितेन शब्दसम्-दायेन अन्यतरत्वात्मकं ध्वनिसामान्यलक्षणं विभागपूर:सरमेवोक्तं ग्रन्थकारेणः एवं रफूटतया प्रतीयमानं विभागवचनं लोचनकारो यदि नाभ्यपैति, तर्हि अनेव यन्येन ध्वने: सामान्यलक्षणमपि नोक्तं भवति । उक्तया नीत्येत्यस्य लोचनकृतं यत्रार्थः शब्दो वा इत्यत्र व्याख्यानमपि व्याहतं स्यात् । कारिका तु सामग्रयेण अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यपरवा च्यत्व रूपविश्वाग घटितसामान्य लक्षणा क्रान्तो ध्वनिः (अर्थः) यत्र (काव्ये) प्रधानवाक्यार्थो भवति स काव्यविशेषः (उत्तमकाव्यम्) इति काव्यविशेषलक्षणमेवानया कारिकयाख्यायते । सामान्यलक्षणं तु -- योऽर्थः सहृदयन्त्राघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीय-माना ख्यौ तस्य भेदा तुभौ रमृतौ ॥ इत्यनेन सहृदयश्लाध्यवाच्यप्रतीयमानान्य-तरार्थबोधजनकशब्दत्वात्मकं पूर्वमेवोक्तम् । एवं च व्यङ्गचस्य ध्वनिः, गुणभावे गुणीभूतव्यङ्गचम्, अस्फुटत्वे चित्रं चेति काव्यस्य त्रैविध्यं भवतीति च व्वनिकारस्य सुचिन्तितो दढतरश्चाभिप्राय: । अतो व्वनेविभागो वृत्तिकारेणैव कथितः न कारिकया इति लोचनवचनस्योपादेयता सुधीभिर्विभा-वनीया । उपपत्तिरहितमेतादशं लोचनकारवचनमेव परमं प्रमाणं मन्वाना अतिपरिस्फुटार्थबोधके ध्वन्यालोकवाक्येऽश्रद्धानाश्च कारिकाव्रत्योभिन्नकर्त्क-त्वमृद्धोषयन्तीत्यहो विवेकान्धता तेषाम्।

एवं च द्वितीयोह्चोतारम्भवाक्यस्यापि समुचितो ध्विनकृद्विविक्षितश्चार्थः स्पष्टतरप्रतीतिविषयो भवति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । अविविक्षितव।च्य विविक्षतान्यपरवाच्यत्वेन ध्विनः द्विप्रकारः द्विविधः प्रकाशितः "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थां । व्यङ्क्तः" इत्यन्तेन कारिकांशेन, तदनुवादरूपेण अस्ति ध्विनः—स द्विविधः अविवक्षितव।च्यो विविक्षतान्यपरवाच्यद्चेति वृत्ति-भागेन च । तत्र तयोरुभयोभेंदयोर्मध्ये अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रथमभेदस्य प्रभेदप्रतिपादनाय अर्थान्तरसङ्क्रमितात्यन्ततिरस्कृतव।च्यत्वरूपावान्तरभेदं

प्रतिपादियतुम् इदपुच्यते इत्यर्थः । एतेन विभागपुरःसरं लक्षणमप्युक्तं भवति ।

किञ्च, यत् तयोभिन्नकर्तृ कत्वे प्रधानं प्रमाणं मन्यन्ते, तदिषकृत्येदानीं दिचार्यते—

वस्तुतस्तु —कारिकाकार आह वृत्तिकार आहेत्यावि लोचनवचनं सहृदयान मनसि तयोभेंदो वा अभेदो वा लोचनकुदिभमत इति संशयमेव जनयति। द्वितीयोद्योतारम्भे "प्रकाशित" इत्यस्य व्याख्यानावसरे मया "वृत्तिकारेण सतेति भावः" इति वचनेन प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेवाभिहितं कारिक्या, न तु विभागः, स तु वृत्तिकारेणैव कृत इति निश्चिन्वानो लोचनकुत् तयोभेंदिमेव मन्यत इति केचन मन्यन्ते। यत्रार्थः शब्दो वेति कारिकायां येनांशेन ध्वनिसामान्यलक्षणमुच्यते तत्र विभागोऽप्यन्तर्गत एव । कारिकया विभागो नोक्त इति येनांशेन मन्यते लोचनकारस्तत् काव्यविशेषस्यैब लक्षणम्। न तु ध्वनेः (अर्थस्य) सामान्यलक्षणम्। उक्तरोत्या विभागस्यापि कारिकाकारेण स्पष्टमिधानाद् भिन्नकर्तृ कत्वभ्रमहेतुरिप निरस्तः।

५. मतभेदेन व्यञ्जनाविचारः

ध्वनिसंज्ञितस्य व्यङ्ग्यार्थस्याधिगमो व्यञ्जनावृत्त्यधीन इति व्यञ्जना-व्यापारो विचार्यते—

> पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः । शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥

शक्तिश्च अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकेच्छारूपा । तद्ग्रहश्च व्याकरणादिभ्यो भवति । तथाचोक्तम्—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विष्टतेर्वदन्ति सान्निष्यतः सिद्धपदस्य बृद्धाः॥ इति

एतादशस्य शक्तिग्रहस्य सहकारेण शब्दश्रवणात्मके पदज्ञाने तद भि धेयस्यार्थस्योपस्थितिः, तद्द्वारा शाब्दबोधश्च सञ्जायते । अकृतिप्रत्ययादीनां पृथक् सङ्केतो गृह्यते । आकाङ्कादीनां साहाय्येन अभिहितानां पदार्थानां परस्यरमन्वये सति वक्तृतात्पर्यविषयीभूतस्य वाक्यार्थस्य ज्ञानं सम्पद्यते । केचित्तु प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुक्षल्दवाद् वाक्यम् एव वाचकं मन्वते ।

शब्दस्य स्त्ररूपं वर्णसमुदायः । अर्थस्य च परप्रतिपत्तावभीिष्सितायां शब्दप्रयोगादते नान्यमुपायं पश्यामः । तदुक्तं वाक्यपदीये (1.15) ''न सोऽस्ति प्रप्ययो लोके यः शब्दानुगमादते'' इति । धटशब्दस्य घटोऽर्धं इति कम्बुग्रोवा-दिमत् किमपि वस्तु अर्थं इति वा वचनेनेदं सुस्पष्टं भवति ।

अयमिह शास्त काराणां समयः —शब्यते (बोध्यतेऽथों) उनेनेति व्युत्पत्तय अयं बोधकशब्द एव शब्दशब्देन व्यवह्रियते । व्याकरणोपमानादिम्यो गृहोताः सङ्केत एकोऽपि शब्दो वाचकत्वलक्षकत्वव्यञ्जकत्वरूपेस्त्रिभिरुपाधिभिः वाचकलक्षक व्यञ्जकत्मना त्रैविध्यं भजते । अभिधालक्षणाव्यञ्जनारूपेस्त्रिभिव्यापारे-वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यरूपास्त्रीनर्थान् प्रतिपादयति । तथाहि —शब्दो गृहोतसङ्केतः श्रागणप्रत्यक्षविषयोभूतोऽभिध्या स्वसङ्केतितमर्थं बोध्यति स शब्दो वाचकः स व्यापारोऽभिधा, सोऽर्थश्च वाच्यः । 'गङ्गायां घोष' इति श्रूयमाणे घोषः पदार्थस्याभीरगृहस्य गङ्गाशब्दमुख्यार्थेन प्रवाहेण सम्बन्धो बाधित इति मुख्यार्थस्य पदार्थान्तरेणान्वयस्य तात्पर्यस्य वानुपपत्ती सत्यां तत्सम्बद्धस्य तीररूपस्यार्थस्य बोधो लक्षणया भववि । तत्र गङ्गाशब्द एव लक्षकः, लक्षणा व्यापारः, तीररूपोऽर्थश्च लक्ष्यः।

'गङ्गातोरे घोष' इति शब्दप्रयोगे स्वायत्ते 'गङ्गायां घोषः' इति कवेः प्रयोगः किस्निवन्धन इति विचार्यमाणे इदमस्माभिरवधारियतुं शक्यम्। 'चन्द्र इव मुखं' इत्यत्रोपमालङ्कारः, चन्द्रसदशं मुखमिति शाब्दबोधः। 'मुखं चन्द्र' इत्यत्र रूपकमलङ्कारः। तत्र समानविभक्तिकपदोपस्थापितयोरप्यर्थयो-

रभेदान्वयबोधो न भवति भेदबुद्धचा तत्प्रतिबन्धादिति स्थिते चन्द्रशब्दस्य चन्द्रसद्देशं लक्षणामङ्गीकृत्य चन्द्रसद्देशस्य रुक्ष्यार्थस्याभेदेन मुखपदार्थेऽन्वयो बोध्यते । तथा च चन्द्रसद्देशिभिन्नं मुखमिति शाब्दबोधो भवति । सत्येवं को नाम भेद उपमारूपक्योतिति चेदुपमायां साद्देयिमवशब्देनोच्यते । रू को तु तत् चन्द्रशदेन लक्ष्यते । रूक्षणायाः फलं तु अभेदस्ताद्रूच्यं वा । स चार्यो व्यञ्जनान्व्यापारगम्यः । अतो व्यङ्ग्यार्थपतिपादनेच्छ्या लाक्षणिकशब्दप्रयोगे कदीनां नैभीयम् । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे (P. 43.1) 'गङ्गातटे घोषः' द्रत्यादेः प्रतिपादनात् येषां न तथा प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्यार्थौ रुक्यते'—इति । एवं च गङ्गायां घोशः' इत्यत्र शैत्यगावनत्वादिप्रतीतिव्यंञ्जनयोपस्थाप्यत इति स एव गङ्गाशब्दो व्यञ्जकत्वापन्नो व्यञ्जनाव्यापारेण शैत्यपावनत्वादिरूपं व्यङ्ग्यमर्थं बोध्यति ।

यथा शरीराविच्छन्नात्मिति भोगः चक्षुराविद्वारा शरीरगतानां कराविगुणानां, मनसा चेन्द्रियेण शौर्यादीनामात्मगुणानां चानुभवो भवति, तथा शब्दक्षयशरीरावच्छेदेन इवादिणब्देन साक्षादिभिध्यमानस्य साद्ध्यादेविच्यार्थं-गतस्य माधुर्यादेवर्यं स्पार्थं गतस्य च प्रतिपत्तिज्ञायते । अयमत्र विशेषः— शरीराविच्छत्र आन्मित क्यादीनां शरीरगुणानां 'अहं गौर' इत्यादिकं, शौर्यादीनां आत्मगुणानां 'अहं शूर' इत्यादिकं च शानं स्वस्य भवति । तथा साद्ध्यादीनां वाच्यार्थं गतानां, माधुर्यादीनां प्रयायमानार्थं गतानां, तथा अनुप्रासादीनां शब्दार्थं गतानां च धर्माणामनुभवः न काव्यात्मनः किंतु काव्यस्थितानामेव तेषां सानु गासं, साद्ध्यवत्, सम्वदित्याद्याका रकः काव्यशब्दगतस्य काव्यार्थं गतस्य च धर्मस्य प्रकाशः सहृदयस्यैव भवति । अत एवार्थः शब्दस्यात्मस्थानीय इति शब्दश्च शरीरस्थानीय इति च ज्ञायते ।

तत्र वाच्यस्तावदर्थः, शब्दादिभधया वृत्त्या प्रतिपाद्यमानोऽदोषत्विविशेषितो रसाद्यनुगतवर्णविन्यासादिरूपैः शब्दालङ्कारैः शब्दद्वारा सञ्जातसमुद्धासः अर्थालङ्कारैरपमादिभिः स्वयं परिपुष्ठः, गुणकृतां चमत्कृतिमादधानः, कचिद् व्यङ्ग्यैश्च वस्त्वलङ्काररसादिभिः गुणीभूतंरुपस्कृतः सहृदयहृदयमावर्जयति ।

व्यङ्चार्थोऽपि पदगदंकदेशवर्णरवनादिभिः प्रायशः सर्वेरिप वाच्यलक्ष्य-व्यङ्ग्यैरर्थेरभिव्यक्तः प्राधान्येन प्रतीयमानो वाच्यातिशायिनी चमत्कृतिमादधत् सहदयैरास्वाद्यते ॥

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रधानेतरभावमाश्चित्य काव्यं, ध्वतिः, गुणीभूतव्यङ्ग्यं, चित्रं चेति त्रैविघ्यं प्राप्नोति ।

तत्र वाक्यार्थोपस्कारकत्वमलङ्कारलक्षणम् । वाक्यार्थो नान वाक्यतात्पर्य-विषयीभूतोऽर्थः । साच वस्त्वलङ्काररूपो बाच्यार्थः वस्त्वलङ्काररसादिरूपो ज्यङ्गचार्थश्च भवति ।

सर्वेषामधीनां साक्षात् परम्परया वोपस्कारकाः सर्वेऽप्यलङ्काग्सज्ञां लभन्ते । शरोरस्य हारादय इव काव्यस्य शोभाधायका अप्यलङ्कारा आत्मान शरीरद्वारा भूषयन्ति । ये चात्मसमवेतास्तदुत्कर्षका गुणास्तेषामि शौर्यादीनां शरीरावच्छेदेनेव "शूर" इत्यादिव्यवहारिवषयत्वमुपपद्यते । अत एव माधुर्यस्यार्थगुणत्वेऽपि मधुरो वर्णं इत्यादयः प्रयोगा दश्यन्ते । तत्र मधुरो रस इति मुख्यः प्रयोगः, मधुरो वर्णं इत्यादयश्चौपचारिकाः ।।

वस्तुतस्तु माधुर्यादिकं द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वं प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिमत्त्वं वा । एवं च सर्वं एव प्रयोगो मुख्य एव भवितुमहैति । मधुरो वर्ण इति मधुरो रस इति च प्रतीत्योभेंदेऽपि द्रुतिप्रयोजकत्वरूपं माधुर्यं तयोरिव-शिष्टम् ॥

यथा शरीर उपस्कृतेऽप्यात्मन एवोपकार:। आत्मन्युपस्कृतेऽपि तत्तच्छरीरावच्छेरेनैवानुभवश्च सङ्गच्छते तथा यत्र विद्यमानमि नागरिकाङ्गनालावण्यं
ग्रामीणालङ्कारा न भूषयिति, तथा विद्यमानं रसं तद्विगरीतवर्णरचनादया
नोपकुर्वन्ति । कि च स्वाभाविकमेव सौन्दर्यं गुणादिविशिष्टं चमत्कारकम् ।
तत्तु विनाप्यलङ्कारं सर्वान् प्रोणयित । तथा माधुर्यादिगुणविशिष्टा रसादयो
व्यङ्गचार्थाः स्वयं शोभन्ते । तदनुक्रला अलङ्काराश्च यदि सन्ति तिह हेम्नः
परमामोदः। अतो व्यङ्गचरितं काव्यं न हृद्यम् । 'अव्यङ्गचं त्ववरं स्मृतम्'
इत्यत्राव्यङ्गच गब्दप्रयोगस्तु 'अनुदरा कन्या' इत्यादिवदीषदर्थे नत्रोपपादनोयः।
स्फुटप्रतीयमानार्थरहितमिति यावत् ।

अभिघालक्षणाख्ये उभे शब्दवृत्ती पदार्थं प्रतिपादयत इति सर्वेरिपि शास्त्रकारेरम्युपगम्यते । अभिधा नाम सङ्केतितमर्थमन्यवधानेन बोधयन् शव्दस्यार्थगतोऽथंस्य शब्दगतो वा शक्तवाख्यः सम्बन्धः । इदं पदिमिनमर्थं बोधयतु, अयमर्थं एतत्पद्दबोध्यो भवतु इति च पद्मदार्थान्यतरिवशेष्यकृत्वमी-श्वरेच्छात्मकस्य सङ्केतस्येति शक्तिवादे गदाधरभट्टाचार्येरभ्यधायि । सङ्केनितश्चार्थो जातिगुणक्रियाद्रव्यभदेन चतुर्विधः । गौः शुक्कश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारवचनमत्र प्रमाणम् । तथा च सङ्केतितार्थगोचरः शब्दव्यापारोऽभिधा ।

तपोविशेषैः प्रथितैः प्रजानां शुभैश्चिरित्रैर्जगतीमहिष्याः । भाग्यैः प्रभूतेश्चित्रस्य चास्य विभर्ति राज्यं वरवीररुद्रः ॥

सर्वाण्यत्र पदान्यभिधाव्यापारेण स्वं स्वमर्थं प्रकाशयन्ति । ततश्चाकाङ्क्षायोग्य-तासन्निधिवशात् पदार्थानां परस्परमन्वयेन तात्पर्यविषयीभूतमर्थं भङ्गचा प्रतिपादयत् काव्यमिदं सहृदयहृदयमानन्दयति ।।

अभिधेयस्यार्थस्य पदार्थान्तरान्वये तात्पर्ये वानुपपद्यमाने वाच्यार्थव्यवहितं तत्सम्बद्धं चार्थं बोधयति लक्षणाव्यापारः । यथा—

"पत्युः काकतिनाथस्य पादपीठीमनारतम् । स्फुरद्रत्नप्रमाजालैरलङ्कुर्वन्ति मौलयः ॥"

अत्र भौलि' शब्दस्तदाश्रयभूतान् राज्ञो लक्षयति । इत्थं चाभिवालक्षणाम्यां प्रतिपाद्यमानस्यार्थस्य चमत्कृतिजनकत्वात् तत्प्रतिपादकस्य शब्दस्य काव्यत्वं सूपपादम्।

अथ ----

"करतलनिर्गलद्विरलदानजलोल्लासितावनीवलयः । धनदाग्रमहितमृर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥" इत्यत्र "सार्वभौम" शब्दः सम्राजं कोबेरदिशागजं च अभिधते । शब्दस्या-स्यानेकार्थबोधनसामर्थ्ये सत्यपि 'सकुदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयती'ति न्यायेन प्राकरणिकार्थबोधानन्तरं द्वितीयस्यार्थस्य प्रत्यायने कथं नामाभिधा प्रगत्भताम् । तथा तथाविधेरेव करदानधनदशब्दैः सहृदयहृदयसंवादभा-जोऽपरस्यार्थस्य प्रतीतौ को नाम व्यापारो भवितुमहिति । न चात्र लक्षणा प्रभवति, मुख्यार्थबाधादेरभावात् । न खलु व्यापारमन्तरेण शब्दादथोऽवबुध्यत इति चेद्—

अत्र मीमाँ सकैकदेशिन आहु:— नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्त' इति । अर्थप्रतीतिनैं मितिको ! निमित्तं च शब्दार्थस्यानन्यलभ्यतया शब्द एव कल्प्यते । अतः शब्दश्रवणे यावानर्थः प्रतीयते तस्य सर्वस्याप्यर्थस्य स एव शब्दो निमित्तमिति, तावदर्थबोधनाय तस्य पुनः पुनरनुसन्धानं कर्त्तव्यमिति अभिधाव्यापरिणैव सर्वेषामप्यर्थांनी प्रत्यायनं सम्भवतीति च तेषामाशयः ।

अलिङ्कारिकास्त्वत्र प्रत्यविष्ठिन्ते —यत् तावदुच्यते मोमांसकैकदेशिभिः "यावदर्थप्रत्यायनाय शब्दस्यावृत्तिः कर्तव्येति, अभिधयैव यावदर्थ प्रतोति''रिति च तन्न सङ्गच्छते, शब्दगतत्वेनाभिमतं निभित्तत्वं नाम कारकत्वं व ज्ञापकत्वं वा। नाद्यः पक्षः, यतो दण्डेन घटो जायते, ततो दण्डस्य घटकारणत्व घटते, न तथा शब्दोऽर्थमर्थाच् वा जनयति। नापि द्वितीयः, यथा पर्वते विह्न ज्ञापयन् धूमो ज्ञापकत्वं प्रपद्यते, न तथा शब्दस्य ज्ञापकत्वमपि युज्यते। निह् शब्दः स्वरूपेणावस्थितः पदार्थं ज्ञापयति, परन्तु ज्ञानविषयः सन् अर्थबोधनाय प्रकल्पते। अङ्गीकुर्वते च शास्त्रकारा, अनुमित्युपमितिशाब्दप्रमाकरणानां लिङ्गसादृश्यशब्दानां ज्ञानविषयाणां, लिङ्गसादृश्यशब्द-ज्ञानानां वा तत्तत्प्रमाकरणत्वम्। प्रत्यक्षप्रमाकरणस्य तु चक्षुरादेः सिन्नकर्षवशात् प्रत्यक्षज्ञानजनकत्वमभ्युपगच्छन्ति। शब्दस्य ज्ञानविषयता सङ्केतेनेव सिद्धचिति। सङ्केतं चान्त्रितमात्रे मन्यन्ते मोमांसकाः। अन्वित्विशेषे च तस्मिन् गृह्यमाणे शक्तचानन्त्यम्। एवं निमित्तस्य तत्त्वेऽनियमात् नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव न भवितुमहृति।

भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तु —'सोऽयमिषोरिब दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति चाहुः। यथा धनुष्मता केनचित् प्रयुक्ता

कश्चित् बाणः एकेनेव व्यापारेण शत्रोवंमं छिनत्त, मर्माणि भिनत्ति, प्राणांश्च हरति, तथा सुकवित्रयुक्तः शब्दोऽपि, अभिधयैकेनेव व्यापारेण पदार्थोपस्थितिम्, अन्त्रयशेषम् अर्थान्तरप्रतोति च समादयित । शिवक्षितं (तात्पर्यविषयं) सर्वमण्यथं बोधियत्वेव स शब्दो विरतव्यापारो भवति । किं च द्वितीयोऽप्यथंः प्रतीपिपादियिषितो वा न वा । आद्ये तमपीष्टमथं स एव शब्दो बोधियत् समर्थः। द्वितीये तु व्यापारान्तरापेक्षव न स्फुरति । अतो यत्तारपर्येण शब्दः प्रयुज्यते स सर्वोऽपि तस्यैवार्थः । तस्य सर्वस्थाप्यर्थस्य स एक एव शब्दो वाचकश्चर इति व्याचक्षते च । अत्र द्वितीयाद्यर्थबोधनाय पुनः पुनः शब्दस्यानुसन्धानं नापेक्ष्यत इति पूर्वस्मान्मतादस्य भेदः।

इदमि न विचारसहम् । तथाहि—यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति तात्पर्यवाचोयुक्तेः तात्पर्यमगानन्तस्ते तदर्थमन्यथाकथयन् । वस्तुतस्तु तस्यायमर्थः—सर्वाण्यपि वाक्यानि विधेयार्थबोधनपराणि प्रयुज्यन्ते । अतस्तत्रैव वाक्यानां तात्पर्यम् । यत्र (विधेये) तात्पर्यं स एव शब्दार्थः । यथा — सोनेन यजेते त्यादिश्रुतेर्यागविधाने तात्पर्यमितीदं श्रुतिवाक्यं यज्ञत्यर्थविधान य प्रवृत्तमिति ज्ञायते ।

ननु अनिधातार्थवोधकत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम्। वाक्ये च साध्याराणोव सिद्धपराण्यपि पदानि श्रूयन्ते। विधेयत्वं नाम विधिविषयत्वम् । विधिश्च क्रियाया एवेति 'सोमेन् यजेते'त्यादिषु यागक्रियाया विधिविषयत्वं निर्वाधम्। 'दध्ना जुहोतो'त्यादौ तु धात्वर्थस्य होमस्य 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति प्रमाणान्तरा-वगतत्वेनास्य वाक्यस्य द्रव्यविधाने तात्पर्यंम् अभ्युपगतं कथं नाम सङ्गच्छतामिति चेदुच्यते —दध्यादिनिष्ठक्रियाणामि प्रधानीभूतहोमक्रियानिर्वतं कत्वेन स्वक्रिया-सम्बन्धात् साध्यायमानतासम्भवेन दध्यादिद्रव्यविधायकत्वं युज्यते। न च तत्र जुहोतिश्चत्या होमोऽपि विधीयतामिति वाच्यम्। यथा तृणराशिप्रविष्टो दहनोऽदग्धमेव तृणं दहति, न भस्मीभूतं, तथा पदान्यप्यप्राप्तमेवार्थं बोधयन्ति, अतश्च प्रकृते प्रमाणान्तरबोधितस्यार्थस्य तद्वाक्यतात्पर्यविषयतायां प्रयोजना-भावात्, अनिधिगतार्थवोधकत्वादेव च तेषां प्रामाण्यं शास्त्रकारैरङ्गीकृत-मुप्पद्यते। यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थः प्रतीयते, तत्र सर्वत्राभिधैत व्यापार इत्युच्यते तर्हि 'चैत्र पुत्रस्ते जातः,' 'कन्या ते गिभणी'ति वाक्याभ्याः हर्षशोका-वप्यभिधयैव भवताम् । किञ्च "गङ्गायां घोषः" इत्यदितः तीरादीनां प्रतीतिरभिधयैव भवतीत्यस्यापि सुवचतया लक्षणोच्छेदापत्तिश्च ॥

इत्थं च नानार्थस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधनायाभिधालक्षणातिरिक्तस्य तृतीयस्य कस्यचिद् व्यापारस्यानम्युपगमे लक्ष्यत्वेनाभिमन्यमानस्याप्यर्थजातस्य तुल्ययुक्त्याभिधेयत्वसम्भवात् लक्षणाङ्गीकारोऽप्यसङ्गतः स्यादिति सिद्धम् ।

अय कोऽसी व्यापारो येनानेकार्थस्यले द्वितीयोऽर्थः प्रत्याय्यत इति चेदाहु:—अभिधालक्षणाभ्यां विलक्षणेत व्यञ्जनाख्येन व्यापारेणार्थान्तरसवगम्यत इति ।

अत्र मञ्जूषाकाराः—'मुख्यार्थवाधग्रह्निरपेक्षबोधजनको, मुख्यार्थसम्ब द्वार्थसाधारणः प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्टचज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना' इति वदन्ति ।

उनतं च साहित्यदर्पणे—(P 53 and 54)

"विस्तास्त्रभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः । सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थोदिकस्य च ॥"

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृपु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु ययान्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्या- र्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च वृत्तिव्यंञ्चन-ध्वनन-गमन-प्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम''। शब्दास्तावदिभधया मुख्यमर्थं बोधयन्ति । सित तस्य बाधे लक्षणया लक्ष्योऽर्थः प्रतिपाद्यते । ततस्तात्पर्येण पदार्थानां परस्परसमन्वया-तमकस्य वाक्यार्थस्य बोधी जायते । वृत्तिष्वेतासु तिसृष्विप विकतासु वक्तृ— बोद्धव्यादिवेशिष्टयवशात् पदाद् वाक्यात् प्रकृतिप्रत्ययादिभ्यो द्वा प्रतीय-मानस्यापरस्यार्थस्य प्रतिपादनक्षमो व्यापारो व्यञ्चनेति व्यपदिश्यत इत्यर्थः ।

अर्थावबोधकारणं प्रत्ययविष्यविष्यविष्यः शब्दविशेषः प्रकृतिरित्युच्यते । प्रत्ययरतु प्रकृतिमवधीकृत्यः प्रवर्त्तमानः स्यार्थप्रतिपादकः शब्दविशेषः । यदाह भगवान् भाष्यकारः—-''तावेव सुप्तिङो यो ततः परी सैव प्रकृतिराद्या'' इति । उक्तंच भर्तृ हरिणा—

"वः शब्दः स्वेतरस्यार्थे स्वार्थस्यान्वयबोधने।
यद्पेक्षस्तयोः पूर्वा प्रकृतिः प्रत्यवः परः॥" इति।

प्रसङ्गात् तात्पर्यार्थो निरूपते --

तात्पर्यं तत्प्रतीतीच्छयोचचरितत्वम् । अत एवोक्तं विश्वनाथपञ्चाननेन-

'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्' इति ।

च्यापारेणानेन तात्पर्याख्यानेन वान्यार्थबोधो भवतीत्यभिहितान्वयवादिनामा-शयः। तथाहि—'गामानये'त्यत्न गोशब्दस्य गौरर्थः। अम् प्रत्ययस्य कर्मत्वम्। प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थे आधेयतयान्वयः । गोनिष्ठं कर्मत्विमिति शाब्दबोधो जायते। अत्राघेयताया उपस्थापकं पदं न श्रूयते। आकाङ्क्षावशादेव तस्या एपस्थितिः। आकाङ्क्षा चात्र समभिव्याहारः। उनतं च कारिकावत्याम्--'यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्, आकाङ्क्षा' इति । सा च गोनिष्ठं कर्मत्विमिति शाब्दबोधं प्रति गोपदाव्यवहितोत्तरवृ'त्यम्' प्रत्ययसमभिव्याहार-ज्ञानं कारणमिति, कार्यकारणभावे पर्यवस्यति । तेन गीः कर्मत्वमित्यतः स्वशब्दोपस्थापिते कर्मत्वे गोरन्वये आकाङ्क्षाचिरहात् शाब्दबोधो न भवति । एवमाङ्गपसृष्टस्य नयतेरानयनमर्थः । आख्यातस्य कृतिरर्थः । भात्वर्थस्य तत्रानुकूलतयान्वयः । द्वितीयान्तार्थस्य गोनिष्ठकर्मत्वस्य निरूपितस्वसम्बन्धेन घात्वर्थेऽन्वय: । एवं च गोनिष्ठकर्मतानिरूपितानयनानुकूलकृत्याश्रय इत्याकारक-शाब्दबोधो भवति । ततश्च सिद्धत्याकाङ्क्षायोग्यतावशात् अन्वयबोधो जायत इति पदार्थस्य पदानि बोधकानि । वानयार्थस्य तु वान्यम् । आकाङ्क्षादिमत् पदकदम्बकमिति यावत्। उक्तं च-'आसत्तियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमि-ष्यते, कारणम्' इति, वाक्यार्थबोध इति शेष:। तत्रतात्पर्यज्ञानमपि वाक्यार्थबोधे कारणत्वेनाभिमतम् । गोनिष्ठकर्मतानिरूपितानयनानुकूलकृत्याश्रय इत्याकारक शाब्दबोधो जायतामितीच्छया प्रयुक्तात् गामानयेति वाक्यात् तादशबोधो

भवति । इत्यं च वाक्यार्थबोधकं तात्पर्थं व्यापारः । फलं च तात्पर्याधित्मकम् इति सिद्धम् । इमां तात्पर्याख्यां वृत्तिमन्विताभिधानवादिनो नाभ्युपगच्छन्ति । विद्यानाथादयस्तु तात्पर्यार्थोऽपि व्यङ्ग्यार्थं एव न पुनः पृथग्भूत इति वदःतो व्यञ्जनाव्यापारेऽस्यान्तर्भावमाहः ।

एवमभिधालक्षणातात्पर्यात्मकव्यापारत्रयप्रतिपाद्यार्थविलक्षणस्यार्थान्तरस्य प्रत्यायनाय सकलालङ्कारिकाभ्युपगतस्यास्य व्यञ्जनाव्यापारस्याभिधामूलत्वं लक्षणामूलत्वं च सम्भवति । तत्राभिधामूलव्यञ्जना प्रथमं निरूप्यते । यदाहु:—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृत् व्यापृतिरञ्जनम्' । इति ।

अत्र प्राञ्चः पद्यमिदं इत्थं व्याचक्षते-

प्रथमं तावत् पदानां व्याकरणोपमानकोशादिभ्यः शक्तौ गृहोतायां, सित पदत्राने (पदश्रवणे) वृत्त्या पदार्थोपस्थितिः निष्पद्यते । ततः शाब्दबोध इत्यस्ति क्रमः। अनेकार्थशब्दश्रवणे तु तत्सङ्केतिताः सर्वेऽप्यर्था उपतिष्ठन्ति ! न हि सकृदुच्चरितः म शब्दस्तं सर्वमप्यर्थं युगपद् बोधियतुं प्रभवति । एव सत्सु शब्दस्यास्य बहुष्वभिधेयेषु कस्मिन्नर्थे प्रयोक्तुस्तात्पर्यमिति संगये संयोगादयः तात्पर्यनिर्णयार्थमपेक्ष्यन्ते । संयोगादयश्च वाक्यपदीये भर्तृ हरिणा निरूपिताः । तथा हि—

संयोगो विश्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सिन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कोलो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषसमृतिहेतवः ॥ इति

तात्पर्यज्ञानाच्च प्रकृतार्थमात्रविषया पदार्थोपस्थितिः तच्छाब्दबोधश्च जायते ।

ननु नानार्थस्थले पदस्यानेकस्मिन्नर्थे शक्तिग्रहस्य तुल्यतया विनिगमना-विरहेण कस्याप्यर्थस्य बोघो न भवितुमहंतीत्यतः, सत्यपि पदज्ञानेऽर्थो नावगम्यते । येन च प्रकृतार्थविषयकोपस्थितिरङ्गीक्रियते । न च तत् पदज्ञानम्, एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात् पदज्ञानस्य शाब्दबोधकरणत्वमुक्तं कथं घटत इति चेदत्राहुः—'प्रकृते तात्पर्यज्ञानमेव पदज्ञानः; तेन च वृत्त्या (अभिष्या) प्रकृतार्थोपस्थितिद्वारा तदर्थविषयकशाब्दबोधो भवति । अनन्तरं च सङ्केति-तस्यार्थान्तरस्य प्रतीतिव्यंञ्चनयेति ज्रूमः । प्रकृतार्थवीयनेन क्षीणशक्तिरिभष्या दु द्वितीयमप्रकृतमर्थं बोधियतु न प्रभवति । अत एदोदतं 'वाचकत्वे नियन्त्रितं इति । वाचकत्वमिधियर्थः । नियन्त्रणा चापरार्थोपस्थापनप्रतिबन्धः । स च संयोगाद्यैनिरुह्यते । अतः संयोगाद्योनामेव तात्पर्यनिर्णयजननद्वारा प्राकर्राणकार्थोपस्थापकत्वमप्राकरणिकार्थोपस्थितप्रतिबन्धकत्वं च सिष्यति । व्यञ्जनयार्थोपस्थापकत्वमप्राकरणिकार्थोपस्थितप्रतिबन्धकत्वं च सिष्यति । व्यञ्जनयार्थोपस्थित्रति तुःसंयोगादीनां (ज्ञानविषयाणां) प्रतिबन्धकत्वं नाङ्गीकुर्भः । सकलसहृदयहृदयाङ्कादकस्यार्थान्तरस्याभिवादिव्यापाराग्तर्वजन्यप्रतिपत्त्यविष्ययस्य प्रत्यायनार्थमेव व्यञ्जनाया अङ्गीकारात् । व्यथवा शब्दे तावदर्थबोधन्यस्य प्रत्यायनार्थमेव व्यञ्जनाया अङ्गीकारात् । व्यथवा शब्दे तावदर्थबोधन्य शक्तिरप्रतिहता । अनेकार्थस्यले संयोगादयोऽप्राकरणिकार्योपस्थितप्रतिबन्धकसिद्धिस्य मवधानद्यायां सिषसाधियषाया इव तस्या(व्यञ्जनायाः) उत्तेजकत्वं सम्प्रतिपद्यते ।

करतलिनगंलिदित्यादिवद्ये "सार्वभौमस्तु दिङ्नागे सर्वपृथ्वीपताविष्" इति कोशाद् द्वयोरर्थयोः सङ्कोतो गृह्यते । तथा च 'सार्वभौम शब्दश्रवणे द्वयोरिष तत्सङ्केतितयोरर्थयोः पृथगुपिस्थतौ प्रकरणेन चक्रवितिन अर्थे तात्पर्यनिणयाः सञ्जायते । तदात्मकेन (तात्पर्यनिणयात्मकेन) पदज्ञानेन सम्राज उपस्थिति-रिभथया तस्य शाब्दबोधश्च भवति । ततः करदानधनदशब्दमिहम्ना दिङ्नागरूपोऽपर्योऽप्यर्थः प्रतीतिविषयो भयति । एवं सित 'चक्रवर्ती जयति' 'दिङ्नागो जयति' इति वाक्यद्वयं सिध्यति । वाक्ययोरनयोः अनन्वितार्थाभिधायन्क त्वं मा प्रपाङ्क्षीदिति चक्रवर्तिदिङ्नागयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते । दिङ्नागसदशश्चक्रवर्त्ती जयतीत्येकवाक्यतयान्वयबोधश्च सुष्ठ्रप्रचते इति दिङ्नागरूपस्यापरस्यार्थस्य तदुपमायाश्च प्रतिपादने व्यञ्जनाहृते व्यापारान्तरं न प्रभवतीत्याहुः ।

एतादशस्थलेषु सहृदयहृदयाह्नादकस्य सादश्यस्य उपमाया व्यञ्जन।व्यापा-रबोध्यतायां न कश्चिदःयालङ्कारिको विप्रतिपद्यते । दिङ्नागरूपस्यार्थान्तरस्य प्रतीतेस्तु तन्निवेद्यतायां विवदन्ते निष्कर्षानुसारिणः।

अपरे त्—नानार्थशब्दजन्यशाब्दबृद्धी तात्पर्यनिणयस्य हित्तत्वमवश्यमेषित-व्यम् । अन्यथा विवक्षितार्थबोघो व्याहन्येत । संयोगादयश्च तात्पर्यनिर्णय-सहायकतयाङ्गीक्रियन्ते । तैश्च यत्रार्थे तात्पर्यं निणीयते तस्यार्थस्य प्रथमेनैव पदज्ञानेनोपस्थितिः । तद्वारा शाब्दबोधश्च स्वीक्रियते । एकार्थमात्रविषयायाः पदार्थोपस्थितेस्तदनुकूलतात्पर्यनिर्णयस्य पदजानत्वं च न वयमभ्युपगच्छामः। न खलु पदत्तानं प्रथमतो जायमानं व्यापारसहक्रतमर्थमप्रत्याय्य विरमित । संस्कारोहोधकयोः सतोः समृतेः सकलानुभववेद्यस्वात् । तथा च तात्पर्यनिर्णय-हेत्भिः संयोगादिभिरुत्पादितस्य तस्य सङ्केतग्रहस्यैव सहकारितया पदार्थस्मा-उकत्वं शाब्दबोधप्रयोजकत्वं च सम्पद्धते । तस्यापरार्थोपस्थापनप्रतिबन्धकत्वमपि न विचारसहम् । अन्यथा तात्पर्यदिवयीभूतार्थबोधनानन्तरं तस्मादेव शव्दाद् अतात्पर्यविषयस्याप्यर्थस्य प्रतीतिरनुभूयमाना कथं नाम सङ्गच्छताम् । तस्य च द्वितीयस्थाप्यर्थस्याभिघाने तु क्षीणशक्तिरभिधा न प्रवर्तते । व्यञ्जनैव शरणीकरणीया । तथा चानेकार्थस्येति पद्ये संयोगाद्यैर्वाचकत्वे नियन्त्रित इत्यंशस्यायमर्थः --- 'संयोगादिभिरेकार्थमात्रविषयकं तात्पर्यं निश्चीयते। ततस्तदर्थस्मृतिरुत्पद्यते । तस्यैवार्थस्य शाब्दबोधश्च घटते । इत्थं च (वाचकत्वे) अभिधायां एकार्थमात्रविषयकशाब्दबोधानुकूलायां जातायामिति, अन्यत् सर्वं समानम्। शक्तिजन्यशाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयहेतुत्वं नियतम्। व्यक्तचधीनबोधे त् न तथेत्याहः ।

एतन्मतानुसारेणापि 'जयिततरां सार्वभौमोऽय'मित्यत्र प्रथमं तात्पर्य-निर्णयाधीनचक्रवर्तिमात्रोपस्थितिद्वारा चक्रवर्तिनो बोधे जाते, ततो दिङ्नागस्य विशेषणवशात् प्रतीतिः व्यञ्जनयैव सिध्यति । पूर्वोक्तरीत्या साद्दयं च व्यज्यते।

व्यङ्गचत्वेनोपस्थितस्य चास्य दिङ्नागसाद्यस्यालङ्कार्यत्वेनाभिमन्यमान-स्यापि वर्णनीयचक्रवर्त्युत्कर्षाधायकत्वेन वाक्यार्थोपस्कारकत्वादलङ्कारत्वम् । व्यञ्जनागम्यत्वाद् वाच्यातिशायित्वाच्च प्राधान्यमपि निर्विवादम् ।

किन्तु स एव व्यङ्गचोऽलङ्कारो न प्राधान्यमहिति, यं विना वाच्योऽर्थः सर्वथा नोपपद्यते । प्रकृते च स्वयं विजयमानस्य चक्रवितनो दिङनागसाद्दयं

उत्कर्षातिशयमेव पुष्णाति । न खल्बनुपपद्यमानं कियप्युपपादयति । अत एव दिङ्नागसाद्दयप्रत्यायकस्य सार्वभौमशब्दस्य प्रयोगे कविसंरम्भोपि चरितार्थो भवति ।

कि च करतलेत्यादिपद्ये चक्रवितिवर्णने प्रस्तुते सार्वभौमशब्देन प्रथमं चक्रवितिरूपस्यार्थस्योपस्थितिः शाब्दबोधद्य जायते। अनन्तरं विशेषणमिहम्ना नानार्थस्य सार्वभौमशब्दस्य दिङ्नागरूपार्थन्तरबोधनसामध्येन तदर्थविषयकः शाब्दबोधद्य सकलसहृदयसम्भत एव । एवमुभयविधार्थप्रतिपादनपरयोः 'चक्रवर्ती जयति', 'दिङ्नागो जयति', इति वाक्ययोग्रसम्बद्धार्थाभिधायकत्वा-पत्तिपरिहाराय चक्रवितिदङ्नागयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यत इति प्राक् प्रतिपादितम् ।

अथ कोऽसौ व्यापारः, यः दिङ्नागरूपं द्वितीयमर्थं साद्श्यं च बोधयतीति पर्यालोचनायां व्यञ्जनातमकमेव व्यापारं तद्बोधौपियकं के चिन्मन्यन्ते । तथा हि—पदज्ञानवतः पुरुषस्य पदार्थोपिस्थतौ सत्यां शाब्दबोधो जायते । नानार्थस्य तु शब्दस्य श्रवणे तत्सङ्केतितानां सर्वेषामप्यर्थानां युगपदुपिस्थित्या प्रयोक्तुः शब्दस्य स्य किस्मन्नर्थे तात्पर्यमिति सन्देहो भवति । ततः संयोगादिभिस्तात्पर्य-निणये जाते, तेनैव पदज्ञानतां गतेन प्राकरणिकार्थमात्रविषयिण्युपिस्थितः, तन्मात्रविषयकः शाब्दबोधश्च जायते । एवं प्राकरणिकार्थबोधनोपक्षीणाभिधा, द्वितीयमप्राकरणिकमण्यं बोधियत् न प्रभवति । तदणं व्यञ्जनाश्रयणीयेति ।

अपरे तु—नानार्थशब्दजन्यशाब्दबुद्धौ तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वमवश्यमभ्युपेयम् । अतो नानार्थशब्दस्य सकलार्थबोधजनकत्वयोग्यतायां सत्यामिष
यत्रार्थे प्रयोक्तुस्तात्पर्यं निर्णीयते प्राथमिकेन पदज्ञानेनैव तस्यार्थस्योपस्थितिः
शाब्दबोधश्च सम्पद्यते । तात्पर्यविषयस्यार्थान्तरस्य बोधने पूर्वोक्तरीत्या
अभिधायाः सामर्थ्याभावेन तदर्थं व्यञ्जना स्वीक्रियत इत्याहुः ।

पक्षयोरुभयोर्प्यनयो, नानार्थशब्दजन्यशाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वं समानम् । इयांस्तु विशेषः —यत् प्रथमे तात्पर्यनिश्चयस्य प्राकरणिकार्थोपस्था-पक्तविमव अप्राकरणिकार्थोपस्थितिप्रतिबन्धकत्वमि अभ्युपगम्यते । तेषामयमाश्चयः —प्रकरणादीनामप्रकृतार्थप्रतिबन्धकत्वानम्युपगमे तात्पर्यनिश्च-

यानन्तरमि प्रकृतार्थस्येव इतरेषामप्यथिनां बोधे बाधकाभावात् पुनश्च सर्वेषामुपस्थितिरापद्येत । अतः संयोगाद्यैस्तात्पर्यनिश्चये सति सङ्केतितार्थ-बोधिकाथा अभिधायाः प्रकृतार्थमात्रे नियन्त्रणमावश्यकम् ॥

द्वितीये तु— तात्पर्यज्ञानस्येतरार्थोपस्थापनप्रतिबन्धो नाम्युपेयते । अभिष्यार्थस्य बोधने तात्पर्यज्ञानं सहकारि भवति । एवं च संयोगादिभिः प्रकृतार्थस्य बोधनेन विरतायामभिधायां तात्पर्याविषयस्यापि द्वितीयस्यार्थस्य बोधः व्यञ्जनया सम्पादनीय इति वदन्ति ।"

नचैवं तात्पर्यनिश्चयस्यार्थान्तरोपस्थितिप्रतिबन्धकत्वानङ्गीकारे तात्पर्यनिश्चयानन्तरमिप सङ्केतितानां सर्वेषामप्यर्थानां उपस्थितिः स्यादिति वाच्यम्। नानार्थशब्दश्रवणे कम् अर्थमिभधातुमयं शब्दः प्रयुक्त इति खलु सन्देहो भवति। ततस्तित्रणोयकसामग्रीसम्पादितेन तेनाभिधित्सितस्येवार्थस्य प्रतीतेजंननात्, तत्रेव तात्पर्यस्य विश्चान्तेः। पदज्ञानेन सर्वेषु तद्येषूपस्थितेषु तात्पर्यविषय-स्यवार्थस्याभिध्या बोधसम्भवे, तदनन्तरमन्यस्याप्यर्थस्य प्रकृतोपयोगिनः सम्भवौचित्यात्। तात्पर्यज्ञानस्यार्थान्तरोपस्यापनप्रतिबन्धकत्वाङ्गीकर्नृमते तु प्रतिबद्धस्यार्थान्तरस्य नियतमनवस्थानात्।

तदेवं मतद्वयेऽपि द्वितीयस्याप्राकरणिकार्थस्य व्यञ्जनाव्यापारसाध्यत्वं सुनिरूपितं सम्पन्नम् ।

तिदिवमुभयमि मतं न विचारसहम्। तत्र तावन्नानार्थस्थले सर्वत्र
व्यञ्जना समुल्लसतीत्यभ्युनगमे प्राकरणिकस्याप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य सर्वत्र
भानमङ्गीकृतं भवित । अतः तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुस्वं निष्फलं सम्पद्यते । यदि
तु शक्तिजन्यशाब्दबोधं प्रति तात्पर्यज्ञानं कारणं. व्यक्तिजन्यशाब्दबोधस्तु
तात्पर्यज्ञानं विनापि सम्भवतीति व्यवस्थितिसंरक्षणार्थं तात्पर्यज्ञानस्य कारणस्वमङ्गोकरणीयमित्युच्यते तिह्, तात्पर्याविषयस्याप्यर्थस्य सर्वत प्रतीतिसम्भवे,
तस्यापि शक्तिजन्यत्वमेवास्ताम्। का नो हानिः? यदि च प्रकरणादिना यत्र
तात्पर्यं निश्चीयते तस्यार्थस्य प्रथमं बोधः, अनन्तरं तात्पर्याविषयस्य
द्वितीयस्याप्यर्थस्य बोध इति तयोः पौर्वापर्यसंरक्षणाय (द्वयोरप्यर्थयोयुं गपद्बोधविषयत्वापित्तिपरिहाराय) तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वमङ्गीक्रियते, तदिप न

सङ्गच्छते । प्रकृताप्रकृतयोः अर्थयोः इलेषकाच्य इव. अत्रापि बोधे बाधका-भावात्। तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्त्रमेव यतो नाङ्गोक्रियते ततो यूगपदर्थद्वय-बोधानुपपत्तिरापादयित्ं न युक्ता । तस्मात् नानार्थस्थलेपि शक्तयैवोभयोरर्थ-योर्बोघसम्भवात् तत्र व्यञ्जना नाङ्गीकरणीया । किञ्जनानार्थस्थले कचिदेव समुल्लसतीत्यपि वक्तं न युवत म् व्यञ्जनासम्हासे हेतोरनुपलब्धेः । तास्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वाङ्गीकर्तृनयेऽपि न तस्य वंयञ्जानिकबोधहेत्रवम् । एवं यत्राइलीलं दोषः, तत्राप्रकृतार्थस्य सर्वानुभव-विषयत्वेऽपि कवितास्पर्यज्ञानरूपहेतोरभावात् व्यतिरेकव्यभिचारश्च । च श्रोतुः शक्तिविशेषो व्यक्तेरुल्लासं जनयति ॥ चानुभवविरोधात् चमत्कार्यर्थ-विशेषविषयैव, इति व्यक्त्युल्लासस्य कादाचित्कत्वमङ्गीक्रियत इति नाभ्युपगन्तुं शक्यम्। नियन्त्रिताया: शक्ते: उल्लासक एव स चमत्कार्यथं विशेषविषयक: श्रोतुः शक्तिविशेषो भवतीत्यूपगमेऽपि बाधकाभावात् नानार्थस्थले व्यक्तिकल्पना नोपपद्यते ।।

अन्ये तु—यथा व्यङ्ग्येषु नानाधर्मा अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वादिरूपवि-शेषव्यपदेशविषयत्व,शब्दार्थाधीनत्व,प्रकरणादिसापेक्षत्वादयो दश्यन्ते, तथा लक्ष्येष्वप्यर्थेषु ।

तथाहि-

स्निग्धरयामलकान्तिलिप्तिवियतो वेल्लद्बलाका घना वाताः शीकरिणः पयोदसुहदामानन्दकेकाः कलाः । कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे वैदेही तु कथं भविष्यति हु हा हा देवि धीरा भव ॥

इत्यत्र रामः सकलदुः खभाजनत्वेन लक्ष्यत इति अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यलक्ष्य-त्वरूपव्यादेशविषयत्व रामपदलक्ष्याथस्य सकलदुः खभाजनत्वेन प्रतीतिविषय-त्वात्मकम्।

एवं---

प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा सोढुं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चेः शिरः।

व्यर्थं सम्प्रति विश्वता धनुरिदं तद्व्यापदां साक्षिणा रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं थ्रेम्णः प्रिये । नोचितम् ।

इत्यत्र रामशब्दो निष्करुणस्वेन लक्षणाजन्यप्रतीतिविषयता भजते ॥

तथा—

रामोऽसी भुवनेषु विक्रमगुर्णैः प्राप्तां प्रसिद्धि पराम् अस्मद्भाग्यविषयेयाद् यदि परं देवो न जानाति तम् । बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैव बाणाहति— श्रेणीभृतविशालवात्तविवरोद्गीर्थैः स्वरैः सप्तिभः ॥

इत्यत्र रामशब्द: खरदूवणादिनिहन्तृरूपमर्थं लक्षणया बोधयतीति लक्षणीयोऽप्य-र्थो नानात्वं भजते । अतो लक्ष्यस्याप्यर्थस्य नानात्वसम्भवात् तस्य च नैयायिकादिसकलशास्त्रकारसम्मतत्वाच्च व्यङ्गचस्यार्थस्यातिरिक्तस्यानपेक्षि-तत्वेन व्यञ्जनारूयं व्यापारान्तरं नाङ्गीकर्तव्यमित्याहुः ।

तन्न — उक्तरीत्या लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्तेऽपि यथा नानार्थशब्दास्तद-भिष्यय्वेन नियतमेवार्थं बोधयन्ति, तथा लाक्षणिकशब्दा अपि नियतमेवार्थं प्रतिपादयन्ति । मुख्येनार्थेनानियतसम्बन्धस्तु सर्वथा न लक्षयितुं शक्यते । व्यङ्गचोऽर्थस्तु नियतसम्बन्धः, अनियतसम्बन्धः, सम्बद्धसम्बन्धश्च प्रतीयते ।

किञ्च लक्षणायामिव यत्प्रतिपादनेच्छया लक्षणा समुपास्यते तस्य प्रयोजनकपस्यार्थस्य प्रतिपादने व्यञ्जनां विना नान्यो व्यापारः प्रभवति ।

यथा चाभिघाव्यापार: सङ्केतमपैक्ष्य प्रवर्तते तथा लक्षणापि मुख्यार्थबाधादित्रयं सङ्केतं चापेक्ष्यत इति अभिधापुच्छभूतैव सेति शास्त्रकारा-णामभिमतम् ।

काव्यप्रकाशे रसनिरूपणप्रकरणे 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति'रिति भरतसूत्रव्याख्यानावसरे इवमुच्यते—स च (रसो) न कार्यः, विभावादिनाशानन्तरमपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवादिति । संयोगादिति पञ्चमी हेत्वर्थे वर्तते । हेतुत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं चेति द्विविधम्। दण्डो घटस्य कारको हेतुः। धूमोऽनेज्ञीपको हेतुः। एवं स्थिते पुनश्च मम्पटभ ट्टेनोच्यते । कारकत्वज्ञापकत्वाभ्यामन्यत् क ९ष्ट्रिमिति चेल कचिदित्यलीकिकत्वसिद्धेर्भुषणमेतन्न दूषणमिति । तेषास्यमाश्रयः यया समवायिकारणनाशे कार्यनाशस्तथा निम्त्तकारणनाशे कार्यनाशो नापेक्यते । एवं च रसं प्रति विभावादीनां निमित्तत्वात् तन्नाशे रसनाशो नावरयकः । तथा च तन्नाशानन्तरं रसस्य सम्भवप्रसङ्घः आपाद्यते । दण्डसत्त्वे घट इत्यन्वयेन दण्डाभावे घटाभाव इति व्यतिरेकेण च दण्डघटयो: कार्यकारणभावोऽवधार्यते । घटोत्पत्त्यनन्तरं दण्डो यदि नश्यति तदा घटो नश्यति बेति विचारः तयोः कार्यकारणभावोपपत्तौ किम् पदं घते । तथापि प्रकृते नायिकादयो लौकिका:, रसञ्चालोकिक: । नायिकानायकादयश्चेदानीं न सन्ति । नटश्च भावानामाश्रयो न भवति । रसस्तु तृतीयस्य सामाजिकस्य । व्यधिकरणानां तेषां कार्यकारणभाव एव विप्रतिपन्न इत्याशङ्कच चर्वणानिष्पत्त्या त्रिष्यतिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यतामिति अङ्गीकुर्वते । तथा च विभावान्-भावादिचर्वणया बास्वादेन रत्यादेः सामाजिकनिष्ठस्यास्वादः समानाधिकरण एव सञ्जायत इत्यपि वदन्ति ।

एवं च कारकत्वज्ञापकत्वाभ्यामन्यद् व्यञ्जकत्वं व्यञ्जनाव्यापारात्मकय-स्तीति प्रतिपादितम् । अलौकिकस्य रसादेः प्रतिपत्तावलौकिको व्यापाच इति यावत् ।

महिमभट्टस्त्वाह —सर्व एव हि शाब्दो व्यवहारः साव्यसाधनभावगर्भत्या प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः इति ।

अमुमर्थं मम्मटम्होऽनूच दूषयति—ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते । यतः कृतिश्चित् शब्दाद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात् । एवं च सम्बन्धाद्, च्यङ्गचव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन, नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाहिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति । तथाहि—

> भम धिन्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अञ्ज मारिओ देण। गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं, गोदावरीतीरे सिंहोपलन्धेरश्रमणमनुमाय-यति । यद्यद् भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकं, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

अत्रोच्यते—भी हरपि गुरोः प्रभोवां निदेशेन प्रियानुरागेणान्येन चैवम्भूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः । सुनो बिभ्यदिष वीरत्वेन सिहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि, गोदावरीतीरे सिहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् । तच वचनरय प्रामाण्यमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धा-दित्यसिद्धश्च, तत् कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धः, तथा निश्शेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति । अत्रचात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानोत्यनैकान्तिकानि ।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम् । एवंविधादथिदेवंविधोऽर्थं उपपत्यनपेक्ष- स्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तददूषणम् इति ।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीत्युदयनादयः । प्रमाकरणं प्रमाणम् । व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम् । तच्च तत्तदुचितव्यापारमाश्चित्य फलं जनयतीति यावत् । (१) द्राणरसनचक्षुस्त्वक्छोत्राणीन्द्रियाणि । संयोगादयः (सिन्नकर्षाः) व्यापाराः । द्राणजरासनचाक्षुषस्पार्शनश्चौत्राणि प्रत्यक्षज्ञानानि । (२) अनुमानम्—व्याप्तिज्ञानं करणम् । हेतुसाघ्ययोः साहचर्यनियमो व्याप्तिः भूयोदर्शनेन सिघ्यति । व्याप्तिविशिष्टस्य हेतोः पक्षवृत्तित्वज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं (परामर्शः) व्यापारः । अनुमितिः फलम् । (३) साद्यक्षानं करणम्; अतिदेशवाक्यार्थस्मरणं व्यापारः । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः फलम् । (४) पदज्ञानं करणम् । पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः । शाब्दबोधः फलमिति स्थितः ।

अनुमानं द्विविघं —स्वार्थं, परार्थं चेति । स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः । यत् तु धूमाग्न्योः साहचर्यं पश्यन् यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्ति गृह्णाति । ततः पर्वतसमीपं गतः तत्र धूमं पश्यन् तद्गते चाग्नौ सन्दिहानो व्याप्ति स्मरित । व्याप्तिस्मरणेन व्याप्यस्य पक्षे दर्शनेन च व्याप्तिविशिष्टपक्षवर्मताज्ञानरूपः परामर्शस्तदनन्तरं 'पर्वतो विह्निमा'नित्यनुमितिश्च जायते । तत् स्वार्थानुमानम् । तच्च प्रत्यक्षपूर्वकम् । धूमस्य दर्शनेन सत्सहचरितस्य वह्नेर्जानं यत् तदनुमितिरूपम् । काव्यात्मकशब्दात् प्रतीयमानस्यार्थस्य ज्ञानं तु नैतादशानु-मित्यात्मकं भवति ।

परस्थार्थोऽनुसिहिरूपं प्रयोजनं यस्मात् तत् परार्थानुमानम् । तच्च न्यायसाध्यम् । न्यायश्च प्रतिज्ञाहेत्दाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयववाक्यान्समः । यत्तु स्वयं धूमादिग्नमनुमाय परप्रतिपत्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्तते तदेतत् परार्थानुमानम् । तेन च वाक्यपञ्चकेन विशिष्ठवैशिष्ठचावगाहिशाब्द-ज्ञानं जायते । ततः परामर्शः, ततोऽनुमिनिः इत्यस्ति क्रमः । पञ्चसत्त्व-सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्त्वात्मकपञ्चरूपोपपञ्चलिङ्गप्रति-पादकवाक्यं न्यायः । तेन परस्यान्यनुमितिर्भवितः ।

काव्यात्मकशब्दाच्च प्रतीयमानस्यार्थस्यावगमो नैतादृशानुमितिरूपतां प्रतिपद्यते । किन्तु शब्दश्रवणे प्रथमं सङ्केतितार्थस्य बोधस्ततः प्रकरणादि-वशात् स एव शब्दोऽर्थद्व।रा प्रतीयमानान् विचित्रानर्थान् प्रतिपादयित् प्रभवतीति सोऽर्थः शाब्दबोधात्मक एव भवितुमहेति । यद्यपि यस्मात् कस्माच्चिदिष शब्दाद् यस्य कस्यचिद्प्यर्थस्य प्रतीतेरापत्तिपरिहाराय वाच्यादसम्बद्धस्यार्थस्य प्रतीतिर्नाङ्गीक्रियत इति वाच्यव्यङ्गचयोः सम्बन्ध आवश्यकः । स च व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावो (व्यञ्जकत्वं) नियतसम्बन्धेऽसित न सम्भवतीति व्याप्तत्वं सिध्यति । तेनान्वयव्यतिरेकव्याप्तिभ्यां सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वयोः पक्षवृत्तित्वस्य चाधिगमेन तिरूपालिङ्गात् यत् लिङ्गिज्ञानमनुमानं तद्रूपः पर्यवस्यति । व्यञ्जकत्वमनुमानरूपित्यर्थः । 'भम् धम्मिअ' इत्यत्र गृहे श्वनिवृत्त्या श्रमणं विघीयमानं गोदावरीतीरे सिहोपलब्धेरश्रमणमनुमापयति । तथाचानुमानम्—'गोदावरी-तीरं, भीरुश्रमणाभाववत् सिहवत्त्वाद्'इति । यद्यद् भीरुश्रमणाभाववत्र भवति तत्तन्त सिहवद्' (यद् यद् भीरुश्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्युपलब्धिपूर्वकं) यथा गृहमिति व्यतिरेकव्याप्त्या गोदावरीतीरस्य भीरुश्रमणायीग्यत्वं साध्यते ।

तथापि अत्र नैके हेत्वाभासाः सम्भवन्ति । (१) अत्र साघ्यः भीरु-भ्रमणाभावः। तदभावो भीरुभ्रमणं, तच्च भीरोरपि कस्यचिद् प्रभोर्ग्रोवां निदेशेन, प्रियानुरागेण, निधिलाभादिना वा हेतुना सिंहवति (भयकारणे सत्यपि) भ्रमणं दृश्यत इत्यनैकान्तिकोऽयं हेतुः। (२) शुनो बिम्यदिप वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति साध्याभावव्याप्तो हेतुः विरुद्धोऽपि। कि च गोदावरीतीरस्य सिंहवत्त्वं च प्रत्यक्षेणानुमानेन वा न निश्चीयते। वचनस्य चास्यानाप्तोक्तत्वाद-प्रामाण्यम्। अतो हेतुनैवंविधतां प्राप्तेन साध्यसिद्धिः कुतापि न सम्भवति।

'निरक्षेषच्युतचन्दने'त्यादाविष 'वापीं स्नानुमितो गतासि न पुनस्तस्याध-मस्यान्तिक' मित्यनेन वाक्यार्थेन तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति ध्वनेरिष अनुमानात्मकत्वं न सङ्गच्छते । रितकार्यत्वनोपात्तानि चन्दनच्यवनादीनि च स्नानकार्याण्यिष भवन्तीति कण्ठत एवोक्तानि । अत एवमादिस्थले सर्वत्र व्यभिचारादिदोषदूषितत्वेन हेतुत्वेनाभिमन्यमानानां प्रतीयमानार्थव्यञ्जकत्वं दुरुपपादिमिति काव्यात्मकशब्दात् प्रकरणादिसव्यपेक्षाद् प्रतीयमानोऽर्थः सर्वोऽिष शाब्दबोधात्मक एव भवितुमहंति । प्रतीयमानस्यार्थस्य व्यापारो व्यञ्जनैवेति सिद्धम् ॥

५. ध्वनिमग्डनम्

धूमाग्न्योः सहचेरितत्वज्ञानसहकारेण पर्वते धूमं पश्यतः, तत्सहचरितस्य वह्नेः एकसम्बन्धिज्ञानविधया स्मृतिपूर्वकं व्याप्तिस्मरणं, व्याप्यस्य तस्य पक्षवृत्तित्वज्ञानरूपेण परामर्शेन पर्वते वह्निमत्ताज्ञानरूपा अनुमितिश्च जायते ।

तथा शब्दार्थयो: शक्तिज्ञानसहकारेण शब्दं शृण्वतः, तच्छक्यस्यार्थस्य स्मृतिद्वारा शाब्दबोधो भवति ।

सहकारिकारणं करणं व्यापार: फलम् (कार्यम्)
व्यापिज्ञानं घूमदर्शनं व्यापितिशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं अनुमितिः।
शक्तिज्ञानं शब्दश्रवणं पदअन्यपदार्थोपस्थिति: शाब्दबोधः।

यथा गृहीतव्याप्तिकस्यैव पुंसः पर्वते धूमदर्शने परामर्शदारा अनुमितिर्जायते, तथा गृहीतशक्तिकस्य शब्दश्रवणे अर्थोपस्थितिद्वारा शाब्दबोधो धवतीति वस्तुतत्त्वम् । नानार्थश्रब्दश्रवणे तत्सङ्केतितानां नानार्थांनामुपस्थितौ संयोगादितः प्रकृतार्थस्य शक्तघा बोधानन्तरं द्वितीयया शक्तघान्यार्थबोधो यत्र जायते तत्र तस्मिन्नप्यर्थे तस्य शब्दस्य संकेतितत्वात् तदर्थबोधार्थं व्यापारान्तरं नान्वेष्ट-व्यम् । तदनन्तरभाविनस्तु प्रतीयमानस्यार्थस्य लाभाय करणे सत्यपि व्यापार-मन्तरा फलानुत्पत्तेव्यापारान्तरमवश्यमङ्गीकरणीयम् । तथा लाक्षणिक-शब्दश्रवणे शक्यार्थबाधेनोपस्थितस्य लक्ष्यार्थस्य बोधानन्तरं शैत्यपानत्वादिरूपं यत् प्रतीयते तस्यापि व्यापारान्तरमावश्यकम् । म व्यापारो व्यञ्जनात्मक इत्यालङ्कारिकाः । अत एव व्यञ्जना अभिधामूला लक्षणामूला चेति द्विविधा । अभिधालक्षणाव्यञ्जनाख्यास्त्रयोऽपि शब्दव्यापारा एव । धूमदर्शने व्यापि-स्मृतिपक्षधमेताज्ञानाभ्यां धूमसहचरितस्य अग्निक्षपस्य पदार्थान्तरस्य बोधोऽ नुमित्यात्मकः । धूमशब्दश्रवणे तु सभिधालक्षणाव्यञ्जनाभ्यो धूमस्य वाच्यार्थस्य तत्त्वस्य विभावाद्यस्य वाधार्यस्य वत्त्वस्य वाधार्यस्य तत्त्वस्य धर्मान्तराणामेव बोधो जायमानः शाब्दबोधात्मको भवति ।

एवं सति---

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् । च्यिकतिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥"

इति महिमभट्टोक्तं कथं सङ्गच्छते । ध्वने : व्यञ्जनाव्यापारस्य । सर्वस्यापि अभिधामूलस्य लक्षणामूलस्यापि । अनुमाने व्याप्तिज्ञाने । "अन्तर्भावो वस्तुतो-स्त्येव मया तु प्रकादयते" इति तेन कथ्यते च । पदार्थात् पदार्थान्तरस्य बोधो व्याप्तिज्ञानजन्यः, पदात् तस्यैव सम्बन्धिनामर्थानां तु बोधः शब्दव्यापारेणैव भिवतुमहंतीति ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावो न सम्भवत्येव । एतेन स्वार्थानुमाने ध्वनेरन्तर्भावो न युज्यत इति सिद्धम् ।

परार्थानुमानेऽपि व्वनेरन्तर्भावो वक्तुं न शक्यते । तथाहि—परार्थानुमानं न्यायः । स्वार्थानुमानेन पर्वतेऽग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं प्रयुक्तं पञ्चावयववाक्यं परार्थानुमानं न्याय इत्युच्यते । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः । प्रतिज्ञादिपञ्चवाक्येरेकवाक्यतया स्वार्थविशिष्टज्ञानं जन्यते । तेन विशिष्टवेशिन् ष्ट्यावगाहिमानान्तरमुत्थाप्यते । तेन चरमः पर्वुमर्शः । तदनन्तरमनुमितिः परस्यापि पर्वतो वह्मिमानिति । प्रतिज्ञादिवाक्येरपि तत्तद्वाक्यार्थबोधानन्तरं

व्याप्तिज्ञानद्वारा परामर्शः तद्द्रारा च अनुमितिः परस्यापि जायते । काव्य-वानयैस्तु तद्धटकपदार्थः आकाङ्क्षायोग्यतादिवज्ञाद् वाक्यार्थबोवानन्तरं—

> "वक्त्रबोद्धव्यकाक्त्नां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः । प्रस्तावदेशकालादेवैशिष्टचात् प्रतिभाज्ञ**शास्** ।। योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुव्यीपारो व्यक्तिरेव सा ॥"

इति वननेन वक्त्रादिवैणिष्टचाद् व्यञ्जनया, प्रतीयमानस्य वाच्यार्थसम्बन्धिनोऽर्थस्य ज्ञानं भवति । तच्च शाब्दज्ञानमेव । इत्यनुमितिशाब्ददोधयोर्भेदाद्
परार्थानुमानेऽपि व्यञ्जना नान्तर्भावमहिति । किञ्च, वावयश्रवणे प्रतीयमानार्थव्यञ्जकिवभावानुभावादिरूपवाच्यार्थस्य बोधानन्तरं, तत्र काव्ये तद्धटकेनेकेन।पि
पदेनानभिधेयम्, अङ्गनासु निखिलावयवव्यतिरेकि लावण्यमित्र माधुर्यादिको
गुणः प्रतोयते । तस्य च प्रतीयमानस्याश्रयः काव्यरूपः शब्दसन्दर्भ एव ।
एवं च सह्दयानां हृदये भावनारूपेण स्थितस्य रत्यादेः स्थायभावस्योद्घोधकं
काव्यार्थगतमाह्लादकत्वादिरूपं माधुर्यादिकं काव्यशब्दश्रवणादेवात्रगम्यत इति
प्रतीयमानस्याप्यर्थस्य परम्परया शब्दव्यापारजन्यत्वाद् व्यञ्जनाया एकस्या
अपि अनुमानेऽन्तर्भावो न सम्भवति ।

अत्रेदमवधेयम् अनुमानं द्विविधं, स्वार्थं परार्थं चेति । स्वस्य अर्थः (अनुमितिरूपं प्रयोजनं) यस्मात् तत् स्वार्थम् । परस्य अर्थः (अनुमितिरूपं प्रयोजनं) यस्मात् तत् परार्थमिति च व्युत्पत्तिः । स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः । धूमाग्न्योव्याप्यत्वं सम्बन्धः । तदेकसम्बन्धिनो धूमस्य दर्शनेन अपरसम्बन्धिनोऽ ग्नैः स्मरणम् । स्वयमेव धूमाग्न्योः साहचर्यं ज्ञात्वा सामान्यलक्षणाप्रत्त्यासत्त्या यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्ति गृहीतवतः परामर्शद्वारा व्याप्यत्वसम्बन्ध सम्बन्धिन एवाग्नेरनुमितिर्भवति । नतु ततोऽन्यस्य । तथाच व्याप्तिज्ञानं सम्पाद-यितुं प्रवृत्तस्य स्वस्यैवानुमितिर्भवति । न्यायवाक्यश्रवणसमनन्तरजायमानशाब्द-बोधानन्तरभाविव्याप्तिज्ञानेन तु परामर्शद्वारा परस्याप्यनुमितिर्भवतीति स्थितिः । तथा शब्दार्थयोः शक्तः सम्बन्धः । तदेकसम्बन्धिनः शब्दस्य श्रवणे अपरसम्बन्धिनस्तेत्पदशक्यार्थस्य स्मृतिद्वारा शाब्दबोधो भवति । सच वाच्य इत्येव महिन्नोऽपि मतम् । गङ्गायाँ घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दः शक्त्या प्रवाहरूपमेवार्थं महिन्नोऽपि मतम् । गङ्गायाँ घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दः शक्त्या प्रवाहरूपमेवार्थं

बोधियतुं ममर्थो नान्यस्य । तस्य च'र्थस्य घोषान्वये बाधिते सित, रुक्षणया तीररूपोऽर्थः, ततस्तत्त्रयोजनत्वेन शैत्यपावनत्वादिरिष प्रतोयते । न च तस्य शब्दस्य शैत्यपावनत्वादौ सङ्कोतः कृत इति शक्तिस्तमर्थं बोधियतुं न समर्था । अतः शब्दः स्वशक्यमेवार्थं बोधयति । शैत्यपावनत्वादिरूपस्यार्थस्य बोधने तु न शक्तिः प्रभवति । नापि व्याप्तिज्ञानम् । तच्च व्याप्यसहचरितमेव पदार्थं बोधयति नार्थान्तरम् । अत एव तादशस्य।र्थान्तरस्य बोधनाय व्यञ्जना— व्यापारः स्वीकृतः ।

परार्थानुमानं न्यायत्राक्षम् । प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनपनिममनानि पञ्चावयवाः । पर्वतो वह्निमान् -- प्रतिज्ञा । धूमात् - हेतुः । यो यो धूमवान् स स वहिमान् यथा महानसम् — उदाहरणम् । तथाचायम् — उपनयः, । तस्मात् तथा-निगमनम् । एतद्वाक्यश्रवणसमनन्तरं जायमानोः वाक्यार्थबोधोऽनुमेय इति परेणापि नानुज्ञायते । अयं शाब्दबोध एव । प्रथमं वाक्यार्थबोधः । ततो व्याप्तिज्ञानेन पक्षधर्मताज्ञानेन च परस्यापि अनुमितिर्भवतीति पूर्वस्माद् भेदः। अनुमेयरत् व्याप्यत्वसम्बन्धसम्बन्धी अग्निरेव । न तु एतद्वाक्यघटके-नैकेनापि पदेनासम्बद्धः अन्यः कश्चन पदार्थः । काव्यात्मकवाक्यश्रवणे तु वाक्यार्थबोधो भवति । स च तद्वाक्यघटकपदैः संसर्गमर्यादया बोध्यमानोऽर्थः। स च वाच्यादनतिरिक्त:। व्वनिकाव्यात्मकशब्दसम्दाये तु एतस्माद् वाच्चा-दतिरिक्तः वाक्यघटकेनैकेनापि पदेनानिभधेयः अङ्गनासु निखिलावयवव्यतिरेकि लावण्यमिव, शृङ्गारादिरसानुगुणवर्णरचनया माधुर्यादिरूपमर्थान्तरमेवावग-म्यते । तत्प्रतीतिर्नं शक्तचा भवति । नापि परार्थानुमानेन । व्याप्यसहचरित एवार्थे परार्थानुमानस्यानुमापकत्वात् । एवमर्थान्तरे परार्थानुमानस्याप्रभविष्णु-त्वात् प्रतीयमानार्थौ नानुमेयः । एकस्मिन् पदार्थे (पर्वते) दश्यमानेन एकेन पदार्थेन (धूमेन) अन्यस्य पदार्थस्य (अग्नेः) बोघोऽनुमितिरूपः । काव्यात्मके शब्दे तु श्रूयमाणेन शब्देन कस्यचिदर्थस्य बोधे सति तत्प्रतिपाद्यस्यान्यस्या-प्यर्थस्य बोधः शाब्दबोधात्मकः इति विवेकः । एवं च स्वार्थानुमानेन परार्थानु-मानेनापि माधुर्यादिरूपाणां ध्वनि (रसादि) धर्माणामनुमितिविषयत्वं नैव सम्भवति । तद्बोधनाय व्यञ्जनाव्यापार एव शरणीकरणीय: । इत्थं व्याप्ति-व्यञ्जनयोः अनुमितिशाब्दबोधयोश्च स्वरूपभेदं यथावदिधगतवान् कश्चिदपि व्यञ्जनाया व्याप्तिज्ञानेऽन्तर्भावकथनं महिम्नो मन्ये नानुमन्येतैवेति ।

ध्वति ध्वत्यति वा ध्वति: (व्यञ्ज्ञकः शब्दः अर्थश्च), ध्वत्यतेऽनैतेति ध्वतिः (व्यञ्जनाव्यापारः) ध्वत्यत इति ध्वतिः (व्यञ्ज्ञ्चोऽर्थः) घ्वत्यतेऽस्मित्ति ध्वतिः (व्यञ्ज्यार्थप्रवानं काव्यम्) इति व्युत्पत्तिभेदात् पञ्चस्वर्थेषु ध्वतिशब्दो निष्पत्नः। अनुमानेऽन्तर्भावं ध्वतेः प्रचिकाशियषोर्महिम्नो व्यक्तिविवेकग्रन्यस्यादि पद्यस्थितो ध्वतिशब्दो व्यञ्जनाव्यापारपरोऽभिगतः इति ज्ञायते। इष्टदेवतानम-स्कारात्मकं मञ्जलं विधाय स्वग्रन्थमारभाषाणश्च स प्रथमतो ध्वनेः (व्यञ्जनायाः) लक्षणं वक्तुमुपक्रमपाणो ध्वतिकारोवतं ध्वतिकाव्यलक्षणमनुवदन्नाह —तत्र ध्वनेरेव तावल्लक्षणं वक्तव्यं, कोऽयं ध्वितनिमिति। तच्च ध्वितकारेणैवो-क्तम्—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थम्रपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति स्रिनिः कथितः ॥ इति

यस्य ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावो विवक्षितस्तस्य लक्षणे कथनीये ध्वनिकारेणोक्तं
तदन्यस्य ध्वनिकाव्यस्य (काव्यविशेषस्य) लक्षणमुद्धरतीत्यहो मोहविजृम्भितं

महिम्नः। तच्च लक्षणवाक्यं बहुधा दूषयति च। दूषिते ध्वनिकाव्यलक्षणे

किमु ध्वनिव्यापारः स्वयमेव गत्वानुमानेऽन्तर्भवति। वाक्यध्यकपदानिभिधेयानामनन्तानां काव्यार्थानां बोधने प्रभवन्त्या व्यञ्जनाया व्याप्यसहचरितस्य
वह्ने रेव केवलं बोधजनके व्याप्तिज्ञानेऽन्तर्भविचन्तापि नोत्थातुमहैति।

आनन्दवर्धनाचार्यस्तु—"प्रतीतपदार्थको लोके ध्विनः शब्द इत्युच्यते। तद् यथा —शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्विनं कुर्वन्नेव-मुच्यते। तस्माद् ध्विनः शब्दः" (पातञ्जलमहाभाष्यम् I, i, i,) इति अर्थप्रतीतिजनकस्य शब्दस्य वैयाकरणाभिमतां ध्विनसंज्ञां प्रतीयमानार्थव्यञ्जक शब्दात्मकस्य काव्यस्य कृतवान्। अत एव ध्विनसंज्ञोपज्ञाता स ध्विनकार इति प्रसिद्धिमुपगतो विद्वत्परिषत्मु। तस्य च ध्विनशब्दस्य व्युत्पत्तिभेदात् पञ्चस्वर्थेषु वृत्तिश्च प्रसिद्धाभूत्। ध्वन्यात्मकप्रतीयमानार्थनिष्ठपणपरस्य स्वग्रन्थस्य ध्वन्यालोक इति च नाम चक्ने। तिददमत्यन्तमुचितमेवेति सकलसहृदयसम्मतम्। तत्र,

> योऽर्थः सहदयश्लाध्यः काञ्यात्मेति व्यवस्थितः । बाच्यप्रतीयमानाख्यो तस्य मेदाबुभौ स्मृतौ ॥

इति कारिकया सहदयश्लाध्यवाच्यप्रतीयमानान्यतरार्थविषयकशाब्दज्ञानजनभन्नवानयत्वं काव्यसामान्यलक्षणमुक्तम् । वाच्यश्च उपमादिशः प्रकारेः प्रसिद्ध एव । अन्यश्च प्रतीयमानः । स च विप्रतिपत्तिग्रस्त इति विप्रतिपत्तीनिराकृत्य ध्वनिरूषे प्रसाधितः । ततश्च सोऽथों यत्र वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति च तदिभमतम् । स च ध्वनिसंज्ञितोऽर्थः ध्वनिसंज्ञितेन व्यञ्जनाव्यापारेण प्रतीयत इति च सिद्धान्तितम् । तस्य व्यञ्जनाव्यापारस्यानुमानेऽन्तर्भाविमच्छता महिम्ना, ध्वनेर्लक्षणं वक्तव्यं, को नाम ध्वनिरित्युपक्रममाणन ध्वनिकारेणाङ्गीकृताया व्यञ्जनायाः स्वरूपं, तस्यार्थान्तरप्रतीतिजनकत्वं कथं ध्वनिकृता प्रदिश्चिति च ज्ञात्वा तत्रानुपपत्तौ सत्यामन्यो मार्गोऽन्वेष्टव्य इति तु न्याय्यः पन्थाः । तं विहाय ध्वनिकारोक्तं काव्यविशेषस्वरूपमनुद्य तस्य धातशः खण्डनाय खलु प्रवर्तते सः । कथमिदं घटते ?

ध्वितिकृदिभित्तं ध्वितिलक्षणं ''यत्रार्थः शब्दो वे''त्यादिकारिकानिष्पन्तं तु प्रतीयमानार्थव्यञ्जकोषसर्जनोभूनार्थबोधकशब्दत्वम् एकम् (ध्वित्तिलक्षणम्)। प्रतीयमानार्थव्यञ्जकोषसर्जनोकृतार्थबोधकशब्दत्वं च द्वितीयम् (ध्वित्तिलक्षणम्) -"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद्ते'' इति वचनेन यत्र काव्ये शब्दबो। ध्यो वाच्योऽर्थः स्वयमुपसर्जनीभूय अन्यमर्थं बोधयति स वाच्योऽर्थो व्यञ्जकः। यथा —

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

शूरकृतिवद्यसेवका: सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्तीति वाच्योऽर्थः । शूरकृतिवद्यसेवकानां सर्वत्र सुलभा विभूतय इति व्यङ्ग्योऽर्थः । अत्र वाच्य-स्याविवक्षितत्वेन गुणीभूतत्वाद् व्यङ्यार्थस्य प्राधान्येन व्वनिव्यपदेशोऽस्य काव्यस्य ।

अर्थस्य गुणीभूतत्वविशेषणानुपादाने गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतिव्याप्तिः । यथा-

उ गेढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशाम्खम् ।

यथा समस्तं तिमिरांशुकः तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

अत्र वाच्यः समासोक्तचलङ्कारः । स च गुणीभूतः अत्रकृतनायिकावृत्तान्तं व्यञ्जयित । अत्राप्रकृतवृत्तान्तो व्यज्यसानो वाच्ये प्रकृतव्यवहारे अभिन्नतया आरोप्यमाणो वाच्योत्कर्षमेवाधत्त इति अङ्गत्वेनैवास्ते, न तु प्रधानतयेति न ध्विनव्यवहारः । किंतु अपराङ्गव्यङ्ग्यभूतगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः एव । समारोपितनायिकाव्यवहाराया निशायाः समारोपितनायकव्यवहारस्य शशिनश्च वाक्यार्थत्वाद् वाच्यस्यैव प्राधान्यम् ।

अत्रेदमवधेयम् — व्यञ्जनाव्यापारस्य लक्षणे कथनीयतयोपस्थिते महिमा ध्वनिकारोक्तं ध्वनिकाव्यस्वरूपविवरणपरवाक्यमनूद्य तत्र लक्षणदोषान् आह—"अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव । वनतुमुपक्रममाण तस्यार्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावाद्'' इति । तस्यायमाशयो प्रकाशित: । सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवदिति नयबलादुभयसत्तायामेव दिशेषणविशेष्यभावः सञ्जाघटीति, न केवलायां सम्भवसत्तायामुष्णोऽग्निः इतिवद्, न वा केवलायां व्यभिचारसत्तायां, शीतोऽ-ग्नि: इतिवद्, उभयसत्तायां यथा नीलोत्पलादिषु विशेषणीभूतस्य नीलस्य उत्पलादिषु सम्भवाद् रक्तोत्पलादिषु तस्य व्यभिचाराच्च सञ्जाघटीत्येव विशेषणविशेष्यभाव:। एवं यथा अर्थस्य द्वितीयार्थप्रकाशनदशायामुपसर्जनी-कृतात्मत्वं सम्भवति, तथैव यदि तस्य तदृशायां तत्त्वं व्यभिचरेदपि तदा उपसर्जनीकृतात्मत्वस्य अर्थविशेषणत्वं सङ्गतिमत् स्यात्। किंतु नात अर्थे तद्व्यभिचारः इत्यनायत्या सिद्धं भवति यद् न तद् अर्थस्य विशेषण भवि-तुमर्हति'' इति । वाच्योऽर्थस्तावत् स्वयं गुणोभूय अर्थान्तरं प्रकाशयति । द्वयोरप्यर्थयोस्तयोश्चाहत्वतारतम्यपर्यालोचनायां, यस्य चारुत्वातिशयकृतं प्राधान्यं तत्कृतः काव्यस्य व्यपदेशः। व्यङ्गचार्थस्य चारुत्वातिशयकृते प्राधान्ये घ्वनिव्यवहारः । तत्र वाच्यस्य गुणीभूतत्वसम्भवः । यत्र तु गुणीभूतस्य वाच्यस्य, व्यङ्गचस्य च बोधानन्तरं वाच्यस्यैव चारुत्वातिशयकृतं प्राधान्यं तस्य गुणीभूतव्यङ्गचव्यपदेश:। अत्र व्यङ्गचस्य गुणीभूतत्वेन वाच्यस्येव प्राधान्याद् गुणीभूतत्वस्य व्यभिचारः । तद्रीत्यैव सम्भवव्यभिचाराभ्यामर्थवदेव गुणीभूतत्व (उपसर्जनीभूतत्व) विशेषणम् । एतेन तत्र वाच्यस्य प्राकरणिकत्वापेक्षया प्राधान्यं यदुक्तं तदनुवितमेव । अन्ततो गत्वा व्यभिचारसम्भवेऽपि वैकल्या-दनुपादेयमेव तत् । गुणीभूतव्यङ्गे ऽपि काच्ये तस्य चारुत्वप्रकर्षदर्शनादित्यप्याह महिमा । तत्र तस्य व्यङ्गयस्य चारुत्वप्रकर्षकृतं प्राधान्यं यद्यङ्गीक्रियते तिह तस्य काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्गत्वव्यपदेश एव न स्यात् । सर्वत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये व्यङ्गयस्य चारुत्वप्रकर्षो यदि, तिहं गुणीभूतव्यङ्ग्यविलोपप्रसङ्गः । किञ्च, व्यभिचारेऽपि वा इत्यनिच्छयापि व्यभिवारं मन्यमानेन कुत्र वान्यत्र व्यभिचारो द्रष्टं शक्यते ।

एवं प्रतीयमानार्यव्यञ्जकोपसर्जनीभूतार्थंबोधकशब्दत्वरूपे काव्य-विशेषलक्षणे वर्थस्य उपसर्जनीभूतत्वविशेषणानुपादाने गुणोभूतव्यङ्ग्ये काव्येऽ-तिव्याप्तिस्तद्वारणाय तद् विशेषणं सप्रयोजनम् वत उपादेयमेव । इदमवि-वक्षितवाच्यध्वनेर्लक्षणम् ।

विविक्षितान्यपरवाच्यस्तु शब्दशक्तिमूलध्वितः । तस्य प्रतीयमानार्थं व्यञ्जकोपसर्जनीकृतार्थबोधकशब्दत्वं लक्षणम् । यत्र नानार्थंशब्द: स्वशक्य-मर्थं बोधयंस्तमर्थमुपसर्जनीकृर्वश्च अन्यमर्थं व्यनिक्त सोऽपि काव्यविशेषो ध्विन व्यपदेशं भजते । ध्विन प्रसाध्य स द्विविधः अविविक्षितवाच्यो विविक्षतान्य-परवाच्यश्चेति यद् वृत्तौ प्रदिश्तं तत् कारिकार्थानुसृतमेवेति वेदितव्यम् ।

शब्दशक्तिमूलध्वनिर्यथा—

करतल निर्गलद्विरलद् । नजलो ल्लासितावनीवलयः । धनदाग्रमाहेतमू तिंजीयतितरां सार्वमौमोऽयम् ॥

अत्र नानार्थात् सार्वभौमशब्दात् प्रकरणवशात् सम्राज उपस्थितिः । तत्रश्च करदानधनदादिविशेषणैः तच्छब्दशक्यस्य दिग्गजस्याप्युपस्थितिः । एवं सम्राङ् जयित दिग्गजो जयतीत्युभयार्थप्रतिपादकवाक्ययोरसम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षोदिति सार्वभौमशब्दवाच्यमर्थद्वयमपि उपसर्जनीकृत्य तयोः साद्द्याक् स्मकमुपमालङ्कारं स शब्दो व्यञ्जयित । अत्र ध्वनेः प्राधान्यम् । स्ववाच्यादन्यस्यार्थस्य प्रदिपादको यः शब्दस्तस्यापि उपसर्जनीकृतार्थत्वं विशेषणमावश्यकम् । अन्यथा श्लेषकाव्ये (गुनीभूतव्यङग्ये) अतिव्याप्तिः । तथाच—

सर्वदो माधवः पायात् स योगङ्गामदीधरत्।

अत्र माघवो (विष्णुः) रक्षतु इति वाच्यार्थबोधानन्तरम्। उमाधवः (शिवः) पायादित्यर्थान्तरबोधजननद्वारा उभयोरिप स्तोतव्यत्वप्रतीतिभेयति । उभा-भ्यामिप स्तोतुः रक्षणीयत्वप्रार्थनाया एव चमत्कृतिजनकत्वाद् वाच्यस्यैवाये-द्वयस्य प्राधान्यम् । तस्यच न गुणोकृतत्वम् । व्यङ्ग्यस्य नु गुणीभूतत्वम् । एवं च चप्यस्यार्थद्वयस्यापि उपसर्जनीकृतत्वाभावान्नातिव्याप्तः । एवं च खपसर्जनीभूतात्मत्वोपसजनीकृतार्थत्वरूपोभयार्थपरम् उपसर्जनीकृतस्वार्थौ इति पदमावश्यकमेव । अर्थशब्दयोग्धभयोरिप तादशविशेषणमावश्यकमिति सूचनायैव द्विवचनान्तं तद् विशेषणमुपात्तम् । तदनुसारेण च व्यङ्क्त इति द्विवचनान्तप्रयोगोऽप्युपपद्यते । वस्तुतस्तु काव्यस्य अनुमितेर्वा स्वरूपविवरणात्मके वाक्ये तद्धटकद्वानामितव्याप्यादिवारकत्या व्यभिचारादिवारकत्या वा सार्थक्यं चिन्तयितुं नोद्युञ्जते शास्त्रकाराः ।

पुनरप्याह महिमा—''शब्दः पुनरनुपादेय एव'' इति तदप्यसमञ्जसम् । विशेष्यनिर्देशाभावात् । अत्रेदं विचार्यते । व्यञ्जनाव्यापारस्यानुमानेऽन्तर्भावा विवक्षितो महिम्ना । तस्य लक्षणं वक्तव्यत्वेनोपस्थितमिति वदन् व्वनिकारोवत्तं काव्यविशेषस्वरूपवर्णनपरं वाक्यं ब्रूते । ततस्य अन्वे तदेवं लक्षणदोषदुष्ट-पदव्युदासेन परिशुद्धो व्वनिलक्षणवाक्यस्यायमर्थोऽवितष्ठते इति वद्दनाह—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति। सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥ इति

काव्यानुमितिरित्यस्य काव्यादनुर्मायमानः (अनुमितिविषयः) अर्थ इत्यर्थः । अनुमानेऽन्तर्भावमित्यत्र व्वनिशब्दो व्यञ्जनाव्यापार परः । यत्रार्थः शब्दो वेत्यत्र व्वनिशब्दो व्वत्यत्र काव्यानुमितत्वेनाभिमन्य-मानो व्वनिशब्दो व्यञ्जयार्थपरः । आहु च—"एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव

सङ्गच्छते'' इति, "एतच्चानुमानस्यैद लक्षणं नान्यस्य" 'यदुक्तं — त्रिरूपलिङ्गा-ख्यानं परार्थानुमानम्" इति च । कि केन सङ्गच्छते ।

प्रतीयमानार्थंबोधको, व्यापारः व्याञ्जनाव्यापारः, प्रतीयमानार्थंबोधकशब्दः अविनसंज्ञितः काव्यविशेषः प्रतीयमानः अयः ध्विनः इति च तत्तरुक्षणे विशेष्यनिर्देशः कर्तव्यः। रूपस्य कि लक्षणमिति प्रश्ने चक्षुमोत्रग्राह्यो गुणो रूपमिति दक्तव्यम्। अत्र गुण शब्दोऽनुपादेय इति वचनतुरुयभेव यत्रार्थः शब्दोवेत्यत्र शब्दोऽनुपादेय एवेति कथनम्। तथापि यथा यो गुणो यदिन्द्रियग्राह्यस्तिष्ठिष्ठा जातिस्तदभावश्च
तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत इति रूपलक्षणे गुणत्वस्यानुपादाने रूपत्वे रूपाभावे चातिव्याप्तिस्तद्वारणाय गुणपदमावश्यकं, तथा ध्विनकाव्यलक्षणे शब्दशाब्दाभावे
अभिनयादेरि प्रतीयमानार्थंबोधकत्वात् तस्यापि काव्यत्वापितः। तद्वारणाय
शब्दशब्द उपादेयः। यदप्याह—तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेरूपपादिषयमाणत्वादिति, तदप्ययुक्तम्। शब्दस्यैव व्यञ्जनाव्यापारेण
प्रतीयमानार्थंबोधकत्वस्य, तदिभमतेन व्याप्तिज्ञानेन प्रतीयमानार्थाबोधकत्वस्य
चोपपादितप्रायत्वात्।

पृथगवस्थितस्य शब्दस्य स्वार्थाभिधानं (स्वसङ्के तितार्थाभिधानं) विना व्यापारान्तरं नास्तीति यद्युच्यते, तद् युक्तमेत्र । उपसर्जनीकृतस्वार्थरतं तु काव्यविशेषात्मकवावयघटकशब्दस्येत्र विशेषणम् । वाक्यघटकशब्दश्च गङ्गायां घोष इत्यादौ, लक्षणया तीरं, व्यञ्जनया शःयपात्रनत्त्रादिकं च बोधयतीति सकलानुभवसिद्धम् । अतः 'शब्दः पुनरनुगादेय एव । तस्य स्वार्भाभिधान-मन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेष्ठपपादयिष्यमाणत्वादिति'' महिमोक्तिनं विचार-सहा । वाक्ये तु न शक्तिः । तथापि वाक्यघटकशब्दैष्ठपस्थितानामर्थानां संसर्गमर्यादया तात्पर्यविषयीभूतस्य ज्ञानं तात्पर्याख्येन व्यापारेणैत्र भवति । तस्मादर्थान्तरप्रतीतिस्तु व्यञ्जनाव्यापारेणैत्र सिद्धचिति । व्यापारान्तरानुपपत्ते-रिति वदतापि महिम्ना व्यापारान्तरं नोपपद्यत इति न वक्ष्यते। कितु—ध्वनिकृद म्युपगतस्य व्यञ्जनाव्यापारस्यानुमानेऽन्तर्भावं वक्तुमेवोद्युङ्को । ततः शब्दस्यो-पसर्जनीकृतस्वार्थत्वं नास्तीत्याह । काव्यविशेषलक्षणे तस्यावश्यकत्वं पूर्वमेवोपपादितम् । महिम्ना तु तस्यानुकरणव्यतिरेकेणोपसर्जनीकृतार्थत्वं न सम्भवतीत्युच्यते ।

तं कर्णमूलमागत्य पलितच्छद्मना जरा। कैकेयीशङ्कपेवाह रामे श्रीन्यस्यतामिति॥

इत्यत्र तस्येतिना व्यवचित्रन्तस्य वाक्यस्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानं हेतुत्वेनोच्यते च। तदिप न समञ्जसम्। जौिककेन पदेन वाक्येन वा समविहतस्य इति शब्दस्य पदार्थव्यवच्छेदकत्वं नास्त्येव। अर्था हि सर्वदा सर्वथा सर्वत्र नामधेयेनान्विताः। नास्ति सोऽर्थो यः कश्चिन्नामधेयेन वियुज्यते । अर्था हि प्रतीयमाना नामधेयं हपेतास्तत्सामानाधि करण्येनावगम्यन्ते। गौरित्यर्थः अश्च इत्यर्थः इति । तथादार्थानां नामधेयात्मकत्वात् तद्गोचरम् आलोचनमपि नामगोचरमिति अर्थवन्नामधेयेन व्यवदिक्यमानं शाब्दं भवति ।

गृहीतसङ्को तोऽपि पुरुषस्तमर्थं इष्ट्वा उद्बृद्धसंस्कारः संज्ञां स्मरति । ततः परं बोधाय तया संज्ञया ज्ञानमुल्लिखति, मम रूपिनित ज्ञानं जातिमित्यादि । नैतावतोल्लेखेन शब्दार्थयोरभेदः । संज्ञाशब्दो हि त्रयाणां भवति—स्वस्य स्वार्थस्य, स्वार्थज्ञानस्य च। घट इति शब्दः घट इत्यर्थः, घट इति ज्ञानम् इति । तथा चागृहीतसङ्को तस्य संज्ञास्मरणाभावात् स नोल्लिखति ।

एवम् इतिकरणयुक्तः शब्दः यत्सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तस्तमधं बोधयति । यथा—"काव्यस्यात्मा घ्वनिरिति" इत्यत्र काव्यस्यात्मा घ्वनिरिति
सारभूतोऽथं इति अर्थस्य विशेष्यत्वेन निर्देशाद् घ्वनिरित्यथं इत्यर्थः। यथा च—
"घ्वनिरिति काव्यविशेषः" इत्यत्र काव्यविशेषात्मकशब्दस्य विशेष्यत्वेन
निर्देशाद् घ्वनिरिति शब्दः (काव्यविशेषः) इत्यर्थश्चावगम्यते । एवं घ्वनिरिति ज्ञानं मे जातमित्यत्र घ्वनेर्ज्ञानिषयत्वमिष बोध्यते । तथा शब्दसमुदायात्मकं वाक्यमिष यत्सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तस्तमेवार्थं बोध्यति । यथा—
दशरथस्य "रामे श्रोन्यंस्यता"मिति ज्ञानं जातम् इति, दशरथो
"रामे श्रोन्यंस्यता"मिति जनान् न्यवेदयद् इति, रामे श्रीन्यंस्यतामिति वाक्यं रामे
श्रोविन्यसनकर्तव्यतारूपमर्थं बोध्यतीति च ज्ञानार्थशब्दसामानाधिकरण्येन
निर्देशात् स्वस्य, स्वार्थस्य, स्वार्थज्ञानस्येति त्रयाणां बोधकं भवति रामे
श्रीन्यंस्यतामित्येकं वाक्यमितिकरणयुक्तम् । अपि च, "केकेयीशङ्कयेवाह्
रामे श्रोन्यस्यतामिति" इत्यत्र जराया अचेतनत्वाद् आहेत्यस्य सूचयतीत्यर्थः ।

सूचनं चार्थस्यैद, न तु शब्दस्य। रामे श्रीविन्यसनरूपस्यार्थस्य बोधनाय नास्त्येव तादशशब्दप्रयोगादतेऽन्य उपायः। तथाच रामे श्रीविन्यसनरूपमर्थमेव सूचित-वती जरा इत्येवार्थः सम्प्रतिपन्नः। एतेन इतिकरणयुक्तस्य वाक्यस्यापि पदार्थपरिच्छेदकत्वं नास्तीति प्रतिपादितम्।

वस्तुतस्तु - व्यञ्जनाव्यापारस्यानुमानै उन्तर्भावं प्रकाशयितुं व्यक्तिविवेकं प्रकुविणो महिमभट्टः अन्यदेव प्रतिजानाति, ततोऽन्यदेव विदधाति । वाच्या-दर्थान्तरस्य प्रतीतिवर्धञ्जनयेति ध्वनिकृत्मतम् । वाव्यरयार्थस्यार्थान्तरे सङ्केताभावाद् वक्त्रादिवैशिष्ट्यवशादन्यार्थबोधजननसमर्थेन व्यङ्ग्यार्थप्रतोतिरपि जायत इति तदाशय:! इदं न सम्भवतीति न महिमा बूते। यदेतत् परार्थानुमानं न्यायवाक्यं स्ववाच्यमेवार्थं प्रथमतो बोधयत् तदनन्तरजातेन व्याप्तिज्ञानेन नाग्नेरन्यं पदार्थमनुमापयति । अर्थान्तरबोधने व्याप्तिज्ञानस्य (जनुमितिव्यापारस्य) सामर्थ्यमस्तीति च स न मन्यते । अनुमेयत्वेनाभिमतस्यार्थान्तरस्य बोधने असमर्थाद् व्याप्तिज्ञानादन्य: व्यापारश्च न सङ्कल्पितः । काव्यवाक्याद् व्यञ्जनाख्येन व्यापारान्तरेणार्थान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयन्तं ध्वनिकारमाक्रम्य यो भवता व्यञ्जनाव्यापार उच्यते तदनुमानमेव, यश्चार्थो व्यङ्ग्य इत्युच्यते सोनुमेय एव इति च कथयति । किञ्च, यद् व्यञ्जनागम्यस्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते व्वनिकृता तदौपचारिक-मेवेति च वदति । यथा तीररूपेऽथे शैत्यपावनत्वादिप्रतीत्यथी गङ्गाशब्द प्रयोगः, तथानुमेयेऽर्थे सचेतनचमत्कारित्वरूपप्रयोजनापेक्षया व्यङ्ग्यत्वमुप-चर्यंत इत्यभित्राय:। एतेन सहृदयश्लाध्यत्वाय तत्र निरूप्यमाणं व्यङ्ग्यत्वमेव प्रभवति । अनुमेयत्वं तु गङ्गातारे घोष इति शब्द प्रयोगतुल्यमेवेति च ज्ञायते । अत: अर्थान्तरं व्यङ्ग्यमेव, तत्र व्यापारश्च व्यञ्जनैव।

अत्रदं विचार्यते—व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाम कश्चित् सम्बन्धः । सम्बन्धश्च सम्बन्धिद्वयसाधारणः । व्यञ्जकः (वाच्यः) अर्थः, व्यङ्ग्यः प्रतीय-मानश्च सम्बन्धितो । व्यङ्ग्यार्थबोधरूपस्य कार्यस्य अनन्यथासिद्धनियत-पूर्ववर्ती वाच्यो हेतुरिति तयोः कार्यकारणभावोऽनुमतः सर्वस्यापि । कार्य कारणयोः पौर्वापर्यं को नाम निषेद्धुमीष्टे । वाच्यप्रतीयमानयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिनं समकालं, यथा चानयोर्गम्यगमक भावः, तथा तैनैव व्यक्तिवादिना

तयोः स्वरूपं निरूपितुकामेनाप्युक्तं तदेवास्माभिः समाधित्सुभिषिहं लिख्यते परम् इत्युपक्रम्य महिमा ध्वनिकृद्धान्यमुद्धरति—"तद् यथा—नहि विभावानु-भावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिद्वगमः। अतं एव विभावादिष्रतीत्य-विनासाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेगावस्थानात् क्रमोऽबश्यभावी स तु लाघवान्न लक्ष्यत इति अलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः'' इति । पुनश्च, ''तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्य प्रतीत्योनिमत्तनिमित्तिभावान्नियसभावी क्रमः, स तुक्तयुक्तेः कचित् तु न लक्ष्यते" इति । एवं व्वनिकृदाशये सभ्यगिधगते, महिम्न: "रसादि-ष्वनुमेयेषु असंलक्ष्यक्रमो गम्यगकभाव इति सहभावभ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रान्येषां व्यङ्खकभावाभ्युपगमः, तन्निबन्धनश्च ध्वनिव्यपदेशः इतिवचनं न सङ्गच्छते । पूर्वागरभावेन प्रतीतिविषयतया कार्यकारणभावापन्नयोः द्वयोः सहसावो भ्रमरूपः ध्वनिकारस्यास्तीति महिमा कथमधिगतवानिति न ज्ञायते । आद्ययोस्तु क्रमस्य सुलक्षत्वाद् भ्रान्तिरपि नास्तीति निर्निवन्धन एव तत्र व्यङ्ग्यव्यपदेशग्रह इति तद्ववचनेन इदमवगम्यते । वस्त्वलङ्काररसात्मना व्यङ्ग्यस्य त्रैविध्यं ध्वनिकाराभिमतम् । तत्राद्ययोर्वस्त्वलङ्कारयोः प्रतीयमानयोः क्रमो लक्ष्यत एव । अतस्तत्र व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः सहभावो नास्तीति तत्र प्रतीय-मानयोस्तयोः व्यङ्ग्यव्यञ्चकभावो निनिबन्धन इति वदता सहभावे सत्येव व्यङ्ग्यव्यपदेशः प्रामाणिक इति प्रख्याप्यत इति तस्यैव भ्रमः यथा प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्चकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यपदेशो वैयाकरणैः कृतः, तथा प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दस्य व्वनिरिति व्यपदेश आनन्दवर्धनेन कृतः । स्फोटो नाम वैयाकरणैः नित्यत्वेनाभिमतः शब्दः । स च कण्ठताल्बाद्यभिघातजन्येन वर्णात्मकेन शब्देन लब्धस्वरूपोऽभिव्यज्यते । तथापि वर्णात्मकतया श्रूयमाणस्य शब्दस्य व्यञ्जकत्वं स्फोटस्य व्यङ्ग्यत्वं चास्तीति तयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव एव । तयोरपि उक्तरीत्या कार्यकारणभावात्मकत्वेन तत्रां निसहभावो नास्तीति व्वनिकृतोऽपि नाविदितमिदम्। एतेन सहभाव निबन्धनो व्यङ्ग्यव्यपदेश इत्यप्यसाम्प्रतम् । किञ्च, विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रत्यादीनां या प्रतीति: सैव रसप्रतीतिरिति मुख्यमेव व्यङ्ग्यत्वं रसादेः, वाच्यस्य च व्यञ्जकत्वं सुसम्पन्नम्। तत्र दृष्टान्तश्च घटप्रदीपन्य।यः। रूपिद्रव्य-चाक्षुषप्रमायामालोकोद्भूतरूपयोः कारणत्वं नियतम् । प्रदीपः स्वकीययमालोकं

प्रसारयति । तत्र विद्यमानो घटश्च चक्षुःसिन्निकर्षेण प्रत्यक्षविषयो भवति ।
यथा प्रदोपः (प्रकाशकः) स्वमालोकं प्रसारयन् समीपस्थितं घटं तत्र स्थितान्
रूपवतोऽन्यांश्च पदार्थान् प्रकाशयति, तथा प्रदोपस्थानीयः सुकविप्रयुक्तः शब्दः
स्ववाच्यमर्थं बोधयन् तत्सम्बद्धमर्थान्तरमि बोधयतीति अत्यन्तमुचित एव
घटप्रदोपन्यायोपन्यासः । व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं बोधयति, तदा
स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशक इत्यनेन वाच्यार्थंबोध एव प्रथमतो
जायते ततश्च व्यङ्ग्यबोधे वाच्यबुद्धिनं दूरीभवति इति पूर्वापरभावेनोपस्थितयोरिप सहावस्थानात्मकः सहभावो भवत्येव । न तु सहोत्पत्तिरूपः सहभावः ।
एतेनासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो श्सादिध्वनिरिति घ्वनिकारोक्तं सुप्रतिष्ठापितम् ।

किञ्च वाच्यार्थस्य यत्र व्यञ्जकत्वं स चेद् व्वनिस्तिह तदनुमितस्य व्यञ्जकत्वे व्वनित्वं न स्यात् तस्य वाच्यत्वाभावाद् इति यदुक्तं महिम्ना तद्य्यविचारिता-भिधानम्। यतो वाच्यस्याप्यर्थस्य व्यङ्ग्यत्रोधनदशायां व्यञ्जकत्वमेव। अपि च व्यङ्ग्यस्याप्यर्थस्यार्थात्तरव्यञ्जकत्वं न प्रामाणिकम्। वाच्य एवार्थः प्रतीयमानमनन्तमप्यर्थं व्यञ्जयितुं क्षमः। वाच्यो नाम कः ? काव्यात्मक शब्दात् शक्त्या प्रतिपाद्यमानोऽर्थः। काव्यशब्दश्रवणादेव स्वार्थस्यार्थान्तराणामि प्रतीतिभवतीति अर्थान्तरवोधनदशायां काव्यात्मकश्वदस्यापि व्यञ्जकत्वमम्युपगम्यते। यत्र वाच्याद् वस्तुमात्रेणैकेन द्वित्रैर्वान्तरिता वस्तुमात्वस्येव प्रतीतिस्तत्रापि व्यन्तत्वमिमनतमेव। यद्यपि व्यङ्ग्ययोर्वस्त्वरुद्धारयोन् वाच्यत्वमपि सम्भवति, तथापि अभिधायकशब्दिवरहदशायां व्यञ्जनया बोध्यमानयोर्वस्त्वलङ्कारयोरपि व्वनित्वमिन । तत्रापि काव्यात्मा शब्द एव वाच्यार्थप्रतिपादनद्वारा सर्वेषां व्यङ्ग्यानामर्थानां व्यञ्जक इत्यपि निविवादम्।

एतेन —

"वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति । सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥"

इति यदुक्तं महिम्ना, तत् कस्य स्वरूपनिरूपणपरम्। यत्रेति यच्छब्देन काव्यं (शब्दः) परामृश्यते । सा काव्यानुमितिरिति तच्छब्देन काव्यानुमितिन विशेष्यते। काव्यानुमितिर्नाम काव्यशब्देनानुमेयविषयिणी प्रमा। अनुमितिप्रमाविषयोऽनुमेयोऽर्थं इति अर्थश्च परःमृश्यते। काव्यशब्दः यदा वाव्यमर्थं
बोधयति तदा स वाचकः, यदा त्वनुषेयार्थं बोधकस्तदानुमापकः (व्याप्यः)।
तस्य च व्याप्यस्य व्यापकरूपार्थं बोधन एव सामर्थ्यम्। अनुमितस्तु अर्थः
अर्थान्तरं नानुमापयत्येव। व्याप्यस्य व्यापक्रबोधने व्याप्तिज्ञानं व्यापारः (व्याप्यव्यापकभावः)। अर्थान्तरबोधने को व्यापार इति प्रश्नस्य नास्त्येवोत्तरम्।
सम्बन्धतः कृतिश्चिदिति स्वयं वचनेन, विद्यमानस्य व्याप्यव्यापकभावरूपस्य
व्यापिज्ञानस्य तत्र प्राभवं नास्तीति चाङ्गीकृतं भवति। उनितं स्वाभिमतं
व्यापारात्मकं कमिप सम्बन्धमवदतो महिम्नो मतं न विचारसहम्।

इदमत्रावधेयम्—प्रतीयमानस्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वं नास्ति। वाच्यप्रतीयमानयोः कार्यकारणभावेनावस्थानात्। व्यङ्ग्यत्वं तु तयोः सहभावे सत्येवोपगद्यते। सहभावस्य चाभावेन तस्य व्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति। अतस्तस्यानुमेयत्वमेव युक्तम्। सचेतनचमत्कारित्वमिष तस्य व्यङ्ग्यत्वेऽङ्गीक्रियमाण एव भवति। व्यङ्ग्यत्वाभावे च सचेतनचमत्कारित्वं नास्ति चेन्मास्त्विति महिममतं भाति। किञ्च, यत्र वाच्यादर्थाद् वस्तुमात्रस्य प्रतोतिस्तत्रापि व्यङ्ग्यत्वं नाङ्गीक्रियते तेन। किं तु अनुमेयत्वमेव। तत्र सचेतनस्य कस्यचिदिष चमत्कारो नापेक्ष्यते च। तस्य काव्यत्वमिष नास्ति, किं तु प्रहेलिकाप्रायमेव तदिति च लोचने निमील्य प्रवदन्नास्ते व्यक्तिविवेककारो महिमभट्ट इति विदाङ कुर्वन्तु विद्वासः।।

ध्वन्यानोकसारसङ्ग्रहः ।

| कान्यार्थी द्विविधो हृद्यो वाच्यो व्यङ्गचश्च सम्मतः | : 1 |
|---|----------|
| वाच्यो निरूपित: सम्यक् पूर्वैर्भट्टोद्भटादिभिः | 11.8.11 |
| आनन्दवर्धनाचार्यो व्यङ्गचार्थं ध्वनिसंज्ञितम् । | |
| स नास्ति भाक्तोऽनाख्येयश्चेति वादान् निव्ह्र्यन् | ॥२॥ |
| इबन्यालोके सहृदयानन्दनाय न्यरूपयत् । | |
| अधिकारी ध्वनेस्तत्त्वजिज्ञासुर्वाच्यतत्त्ववित् | 11 3 11 |
| प्रतीयमानं माधुर्यं लावण्यं ललनास्विव । | |
| महाकवीनां वाणीषु यतो विद्योऽस्त्यतो घ्वनिः | { K |
| स चाप्यर्थः शब्दरूपं शरीरं समुपाश्रितः। | |
| आस्वाद्यते सहदयै: क्रीञ्चशोको यथा मुनेः | श ५ ॥ |
| वदनान्निर्गत श्लोकं प्राप्येत्येतन्निदर्शनम्। | |
| यत्र प्रधानवाक्यार्थो ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् | ॥ ६ ॥ |
| तस्यान्यवाद्यार्थेऽङ्गत्वे मध्यमं काव्यमुच्यते । | |
| अस्फुटत्वेऽविवक्षातस्तस्य ति चित्रमित् यपि | 11 9 11 |
| काव्यमेवं त्रिधाः भिन्नमित्येव ध्वनिकुन्मतम् । | |
| ध्वनेस्तत्त्वविवेकेन व्युत्पत्त्योद्बुद्धया कवि: | 11 & 11 |
| अभ्यासेन च सत्काब्यकरणे शक्तिमाप्नुते । | |
| प्राधान्येनान्यथा वापि व्वितना सुविभूषिता | स इ.स |
| स्वभावोक्त्यादिभिर्वाच्यैरथैरपि च सत्कवे:। | , |
| विन्दते नवतां वाणी पूर्वार्थस्पर्शवत्यपि | 11 60 11 |
| काव्यार्थोऽनन्ततामेति काव्यस्यानन्त्यसम्भवात्। | |
| बाच्यस्येवं सहृदयश्लाघ्यत्वं ध्वनिवन्मतम् | 11 88 11 |

श्रीमदानस्दवर्धनाचार्यप्रसीती

ध्वन्यालोकः

पण्डितराजनीलकण्ठशास्त्रिविरचितया उज्जीवन्याख्यया व्याख्ययोद्धासितः।

प्रथम उद्योतः ।

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः । त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छदो नखाः ॥ १ ॥

उज्जीवनी ।

शब्दब्रह्मण रसभावादि-व्यक्तेस्तत्त्वविवेकाकलने। शब्दार्थाविव महितौ जगनो मातरपिसरौ सादरमीडे॥

काव्याल ङ्कारभूतस्य ध्वने रालोचनात्मकम् । ध्वन्यालोकं प्रणिन्ये यः श्रीमानानन्दवर्धनः ॥ तस्यैव वाचां याथार्थ्यस्योदबोधनपरामिमाम् । ध्याख्यामुज्जीवनीं कुर्वे यथामति सतां मुदे ॥

शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितवर्तव्यतावम् आशीर्वचनरूपमारिचतं मञ्जलं ष्विनिकारः श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यः शिष्यशिक्षायै ग्रन्थत उपनिबध्नाति—

स्वेच्छित्यादिना । स्वेच्छया न तु परप्रेरणया । केसरिणा केसरिरूपं घृतवतः । प्रपन्नानां गरणमुपेयुषां प्रह्लादादीनाम् आर्ति पीडां तद्धेतुनिराकरणेन नाशयतः । यद्वा, आर्तित्वेनाध्यवसितं हिरण्यकिषपुँ चिद्धन्दतः । शरण्यं भगवन्तं ये शरणं प्रान्नास्तेषां प्रह्लादादीनां तद्धेरिणो हिरण्यकिषपिनिष्रहृद्धारा पीडावनोदनं निव्यूटिवानिति तदुचितस्य केसरिरूपस्य परिग्रहोऽप्युपपन्नो भवति । मधुरियोः हरेः । स्वच्छया निर्मलया, स्वस्यछायया कान्त्या । "छाया सूर्यप्रया कान्त्या । "छाया सूर्यप्रया कान्त्या । "छाया सूर्यप्रया कान्त्या । सवायासितः इत्ययं सादश्यलक्षकः । आयासितः खेदितः इन्दुर्येस्ते तथाविधाः । आयासित इत्ययं सादश्यलक्षकः शब्दः । बालचन्द्रातिशायि वक्रहृद्धत्वादि च व्यज्यते । नखा नखराः । वो युष्मान् व्याख्यातृन् श्रोतृंश्च त्रायन्तां रक्षन्तु । अत्र नखानां रक्षाकर्तृत्वोगन्यासेन प्रपन्नातिहरस्य नृहरेस्त-दितरप्रहरणानपेक्षयानाय।सेन दोनजनसंरक्षणदक्षता सूच्यते । प्रपन्नशब्देन कर्माकाङ्क्षया हरेः कर्मत्वेन भानम् ।

अत्र भगवन्नृसिंहगतः प्रपन्नोतिपरिहारद्वारा तत्संरक्षणविषयक उत्साहो वीररसः। निव्यपदेशहेतुः । अत एव वीररसानुगुणैर्वर्णेरोजोगुणः, दीर्घसमासरूपा सङ्घटनापि ।

ध्वनितिरूपणोद्युक्तेन ग्रन्थकृता ध्वनेरिवद्यमानत्वादिवादैः प्रतिवादित्वे-नाभिमतानां वैपत्यनिराकरणद्वारेण संरक्षणं प्रार्थ्यत इति प्रकृतार्थोऽनेन पद्येन सूच्यते ।

सहदयालोकसहदयहृदयालोकध्वन्यालोचनादिनामधेयान्तरैः सुविदिते ध्वन्यालोकनाम्नि काव्यालोके प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितो विषयः ध्वनि-निरूपणम् इति स्फुटमवगम्यते ।

कि नाम काव्यम् ? शब्दार्थात् 'कवते: वकौतेर्वा कर्तंरि कविशब्दो निष्पद्यते। धातृनां क्रियार्थंत्वाच्छब्दोऽयं धात्वर्थः शब्दानुकूलव्यापारात्मकक्रियापरो भवति । शब्दते (बोध्यते) अनेनेति व्युत्पत्त्या शब्दशब्दोऽयमर्थसाधनं परा-

 ^{&#}x27;कुङ्'शब्दे स्वादिः। २. कु 'शब्दे'' ग्रदादिः; घात्वोरनयोः ग्रच इः'' इत्यौणादिकेन इप्रत्यये, ग्रन्येभ्योऽपि इश्यन्ते (३.२.७५) इति सूत्रेण विच् प्रत्यये वा कविशब्दों व्युत्पादयितुं शक्यम्।

मृशति । कवेः कर्म काव्यम् । कर्म च व्यापारात्मकम् । कविशब्दप्रवृत्तितिमित्तं यो व्यापारः स एव कविशब्दाद् व्यापारे विहितेन प्रत्ययेनापि बोध्यते ।
येन व्यापारेण कश्चित् कविर्मवित तस्य कवेव्यापारो न खलु तस्मादितिरिक्तो
भिवतुमहिति । स एव व्यपारस्तस्य कविव्यपदेशे निमित्तत्वं च प्रतिपद्यते ।
तथा च शब्दस्यैव काव्यत्वं सम्पद्यते । सहृदयहृदया ह्लादजनकस्यार्थस्य बोधने
शब्दस्यैव सामर्थ्यम्, "अनन्यलभ्यः शब्दार्थ" इति न्यायात् । कविगतेन शब्दप्रयोगानुक्कलेन व्यापारेण शब्दज्ञानं, ज्ञायमानाच्च शब्दाद् वृत्त्या (अभिध्या,
लक्षणयाः वयञ्जनया वा) प्रर्थबोधातमकं फलं च भवतीति सर्वानुभवसिद्धम् ।
काव्यशब्दाच्चाव्यवधानेन शब्द एव सङ्कतो गृह्यते । स च लोकोत्तराह्रादजनकमर्थं प्रतिपादयन् काव्यव्यपदेशिवधयो भवति ।

किंच, शब्दशब्देनार्थवानैव शब्दो गृह्यते । शब्दसमूहात्मकं वाक्यम् । तच्च रमणीयमर्थं प्रदिपादयत् काव्यं भवति । वाक्यार्थश्च दाक्यतात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः । अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानां पदार्थानां आकाङ्क्षायीग्यतासिन्न-ध्यादिसहकारेण परस्परमन्वयबोघो भवतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् । सहृदयहृदयाह्नादजननसमर्थेन तेन वाक्यार्थेन समाविष्ट एव शब्दसन्दर्भः काव्य व्यपदेशमहेति । स चार्थः—

> वक्तृबोद्धग्यकाक्तनां वाक्यवाच्यान्यसिन्नधे: । प्रस्तावदेशकालादेवेंशिष्टचात् प्रतिभाजुषाम् ॥ योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुग्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

इति प्रदिशतिदशा वनत्रादिवैशिष्टचवशाद् वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनक-मर्थान्तरं व्यक्त्या बोधयति । वस्तुतस्तु साक्षात् सङ्कृतितार्थंबोधकान्येव सन्ति पदानि । पदान्तरसमिग्व्याहारे तु कस्यचित् पदार्थस्य पदार्थान्तरेण साकमन्वयस्य तात्पर्यस्य वानुपपत्तौ सत्यामर्थान्तरमुपस्थाप्यते व्यापारान्तरेण । यथा — "गङ्गायां घोषः" इत्यत्र गङ्गाशब्दमुख्यार्थस्य स्रोतसः घोषपदार्थेन (शबरगृहेण) अन्वयस्य बाधितत्वात् गङ्गाशब्दो लक्षणया गङ्गातीररूपमर्थं बोधयतीत्य-भ्युपगम्यते । गङ्गातीरे घोष इति प्रयोगे स्वायत्ते सत्यवाचकं लाक्षणिकं पदं प्रयोजनप्रतिपिपादियषया प्रयुज्यते किविभिः । तच्च प्रयोजनं शैरयपावनत्वादि

एउजीवनी ।

प्रतीतिः । तस्य च बोधने व्यापारो व्यञ्जना । एवं चाभिथयाभिधेयस्यार्थस्य बोधकः शब्दो वाचकः, लक्षणया लक्ष्यार्थबोधने स शब्दो लक्षकः, व्यञ्जनया व्यङ्गचार्थबोधने स शब्दो व्यञ्जक इति च त्रैविध्यं प्रपद्यते शब्दः । लाक्षणिकस्यार्थस्य तु स्वात्ममात्रे चमत्कृतिजनकत्वं न विश्राम्यतीति शब्दाद् जायमानः सहृदयश्लाष्ट्योऽर्थौ वाच्यो व्यङ्गयश्चेति द्विविधः समाम्नातः। अत एव—

"योऽर्थः सहुदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ"

इति वदता (ध्वनिकारेण) काव्यसामान्यलक्षणं प्रथमतोऽभिहितम् । ततः—

"एत्रार्थः शब्दो वा तनर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यङ्कतः काव्यविशेषः स घ्वनिरिति सुरिभिः कथितः॥"

इति काव्यविशेष(उत्तमकाव्य)लक्षणं च श्रीमदानन्दवर्धनाचार्येण प्रोक्तम् । सूरिभिः प्रथमैिवद्वद्भिः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्गयव्यञ्जनक्षमस्य शब्दस्य यथा ध्वनिरिति व्यपदेशः कृतः, तथा अन्यैरिप न्यग्भावितवाच्यव्यङ्गच-व्यञ्जनक्षमस्य रमणीयार्थप्रतिपादकस्य शब्दसन्दर्भात्मकस्य काव्यविशेषस्य ध्वनिरिति संज्ञा कृतेति लक्षणवाक्यार्थः सम्पद्यते । अत एव श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यो ध्वनिसंज्ञोपज्ञाता ध्वनिकार इति च प्रसिद्धिमुपगतो विद्वत्परिषस्य ।

श्रूयमाणस्य वशब्दस्य स्कोटाश्विव्यञ्जकस्य ध्वतिसंज्ञा वैयाकरणेरम्युप-गता। तदनुसारेण उपसर्जनोकृतवाच्य व्यङ्ग्याभिव्यञ्जकस्य सहृदयहृदया ह्लादजनकस्य शब्दस्यापि ध्वतिसंज्ञा इदंप्रथमतया श्रीमदानन्दवर्धनाचार्येण स्वीकृता। ध्वनित ध्वनयति वा 'ध्विनः' व्यञ्जकः शब्दः व्यञ्जकोऽर्थः, ध्वन्यतेऽनेनेति 'ध्विनः' 'व्यञ्जनाव्यापारः', ध्वन्यत इति 'ध्विनः' 'व्यञ्जग्योऽर्थः'

१. श्रय शब्दानुशासनं०० श्रथ गौरित्यत्र कः शब्दः । कि यत्तत् सास्नालाङ् गूलककुदखुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? नेत्याह । द्रव्यं माम तत्०० कस्तिह् शब्दः येनोच्वारितेन सास्नालाङगूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो मवित स शब्दः । श्रथदा प्रतीतपदार्थं को लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद् थथा-शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनि कुवेन् एवमुत्त्यते, तस्माद् ध्वनिः शब्दः" पातञ्जलमहा-माष्यम् (१ श्र० १पा० १प्रा०)

काव्यस्यातमा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्तादपूर्व-स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमादुस्तमन्ये । केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्ददीयं तेन ब्रूपः सहदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ २ ॥

उज्जीवनी ।

ध्वन्यतेऽस्मिनिति ध्वनिः (व्यङ्गचप्रधार्गं काव्यम्) इति पश्चस्वर्थेषु ध्वनिशब्दस्य सङ्केतो ग्रहीतुं शक्यम् । इत्थं च ध्वनिशब्देन समिन्याहृतविशेष्यानुसारेण ते तेऽर्थाः सङ्केतिता बोध्यन्ते ।

सङ्केतितादर्थादितिरिक्तस्य ध्वन्याख्यस्य प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावे समर्थिते सत्येव, यत्र सोऽर्थः प्राधान्येन प्रतीतिविषयतां प्रपद्यते तदुत्तमं काव्यं ध्विनसंज्ञितमिति वचनस्योचिततयां, ध्वनेः (व्यङ्गचार्थस्य) अविद्यमानत्वादिन वादैः विप्रतिपद्यमानानां तद्विषये वैमत्यमुपन्यस्य, तन्निरसनपूर्वकं ध्वनेति- रूपण प्रतिजानीते काव्यस्यात्मेति । ध्विनिरिति संज्ञाशब्दोऽयम् । ध्विनिरिति ध्विनसंज्ञितः, काव्यस्य सहृदयाह्मादजनकशब्दसन्दर्भस्य, आत्मा सारभूतः अर्थः इति सामानाधिकरण्येन निर्देशाद् ध्विनसंज्ञितो व्यङ्गचोऽर्थः इत्यर्थः सम्पद्यते । इत्यं च व्यञ्जकः शब्दः, व्यञ्जकोऽर्थः, व्यञ्जनाव्यापारः, व्यङ्गचोऽर्थः ध्वङ्गचार्थप्रधानं काव्यमित्येवं रूपाणां भ्यावतामर्थानामितिकरणयुक्तेन संज्ञाः

१. याव वर्थ वे नामघेय शब्दास्तै रर्थं सम्प्रत्यय: । प्रथं सम्प्रत्ययाच्च व्यवहार: । न्यायसूत्रवात्स्यायमभाष्यम् । (Chaukhamba Skt. Series Edn. P. 62) खद्योत:—याव दर्थमिति । प्रथि हि सर्वदा सर्वथा सर्वत्र नामघेये नान्विता: । नास्ति सोऽथों य: कदाचिन्नामघेयेन वियुज्यते । तदनेन नामघेय तादात्म्यमर्थान।म् । प्रथि हि प्रतीयमाना नामघेयै द्येतास्तत्सामाना घिकरण्येनावगम्यन्ते गौरित्यर्थ: प्रदा इत्यर्थ: इति । उक्तं च सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहे —

शब्दस्य।र्थस्य सम्बन्धस्तादात्म्यं शाब्दिकैर्मतम् ।

'श्रत: शब्दात्मकं विश्वं शब्दब्रह्मविदां मते'। इति ।

माध्यचन्त्रे चोक्तं—संज्ञा शब्दो हि त्रयाणां मवति । नवन्त्र, स्वार्थस्य स्वार्थज्ञानस्येति । तदुक्तं साङ्ख्ये—'घट इति शब्दः', 'घट इत्यर्थः', 'घट इति ज्ञानम्' इति ।

शाब्देन निर्देशो भवतीति ज्ञेयम्। एतदभिप्रायकत्वमेव काव्यस्यातमा ध्वनि-संज्ञितः (अर्थः) इति स्वयं व्याख्यातवतो ध्वन्यालोककर्त्रिति शक्यं वक्तुस्। किंच, 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति काव्यविशेषलक्षणपद्ये च ध्वनिरिति काव्यविशेषः इत्यत्र काव्यविशेषस्य सुकविप्रयुक्तस्य शब्दविशेषक्षपस्य विशेष्यत्वेन निर्देशात् यस्मिन् काव्यविशेषे व्यक्षकः शब्दो व्यक्षकोऽशों वा तमर्थं व्यनक्ति स काव्यविशेषो ध्वनिसंज्ञित इति अर्थः सम्पद्यते। एवं च ध्वनिरिति काव्यविशेष इत्यनेन काव्यात्मकशब्दसन्दर्भस्य ध्वनिसंज्ञा ध्वनिहिति काव्यस्यातमा इत्यनेन व्यक्षयस्यार्थस्य च ध्वनिसंज्ञा ध्वनिकारेणैव सुनिपुणं निक्षिता।

स च बुषै: विद्वद्भि: पूर्वेरलङ्कारशास्त्रकारैः अभिधालक्षणाभ्यां भिन्नेन तृतीयेन व्यञ्जनाव्यापारेण प्रतीयत इति सम्यगाम्नातः ।

अस्मिन् विषये बुद्दै: पूर्वं कि समाम्नातिमिति पश्यामः—वामन:—काव्यं ग्राह्ममलङ्कारात् (वा. सू. १. १.) काव्यं खलु ग्राह्ममुपादेयं भवित, अलङ्कारात् । काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः कव्यार्थयोर्वतंते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते । कोऽसावलङ्कार इत्याह—सौन्दर्यमलङ्कारः (१. १. २) अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते । स दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्यां (वा. सू. १. १. ३) । स खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालङ्कारहानोपादानाभ्यां (वा. सू. १. १. ३) । स खल्वलङ्कारो दोषहानाद् गुणालङ्कारादानाच्च सम्पाद्यः कवेः । रीतिरात्मा काव्यस्य (वा. सू. १. २. ४.) रीतिनिमयमात्मा काव्यस्य । शरीरस्येवेति वाक्य-शेषः । विशिष्टा पदरचना रीतिः (वा. सू. १. २. ७) विशेषवती पदानां रचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा (वा. सू. १. २. ८) वक्ष्यमाणगुणरूपो विशेषः । काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः (३. १. १) तदितश्यहेतवस्त्वलङ्काराः (३. १. २) तत्र श्लोकौ—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभि : सदलङ्कारिवकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचक्च्युतं गुणोभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदियताति दुर्भगत्वं नियतमलङ् करणानि संश्रयन्ते ॥
चमत्कृतिजनकार्थप्रतिपादकस्य शब्दसन्दर्भात्मनः काव्यस्य काव्यपदव्यपदेशविषयत्वं दोषश्चन्यत्वेन गुणालङ्कारसाहित्येन च सम्पद्यते । काव्यशोभाधायकाः

उजीवनी ।

शब्दगता अर्थगताश्च ओज:प्रसादादयो गुणाः, तदितशयहेतवः शब्दगता अनुप्रासादय: अर्थगता उपमादयश्चालङ्काराः। तत्रगुणा नित्या नियताः। अलङ्कारास्त्वनियताः। तैरलङ्कृतं काव्यम् उपादेयम्।

पूर्वे अलङ्काराशास्त्रकारा भामहदण्डिभट्टोद्भटप्रतीहारेन्दुराजप्रभृतयः वाच्यार्थोपस्कारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणं मन्वानाः वस्त्वलङ्कारसातमना विविधस्यापि प्रतीयमानस्यार्थस्य अलङ्कारत्वमभ्युपगतवन्तः । तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्तचाक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुनात्रं गम्यमानं वाच्यार्थोपस्कारकत्वेन, रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमा- चलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेन, रसवत्प्रेयऊर्जेस्विसमाहितादौ रसभावादि- विच्यशोभाहेतुत्वेन चालङ्कारसामान्यलक्षणाक्रान्तत्वात्।

तदेवं पूर्वे रलङ्कारशास्त्रप्रणेतृभिः ध्वन्यमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाल-ङ्कारपक्षनिक्षिप्तं मन्यमानै: अलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति सिद्धान्तितम् । अतस्तदानीं "प्राधान्येन व्यवहारा भवन्ती''ति न्यायेन तच्छास्यमालङ्कार-शास्त्रमिति व्यपदेशश्च सप्रमाण एवासीत् । ततस्तेभ्योऽर्वाचीनैर्गूढविचारशालि-भिरानन्दवर्धनाचार्यः स्वप्रणीते ध्वन्यालोकेऽस्मिन् ग्रन्थे ध्वन्यमानस्यैवार्थस्य अलङ्कार्यत्वेन प्राधान्ये स्थापितेऽपि प्राचीनव्यपदेशप्रणाल्यनुसारेण अस्यापि ग्रन्थस्य अलङ्कारनाम्नैव व्यपदेशोऽभ्युपगतः । दृश्यते चैतत् प्रत्युद्द्योतान्तं ध्वन्यालोकनाम्नि कव्यालङ्कारे इति केषुचित् पुस्तकेषु ।

ततो घ्वनिदर्शनादनन्तरकालिको जगन्नाथपण्डितो वाक्यार्थोपस्कारकत्व-मलङ्कारसामान्यलक्षणमाचष्ट । वाक्यार्थो नाम वाक्यतात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः । स च द्विविघो वाच्यो व्यङ्ग्यश्च । वाच्यो वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधः । व्यङ्गचो वस्त्वलङ्काररसात्मना त्रिविधः । एवं वाच्यवस्तुनो, वाच्याल-ङ्कारस्य, व्यङ्गचवस्तुनो व्यङ्गचालङ्कारस्य, व्यङ्गचभूतरसस्य चेति पञ्चविधतां प्राप्तस्य वाक्यार्थस्य शोभाधायकानां उपमादीनामलङ्कारत्वं सिघ्यतीति, व्यङ्गचार्थगतानां अलङ्काराणामलङ्कार्यत्वेन प्राधान्येऽपि अलङ्कारसामान्यलक्षणाक्रान्तैस्तैरलङ्काररलङ्कृतं काव्यं सुन्दरं भवति । अत एवोक्तं वामनेन—सौन्दर्यमलङ्कार इति, काव्यं ग्राह्यमलङ्कारादिति च । बुधैः कान्यतत्त्वविद्भिः, कान्यस्यात्मा ध्वनि भंज्ञितः परम्परया यः समामनः तः सम्यग् आ समन्ताद् मनातः प्रकटितः । तस्य सहृदयमनः प्रकाश-मानस्याप्यभावमन्ये जगदुः । तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति ।

उज्जीवनी।

प्रकृतमनुसरामः । काव्यस्यात्मा व्वनिरित्यत्र पूर्वमेव बुधै: अभिधालक्ष-णातो भिन्नेन तृतीयेन व्यञ्जनाख्येन व्यापारेण प्रतीयमानोऽर्थोऽभ्युपगतः समा-म्नातश्च । तथापि गुणालङ्काराविभिः शब्दगतैः वाच्यार्थगतैः, व्यङ्गचार्थगतैश्च काव्यस्य सौन्दर्यं पश्यद्भिः व्यङ्गचस्याप्यर्थस्य काव्यालङ्कारत्वेन परिगणना कृता । तथापि अर्थ: प्रतीयमानी नास्तीति केनचिदपि नाभ्य-**घा**यि । तदेवम् एतेन पद्येन ध्वनिसंज्ञितस्य अर्थस्य स्वरूप्निरूपणं प्रतिज्ञायते ग्रन्थकारेण । स च पूर्वमेव बुधै: समाम्नात इति च स्वयमेवोच्यते । अन्यैर्निरूपितस्य तस्य ग्रन्थेऽस्मिन् पुनर्निरूपणं किमर्थमित्याशङ्कां परि-जिहीर्षुः आनन्दवर्धंनः प्रतिवादित्वेनाशिमतानां केषाश्चित् काश्चित् विप्रतिपत्ती-र्देशयति—तस्याभावमित्यादीना । तस्य घ्वनेः प्रतीयमानार्थस्य अभाव-मविद्यमानतां जगदुः कथयामासुः । अन्ये केचित् तस्य ध्वनेः भाक्तत्वं भक्ति (लक्षणा) जन्यप्रतीतिविषयत्वं आहुः वदन्ति । वर्तमाननिर्देशादिदानीन्तना-नामि अयमाशयोऽनुवर्तत इति सूच्यते । केचिदपरे तदीयं व्वितसम्बन्धि तत्त्वं घ्वनिव्यपदेशविषयत्वं वाचामविषये स्थितमनाख्येयमित्यूचुरवोचन्। तेन तेन हेतुना, सहृदयानां मनसि प्रीतिमुत्पादियतुं ध्वने: व्यङ्ग्यार्थस्य, स्वरूपं ब्रूम: कथयामः ।

तदेव विवृणोति—बुधैरिति । काव्यतत्त्वविद्धिः काव्यस्य तत्त्वं काव्यत्वं काव्यत्वं काव्यपदं व्यविद्धः जाव्यस्य जानिद्धः ध्वनिसंज्ञितः ध्वनिसंज्ञाविशिष्टः काव्यस्य इष्टार्थव्यविच्छन्नपदसमुदायात्मकस्य आत्मा सारभूतोऽर्थः, परम्परया अविच्छिन्नपे प्रवाहेण, आ समन्ताद् म्नातः अभ्यासेन आवृत्या प्रकटितः प्रकटीकृतः । तस्य ध्वनेः, सहृदयानां मनिस हृदये, प्रकाशमानस्यापि, अभावमविद्यमानतां, अन्ये जगदुः ऊचुः । तेन बूम इत्यनेन, निरूपिध्यमाणस्य

 ^{&#}x27;निरिति मंo' ड. ढ. एा. २. 'ख्वाo' च. भा. ज.

तत्र केचिदाचक्षीरत्। शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। तत्र च शब्दगता-श्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः वर्णसङ्घटना-धर्माश्च ये माधुर्यादयः तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः वैकिश्चदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्वचौतरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामिति ॥

उज्जीवनी ।

ध्वनेः दढतरप्रतिपत्तिसम्पादनाय विप्रतिपत्तिः सम्भावितेति द्योतनाय जगदुरिति परोक्षभूते लकारः प्रयुक्तः । तस्य ध्वनिरूपस्यार्थस्य, अभावमविद्यमानत्वं वदतां च, अमी वक्ष्यमाणप्रकाराः, विकल्पाः विविधाः कल्याः पक्षाः सम्भवित्त ।

वस्तुतस्तु अभावं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वात् सर्वथा तेषां मते यदि नास्ति सोऽर्थः, तस्य शश्याश्रङ्गायमानस्य अभावो वक्तुं नोचितः । नोक्तं च तथा तैः कैश्चिदपि ।

अपरैः ध्विनकारदिशतिदिशा सोऽथीं न प्रतिपादित इत्येव । जतः ध्विनिकृत्मतानुसारेण तैरनुक्तत्व।देव ते तदभाववादिनः संकित्पताः, तेषां कत्पाश्च प्रदर्शन्ते—तत्रेति । शब्दार्थेति । शब्दः (सुकविप्रयुक्तः) एव अर्थः (पदार्थः) शरीरं यस्य तत् काव्यम् । तदुक्तं दण्डिना—"शरीरं ताविदृष्टार्थव्यविष्ठिसा पदावली"इति । तादशाच्च शब्दसन्दर्भात्मकात् काव्यादिभध्या बोधितानां तत्तदर्थानां आकाङ्क्षादिसाहाय्येन सहृदयश्लाध्यस्य वाक्यतात्पर्यं विषयीभूत-स्यार्थस्य प्रतीतिर्जायते । ततो वक्तृबोद्धव्यादिवेशिष्ट्यात् प्रतिभाशालिना-मर्थान्तरबोधो व्यञ्जनया भवति । तद्व्यञ्जकत्वं च न केवलं शब्दस्य, किन्तु, पदपदैकदेशवर्णरचनाप्रबन्धादीनां नाट्चाङ्गानां सर्वेषामि । प्राचामप्येत-दिभमतमेव । काव्यस्वरूपनिरूपणाय प्रवृत्तमलङ्कारशास्त्रम् । शब्दगता अनुप्रासादयः चारुत्वहेतवः काव्यरामणीयकप्रयोजकाः । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टी न्यासो वर्णविन्यासः अनुप्रास इत्युक्तः । अर्थगता उपमादयश्च अर्थानलङ्काराः। रसाद्यनुगतानां वर्णानां सङ्घटनया माधुर्यादयो गुणाश्च प्रतीयन्ते प्रतीतिविषयीक्रियन्ते । रसाद्यनुगुणवर्णव्यवहारो वृत्तिरित्युच्यते । तदुक्तं प्रतीतिविषयीक्रियन्ते । रसाद्यनुगुणवर्णव्यवहारो वृत्तिरित्युच्यते । तदुक्तं

१. 'य:। संङ्घ' क. ख. ग २, 'काo' क. ग. च.

भट्टोद्भटेन—'रसाभिव्यक्तचनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकः वृत्तयः। ताश्च तिस्रः, उपनागरिकापरुषाग्राम्यात्त्रभेदात्।

१. तत्र उपनागरिका-

सरूपसंयोगयुतां मूधित वर्गान्त्ययोगिभिः। स्पर्शेर्युतां च मन्यन्त उपनागरिकां बुधाः।

२. परुषा-

शषाभ्यां रेफसयोगैष्टवर्गेण च योजिता। परुषा नाम वृत्तिः स्याद् ह्लह्वह्याद्यैश्च संतः॥

३. ग्राम्या-

शेषैर्वर्णेर्यथायोगं कथिता कोमलाख्यया। ग्राम्यां वृत्ति प्रशंसन्ति काव्येष्वास्तबुद्धयः॥

तत:

सरूपव्य**ञ्जनन्यासं** तिसृष्वेतासु वृत्तिषु । पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥

इति तदनतिरिक्तवृत्तयः गुणानितरिक्ताः माधुर्यादिगुणात्मिका वृत्तयश्च उपनागरिकापरुषाग्राम्याश्च प्रकाशिताः।

एतासु वृत्तिषु पृथक् पृथगुपनिबध्यमानमनुप्रासं कवयोऽभिलषन्ति । तेन उपनागरिकानुप्रासः, परुषानुप्रासः, ग्राम्यानुप्रासक्षेति त्रयोऽनुप्रासाश्च वर्ण्यन्ते ।

तेन दोषशून्यत्वे सति गुणालङ्कारसहितत्वं काव्यलक्षणम् अभ्युपगतं प्राचीनैरालङ्कारिकैरित्यवगग्तु शक्यम् ।

'काव्यशोभाकरान् धर्मांनलङ्कारान् प्रचक्षत' इत्युक्तप्रकारेण काव्यस्य शोभाया आधायकान् सर्वानिप धर्मान् (अनुप्रासवस्व, उपमावस्व रसवस्वादीन्) काव्यालङ्कारान् मन्यमानास्तैः काव्यमलङकृतं भवतीति प्रत्यपद्यन्त ।

किञ्च काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रहे भट्टोदभटेन पुनक्क्तवदाभासालङ्कारं लिलक्षयिषुणा पुनक्क्तवदाभासं नाम काव्यमेव लक्षितं "पुनक्काभासमभिन्न-वस्तिववेदभासि भिन्नरूपपदम्" इति ।

तद् व्याचष्टे प्रतीहारेन्दुराजः अभिन्नं वस्तु यस्मिन्नुद्भासते तदिभिन्नवस्तु ! भिन्नं रूपं ययोः (पदयोः) ते भिन्नरूपे । अभिन्नवस्तिवनभिक्षणमुद्भासेते भिन्नरूपे पदे यस्यिस्तद् अभिन्नवस्तिववोद्भासिभिन्नरूपपदम् । ४ ४ अनेन च यत्र भिन्नरूपे पदे एकार्थवदवभासेते तत् पुनरुक्तवदाभासं काव्यम् अलङ्कार्यं निर्देष्ठम् ॥ ४ ४ ४ पुनरुक्तवदाभासमाने च पदे तस्यालङ्कारः ! अत्रा-रुङ्कार्यं च यत् काव्यं, तद्धमंत्वेन पुनरुक्तवदाभासमानयोः पदयोररुङ्कारत्व—मुक्तं न तु स्वतन्त्रतया । फल चैवमभिधानस्य पुनरुक्तवदाभासमानपदसमन्व-यस्यालङ्कारताख्यापनम् । अलङ्कारस्य अलङ्कार्यपदतन्त्रया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति । स्वात्मन्यवस्थितस्य तस्यानलङ्का रत्वात् समुद्गकस्थितहारकेयूरपारिहार्याद्यलङ्कारवत् । अतः पुनरुक्तवदा भासत्वस्थालङ्कारताख्यापनाय काव्यपरतन्त्रत्तया निर्देशो युक्त एव" इति

वामनस्तु— 'रीतिरात्मा काव्यस्य'' इत्युक्तवान् । शरीरस्यात्मेव काव्यशरीरस्य रीतिरात्मस्थानीयेति यावत् । "विशिष्टा पदरचना रीतिः'' इति सूत्रेण गुणविशिष्टां पदसङ्घटनां रीति मन्यते । सा त्रिधा वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति । तत्रं समग्रगुणीपेता वैदर्भी, ओजःकान्तिमती गौडीया, माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली । एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम् इति च । एतस्या रीतेः समावेगात् काव्यस्य शोभाधानानुभवात् सैव काव्यस्यातमा भवतीति तेषामाशयः । वाच्यलक्ष्यव्यति कस्य कस्यचिदर्थस्य तैः अनाकलनात् तेऽभाववादिनः कल्पिता आनन्दवर्धनेन''

इदमत्रावधेयम्-

रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्दसन्दर्भः काव्यशरीरम् । तत्प्रतिपाद्योऽर्थः काव्यस्यात्मस्थानीय:। स द्विविध:, वाच्यो व्यङगच्छाः अभिधया प्रतिपाद्य-मान: वाच्य: व्यञ्जनया प्रतिपाद्यमानश्च व्यङ्गचः । शब्दस्य अनुप्रासादयोऽ लङ्कारा:। गुणाञ्च—

अन्ये त्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्नादिशव्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्त-प्रस्थानाति रेकिणो मार्गस्य तत् सम्भवति। न च तत्समयान्तः पातिनः सहृदयात् काञ्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्धचा ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वनमनोग्राहितामवलम्बते।।

उज्जीवनी ।

श्लेषः प्रसादः सगता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः।

इति दश शब्दगुणाः । त एव च दश अर्थगुणाः । उपमादयो वाच्यालङ्काराः । व्यङ्ग्यानां शृङ्गारादिरसरूपाणाप्रथीनां च अलङ्काराः सन्ति ।
गुणाश्च माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयः । तत्तद्रसानुगुणवर्णव्यवहारूपासु परुषोपनागरिकाग्राम्यात्मिकासु तिसृषु वृत्तिषु सरूपव्यञ्जनिवन्यासरूपमनुप्रासं
शब्दालङ्कारं मन्यन्ते । एवं रसानामिष माधुर्यादिगुणवत्त्वेन काव्य शोभा
धायकस्वस्यैवाभिमतत्वात् रसानां काव्याङ्गत्वमेव पूर्वेरङ्गीकृतम् ।

अतः काव्यशोभाकराणां सर्वेषामलङ्कारत्वेन परिगणना कृतेति प्रेयोरसव-दूर्जेस्विसमाहितादोनामलङ्कारमध्ये परिगणनात् स्पष्टं भवति । उद्भटभट्टेन रसवदलङ्कार एवं लक्षितः—

> "रसवद् दिशतस्पष्टश्रङ्गारादिरसोदयम् । स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ इति.

स्वणब्दाः शृङ्गारादेविकाः शृङ्गारादयः शब्दाः। स्थायिनो रसानामुपादानकारणप्रख्या रत्यादयो नव भावाः। सञ्चारिणस्तु, निर्वेदादयो रसानामवस्था
विशेषक्षपाः। विभावास्तु तेषां निमित्तकारणभूता योषिदादयः, ऋतुमाल्यानुलेपनादयश्च। आङ्गिकादयस्तु चत्वारो रसानां कार्यभूता अभिनयाः, एतेषां
स्वणब्दारीनां पञ्चानां समस्तव्यस्ततया आस्पदत्वात् येन काव्येन स्फुटक्रपतया शृङ्गारादिरसाविभीवो दश्यते तत् काव्यं रसवत्। रसाः खलु तस्यालङ्कारः" इति च प्रतीहारैन्दुराजेन व्याख्यातम्।

१. 'क्रामि∘' क.

२. 'न पूप काश्चित् स०' क. ख. ग.

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः । न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनित्वर्तमानस्य तस्य उक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात् ।

उज्जोवनी।

एवं कैश्चिदुपनागरिकाद्या दृत्तय: काव्ये प्राधान्येन स्वोकृता:, अन्यैः रीतयश्च वैदभ्यौद्या:। सर्वा अपि ता: श्रवणविषयोभूताः। श्रुता इत्यर्थः तद्वच तिरिक्तः तद्भिन्नः ध्वनिर्नामायं क इति प्रतिवादिनो वदेयुरित्यर्थः। इति अभाववादिनां प्रथमा विप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता ।

अथ दितीया विप्रतिपत्तिः प्रदर्शते — अन्ये ब्रूयुरिति । सहृदयहृदयाह्वाद्यर्थप्रतिपादकशब्दसन्दर्भरूपपदार्थात्मकत्वं काव्यस्य लक्षणं प्राचामभिमतम् :
इदमेव प्रसिद्धं प्रस्थान पद्धतिरूपिति यावत् । तदितिरकृतस्य काव्यप्रकारस्य
काव्यभेदत्वेनाङ्गीक्रियमाणस्य काव्यत्वं न विचारसहम् ।। उक्तं च यत् प्रस्थानं
तदिरिकेणः तद्बहिर्भृतस्य मार्गस्य तत् काव्यत्वं न सम्भवति ।

अन्ये ब्रूयुरिति सम्भाव्य दितीयमभाववादिनो मतमिति प्रकल्प्य यदुक्तं नास्त्येव ध्वनिरित्यादिकं तन्नान्यत्वेनाभिमतानामाञ्चयाविष्करणात्मकं, किन्तु ध्वनिकारस्य सम्भावनाप्रकारविश्वदीकरणरूपमेव । वस्तुतोऽविद्यमानानां मतेऽविद्यमानस्य वस्तुनो निषेधस्यानवकाशात्। यदि तु तत्समयस्यान्तः प्रविष्टाः कतिपये सहृदयाः प्रयमं परिकल्प्यन्ते तेषु अयं ध्वनिः प्रसिद्धः । ततस्तत्र काव्यव्यपदेशः प्रवत्यंत इत्यभिमन्यते तथापि सकलानां विदुषां बुधानां, मनोग्राहितां हृदयग्रहणविषयतां नैतत् प्रतिपद्यते ।

तृतीयमभाववादिमतं प्रस्तौति—पुनरपरे इति । अपरे पुनः व्वितमन्यथा प्रकारान्तरेण प्रत्यवित्व्ठेरन् इति सम्भावना पूर्ववदेव । तदेव विवृणोति— न सम्भवत्येवेति । अपूर्वः पूर्वेरसम्प्रतिपन्नः नूतन इति यावत् । व्विनिर्नाम कश्चिदर्थो न सम्भवति न विद्यते । यदिभिनतं कामनीयकं काव्यार्थस्य सहृदयमनोरञ्जकत्वं नामः तदनिवर्तमानस्य सहृदयाह्नादकत्वेनैवावस्थितस्य,

१. 'वा स॰' 🖪 ख. ग. २. 'कथितं' क. ख.

किश्व वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंदिचत् काव्य-श्विक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैः अप्रदर्शिते प्रकारलेशे व्वनिर्व्वतिरिति यदेतदलीक सहस्वयत्वभावनामुकुलि विलोचनैर्वृत्यते, तत्र हेतुं न विद्यः । सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च । न तेषा-मेषा दशा श्रूपते । तस्मात् प्रवादमात्रं व्वनिः । न त्वस्य शोदक्षमं तत्त्वं किश्वदिष प्रकाशियतुं शक्यम् ।

तथा चान्येन कृत एवात्र इलोक:---

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति व्युत्पन्नै रिचतं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्। काव्यं तद् व्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो नो विद्योऽभिद्याति कें सुमितना पृष्टः स्वरूपं व्वने : ॥

उज्जीवनी।

तस्य घ्वनेः, उक्तेषु चारुत्वहेतुषु गुणालङ्काररूपेष्वेवान्तर्भावानुभवात् । न च तेषां गुणानामलङ्काराणां वा मध्यादेकस्य, अपूर्वा पूर्वमभूता समाख्या घ्वनिरिति संज्ञैव क्रियत इति वाच्यम् । तस्य विचारासह्त्वात् ।

अथवा अस्तु व्वितः। वाग्विकल्पानामानन्त्यात्। वक्तीति व्युत्पत्त्या वाचां शब्दानां, उच्यत इति व्युत्पत्त्या वाचामर्थानां उच्यतेऽनयेति व्युत्पत्त्या वाचामभिधाव्यापाराणां च बहुविधत्वात्। तथापि प्रसिद्धेः प्रख्यातैः, काव्यलक्षणविधायिभिः गुणालङ्कारोपस्कृतचमत्कृतिजनकार्थवोधकशब्द-सन्दर्भवत्त्वरूपं काव्यलक्षणं कृतवद्भिः केश्चिदपि अप्रदर्शिते प्रकारलेशे, कस्मिश्चित् काव्यप्रकारे व्वितः व्वितिहित, अलीक्या मिथ्याभूतया, सहृदयत्वभावनया सहृदयत्वाभिमानेन लोचने मुकुलीकृत्य, यद् नृत्यते तत्र को हेतुरिति न वयं जानीमः। अन्यैर्महात्मभिरलङ्कारशास्त्रकारैः सहस्रशः अलङ्कारप्रकाराः, अलङ्क्रियतेऽनेन (काव्यम्) इति व्यत्यत्त्या यैः काव्यमलङ्कृत

[,] १. 'लक्ष्मवि०' **क.** अ. अ.

२. 'लीकृतः क

३. 'g i' क.

भावतमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं व्वनिसंज्ञितं काव्यातमानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

उजीवनी ।

भवति तेषामलङ्काराणां गुणानां रसभावादीनामिष प्रभेदाः प्रकाशिताः पूर्वंम्, अद्यापि प्रकाश्यन्ते च । तेषामिष महात्मनां एषा दशा अयमवस्थाविशेषो यो ध्वनिवादिनां सन श्रवणगोचरतां प्रतिपद्यते । तस्माद् ध्वनिरिति प्रवाद एव न वस्तुतोऽस्ति । अस्य ध्वनेः श्लोदश्रमं तत्त्वं ध्वनित्वं घ्वनित्यपदेशविष्यतायोग्यत्वं किन्विदिषि प्रकाशियतुं न शक्यष् । अत्र केनिवदन्येन ध्वनिकारसमानकालभवेन मनोरथनाम्ना किना कृतं कमिष श्लोकं प्रमाणत्वेनाह—यस्मिन्निति । मनः-प्रह्लादि हृदयानन्दनं, सालङ्कृति काव्यशोभाकरेगुंणस्तदितशयहेतुभिर-लङ्कारेश्च सुन्दरं, किन्वन वस्तु कोऽप्यर्थक्षः पदार्थः, यस्मिन् काव्ये नास्ति न विद्यते । यत् काव्यं, व्युत्पन्नैः व्युत्पत्तियद्भिः कर्तृभिः, वचनैः वाय्व्यापारैः न रचितं च । वक्रोक्तघा शून्यं विरिहतं च । साद्ययाल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति लक्षणलक्षितेनालङ्कारेण रहितमित्यर्थः । तत् ताद्यं काव्यं, घ्वनिना समन्वतं युक्तमिति प्रोत्या प्रमोदेत प्रशंसन् प्रख्यापयन्, जडः मन्दमिनः, सुमितना मितमता, ध्वनेः स्वरूपं पृष्टः वनुयुक्तः किम् अभिद्याति कि वदतीति नो विद्मः न जानीमहे ।

एवमभाववादिनां मतं त्रेघा विभज्य प्रतिपादितम् । ध्वनिर्गुणा-लङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः इत्येकम् । व्यतिरिक्तत्वेपि न शोभाधायकः काव्यस्येति द्वितीयम् । शोभाधायकत्वेऽपि न सर्वेषामादरस्यास्पदिमिति तृतीयम् ।

अन्येन केनचित् कृते अस्मिन् श्लोके मन:प्रह्लादि सालङ्कृति इति विशेषण।भ्यां सहृदयहृदयाह्लादिशब्दात्मकस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूपितम्। तथा व्युप्पन्नै रचितमित्यनेन व्युत्पत्तेः काव्यकारणत्वं च प्रदर्शितम्।।

काव्यात्मकशब्दात् प्रतीतिविषयस्यार्थस्योपस्थितिः भक्तचा भवतीति तस्य भाक्तत्वं वदतां मतमाह—भाक्तमिति । भक्तिर्नाम लक्षणाव्यापारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—(P 40)

''मुख्यार्थं बाधे तद्योगे रूढितोऽय प्रयोजनात्। अन्योऽयों लक्ष्यते य सा लक्षणारोपिता क्रिया॥'

उज्जीवनो ।

मुख्यार्थबाधस्तद्योगो रूढिप्रयोजनान्यतरच्च लक्षणाबीजम् । मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते । यद्यपि गङ्गाशब्दवाच्योऽर्थः स्रोतोरूपः तीरात्मकमर्थं बोघयतीति व्यापारोऽयं वाच्यार्थनिष्ठस्तथापि गङ्गाशब्दत्य लाक्षणिकत्वमपि सम्भवति ।

तं सारभूतं वाच्यातिशायिसौन्दर्यं जनकमर्थम्, अन्ये भाक्तं भिक्तजन्य-प्रतीतिविषयम् आहुः वदन्ति । अत्र आहुरिति वर्तमानार्थकलटः प्रयोगाद् अयं वादः अद्याप्यविच्छेदेन प्रवर्तत इति सूचितम् । अन्ये ध्वनिसंज्ञितं ध्वनिसंज्ञाविशिष्टं काव्यात्मानं काव्यस्य सारभूनं प्रतीयमानमर्थं, गुणवृत्ति गुणवृत्त्या अमुख्येन व्यापारेण प्रतिपाद्यमानमाहुः वदन्तीत्यर्थः ।

भट्टोद्भटस्तु – (Kavyalankarasarasangraha P. 10)

'श्रृत्या सम्बन्धविरहाद् यत् पदेन पदान्तरम् । गुणदृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्।।'

इति रूपकं लक्षितवान् । अस्यार्थस्तु—श्रुत्या निरन्तरार्थनिष्ठेन शब्दव्यापारेण सम्बन्धविरहात् पदान्तरसम्बन्धस्यानुपपद्यमानतया, पदान्तरमन्यत् पदं, गुणवृत्ति यत्रापरेण पदेन युज्यते तद्रूपकमिति ।

'अयं कलिङ्कनश्चन्द्रान्मुखचन्द्रोऽतिरिच्यते' इत्यत्र रूपकमलङ्कारः । अत्र चन्द्रशब्दोऽव्यवहितार्थनिष्ठशब्दव्यापारिवषये चन्द्रत्वे वर्तमानो मुखशब्देन सामानाधिकरण्यं नुनाभवित । चन्द्रत्वमुखत्वयोरेकार्थवाचकत्वाभावात् । अतः चन्द्रगताह्लादकत्वादयो ये गुणास्तत्सदशगुणवृत्तिः सन् मुखशब्दः चन्द्रे वर्तते । तेन चन्द्रशब्दस्य श्रुत्या अन्यवहितार्थनिष्ठेनाभिषाव्यापारेण पदान्तरेण मुख-शब्देन सम्बन्धशून्यत्वात् चन्द्रशब्दो गुणवृत्तिरतोऽत्र रूपकमिति तस्याशयः ।

भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकशब्दयोरेकार्थवाचकत्वं सामानाधिकरण्यम् । नीलमु-त्पलमित्यत्र नीलशब्दस्य गुणवाचकत्वे प्रवृत्तिनिमित्तं गुणत्वजातिः । उत्पल-शब्दस्य चोत्पलत्वजातिः, इति समानप्रवृत्तिनिमित्तकशब्दयोरनयोः सामाना-धिकरण्यस्यानुपपद्यमानतया नीलशब्दो गौण्या वृत्त्या नीलरूपविद्यर्थं बोधयति । ततस्र प्रवृत्तिनिमित्तं नीलशब्दस्य गुण इति तयोभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् सामानाधिकरण्य सम्भवत्येव । तथा मुखचनद्र इत्यत्रापि मुखत्वचनद्रत्वाभ्यां यद्यपि व ध्वनिशब्दसङ्कोर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिः गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः तथापि, अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्— भावतमाहुस्तमन्ये इति ।

उज्जीवनी

प्रवृत्तिनिमित्ताभ्यां भिन्नयोः पदार्थयोः एकार्थवाचकत्वरूपसामानाधिकरण्य-स्यानुपपत्त्या चन्द्रशब्दस्य चन्द्रसदशे लक्षणाङ्गीकारे सादश्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य गुणत्वाद् मुखत्वस्य जातित्वाद् भिन्नप्रवृत्तिनिभित्तस्वं सम्पद्यते । अतः सामानाधिकरण्येन निर्देश उपपद्यते ।

एवं च अभिघाव्यापाराजन्यप्रतिपत्तिविषयस्य मुख्यस्यार्थस्य पदार्थान्तरेण साकमन्वयतात्पर्यस्य बाघे, तत्सम्बन्धे, रूढितः प्रयोजनाद्वा अन्योऽर्थो गुणवृत्त्या यत्र प्रतितिविषयो भवति सोऽर्थो भाक्तः। भिवतस्य गुणवृत्तिः। तथा च शब्दाद् जायमानो मुख्यार्थभिन्नः सर्वोऽप्यर्थः भाक्त इति तेषा-माशयः।

तदेव विशदयति—यद्यपीति । काव्यलक्षणविधायिभिः काव्यं लक्षयद्भः, गुणवृत्त्या गौण्या अमुख्यया वृत्त्या प्रतिपाद्यमानोऽर्थः वाच्यातिरिक्तः लक्ष्यः अन्यो वा कश्चिदथंस्य प्रकारः ध्वनिरिति नामधेयं सङ्कोत्यं न प्रकाशितः न प्रकटितः। गुणरूपा (गौणो) वृत्तिर्यस्य (अर्थस्य) स गुणवृत्तिरित्यर्थः। तथापि काव्येषु अनुरूपया गौण्या वृत्त्या व्यवहारं शब्दप्रयोगं दिशतवन्तो दश्यन्ते। उक्तं वामनेन—'सादश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति (Kavyalankara sutras P. 58) अनेन ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टः। प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया हि लाक्षणिक-शब्द प्रयुक्षते कवयः। अन्यथा 'गङ्गायां घोष' इति वाक्यस्य 'शङ्गातीरे घोष' इति वाक्यस्य 'शङ्गातीरे घोष' इति वाक्यस्य कक्ष्यार्थस्य प्रतिपादनेनैव सहृदयश्लाध्यो भवतीति तत्र प्रयोजनरूपो व्यङ्गयोऽर्थः प्रतीय-मानोऽपि तैः न लक्षितः न दृष्टः। एवं परिकल्प्य तं प्रतीयमानमर्थम् अन्ये भाक्तमाहुः इत्युक्तम्।

१. 'पि घ्व०' क

२. भुष्यवृत्त्या । क. ज. भ. ञ.

३. 'क्ष्या'क, ग. च. ज. भः. ज

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । तेनैवंविधासु विमितिषु स्थितासु सहृदयमन:प्रीतये तत्स्वरूपं बूमः।

तस्य हि ध्वनै: स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं अतिरमणीय-मणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविघायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलित्पूर्वम् ।

अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते॥

उज्जीवनी।

व्यवेरलक्षणीयतावादिमतमाह—केचिदिति । केचित् पुनः प्रतिवादिनः, लक्षणस्य व्यविलक्षणस्य, करणे निर्माणे, शालोना सलज्जा बुद्धियेषां ते, (वाचस्पत्यम् P. 549 शालीन (त्रि) अधृष्टे, सलज्जे, शालाप्रवेशमहितः; शालीनकौपोने, अधृष्टाकार्ययोरिति साधुः । शोभमाने यथा—वनहरिण-शालीननयना इत्याचार्याः।) व्यवेः सारभूतस्य काव्यार्थंस्यः तत्त्वं व्यविन्व्यवहारविषयत्वरूपं लक्षणं, गिरां वाचामगोचरमविषयम्। सहृदयानां हृदये-रेवेदं संवेद्यं ज्ञातव्यमिति समाख्यातवन्तः प्रख्यापितवन्तः।

एवमभाववादिनां तिस्रः, भाक्तत्ववादिनामेका, अलक्षणीयतावादिनामेका चेति पश्चिविधा विप्रतिपत्तयः स्वयमेव व्विनिकारेण प्रदर्शिताः। चिकीषित-माह—तेनेति। तेन विप्रतिपद्यमानत्वेन, एवंविधासु अनेनैव पद्येन प्रदर्शितासु वमितिषु विप्रतिपत्तिषु स्थितासु । सहृदयानां हृदये प्रीतिमाधातुं, तत्स्वरूपं तस्य व्वने: स्वरूपं सारक्षपस्यार्थस्य लक्षणप्रामाण्यादिकं ब्रूमः कथयाम इत्यर्थः।

उक्तमर्थं प्रकाशयति—तस्येति । तस्य हि ध्वनेः प्रतीयमानस्यार्थस्य स्वं रूपं तत्त्रं सकलानां समस्तानां कवीनां काव्यतत्त्वविदां काव्येषु रमणीयार्थ-प्रतिपादकसन्दर्भेषु उपनिषद्भूतं रहस्यविज्ञानात्मकत्वेन स्थितम् अत्यन्तं रमणीयं चिरन्तनानां प्राचां, काव्यलक्षणविधायिनां काव्यलक्षणकर्तृणां, अणीयसीभिरिष सूक्ष्मतराभिरिष, बुद्धिधर्मनीषाभिः, अनुन्मीलितपूर्वं पूर्वं न प्रकाशितम् ।

उजीवनी।

रामायणमहाभारतप्रभृतिनि रामायणमहाभारतादौ सर्वत्र, लक्ष्ये किवकर्मणि, प्रसिद्धन्यवृहारं प्रसिद्धः प्रख्यातः, न्यवहारः शब्दप्रयोगः । रामायणे करुणरसः, महाभारते शान्तो रसः, इत्येवमादिः, शाब्दो व्यवहारः यस्य तं व्विन सहृदया लक्षयन्त्येव पश्यन्त्येव । वस्तुतस्तु सर्वेष्विप सत्कवीनां काव्येषु व्विनरूपं रहस्यरूपेण वस्त्वस्त्येव । सूक्ष्मिनिरोक्षणविचक्षणबुद्धिभः प्राचीनैस्तन्न लक्षितम् अलङ्कारशास्त्रकृद्भिः । रामायणादिषु च करुणादीन् प्रसिद्धान् लक्षयन्ति च सहृदयाः । अतस्तत्स्वरूपिनरूपणेन तेषां मनिस प्रीतिरानन्दः प्रतिष्ठां लभतां प्रतितिष्ठनु इति तत्स्वरूपं मया (व्विनिक।रेण) निरूप्यत इति प्रतिज्ञातमानन्द-वर्धनाचार्येण ।

अनेनास्य ग्रन्थस्यानुबन्धचतुष्ट्यप्रकाशनपरत्वेन प्रेक्षावदुपादेयत्वं सूचितम् । "ध्वितस्वरूपं विषयः । ध्विनित्त्वज्ञानद्वारा सहृदयमनःप्रीतिः प्रयोजनम् । प्रितिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । ध्विनिस्वरूपिजज्ञासुरिधकारी" इति । सहृदयानामानन्दो मनिस लभतां प्रतिष्ठामित्यत्रानन्दपदेनैतद्ग्रन्थकर्ता आनन्द-वर्धननाम्ना सङ्कीर्तित इति सूचितम् । नामैकदेशग्रहणे नामग्रहणमिति न्यायात् ।

कवेः कर्म काव्यम् । [गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च, (पा० सू० ५-१-२२४) इत्यनेन कर्मणि (क्रियायां) अर्थे व्यञ् प्रत्ययः] तच्च समुचितेन प्रकारेण सुप्तिङन्तानामायोजनमेव । धर्मादीनां सम्पादकः कविः शब्देन व्यापारेण तान् अस्मान् निवेदयति । तच्च काव्यं तत्सेवमानानां धर्मार्थकाममोक्षाख्यां- श्चतुरः पुरुषार्थानपि साधयति । अत एवोक्तं साहित्यदर्पणे (P. 4)—

'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पियामपि । काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥' इति 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च । करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥' इति च

काव्याद् विहितकर्मेणि कर्तव्यताज्ञानं, ततस्तत्प्रकारिकेच्छा, ततस्तदनुष्ठानं, ततो धर्मः, तस्मादर्थकामौ, विहितकर्मेफलत्यागान्निषद्धाननुष्ठानान्मोक्षश्च सिद्धचित ।

अथ व्वनेरेव कक्षियितुमारब्बस्य भूमिका रचितिम इदमुच्यते— योऽर्थः सहद्यश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः । वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य मेदावुमौ स्मृतौ ।। ३ ॥

उज्जीवनी !

उक्तं च तत्रैव—(P..8) किञ्च काव्याद् धर्मप्राप्तिभगवन्नारायणचरणा-रिवन्दस्तवादिना। 'एक: शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च काम-धुग्भवति' इत्यादि वेददाक्येम्यश्च सुप्रसिद्धंव । अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चेतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात् मोक्षोपयो-गिवावये व्युत्पत्त्याधायकस्वाच्च।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिहि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसन्दोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामिप पुनः काव्यादेव ।

ननु तर्िं परिण तबुद्धिभिः सत्तु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम् । कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सित्रशकरोपशमनीयस्य रोगस्य सित्रशकरोपशमनीयस्य कस्य वा रोगिणः सिताशकराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्याद् ? इति ।

प्रकृतस्य ध्वन्यालो कसंज्ञ कस्य काव्यालङ्कारग्रन्थस्य काव्याङ्गत्वात् काव्यफर्लरेव पूर्वोक्तः फनवत्त्वं वेदितव्यम् ।

'करोति कोर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणमिति वचनेन प्रीतेरिप फलत्वेन श्रवणात् कवेः कीर्ति सहृदयानां प्रोतिमानन्दं च अवाष्तुकामः तद्वेतोः ध्वनि-स्वरूपस्य निरूपणं प्रतिज्ञातवान् ग्रन्थकारः।

चिकोषितमवतारयति — अथेति । अथ घ्वनेः स्वरूपितरूपणस्य प्रयोजन-कथनानन्तरम् । प्रथममेवानन्दवर्धनः श्रूयमाणस्य शब्दस्य वैयाकरणैः कृतां घ्वानसंज्ञां दृष्टवान् ज्ञातवानित्यर्थः । ततो घ्वनिशब्दस्य व्युत्पत्तिभेदेनार्थभेदं विज्ञाय घ्वन्यत इति व्युत्यत्तिसिद्धं घ्वन्यमानमर्थं वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकं

१. 'व तावल्ल॰' 🐃 २. 'श्रर्थ: स॰' कंख. ग. च. ज. भ अ.

३. 'स्मायो॰' क. ख. ग. च. ज. भ. ज. ४. 'स्थितौ' ख.

काव्यस्य हि लिखतोचितसित्रवेशवारुणः शरीरस्येशातमा सारकातया स्थितः सहदयश्लाष्ट्रयो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति ही भेदौ ।

उज्जीवनी ।

भेदप्रभेदैः सप्रपञ्चं प्रतिपादियतुमुपक्रान्तवान् । ध्वनेरेय व्यङ्गधस्यार्थस्यैव, लक्षणित्, लक्षणस्वकः प्रामाण्यादिवदर्शनपूर्वकं सहदयसमक्षमवतारियतुम्, बारब्धस्योपक्रान्तस्य, भूमिकां अर्थोऽयं केन (व्यापारेण) कस्माद् जायत इत्यादि विज्ञानो । यिकों भूमि अधिष्ठानं रचित् विधातुम् इदमुच्यत इति ।

सह्वग्रह्माच्याः सहदयानां श्लाचां प्रशंसामहंन्, काव्यस्य चनत्कृति जनकार्थ-प्रति । दकशब्दसन्दर्भकास्य, योऽर्थः काव्यक्षपशब्दप्रयोक्तुः तात्पर्यविषयः यः वाक्यार्थः, आत्मा शरोरस्येवात्मा सारभूतः । (यस्यार्थस्य समावेशे स शब्द-सन्दर्भः काव्यपदव्यादेशयोग्यो भवति सः) व्यवस्थितः, तस्य वाक्यतात्पर्यविष-योभूतस्यार्थस्य, वाच्य इति प्रतीयमान इति च आख्ये नामधेये ययोस्तौ उभी भेदौ प्रकारौ स्मृतौ ।

उक्तमर्थं विशदयति—काव्यस्य होति । लिलतेन गुणालङ्कारोपस्कृतत्वात् सुन्दरेण, उचितेन रसभङ्गहेतु यदनौनित्यं तद्रहितेन, रसानुगुणेन सिन्नवेशेन सङ्घटनारूपेण चारुणः रमणोयस्य, शरीरस्यात्मेन, साररूपतया जीवनाधायक-त्वेन स्थितः सहृदयश्लाध्यः सहृदयैः श्लाध्यः सहृदयानौ श्लाधाविषयः, यः अर्थः काव्यात्मकशब्दजन्यप्रतिपत्तिविषयः सहृदयश्लाध्यश्च भवति, तस्य वाच्यः सिध्यः प्रतीयमानः व्यङ्गचश्च इति एवं, द्वौ भेदौ उभौ प्रकारौ सम्भवत इत्यर्थः । एतेन सहृदयश्लाध्यवाच्यप्रतीयमानान्यतरार्थविषयकज्ञानजनक शब्दत्वं काव्यसामान्यलक्षणमिति व्वनिकाराभिमतमवगम्यते ।

अत्रेदमवधेयम् — लिलतशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह । उचितशब्देन रसिवषयमेवौचित्यं भवतीत्यादिलोचनवाक्यादयमर्थो ज्ञायते । चारुण इति काव्यविशेषणम् । लिलतेत्युचितेति च सिन्नवेशविशेषणम् । गुणालङ्कारानुगुण-वर्णविन्यासरूपं लालित्यं वाच्यस्यार्थस्य, रसानुगुणवर्णसिन्नवेशरूपमौचित्यं व्यङ्गचस्यार्थस्य च चारुत्वं प्रतिपादयति इति । एतेन वाच्यव्यङ्गचयोरभयोरथयो

सङ्ग्रहः सुचितः । ताभ्यां सहृदयाः श्लाघन्ते च । सोऽर्थः वाच्यः व्यङ्गचश्चेति द्विविध इति भावः ।

तृतीयं ध्वन्यभाववादिमतमेवं सम्भावितं पूर्वम्—'न सम्भवत्येव ध्वनिनोपापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योवतेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तभीवाद्
द्दित 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षत' इत्यनेन काव्यशोभाकरत्वं
(काव्यचारुत्वहेतुत्वं) अलङ्कारसामान्यलक्षणिति सम्मन्यते । वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधो वाच्योऽर्थः, वस्त्वलङ्काररसात्मना त्रिविधो व्यङ्गचोऽधंश्रक्ष
काव्यस्य शोभामातन्वते । इवादिभिः पदैः सादृश्यादेः अभिधीयमानस्योपमादिरूपस्य वाच्यार्थस्य, इवादिरिहतस्थले नानार्थपदसिन्धानेन प्रतीयमानस्योपमादिरूपस्य वयङ्गचार्थस्य चालङ्कारत्वात् तैः काव्यमलङ्कृतं कमनीयं भवति ।
एतेन वाच्यव्यङ्गचार्थस्य चालङ्कारत्वात् तैः काव्यमलङ्कृतं कमनीयं भवति ।
एतेन वाच्यव्यङ्गचययोरुभयोरपि चारुत्वहेतुत्वं उद्भावितिमिति व्यङ्गचस्यापि
काव्यशोभाधायकत्वेन कस्यचिदपि विप्रतिपत्तेरवकाशो न विद्यते । अत एव
उनतेषु चारुत्वहेतुषु व्वनेरन्तर्भावः पूर्वपक्षिभिरूच्येतेत्याशङ्कच व्यङ्गचस्यार्थस्य
वाच्यातिशायचमत्कृतिजनकत्वं मनसि निधाय तेन च काव्यस्य, काव्यविशेषरूपत्वं मन्यमानेध्वंनिकारेध्वंनिरूपमर्थं प्रसाध्य तत्प्रतिपादकस्य काव्यस्य
ध्वनिकाव्यस्यं च सिद्धान्तितम् ।

लोचनकारस्तु पुनरिप व्वन्यभाववादिनां मतं व्वनेः अनुमानेन निराक्रिय-माणं सम्भावयति—तेन यदुक्तमिति । व्विनः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तः न भवति, चारत्वहेतुत्वात् इत्यनुमानम्। व्विनः पक्षः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्त-त्वासावः साध्यः, चारत्वहेतुत्वं हेतुः, व्ष्टान्तो नोक्तः। एवमनुमानं सङ्कल्प्य प्रथमं कमिय हेत्वाभासं ब्रुते, स्वयमेव प्रतिनिवर्तते च ।

द्वितीयश्च प्रदश्यंमानः हेत्वाभास एव न भवति । प्रथमं, पक्षे (ध्वनी) हेत्वभावरूपा स्वरूपासिद्धिरुद्भाव्यते । ध्वनेः आत्मरूपत्वात् । न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति तेषामाशयः । प्रतीयमानस्यार्थस्य सहृदयश्लाध्यत्वं तस्य चारुत्वहेतुत्व एव सम्भवति इति स्मृत्वेव अभ्युपगम्य ब्रूते— अथाप्येवं स्यादिति । तथापि वाच्येनानेकान्तिको हेतुरिति । साध्याभाववद्वृत्तित्वं अनेकान्तिकत्वम् । तत्र व!च्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः । बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः ॥ महोद्भटप्रभृतिभिस्ततो नेह प्रतन्यते ॥ ४ ॥

उज्जीवनी ।

साध्याभावः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभावाभावः, गुणालङ्कारव्यतिरिक्तःवम्; । तद्वति वाच्येऽर्थे चारुत्वहेतुत्वमस्तोति अनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति तेषामाशयः । इवादिशब्दवाच्यस्य साद्दयादेः, उपमालङ्काररूपस्य वाच्यार्थस्य सपक्षत्वादेव तस्य हेतुमत्त्वेऽयं सद्धेतुरेव । तदेवोक्तं—तत्र वाच्यः प्रसिद्धो थः प्रकारैष्ठप-मादिभिरिति ।

किञ्च — 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षत' इत्यनेन काव्यशोभाहे नुधर्मवत्त्वमलङ्कारसामान्यलक्षणमिति प्राचां मतम्। ते च धर्माः, गुणवत्वालङ्कारवत्त्वरसवत्त्वादयः । तद्वन्तो गुणा अलङ्कारा रसदयश्च । एवमलङ्कारसामान्यलक्षणाक्रान्तत्वादेव रसादीनां, तेऽिष अलङ्कारत्वेन परिगणिनास्तैः ।
अतो गुणा अलङ्कारा रवादयश्च चारुत्वहेनव इति निर्विवादम् । 'अर्थः सहृदयश्लाध्य' इति कारिकागतस्य सहृदयश्लाध्ययदस्य व्याख्यानावसरे प्रतोयमानस्य रसादिक्षपस्यार्थस्य श्लाघातिषयहेतुत्वव्यवस्थापनद्वारा चारुत्वहेतुः त्वमङ्गीकृतं लोचनकारैः । अतः तन्मतेऽिष ध्वनेः रसादिक्षास्यार्थस्य गुणालङ्कारातिरिक्वत्वं वक्तुं न शक्यते, काव्यशोभाकरत्वेन सामान्यात् ।
अतोऽभाववादिनः ध्वनिः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तो न भवति चारुत्वहेतुःवादिति प्रत्यविष्ठिरित्नति सम्भावना चिन्त्या ।

अन्यश्च —नायमलङ्कारशब्द: करणव्युत्पत्तिनिष्यतः। अपि त्वलङ्क-रोतीति भावव्युत्पत्तिनिष्पन्नः। एतदभित्रायेणैव तरुच्येत, कामनीयकमनित-वर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेत्र चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावादिति। एतस्य चालङ्कारस्य अलङ्कार्यं, गुणस्य गुणि, काव्यमेव न वाच्यो ब्यङ्गचो वार्थः।

तत्रेति । तत्र वाच्यप्रतीयमानयोर्मध्ये, वाच्यः अभिधेयः साक्षात् सङ्केतितोऽर्थः । उपमादिभिः उपमालङ्कारादिरूपैः प्रकारैभेदैः, यः प्रसिद्धः केवलमनुद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ।

प्रतीयमानं े पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तन् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ४ ॥

उज्जीवनी!

प्रसिद्धिमुपगतः, स वःच्यः, उपमादिरलङ्कारः भेदप्रभेदभिन्नः काव्यस्य लक्ष्म लक्षणं, कुर्वाणैः भट्टोद्भटप्रभृतिभिः, उद्भटादिभिरन्यैः, बहुषा बहुप्रकारेण, व्याकृतः व्याख्यातः ततः बहुषा व्याकृतत्वादेव, इह अस्मिन् घ्वन्यलोके ग्रन्थे, न प्रतन्यते न विस्तरेणाभिधीयते । तथा चात्र वाच्यानामुपमादीनामलङ्का-राणामिह विस्तरेणानभिधानस्य प्रसिद्धत्वमेको हेतुः । भट्टोद्भटादिभिर्बहुषा व्याकृतस्वं च द्वितीयः । एवमन्यैः काव्यलक्षणकृद्भिर्बहुधा वर्णितानामलङ्का-षाणां यथोपयोगमनुवादः क्रियते ।

प्रतीयमानस्यार्थंस्यास्तित्वं साधियतुमुपक्रमते—प्रतीयमानमिति । अर्थं सह्दयश्लाच्य इत्युपक्रम्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति स द्विवध इत्यभ्युपगतवान् व्वित्तारः । ततः प्रसिद्धत्वात् पूर्वेव्यक्तित्वाच्च विस्तरेण तस्य वर्णनाय नोयुक्तवान् । अन्यश्चार्थः प्रतीयमान व्यङ्ग्यः । चमकृतिजनकार्थंबोधकाः शव्दाः, अर्थानामानुगुण्येनायोजिताः सङ्केतितमर्थं बोधयन्ति । ते चार्थाः परस्परमन्विता वाक्यार्थंतां प्रपद्यन्ते । स च वाक्यार्थः पदसङ्घटनामहिम्ना यदि सङ्केतितानामर्थानां मियोऽन्वयेन बोध्यमानेऽर्थं एव विश्राम्यति, काव्यस्य चाहत्वे हेतुर्भवति, सहृदयश्लाध्यश्च भवति, स एव वाक्यतात्पर्यविषयीभूतो वाच्योऽर्थं इत्युच्यते । ततश्च, वक्त्रादिवैशिष्टयवशाद् महाकवीनां वाणीषु रमणीयार्थंप्रतिपादकेषु शब्दसन्दर्भेषु, प्रतोयमानं व्यङ्ग्यं, वाच्याद् वाक्यार्थंद् अन्यदेव वस्तु, यद् अस्ति तद् अर्थक्षं वस्तु, अङ्गनासु प्रमदासु प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तं प्रसिद्धं म्यः करचरणादिभ्योऽवयवेभ्यः, अतिरिक्तं भिन्नं, अङ्गानां समुचितमन्निवेशमहिम्ना सञ्चातं लावण्यमिव सौन्दर्यमिव विभाति चकास्ति । प्रत्येकावयवेभ्यः प्रतीयमानस्य लावण्यस्यावयवी देहः यथाश्रयस्तथा प्रतीयमानस्यार्थस्य महाकवीनां वाणीरूपं (शब्दरूपं) शरीरमेवाश्रयः ।

१. 'न: क' २. 'ऋमा०' क. ग. घ. इ. ज. भ.ज

अत्रेदमवधेयम् —समुचितेनाङ्गानां सिन्नवेशेन अङ्गनानां शरीरे प्रसिद्धकर-चरणाद्यवयवेभ्योऽतिरिक्तं लावण्यं नाम गुणे। विभाति । अत्र लावण्यरूपो धर्म उपमानम् । अर्थानुगुण्येनानुविहितया सङ्घटनया महाकवीनां वाणीरूपे काव्यणरीरे साक्षात् सङ्केतितानामर्थानामाकाङ्क्षादिवशादेकविशिष्टार्थबोध-रूपनामापन्नाद् वाक्यार्थादेव वाच्यार्थादन्यद् अतिरिक्तं प्रतीयमानं किमिप वस्तुतत्त्वमुपमेयं भवितुमहंति । वृत्तो किमप्यन्यदेव वस्तु सहुदयलीचनामृतं तत्त्वान्तरम् इति स्पष्टमुक्तम् ।

यथाङ्गनानां निक्षिलावयवातिरिक्तं लावण्यं दृष्टा आस्वादियितृणान्मानन्दो जायते, तथा काव्यशरोरे अभिध्यातिरिक्तवस्त्वलङ्काररसादिरूपार्यवत्वं व्यञ्जनया बोघ्यते । ज्ञातं च तत् सहृदयानामालोचनामृतं च
भवति । एवं च सहृदयानामानन्दजनकं वाच्याद् भिन्नं प्रतीयमानार्थवत्त्वं च
काव्येऽनुभूयते । स च प्रतीयमानोऽर्थं एव । स चार्थः अस्तीति वचनेन
अविद्यमानतावादिनिराकरणौपियकम् अस्तित्वमिप तस्य साध्यति ध्वनिकारः ।
अत्राङ्गनाशरीरगतलावण्याख्यस्य धर्मस्य उपमानत्वेन प्रतीयमानार्थवत्त्वरूपधर्मस्यैवोपमेयत्वमुचितम् । स चार्थो माधुर्यादिः । अतः "प्रतोयमानं पुनरन्यदस्ति
वस्तु'इति नपुसकनिर्देशो नानुचितः । प्रत्युत स एवोचितश्च । एतेन यदुक्तं
महिन्ना—"प्रतोयमानः पुनरन्य एव सोऽर्थोऽस्ति वाणीषु महाकवीनाम्" इति
पाठविपर्यास आवश्यक इति, यच्चोक्तं दीधितकृता "वस्तुत्वस्याभिधेयत्वप्रमेयत्वादिवत् केवलान्वयितया प्रतोयमानस्यार्थस्यापि वस्तुन्यन्तर्भावात्
प्रतोयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वत्युक्तं युक्तम्' इति तदुभयमिप सुधीभिर्विभावनीयम् ।

वस्तुतस्तु अर्थस्य द्वैविध्यमुक्त्वा वाच्यः प्रतीयमानश्चेति, वाच्यमर्थं चान्यं हक्तिमिति प्रकृते विशदय्य, द्वितीयस्मिन् प्रतीयमानेऽथे वर्णनीयतयो-पस्थिते सति वस्त्विति नपुसक्तिर्देशः कथमुपपद्यत इत्याशङ्काया नेदं समाधनं भवति । प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् सहृदयमु प्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ् इतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वा अवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनामु । यथा ह्यङ्ग नामु लावण्यं व पृथङ्निर्वण्यमानं निल्लावयवव्यतिरेकि किमण्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः । स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तभवस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेत्यनेक प्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते ।

उज्जीवनी।

तदेव विशदयति—प्रतीयमानमिति। प्रतीयमानं व्यञ्जनया प्रतिपाद्यमानं, पुनः महाकवीनां, व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां वा देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्याद्यदेन वा समुपजातया प्रतिभया काव्यकरणेत ध्वनिकारसम्मतमहाकविपदव्यपदेश-महंतां वाणीषु शब्दसन्दर्भेषु । वाच्यादिभधीयमानादन्यद्, भिन्नमेव वस्तु प्रतीयमानार्थवत्त्वम् अस्ति । यत् तत् सहृदयसुप्रसिद्धं सहृदयेषु काव्यवासना-परिपक्रबुद्धिषु प्रसिद्धं, प्रसिद्धेभ्यः, प्रसिद्धिविषयेभ्यः, अलङ्कुतेभ्यः आहित-सौन्दर्यभ्यः, प्रतीतेभ्यः प्रतीतिविषयेभ्यो वा अवयवेभ्यः करचरणादिभ्यः, अतिरिक्तत्वेन भेदेन, अङ्गनासु युवतिषु, लावण्यमिव प्रकाशते भासते। ललनासु पृथक् पृथङ्निवंण्यंमाननिलिलावयवव्यतिरेकि यथाञ्जनास् पृथङ निष्यायमानेभ्यो निखिलेभ्यः सर्वेभ्योऽत्रयवेभ्यः करचरणादिभ्यः व्यति रेकि भिन्न लावण्यं किमपि अनिर्वचनीयमन्यदेव सहदयानां लोचनस्या-मृतनिष्यन्दि तत्त्वान्तरमन्यत् तत्त्वं तद्वदेव । यथाञ्जनास् लावण्यं तथा महाकविवाणीषु । प्रतीयमानार्थवत्त्वं च प्रतीयमानोऽर्थं एव । तदेवोक्तं 'तद्वदेव सोऽर्थ इति । स हि अर्थः प्रतीयमानोऽर्थी हि वाच्यसामध्यक्षिप्तं वाच्यस्य अर्थान्तरबोधजननसामर्थ्येन आक्षिप्तं वस्तुमात्रम् अलङ्कारा रसादयो भावादयश्च इति एवम् अने कै: प्रभेदै: प्रकारै: भिन्तः दशयिष्यते प्रकाश-यिष्यत इत्यर्थः।

१. 'यहृदयसु०' क. ख. च २. 'ङ्गला०' क ३. 'ण्यं पृथक प०' क. ग. ४. 'निन॰' क. ख. ५. 'प्तो ब०' क. ६. 'कमे०' क.

सर्वेषु व तेषु व प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् । तथा ह्याद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा—

भन धम्मित्र वोसद्धं आसे मुणश्रो अज्ज मारिओ देण। गोळाणइकच्छकुडं गवासिणा दरिग्रसीहेण।।

उज्जीवनी।

प्रतीयमानमर्थमेवं प्रदर्श तस्य व्यतिरेकमाह—सर्वेष्विति । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वस्त्वलङ्काररसङ्पेषु भेदेषु तस्य प्रतीयमानस्यार्थस्य, वाच्या-दन्यत्वं वाच्यार्थात् व्यतिरिक्तत्विमत्यर्थः । तदेव विश्वदीकरोति—तथा हीत्यादिना । आद्यः उक्तेषु प्रकारेषु यः प्रथमः वस्तुरूपः, सः प्रतीयमानः वस्तुरूपोऽर्थः, वाच्यार्थाद्, दूरम् अतिशयेन, विभेदवान् भिन्नः । न हि प्रतीयमानो वस्तुरूपोऽर्थः, कदाचित् प्रकरणानुरोधात् । वाच्येऽर्थे विधिरूपे सति प्रतिषेषरूपः निषेषरूपः । उदाहरति—यथेति । हालकविकृतायां गाथासप्रशत्यां द्वितीये शतके पश्चसप्रतितमं पद्यमिदम् ।

> "भ्रम धार्मिक विस्नब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन । गोदानदोकच्छकुञ्जवासिना दप्तसिहेन" ॥

इति संस्कृतम् । पुष्पावचयार्थं स्वसङ्केतस्थानभूते गोदावरीतीरिनकुञ्जो अभियान्तं अभिसरणविष्नं कुर्वाणं कमिष धार्मिकं भीषियतुं कस्याश्चिदभि-सारिण्याः स्विवनयं सूचयन्त्या इयमुनितः । हे धार्मिकेति साक्षेपसम्बोधनम् । स गृहस्थितः, यस्माद् भिया त्वया ग्रामे भ्रमणं त्यन्तमासीत् स इत्यर्थः । शुनकः श्वा, अद्य इदानीं, गोदाया गोदावरीनद्याः, कच्छो जलप्रायप्रदेशः । तत्सम्बन्धित कुञ्जो वसता, इन्तेन दपंयुक्तेन, सिहेन मारितः । गोदानदी-तीरे सततं वसन् इन्तः सिहः ग्राममागत्य ग्रामस्थं शुनकं निहतवान् । अत्र गृहे श्विनवृत्या भ्रमण (वस्तु) वाच्योऽर्थः । निकुञ्जो सिहोपलब्ध्या भ्रमणनिषेधो व्यङ्गचः । अत्र वाच्यो विविष्ठाः व्यङ्गचो निषेधकः इति व्यङ्गचस्य वाच्यादन्यत्वम् ।

१. 'ब्वेब'च क. ख. २. 'बुवाठ' क. ख. ३. 'द्धो' क. ख. य.

क चिद् वाच्ये प्रतिवेधरूपे विधिरूपो यथा —

अत्ता एत्य भिणमञ्जद एत्य अहं दिअस्थं पळोएहि । मा पहित्र रत्तिअंधअ सैज्जाए मह णिमञ्जहिस ।।

कचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा-

वच्च मह बिबअ³ एक्केइ^४ होंतु णीसासरोइद^५व्वाई । मा तुज्झ वि तीअ^६ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअंतु ।।

उज्जीवनी।

वस्तुनो वाच्याद् व्यङ्गचस्य वस्तुनो भेदं प्रदर्शयित् द्वितीयमुदाहरणमाह— अत्तति । हालकविकृतायां गाथासप्तशत्यां सप्तमे शतके सप्तषष्टितमं पद्यमिदम् । "श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रजोकय । मा पथिक राज्यन्ध शय्यायामावयोनिमङ्क्षचिति" ॥

इति संस्कृतम् । वस्ति प्रार्थयमानं समुपजातकामं पिथकं प्रति
प्रोषितभर्तृकायाः व्यभिचारिण्याः स्वयंद्रत्या इयमुक्तिः । हे पिथक,
अत्र अस्मिन् स्थले, श्वश्रः पत्युर्जननी, निमज्जित जरत्तरत्वेन निष्पन्दा शेते,
अत्र ततो भिन्नस्थले, बहं अहमेव, दिवसके कृतिसते दिवसे (कृत्सायाः कन्
प्रत्ययः) प्रलोकय सम्यक् पश्य । हे राज्यन्य रात्रौ दर्शनशक्तिशून्य, आवयोः
शय्यायां शयनीये मा निमङ्क्ष्यसि मा शयिष्यसि । अत्र गृहे श्वश्रः अहं च ।
श्वश्र्श्र जरत्तरत्वेन बिधरा निष्पन्दा च । जनान्तरसञ्चारस्तु नास्त्येव । अतो
यथेष्टं मम शय्यायामेव स्विपिह इति विधिक्षपं वस्तु व्यङ्गचम् । वाच्यं तु
निषेधक्ष्पम् ।

तृतीयमुदाहरणम्—वच्चेति ।

'त्रज ममैवं कस्या भव्नतु निःश्वासरोदितव्यानि । मा तवापि तथा विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥

इति संस्कृतम् । कस्याश्चित् खण्डितनायिकाया नायकं प्रतीयम् उक्तिः । हे कान्त,

१. 'सइ.' खं. इं.

२. 'सु.' ■ा

३. 'चित्रग्र.'क.

४. 'बकाए' क. ख. ग.ङ.

४. 'घ.' क. इ.

६. 'ए.' ल. ग. इ.

कचिद्व। च्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभग्ररूपो यथा --

देअ। पसित्र णिवत्तसु भूहससिजोण्हाविळुत्ततमणिवहे । अहिसारिआणं विज्ञां करेसि अण्णाणं विह्ञासे ॥

कचित् वाच्य द्^{रु} विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो^५ यथा—

उज्जीवती ।

व्रज प्रेयस्य गृहमेत्र गच्छ । एकस्याः एक। किन्याः समैव त्वद्विरहेण निःश्वासा रोदितव्यानि च भवन्तु । दाक्षिण्येनानिकत्र तुरुयेनानुरागेण हतस्य नष्टण्य नतापि, तया अभीष्मितप्रेयस्या विना तद्वियोगेन, निःश्वासरोदितव्यानि मा जनिषत मा भूवन् । अत्र प्रियस्य प्रेयसीगृहगमनदिधिवच्यः । व्यङ्गचस्त् त्वं सर्वना शठोऽसीति गाहमन्युरूपोऽयं खण्डिकान्ययिकाया अश्विप्रायः । स न विष्यात्मको न वा निषेधात्मकः।

चत्र्थम्दाहरणम्--

प्रार्थये प्रसीद निवर्तस्व मुखरशिज्योस्नाविलुप्ततमोनिवहे । अभिसारिकाणां विघ्नं करीष्यन्यःसामपि हताशे ।।

इति संस्कृतम् । सङंकेतस्थानम्पगता नायिका स्वविषयं नायकापराध-मवगत्य प्रतिनिवर्तित्मृद्युङ्कते । तामन्नयतो नायकस्येयम्कितः । मुखशिन ज्योत्स् गाबिल्प्रतमोनिवहे, वे मुखस्य मुखरूपस्य शशिनश्चन्द्रस्य, ज्योतस्तया कीम्बा, ल्प्तः दूरीकृतस्तमसां निवहो यस्य तादशे प्रिये, त्वामहं प्रार्थये, प्रसीद प्रसन्नतां भजस्व । निवर्तस्व मा प्रयासीः । हताशे मन्दभाग्ये मानिनि । अन्या-सामितरासामभिसारिकाणामि नायकभवनमभिसरन्तीनामि युवतीनां, विघ्नं सञ्च।रप्रतिबन्धं करोषि। अतो निवर्तस्वेत्यनेन गमननिषेधो वाच्यः प्रतिषेधरूपः । दायितानुनयो व्यङ्गचः । स च न विधिरूपो न वा निषेधरूपः ।

अथ बोद्ध व्यभेदेन वाच्यप्रतीयमानयोमियो भेदं दशंयति - कचिदिति । कचित् स्थलविशेषे, वाच्यादर्थात् प्रतीयमानस्य विभिन्नविषयत्वेन विषयनेदेन बोद्धव्यभेदेन व्यवस्थापितः स्थापितः ।

१. 'स्र'क. ख. ग. ङ. २. 'रा'क. ख.

३. 'सा. क.'

४. 'द्भि॰' क. ख. ५. 'तोऽपि' क. ख.

कस्स व ण होई रोसो, दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरस् । सभनरपंजीमग्धाइणि वारिअवामे सहसु एपिहं !!

अन्ये वैवंप्रकारा वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्गात्रमेतत् अर्वाशतम् ।

उज्जीवनी ।

तदेवोदाहरति—

कस्य वा न भवति रोषो रह्वा प्रियासाः सत्रणसघरम् । सभ्रमरपद्मान्नायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इति संस्कृतम् ।

स्वकान्ताया उपपितदृष्टमधरं दृष्ट्वा रुख्ये प्रवासात् प्रतिनिवृते पत्यो सख्या निरपराधत्ववोधनाय तत्प्रतारणोक्तिरियम् । स्वप्रियायाः स्वकान्तायाः, सक्षणं व्रणसहितमधरम् अधरोष्ठं, दृष्ट्वा कस्य वा पुरुषस्य, रोषः क्रोधः, न भवति सर्व-स्यापि रोषो भवत्येवेति भावः । सभ्रमरं भ्रमरयुक्तं पद्ममध्यातुं कीलमस्या इति सभ्रमरपद्मान्नायिणी, तत्सम्बुद्धः हे सभ्रमरपद्मान्नायिणि । वारिता च सा वामा च वारितवामा, तत्सम्बुद्धौ वारितवामे । सभ्रमरपद्मान्नाणनं मा कुर्विति निवारितासि, तथापि त्वं वामा प्रतिकृत्वाभूरिति भावः । अतस्तिद्वानी सहस्य । तस्य मद्भचनप्रतिकृत्वाचरणस्य फलमनुभव । अत्राविनीतत्वरूप-वाच्य थेस्य सम्बोध्या प्रकृतनायिका विषयः । 'इयं स्त्रमरेण दृष्टाघरा न तूपपितना' इति व्यङ्गचस्य तत्कान्तो नायको विषयः । ममैवं वैदग्ध्य'मिति व्यङ्गचस्य प्रातिवेशिनो विषयः । 'मयेदं समाहितं पुनरेवं न त्वया कार्यंभित्यस्योपपितिविषयः । 'भ्रमरेणास्या अधरः खण्डितः, न तु भर्तेति त्ययेष्यां न विषयः । 'भ्रमरेणास्या अधरः खण्डितः, न तु भर्तेति त्ययेष्यां न विषयः । 'एवं विषयभेदादिप वाच्यप्रतीयमानयोभेदो द्रयस्य सपत्नी विषयः । 'एवं विषयभेदादिप वाच्यप्रतीयमानयोभेदो द्रयसेते । इदमुपलक्षणम्—वाच्यस्यैकत्वं व्यङ्गचस्य नानात्वं चानेन पद्यन बोध्यत इति सङ्ख्यापि वाच्यव्यङ्गचयोः भेदबोधिकेति ।

वाच्यव्यङ्गचयोर्वं स्तुनोर्भेदाख्यानमुपसंहरति—अन्ये चेति । एवंप्रकारा उक्तप्रकाराः । वाच्यादिभिधेयादर्थांद्, विभेदिनः विभिन्ना, प्रतीयमानस्य व्यङ्गचस्य, भेदाः प्रकाराः, अन्येऽपि सभ्भवन्ति । तेषां प्रकाराणां दिङ्मात्र-मेतत् प्रदिशतम् । एषा दिक् प्रदिश्तिता । अन्यत् सर्वं सुधियो बिभावयन्त्वित्यर्थैः ।

१. 'दुं'का इ. २. 'न्येऽपि' चै०का ३. 'द्दरं क.

द्वितीयोऽपि प्रभेदो बाच्याद् विभिन्नः संप्रपश्चमग्ने दर्शयिष्यते ।

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षा-च्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्य विभिन्न एव ॥

उज्जीवनी

एतेन वस्तुरूपोऽर्थः यदा शब्दादिभधेयो भवति तदा वाच्यः, यदा तु वाच्य-सामर्थ्याभिव्यक्तः तदा व्यङ्गचश्चेति प्रतिपादितम् ।

प्रतीयमानत्वे नाभिमतेषु वस्त्वलङ्काररसरूपेषु विष्वर्थेषु वस्तुनोऽर्थस्य निरूपणानन्तरं, द्वितीयस्य अलङ्काररूपस्यार्थस्य वाच्याद् भेदख्यापनावसरे प्राप्ते आह—द्वितीयोऽपि इति । द्वितीयोऽपि झलङ्काररूपस्तु, प्रभेदः प्रतीयमान प्रकारः, वाच्यादर्थात् विभिन्नः भेदवान्, सप्रपञ्चं सविस्तरमग्रे दर्शयिष्यते प्रकाशयिष्यते ।

तृतीयस्य प्रतीयमानभेदस्य निरूपणमाह—तृतीयस्त्वित । अत्र तुशब्दः प्रतीयमानवस्त्वलङ्कारवैलक्षण्यं रसादेः द्योतयित । रसादिलक्षणः रसभावादि-रूपः, प्रभेदः प्रतीयमानस्य प्रकारः, वाच्यसामध्यिक्षिप्तः वाच्यस्याभिधेयस्या-र्थस्य सामर्थ्येन अन्यार्थप्रतीतिजननसामर्थ्येनाक्षिप्तः अभिव्यक्तः प्रकाशते । अभिव्यक्त एव भवति । न तु साक्षादव्यवधानेन शब्दव्यापारस्याभिधाया विषयः । साक्षात् सङ्केतितार्थवोधानुकूलाभिधाव्यापारजन्यजोधविषय।द् वाच्यादर्थाद् शतथाभूतोऽयं रसादिङ्यः प्रतीयमानोऽर्थः अत्यन्तं विभिन्न एव ।

अत्रेदमवधेयम्---

वस्तुनोऽलङ्कारस्य रसादेशश्च ध्वन्यमानस्य वाच्याद् भेदः समान एव । तथा वाच्यसामध्यक्षिप्तत्वं तत्त्रितयसाधारणं लक्षणं, तथापि—

> राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद् भयमुपस्थितम् । बाले वारय पान्थस्य वासदानविधानतः ॥

अत्र मिय शत्रुत्वमाचरतः कस्माच्चिष् राज्ञ उपस्थित महद् भयं निवारय, इत्यभिधीयमानस्य र्थस्या बाखां सम्बोध्यां प्रति वचनस्यानु वितत्वेन प्रकरण-

१. 'द्भि०' क. ख. ग.

२. 'द् मि०' क.

वशात् राजशब्दशक्तिविषयात् चन्द्रादुपस्थितं भयं निवारयेत्यर्थसामर्थ्येन उपभोगं देहीति वस्तुव्यज्पते । अयं च वस्तुरूपोऽर्थः उपभोगं देहीति वाचकशब्दे-नाप्यभिधातुं शक्यत इति तस्य वाच्यत्वमिष सम्भवति । अस्रतु वाचकपत्राभावेन व्यङ्गच एव भवतीति वाच्याद् भित्तत्वं, अर्थसामर्थ्यक्षिप्तत्वं चास्ति । तथा—

करतलनिर्गलदिवरलदानजलोल्लासितावनीवलयः। घनदाग्रमहितमूर्तिजैयतितरां सार्वभौमोऽयस्।।

नानार्थशब्दश्रवणे सङ्केतितानामश्वीनामुपिस्थतौ सत्यां, शब्दस्यास्य किस्तिन्नर्थे तात्पर्यमिति तात्पर्यसन्देहे सित, प्रकरणादिकं तात्पर्यिणणियकं पर्यालीचयतः पुरुषस्य, सित तात्पर्यनिणये यत्र तात्पर्यं निणीतं, तस्यार्थस्य शाब्दबोधो भवति । अत्र सम्राङ्वणंने प्रस्तुते सित प्रकरणवद्यात् सम्राज उपस्थितिः शाब्दबोधश्र भवति । ततः करदानधनदादिशब्दानां साधिध्येन सार्वभौम-शब्दाद् दिग्गजरूपेऽप्यर्थे शक्तात् कुबेरदिग्गजस्याप्युपस्थितिः शाब्दबोधश्र भवति । प्राकरणिकार्थबोधनेन क्षीणशक्तिरिक्षधा, अप्रकृतार्थबोधने न प्रभवते । प्राकरणिकार्थबोधनेन क्षीणशक्तिरिक्षधा, अप्रकृतार्थबोधने न प्रभवते । तस्य व्यञ्जनाव्यापारगग्यत्वं केचिदाहुः । प्राकारणिकार्थबोधनानन्तरमुगिस्थितिविषये, द्वितीयस्मिन्नप्यर्थे तस्य शब्दस्य शक्तत्वात् तदर्थस्याप्य-भिधेयत्वमेव सम्मन्यन्ते प्रामाणिकाः ।

तथा च द्वितीयस्याप्यर्थस्य शक्तिवेद्यत्वेन सम्राड् जयित दिग्गजो जयित इति वाक्यार्थद्वयं सञ्जातम् । वाक्ययोस्तयोरसम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्भीदिति तयोः सम्राड्दिग्गजयोरूपमानोपमेयभावो व्यज्यते । एवं दिग्गजसदशः सम्राड् जयतीत्येकवाक्यतयान्वयबोधो भवति । अत्र दिग्गजसाद्दर्थकः उपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः । इयं चोपमः दिग्गज इव सम्राड् जयतीति वाचकशब्देनाप्यभिधातुं शक्यमिति तस्याः कचिद् वाच्यत्वमपि सम्भवति । अत्र तु साद्दरयद्वाचकशब्दाभावादुपमालङ्कारो व्यङ्गच एव । एवं चात्र ध्वन्य-मानास्योपमालङ्कारस्य वाच्याद् भिन्नत्वं वाच्यसामध्यक्षिप्तत्वं च वर्तते ।

तृतीयस्य रसादिरूपस्यार्थस्य तु वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वं व्यङ्गचवस्त्वल-ङ्कारयोरिव समानम्। तथाप्यस्य वाच्यत्व कदाचिदपि न सम्भवतीति वस्त्वलङ्काराभ्यां भेदः। सर्वथा वाच्याद् भिन्नश्च रसादिरूपोऽथैः। तथा हि बाच्यत्वं तस्य स्वश्चादिनिवेदितत्वेन वा स्याद्, विभावादिनिति पादनमुखेन वा। पूर्वेस्मिन् पक्षे स्वश्चदिनिवेदितत्व।भावे रसादीनामप्रकीति-प्रसङ्गः।

न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दिनिवेदितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिशितिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः । स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृताः विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात् ।

उजीवनी ।

तृतीयं प्रतीयमानभेदमाह्—तृतीयस्त्वित । तृतीयः वस्त्वलङ्काराभ्यायन्यो रसादिलक्षणः रसभावादिलक्षणः प्रभेदो भेदः वाच्यस्याभिधेषस्यार्थस्यार्थन्तर-बोधजननशक्त्याश्विप्तः अभिव्यक्तः, प्रकाशते प्रतीयते । तु किन्तु साक्षः च्छब्द-व्यापारविषयः अव्यवधानेन शब्दस्य यो व्यापारः अभिधाख्यः, तस्य विषयो न भवति, अतो रसादिरूपोऽर्थः कदाचिदिष न वाच्यो भवति इत्यतो वाच्या-दभिषेयादर्थाद् विभिन्नो दूरं विभेदवानेव।

तदेवोपपादयति—तथाहीति। तस्य रसादिरूपस्यार्थस्य वाच्यत्वं शक्ति-विषयत्वं, स्वशब्दिविदित्त्वेन वा स्वशब्देः स्वार्थस्य साक्षाद् वाचकैः शब्देः न्विदनेन स्यात् भवेत्। अथवा रसाभिन्यक्तिहेत्नां आलम्बनादि-विभाव दीनां वाचकैः शब्देः प्रतिपादनेन भवेत्। रसादीनां हि वाच्यत्वं तदा भवेत् यदि रसादयः शुङ्काशदिशब्दैः रसाभिन्यञ्जकविभावादिशब्दैर्वा अभिहिताः स्युः। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दिनवेदित्त्वपक्षे, रसाद्यभिन्यक्ति प्रति स्वशब्दिनवेदित्त्वस्य हेतुत्वाङ्गीकारे स्वशब्दिनवेदित्त्वरूपकारणाभावेऽिष रसन्यक्तेरनुभवाद् व्यतिरेकव्यभिचारेण तयोः कार्यकारणभावो नास्त्येव। सर्वत्र तेषां रसादीनां, स्वशब्दिनवेदित्त्वं न च दश्यते। यत्र यस्मिन् काव्ये, तत् स्वशब्दिनवेदनमस्ति, तत्रापि तस्मिन् काव्येऽि, एषां रसादीनां प्रतीतिः न तैः स्वशब्दैः शृङ्गारादिस्वशब्दैः, किन्तु विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैव। विशिष्टानां विभाव।दीनां प्रतिपादनद्वारेणैव भवति। यत्र तु स्वशब्दो विद्यते तत्रापि सा रसप्रतीतिः स्वशब्देनानुद्यत एव। तत्कृता तु तदिभहितस्वरूपा तु

१. द्यत्वम् । ख. ज. भ. 🖜

न हि केवलश्रङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनाग्पि रसवत्वप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रक्षानां प्रतीतिः।

उज्जीवनी ।

रसप्रतीतिः नःस्त्येव । विषयान्तरे विभावादिवाचक्रशब्दशून्ये स्थले, स्वशब्द-सत्त्वेऽपि तथा चमत्कृतिजनकत्वरूपेण, तस्या रसप्रतीतेः आदर्शनाद् अननुभवात् ।

उक्तमेव द्रष्ठयति—न हीति । केवलशृङ्गाराविशव्दमात्रभाजि केवलं शृङ्गारादिशव्दानेव भजत इति ताद्द्यो, विभावादिश्रतिपादनरहिते विभावा-दीनां प्रतिपादनेन रहिते शून्ये च काव्ये, रसवत्त्वप्रतीतिः रसप्रतीतिः, नहि अस्ति नास्त्येव खलु ।

पर्यवसन्नमाह्—यतश्चेति । यतश्च यस्माच्च, स्व।भिधानं वाचकशब्द-मन्तरेण विना, विशिष्टेभ्यो विभावादिभ्यः केवलेभ्यो विवादिप्रति उदनमात्रेण, रसादीनां शृङ्गारादीनां रसानां भावादीनामि, प्रतीतिः प्रत्ययो भवति । केवलाच्च स्व।भिष्नानाद् वाचकशब्दादेव केवल रसादीना नप्रतीतिश्च ।

एवं च रसः दिवाच कशब्देऽसत्यि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमात्रेण रसप्रतीतेः सम्भवाद्, वःचकशब्दे सत्यिप विभावाद्यप्रतिपादने रसप्रतीते-रभावाद्य विभावादिप्रतिपादनरसप्रतीत्योश्च अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारण-भावोऽवधार्यते । ततो विभावादिवाचकैः शब्दैरिभधेयस्यार्थस्य सामर्थ्यता-क्षिप्तत्वम् अभिव्यक्तिः रसःदीनां भवति । न सुकथिचदिव अभिधेयत्वं रसादीनां स्वशब्दिविद्यत्वं सम्भवति । एवं वृतीयोऽि प्रकारो रसादिख्पः प्रतीयमान-स्यार्थस्य वृतीयः प्रभेदः वाच्यादर्थाद् भिन्न एवेति स्थितम् । एवं पर्यवसन्नम् ।

तथा च प्रतीयमानोऽथंस्त्रिविधः—वस्तु, अलङ्कारः, रसादिश्चेति । तत्र आद्यभेदद्वयं कचिद् वाच्यतामप्युनुभवति । तृतीयस्तु भेदो रसादिङ्ः कदाचिदिष व । च्यो भवतीति सिद्धम् ।

१. भ्यो र० ग.

प्रथम उद्घोतः

केवनाच्च स्वाभिषानादप्रतीतिः। तस्मादन्वथव्यतिरेकाभ्यामिधेय-सामर्थ्याक्षिप्तरव्येव रक्षादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथन्विदिति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिण्तियग्रे दर्शयिष्यते।

काव्यस्यातमा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा । क्रौश्चद्वनद्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ६ ॥

उज्जोवनी

जस्य तु रसादेः प्रतीयमानस्यार्थस्य तु वाच्येतार्थेत सहेव प्रतीतिरित्यग्रे उत्तरग्रन्थे दर्शयाव्यते प्रकाशयिष्यते । अस्यार्थस्य वाच्यसामर्थ्यक्षिप्तत्वात् कार्यकारणयोः शैविवर्यस्य नियतत्वेन वच्यार्थकोषानन्तरमेव यद्यपि रसादि-प्रतीतिर्भवितुमुचिता तथापि सहेव प्रतीयत इत्यभिधानेन रसादिध्वनिरसंल-क्ष्यक्रमच्यङ्गच इति प्रामाणिका अलङ्कारशास्त्रकाराः । अपंलक्ष्यक्रम इत्येनेन वचनेन क्रमोऽस्त्येव, स च लाववान्न लक्ष्यते, कार्यकारणयोः क्रमस्य नियतत्वा-दिति तेषामाशयः ।

काव्य थेंषु ध्वनेः प्रतीयमानस्यार्थस्य प्राचान्यं प्रतिपादियतुमाह—काव्यस्यात्मेति । काव्यस्यैव लिलतोचितसिन्नवेशस्यिरशब्दसन्दर्भस्यैव । ण एवःथः प्रतीयमानोऽर्थः (काव्यार्थः) आत्मा सारभ्तः । "अर्थः सहदयश्लाघ्यः काव्यत्मेति व्यवस्थितः । वःच्यप्रतीयमानास्यौ तस्य भेदावुभौ समृतौ" इत्यारभ्वैतदन्तेन प्रबन्धेन सहदयश्लाध्यः योऽर्थस्तस्य वास्च्यः प्रतीयमानस्चेति दौ भेदौ । वाच्यस्यार्थस्य वस्त्वलङ्कारात्यना द्वैविध्यं, प्रतीयमानस्य च वस्त्वलङ्कारात्यना द्वैविध्यं, प्रतीयमानस्य च वस्त्वलङ्काररसात्मना त्रैविध्यं चेति अर्थः पञ्चविधः प्रोक्तः । चमत्कृतिजनकत्वस्य सहदयश्लाध्यत्वस्य च सर्वेष्वपि तेष्वर्थेषु साधारण्येऽपि रसादिरूपोऽर्थः तदितरातिशायिचमत्कृतिजनक इत्याशयः । तथा च यतः रसादिरूपोऽर्थः तदितरातिशायिचमत्कृतिजनक इत्याशयः । तथा च यतः रसादिरूपोऽर्थस्तिवतरा-धिक्षयातिशयितचमत्कृतिजनकत्वात् सारभूतस्तत इत्यर्थः । पुरा पूर्वं, क्रौञ्चद्ववयोगोत्थः क्रौञ्चद्वस्य क्रौञ्चमिथुनस्य, वियोगादेकस्य कौञ्चस्य निषादेन इन्द्रनेनोद्भूताद् विरहादुत्थः उत्पन्नः, शोकः आदिकवेः वात्मीकेः श्लोकत्वं करणरसाभिव्यञ्चकशब्दसन्दर्भक्तात्वमागतः प्राप्त इत्यर्थः ।

उजीवनी

अत्रेदं तत्त्वम्— "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसिनव्यत्तिः" इति भरतमुनिकृतं रससूत्रम् । अत्र रांयोगादिति पञ्चम्याहेतुत्वमर्थः । हेतुन्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं चेति द्विविधम् । यथा दण्डिनिष्ठं घटहेतुत्वं कारकत्वरूपः, तथा विभावानुभावव्यभिचािसंयोगिनिष्ठं रसहेतुत्वम् । तथा सिते यथा घटोत्पत्त्यनग्तरं घटनाशे तद्वेतोदंण्डस्य नाशो नास्ति तथा रसत्रतीत्यनग्तरं तद्वेत्वाँ विभावानुभावव्यभिचारिणां नाशे रसस्य सम्भवप्रसङ्गः । यथा च घूमोऽग्नेः ज्ञापको हेतुः न तथा विभावादयो रसस्य ज्ञापकाः । सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अतः कारकत्वज्ञापकत्वाभ्यामन्यद् व्यञ्जकत्वरूपं हेतुत्वं सयोगा-दित्यत्र पञ्चम्या अर्थ इति अलङ्कारशास्त्रकाराः समामनन्ति । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

"लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये न ट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्यादलौकिकविभावादि-शब्दव्यवहार्योर्भमैवैते, शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारानवध्यवसायाद् साधारण्येन प्रतीतैरभि-व्यक्तः सामाजिकानाँ वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृ-गतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाव-वशोन्मिषितवैद्यान्तरसम्पर्कशुन्यापरिमितभ।वेन प्रमात्रा सकलसहृदयसँव।द-भाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चव्यामाणतैकप्राणी विभावादिजोतितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणिमवालिङ्गन्, अन्यत् सर्विमव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादिमवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः । च न कार्यः । विभावादिनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गत् । नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात् । अपि तू विभावादिभिव्यं खितश्चवंणीयः । कारक-ज्ञापकाभ्याम् अन्यत् क दष्टमिति चेत् न कचिदित्यलीकिकत्वसिद्धः, भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्यूच्येत । छौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्श-रहितस्वादममात्रपर्ववसितपरिमितेत्रयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेद-नगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् । तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामशेप्रधानत्वात् । न।पि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्या-

विविधिवाच्यवाचकरचनाप्राञ्चचारुणः काव्यस्य च एवार्थः सारभूतः । तथा चादिकवेवित्मोकेः, निहत्वसहचरोविरहकात्रक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः ।

उज्जीवनी ।

लौकिकानन्दस्यस्य स्वसंवेदनसिद्धस्तात् । उभयाभावस्य रूपस्योभयात्मकस्वमपि पूर्ववल्लोत्तरतामेव गमयति, न तु विरोधम् इति श्रोमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः" । इति ।

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रह्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यस्चि।रिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ इनि च ।

पुरैकदा माध्यन्दिनाय सवनाय पुण्या तमसां नदीमुगगतवान् महर्षिक् बन्मिकिः । तत्र कस्यचित् पादपस्य शाखायां विहरतः क्रौश्विमिथुनादेकं पुमांसं व्याधगरेण निहन (अनुविद्ध) मदर्शत् । तं (निहन) महचरोविरहक्ततरं, क्रोश्वमुद्दिय क्रोश्वो आक्रन्दित सम । व्याधशरानुविद्धं क्रोञ्चं पश्यतः क्रोञ्च्या आक्रन्दनमुग्गृण्यनश्च मुनः कारुण्यं क्रोधश्च श्लोकस्योद्भवे हेतुत्वमभजत । ततस्नद्भिव्यञ्चकविभावानुभावादीनां वाचकशब्दसमुदायात्मानं काव्यक्षमा-श्रयमिथात्य श्लोकत्वमुग्गतः। तत्र च (क्रीश्वशोकः) व्याधगरिद्धक्रोश्वालम्बनः क्रोञ्च्योकन्दनाद्दोपनश्च महुद्दशनां हृ स्ये वासनाक्ष्येशावस्थितः शोकाक्यः स्थायोभावः करुणरसव्यादेशविषयो भवति ।

उक्तमर्यं विशृणोति । विविधेति—विविधानां विविश्वाणां वाच्यानां प्रतीय-मानार्थवाधनसमयीनां अभिवेयानां ये वाचकाः शब्दास्तेषां रचनायाः तत्तद्रसानु-गुणसङ्घटनायाः प्रवश्चनेन चारुणः सुन्दरस्य, काव्यस्य कविष्ठयुक्तशब्दसन्दर्भस्य, स एवाथः काव्यार्थं एव प्रतीयमानरूगः, सारभूतोऽर्थः लिलतोचितसन्तिवेशचारुण इति पूर्वोक्तस्य विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुण इति भङ्गचन्तरेणानुवाद-रूपमिदम्। सारभूत इति चार्यक्यनमात्मशब्दस्यवेत्यि वेदितव्यम्। तथा च निहनः सहचरीविरदकानस्य क्रीन्डः, सहचर्या विरहः सहचरीसाहचर्यव्यसः,

१. धार्वाश्चरा० च,

"सा निषाद प्रतिष्ठां त्वसगमः शाश्वतीः समाः। यत् क्रीःचमिथुनादेकमवंधीः काममोहितम् ॥" इति ।

शोको हि करुणस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यगेद १दर्शनेऽपि एसभावमुखे वैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ॥

उज्जीवनी ।

तैन कातरो दु: खितश्च क्रीन्डः इति, निहतसहचरीविरहकातरकीन्च इति विशेष-णोभयपदकमंधारयः । तस्मै तमुद्दिश्य य आक्रन्दः क्रीञ्च्यास्तेन जनितः । निहतक्रीञ्चेन विभावेन क्रीञ्च्या आक्रन्दनेन अनुभावेन च मुनेः कारुण्यस्य क्रोधस्य च हेतुभूतः क्रीञ्च्याः शोक एव आदिक्येविल्मीकेवंदनाहिश्तेते श्लोकरूपे (शब्दरूपे) शरीरे प्रतीयमानं माद्युर्वं सहृदये रास्वाद्यते । श्लोकरूपतया परिणतः परिणति प्राप्तः । तमेव श्लोकमाह—मा निषादेति ।

अस्यार्थः — हे निषाद, न विद्यते मा (श्रीः) यस्य सः अयः, निःश्रीकस्तत्स-म्बुद्धौ हे अम! इति, यत् तु यतस्तु, त्वं क्रीश्विमिथुनात् क्रीश्वस्य द्वन्द्वाद् एकं पुमांसं क्रीश्वं, काममोहितं कामुकं, अवधीः हतवान्। ततस्त्वं शाश्वतीः समाः बहुत् वत्सरान् प्रतिष्ठां मा गमः न प्राप्त्या इति।

अनेन सूचितः रामायणस्येतिहासस्यार्थः—मा (लक्ष्मोः) निषीदत्यस्मित्रिति मानिषादः, तत्सम्बुद्धौ हे मानिषादः, हे लक्ष्मोनिवास, यतस्त्वं क्रौञ्चिमिश्चनादः राक्षसद्वन्द्वाद् रावणमन्दोदरोरूपाद्, एकं रावण निहतवांस्ततः, शाश्वतोः समा प्रतिष्ठां प्राप्नुयाः इति ।

ननु शोकी यदि श्लोकत्वमागतस्तिहि काव्यार्थेषु प्रतीयमानस्य सारभूतत्वं कथमुपपद्यत इत्याशङ्कायामाह—शोक इति ।

> शृङ्कारहास्यकरुणरोद्धवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्ताश्च रसाः पूर्वेरुदाहृताः।। रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोघोत्साही भयं तथा। जुगुप्साविरुत्यशमाः स्थायिभावा नव क्रमात्॥

^{ी.} प्रभेद० स. स

२. नोप० क. ख.

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु, निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् । अलोक सामान्यमाभन्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ७ ॥

उज्जीवनी ।

विभावानुभावव्यभिचारिस्योगादिभिव्यक्तः शोकाख्यः स्थायी भावः करुणरसतां प्रतिपद्यते । अतः करुणरसस्य स्थायी भावः शोकः प्रतीयमान एव न कदाःचिदिप वाचकशब्दाभिधेयो भवेदिति पूर्वं प्रतिपादितम् "अन्वयव्यति-रेकाम्यामर्थसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनां न स्वभिधेयस्वं कथि चिदित तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्" इति ।

प्रतीयमानस्येति — प्रतीयमानस्य च व्यङ्ग्यस्यापि अन्यौ भेदौ यौ वस्त्वलङ्काररूपौ तयोर्दर्शनेऽपि विद्यमानतथा ज्ञानेऽपि वाच्यार्थापेक्षया प्राधान्ये-ऽपि च रस गाव पुखेन रस मुखेन भाव मुखेन च, व्यङ्गच वस्त्वलङ्कारापेक्षयापि प्राधान्येन रस भाव दिस्तन्मुखेनेव, इत रयो ह गलक्षणं ज्ञापनं भवति । प्राधान्यात् रसपर्यवसायित्व दित्यर्थः ।

अत्रेदं बोध्यम् — विभावानुभावव्यभिचारिभिः अभिव्यक्तः स्थायी रत्यादिः रसः। विभावानुभावाभिव्यक्तो व्यभिचारो भावः। विभावानुभावाभ्यां चर्व्यमाणस्य व्यभिचारिणः स्वात्ममात्रे विश्वान्तेरभावेऽपि, यत्र रसपर्यन्तिविश्वान्तिः न जाता तत्र भावस्य सारभूतत्वमङ्गीक्रियत इति रसादिषु भावोऽप्यन्तर्भावित इति तस्य सारभूतत्वमुररोक्नतम्। तथा वस्त्वलङ्कारयोः प्रतीयमानयोरर्थयोरिष तावन्मात्रेऽ विश्वान्ततेति इतरशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन सारभूतत्विमिति वस्तुह्वनेरलङ्कारह्वनेश्च तत्त्वं सूपपादम्।

अथ काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च प्रतिभाया एवानन्यथासिद्धनिय-त्तपूर्वभाविन्या हेतुत्वं प्रतिपादियतुमाह—सरस्वतीति । तत् पूर्वोक्तम्, अर्थवस्तु प्रतीयमानार्थवत्त्वकां वस्तु, स्वादु आस्वाद्यं, निष्यन्दमाना स्वयं प्रस्नुवाना, महतां कवोनां, महाकवीनां, सरस्वती वाणो काव्यक्ष्यां, परिस्फुरन्तं परितो

१. 'ग्रलोकसाम्यं प्रतिमाविशेषं परिस्कुन्तं समित्रव्यनक्तिन' ज. भ. भ.

तद् वस्तुनत्त्वं निःष्यन्दमाना महनां कवीनां भारती अवलोकसामान्यं प्रतिभानि विशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनिक्तः। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्विताः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

उज्जीवनी।

भासमानं, अलोककामान्यं अनन्यसाधारणं, प्रतिभाविशेषं काव्यविशेषस्योद्भवे निर्माणे समुरुनासे चानुकूलं नवनवोन्मेषशालिप्रज्ञाविशेषं अभिव्यनक्ति सूचयति । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—(P 8-11)

> "शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञशिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

शक्तिः कित्वबीजरूपः संस्कागिवशेषः, या विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वोपहसनोयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिषानकोश कला वतुर्व गण जतुरगखङ्गादिनक्षणग्रन्थानां, काव्यानः च महाकिविसम्बन्धिनाम्, आरिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनात् व्युत्पत्तिः । काव्यं कर्तुं विचारियतुं च ये जानन्ति, तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति च त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुद्धामे च हेतुनं तु हेतवः " इति । शक्तिरनुभवजन्यः समृतिहेतुर्भविनाविशेषां प्रतिभापरपर्यायः ।

जगन्नाथ विद्यास्तु, प्रतिभामेत्र केतलां काव्यस्य कारणं मन्यते । सा च प्रतिभा कचिद् व्युटात्त्यभ्यासाभ्यां कचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्येनाद्यदेन जायत इति च वदति । सर्वथा प्रतिभां तिना काव्यं न प्रसरेदिति प्रतिभेव मुख्यं काव्यस्योद्भवे कारणमिति सिघ्यति ।

तदेव विवृणोति—तदिति । तत् प्रतीयमानं पुनरन्यदेवेत्यादिना पूर्वमुक्तम् । वस्तुतत्त्वं प्रतीयमानार्थवत्त्ररूपं तत्त्वं निःष्यन्दमाना प्रस्तुवानाः, महतां कवीनां महाकवीनां, भारतो काव्यरूपा वाणो, अलोकसामान्यमनितरसाधारणं, प्रतिभाविशेषं अपूर्वशस्तुप्रतिपादनक्षमं प्रज्ञाविशेषं, परिस्फुरन्तं परितः । प्रतिभाविशेषं, अभिव्यनिति प्रकाशयति । येनाभिव्यक्तेन, अतिविचित्रां कविपरम्परां

[📭] लोकः च.

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सङ्कावसाधनं प्रमाणम् —

श्चन्दार्थशासनज्ञाननात्रेगीय न वेद्यते । वेद्यते स तु काच्यार्थतत्त्वज्ञरेय केरलम् ॥ ८॥

उज्जीवनी

बहत्यस्मिन् संसारे लोके। कालिदासप्रभृतयः कालिदासः प्रभृतिः प्रकारो येषा ते। द्वित्राः द्वौ वा त्र गो वा। पश्च याः पश्च वा षड् वा महाकवय इति गण्यन्ते महाकवित्यगणनामहीन्ति।

इदिनिति—इदं वक्ष्यमाणम् । प्रतीयमानस्यार्थस्य व्यङ्गचार्थविशेषस्य, सद्भावसाधनं सद्भावस्य विद्यमानतायाः, अपरम् अन्यत् प्रमाणं चोच्यत इति शेषः ।

शब्दार्थेति । शब्दश्वार्थश्च शब्दार्थी, तयोः शासनं शब्दार्थशासनं, शब्दान्तुशासनं व्याकरणम् अर्थानुशासनं कोशादिश्च । व्याकरणज्ञानेन सुशब्दावगितः, कोशेन पदानां सङ्केितार्था ग्रबोधश्च जायते । अस्यार्थस्यावबोधकोऽयं शब्दो वाचक इति, अस्य शब्दस्यायमर्थी वाच्य इति च शब्दार्थयोः वाच्यवाचकरूप संसगंज्ञानेन परं स प्रतीयमानोऽर्थः, न वेद्यते न ज्ञायते । व्याकरणात् सुशब्दान्, कोशादर्थाश्चाधिगतविद्धः तावन्मात्रेण प्रतीयमानोऽर्थो नाधिगम्यत इति यावत् । तु किन्तु, काव्यार्थतत्त्वज्ञः काव्यस्य सारभूतो यः प्रतीयमानोऽर्थः तस्य वाच्यातिशायिचमत्क्वि जनकःवरूपं तत्त्वं जानिद्धः, तत्त्वज्ञानेनेव केवलं वेद्यतेऽधिगम्यते । एवं च शब्दार्थीनुशासनज्ञानमात्रेण कविप्रयुक्तात् शब्दाद् वाच्यार्थबोधः, प्रतीयमानार्थतत्त्वज्ञानपुरस्कृतेन कविव्यापारेण प्रतीयमानार्थ- बोधश्च भवतीति वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोः सामग्रीभेदादिप भेदो वेदितव्यः

उक्तमयं विशवयति—स इति। सः अयंः प्रतीयमानोऽर्यः काव्यायंतत्त्वज्ञरेव केवलं काव्यायंतत्त्वं व जानन्ति तैः तग्जानेने । परं ज्ञायते अधिग्रम्यते । असी अर्थः प्रतीयमानोर्थः, यदि च वाच्यक्ष एव स्याद् अभिधीयमानक्ष्य एव भवतीत्यङ्गोकियते चे १, तत् तिहि, तत्प्रतीतिः तस्यार्थस्यावबीधः, वाच्यवाचक-रूपपरिज्ञानादेव वाच्यस्यार्थस्य, वाचकस्य शब्दस्य स्वक् ाज्ञानादेव शब्दार्थयो-र्वाच्यवाचकभावक्षपसम्बन्धमात्रज्ञान।दिति वार्थः, स्याद् भवेत् । अथ च तत्थ्यः शब्दार्थशायनज्ञानमात्रेऽि परैर्न वेद्यते सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थत-त्वज्ञैरेव जायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद्वाच्यवाचकस्वरूप-पिश्जानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अयो च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनात्रिमुखानां स्वरश्रुत्याविलक्षणनिवा अगीतानां गान्धर्व-लक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ।।

उज्जीवनी ।

समावयं: प्रतीयमानः, वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां वाच्यलक्षणे कीशादी, वावकलक्षणं व्याक्तरणादौ च केवलं कृतश्रमाणां विदिताध्ययनानां काव्य-तत्त्वार्थभावनाविमुखानां काव्यस्य यस्तत्त्वार्थः, तद्विषयकभावनाञ्चनाम् भगोचर एवाविषय एव । अप्रगीतानां प्रकृष्टं गीतं (गानं) वेषां ते प्रगीताः प्रकृष्टं गीतं (गानं) वेषां ते प्रगीताः प्रकृष्टं गायकाः, ते न भवन्तीति अप्रगीताः तेषाम् । अप्रकृष्टगायकानां गान्धर्वलक्षणं सङ्गीतशास्त्रं तन्मात्रं विदतां स्वरश्रुत्यादिलक्षणं सङ्गीतशास्त्रं तन्मात्रं विदतां स्वरश्रुत्यादिलक्षणं स्वराणां षङ् जर्षभगान्धारमध्यमपन्धमधैवतिषादाख्यानां श्रुत्यादीनां च लक्षणं स्वराम् इव यथा न ज्ञायते तथायं प्रतीयमानोऽर्थोपीत्यर्थः।

अत्राप्तगोतानामिति वृत्तिग्रन्थस्य व्याख्यानावसरे लोचनकारेण, प्रकृष्टं गीतं येषां ते प्रगीताः इति प्रगीतशब्दस्य परमर्थो विण्तः। तथा सित अप्रगोतानामिति वा प्रगोतानामिति वा पाठो लोचनकाराभिसंहित इति सन्देहे तत्रिहाराय उपलोचनकारस्तस्याभिसिष्धं प्रदर्शयति—'अप्रगीतानाम्' इत्येव वृत्तौ पाठः समादरणीयः। प्रगोतानामित्यस्येव लोचने विवरणात् तथेव भवेदिति न भ्रमितव्यम्। "प्रारम्भेण चात्र फलपर्यन्तता लक्ष्यते" इति लोचनकरोक्तिः प्रगीतगदस्य द्वितीयविवरणविषया। प्रथमविवरणे गीतस्य प्रकृष्टत्वं चाम्यासपाटवेनोपगतगानकौशलरूपम्। एतदेव फलमित्रेतं "फलपर्यन्तता" इत्यत्र। एवं प्रतोतपदार्थवर्णने स्वयमेव सुधियः नत्रथंयोजनेन "अप्रगीताना"मि त्यस्य "अभ्यासातिशयाभिगमनीयगानकौशलरहितानाम्" इति प्रकृतानुगुणमर्थं जानीयुरिति लोचनकाराणामभिसन्धः।

एविमिति, एवं वाच्यव्यङ्गचयोः स्वरूपभेदेन भिन्नसामग्रीजन्यप्रतीति-विषयत्वेन च । वाच्यव्यतिरेकिणः वाच्याद् व्यतिरिक्तस्य, व्यङ्गचस्य

१. 'म्रतो वा॰.' क. २. 'दिस्वल॰' क. ख. ३. 'व प्रगी॰' च

एवं वाच्यव्यतिरेकिणोः व्यङ्गचस्य । सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति । व्यर्शयित—

सोऽर्थस्तद्वचित्तामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन । यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ६ ॥

व्यङ्गचोऽर्थस्तव्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, त ^३शब्दमात्रम् । तावेव शब्दायौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्गचव्यञ्जकाभ्यामेत्र सुप्रयुक्ताभ्यां महा-कवित्वलागो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥

उजीवनी ।

प्रतीयमानार्थस्य, सद्भावमस्तित्वं प्रतिपाद्योपवर्ण्यं, तस्यैव प्रतीयमानस्यैवार्थस्य, प्राधान्यमितरापेक्षया सारभूतत्विमिति दर्शयति — सोऽर्थः इति । सोऽर्थः व्यङ्गचोऽर्थः शब्दविशेषाद् व्यञ्जनाव्यापारजन्यप्रतीतिविषयत्वेनानुभूतः, इदानीं स्मृतिहेतुभावनारूपेणाविष्ठमानः, यश्च तद्वचित्तसामर्थ्ययोगी तस्यार्थस्य व्यक्ती अभिव्यञ्जने यत् सामर्थ्यं तस्य योगोऽस्येति तादशः कश्चन शब्दश्च शब्दविशेषोऽपि । इति एवंभूतौ तौ शब्दार्थौ शब्दश्चार्थश्च, महाकवेः कर्त्तुः यो महाकविरहं भूयासमित्याशास्ते तस्येत्यर्थः । एवमाशंसारूपयोद्वोधकसामग्रचा । यत्नतः प्रयत्नेन, प्रत्यभिज्ञेयौ प्रत्यभिज्ञामर्हतः । एवं प्रत्यभिज्ञानेन व्यङ्गचमर्थमनुसन्धाय तद्वचञ्च शब्दस्य प्रत्यभिज्ञातस्य सुनिपुणं प्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थः ।

तदेवोपपादयति—व्यङ्गचोऽर्थ इति । व्यङ्गचोऽर्थः व्यञ्जनाव्यापारगम्योऽर्थः, तस्याभिव्यनतौ व्यञ्जने समर्थश्च कश्चित् शब्दः, त शब्दमात्रं न शब्दसामान्यम् । किन्तु शब्दिवशेषः, तावेव शब्दार्थौ व्यञ्जकः शब्दो व्यङ्गचोऽर्थश्च,
महाकवेः महाकिष्वदमभिल्वतः, प्रत्यभिज्ञेयौ प्रत्यभिज्ञाहौ । व्यङ्गचव्यञ्जकाम्यां
व्यङ्ग्येन व्यञ्जकेन च, सुप्रयुक्ताम्यां पूर्वानुभूतस्यैवार्थस्योपस्थितेः योगेन
(व्यङ्गचार्थानुसन्धानेन) तदनुक् लव्यञ्जकशब्दस्य प्रयोगेण च । महाकवीनां महाकिवित्वप्रेप्स्नां, महाकिवित्वलाभः महाकिवित्वप्राप्तः, त एव शब्दार्थयोः यथावत्
प्रत्यभिज्ञाय प्रयोक्तार एव महाकवयो भवन्तीति भावः। न वाच्यवाचकरचनामात्रेण कोशादितः सङ्केतितमथंमवबुद्धच तस्यार्थस्यानुसन्धानपुरस्सरं

१. 'स्यार्थस्य स०' ■ सा. २. 'ब्रद०' क. सा. ३. 'न सर्वः' च. जा. भूर. व

इदानीं व्यङ्गचव्यञ्जक्योः प्राधान्येऽयि यहाच्यवाचकावेव प्रयममुपाददत्ते कवयस्तदिप युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः । तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदाहतः ॥ १० ॥

यथा ह्यालोकार्थी सन्नि। दोपशिखायां यत्नवान् जनो भवति तदुपायतया । न हि दोपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति । तद्वद् व्यङ्गचमर्थं प्रत्याद रो जनो वाच्येऽर्थं यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेव्यं ङ्गचमर्थं प्रति व्यागरो दश्तिः।

उज्जीवनी ।

तद्वाचकानां तदिभिघायकानां पदानां तत्तदर्थानुकूलया रचनया केवलं न कोऽपि महाकविपदमर्हति ।

इदानीमिति । व्यङ्गचव्यञ्जकयोः व्यङ्गचस्य व्यञ्जकस्य च । व्यञ्जनाव्या-पारगम्यः यः सोऽथों व्यङ्गचः, व्यञ्जनयार्थप्रतिपादको यः स व्यञ्जकः शब्दस्तयोरित्यर्थः । प्राधाःयेऽपि प्रत्यभिज्ञायमानस्य व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रयुज्यमानस्य च व्यञ्जकस्य शब्दस्य, उपादेयत्या प्राथम्ये कर्तव्यत्वेनोपस्थिते सत्यपि, यद्यतः, वाच्यवाचकावेव अभिध्या बोध्यमानं वाच्यमर्थं विज्ञाय, तद्धोषकं वाचकं शब्दं च, कत्रयः काव्यतिमितारः, प्रथममादौ, उपाददते स्वीकुर्वते, वाच्यमर्थमभियनधाय वाचकशब्दं प्रयुञ्जते । तदपि वाच्यवाचकयोः प्रथमोपादानमपि युक्तमेवेत्याह उचितमेवेति कथ्यति।

तवेवोपपादयति — अलोकार्थीति । आलोकं रमणीयस्य वस्तुनो दर्शनं चाक्षुषप्रत्यक्षमथं रमानो जनः, तदुपायतया तदुपायत्वेन, दीपशिखायां प्रत्यक्षं प्रत्यालोकस्य प्रकाशस्य, सहकारित्वेन, प्रदीपज्वालायां, यत्नवान् प्रयत्नवान्, यथा भवति, तद्वत् तथा, तदादतः तं व्यङ्गचमर्थं प्रत्यादरवान्, व्यङ्गचमर्थं-मालोकयितुमर्थी, वाच्ये अभिधाव्यापारबोध्येऽथं यत्नवान् भवतीत्यर्थः।

ययेति । यया हि यद्वत् । जनः आलोकार्यी सन्निप आलोकं रम्यवस्तु-दर्शकमर्थयमानो भूत्वा, दोपशिखायां दोपज्वालायाः सम्पादने, तदुपायतय। प्रतिपासस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते । वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत् तस्य वस्तुनः ॥ ११ ॥

यथा हि पदार्थदारेण वाक्या धीवगमस्तथा वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्विका क्यङ गचस्यार्थस्य प्रतिपत्ति:।।

उज्जीवनी ।

दर्शनोपायत्वेन रम्यवस्नुदर्शनसायग्रीत्वेन, यत्नवान् प्रयत्नवान् भवति । तत्र हेनुमाह—न होति । दीपशिखामन्तरेण आलोकहेतोः दोपस्यासिन्धाने, आलोको न सम्भवति हि । तद्वत् तथा व्यङ्गचमर्थं प्रति आदतः प्रतीयमानेऽथं आदरवान् प्रतीयमानार्थंप्रतिपादनेच्छ्या, जनः वाच्यार्थं यत्नवान् अभिध्यार्थप्रतिपादनो-पायत्वेन तद्वश्विधायकशब्दप्रयोगे यतमानो भवति । अनेन व्यङ्गचमर्थं बोध-यितुमभिलषतः कवेः वाच्यार्थंबोधनानुकूलप्रयत्नपरिग्रहकथनेन । प्रतिपादकस्य शब्दप्रयोक्तुः कवेः । व्यङ्गचं प्रतीयमानमर्थं प्रति प्रतीयमानार्थंबोधानुकूलो व्यापारो वाच्ये यत्नः दिशतः प्रदिशत इत्यर्थः ।

यथा किवः प्रतीयमानार्थं गोधनमिनलपन् तद्गायतया वाच्यार्थं बोधनीपियके शब्दप्रयोगानुकूले व्यापारे अदरवान् भवति तथा सह्दयस्यापि प्रतीयमानार्थं- जिज्ञासायां वाच्यार्थं बोधस्येव प्रथमं जायमानतां प्रदर्शयितुमाह प्रतिपाद्य-स्यापीति। प्रतिपाद्यस्य। यं प्रति शब्दः प्रयुक्तः तस्येत्यर्थः। तं व्यापारं ज्ञानानुकूलं दर्शयितु ज्ञापियतुम्, स्राह ब्रूते। यथेति। वाक्यं पदसमूहः, तदर्थो वाक्यार्थः, स च पदार्थद्वारेण पदस्य पृथगर्थं बोधदारेण पदार्थं ज्ञानपूर्वं कमेव, वाक्यार्थः सम्प्रतोयते वाक्यार्थं ज्ञानं भवति। यथा पदार्थं बोधानन्तरमेव वाक्यार्थं बोधोऽनु भवसिद्धः तद्वत् तथा, तस्य वस्तुनः प्रतीयमानार्थं स्य, प्रतिपद् अवगितः, वाच्यार्थपूर्विका वाच्यार्थः पूर्वं यस्पाः सा तादशो भवति।

कवित्रयुक्तस्य शब्दसन्दर्भस्य श्रवणे तत्सङ्केतितस्यार्थस्यैव प्रथममुपस्थि-तिस्ततः शब्दबोधो वाच्यार्थबोधो भवति । ततश्च वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यात्

[्]रा 👢 (र्थस्यार्थं क. ख. 💎 🐥 २. ार्थंपूर्वं क. ख.

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेव्यं ङ्गचस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दशंयति—

स्त्रसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं 'प्रतिपादयन् । यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थी न विभाव्यते ॥ १२ ॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनव वाक्यार्थं अकाशय किप पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न³ भाव्यते विभक्ततया ।

उज्जीवर्नाः।

प्रतिभाजुषामन्यार्थबोधो व्यञ्जनया भवतीति क्रमः । अतः सहृदयस्यापि वाच्यार्थबोधानन्तरमेव व्यङ्गचार्थस्य प्रतिपत्तिर्जायत इति तत्त्वम् । यथाहीति । यथा हि यद्वद्, वाक्यार्थावगमः वाक्यार्थबोधः, पदार्थद्वारेण पदस्यार्थं विज्ञाय सद्द्वादा वाक्यार्थामगमः वाक्यस्य यो विशिष्टार्थः, तस्यावगमो ज्ञानं यथा भवति , तद्वत् तथा, वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका वाच्यार्थप्रतीत्यनन्तरमेव । व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रतीयमानस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिरवगमो जायत इत्यर्थः ।

इदानीमिति । इदानी तत्प्रतीतेः व्यङ्गचार्यप्रतीतेः, वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकर्त्वेऽि वाच्यार्थवोधानन्तरमेव, व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रतीतिर्यचण्यनुभूयते तथापि
व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रतीयमानस्यार्थस्य, प्राधान्यं इतरातिशायिचमत्कृतिजनकत्वं,
यथा येन प्रकारेण, न व्यालुप्यते न लुप्तं भवति । तथा तेन प्रकारेण तं
प्रकारिमदानीं दर्शयति स्वसामर्थ्यति । स्वसामर्थ्यवशेन, अत्र स्वशब्देन पदार्थो
गृह्यते । स्वस्य तत्तत्पदेन वृत्त्या (व्यापारेण) उपस्थितस्य तत्तदर्थस्य यत्
सामर्थ्यं आकाङ्क्षायोग्यतासिन्निधमत्त्वं, तद्वशेन, तत्सहकारेण, वाक्यार्थं,
वाक्यतात्पर्यविषयीभूतमेकवाक्यतयान्वयबोधविषयं विशिष्टार्थं प्रतिपादयन्
कोध्यन् पदार्थः प्रत्येकपदार्थः । व्यापारिनष्पत्तौ व्यापारस्य वाक्यार्थंबोधान्तुक्रलस्याकाङ्क्षादेः सहकारेण फलप्राप्तौ सत्यां, यथा न विभाव्यते पृथक्त्वेन न
जायते, तथेत्युत्तरकारिकया सम्बन्धो वेदितव्यः ।

ः यथेति । स्वसामर्थ्यवशेनैव, पद्मा पदार्थः आकाङ्कादिसहकारिवशेनैव,

१. 'प्रथयन्निव.' च. २, 'प्रतिपादयन् प०' क. ३. 'न वि०' क. ख. ग.

तद्वत् सचेतसां सोऽथां वाच्यार्थविमुखात्मन म् । बुद्धौ तत्त्रार्थदर्शिन्यां झिटत्येवावभासते ॥ १३ ॥

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो वङ्गचस्यार्थस्य सङ्गावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोज-यज्ञाह—

> यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थेभ्रपमर्जनीकृतस्त्रार्थौ ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः

स ध्वनिरिति द्वरिभिः कथितः ॥ १४ ॥

उज्जीवनी

वाक्यार्थं तात्पर्यार्थं, प्रकाशयन् अवशोधयन् व्यापारस्य तस्य फलप्राप्त्यनन्तरं विभक्ततया पार्थक्येन न भाव्यते न प्रकाशते ।

तद्वदिति। तद्वत् तथा वाच्यायंविमुखात्मनां वाक्यार्थेरूपे वाच्यार्थे विमुखः तद्वोधमात्रेणापरितुष्यत् आत्मा येषां तेषां सचेतसां सहृदयानां, तत्त्वार्थेद्यान्यां तत्त्वार्थस्य सारभूतस्यार्थस्य दर्शनोत्सुकायां, बुद्धी प्रज्ञायां, सोऽर्थः प्रतीयमानोः ऽर्थः, झटित्ये । क्षिप्रमेव, अवभासते प्रकाशते । वाक्यार्थबोधानन्तरं वाच्यबोधोऽपि प्राधान्येन न प्रकाशत इत्यर्थः ।

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण, वाच्यव्यतिरेकिणो वाच्यादितिरिक्तस्य, च्यञ्जचस्यार्थस्य प्रकायमानार्थस्य, सञ्जावमस्तित्वं, प्रतिपाद्य निरूप्य, प्रकृते उपयोजयन्नाह तस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयन्नाहेत्यर्थः ॥

काव्यविशेषलक्षणमाह —यत्रार्थं इति । यत्र यस्मिन् काव्यविशेष इत्यर्थः । अस्य सं काव्यविशेषः इत्यनेन सम्बन्धः । अर्थो वाच्यः । वा अथवा । शब्दो वाच्यः । उपसर्वनीकृतस्वार्थाविति द्विवचनेन अर्थशब्दयोष्ठभयोरिप उपसर्जनी-कृतस्वार्थत्त्रमभिमतिमिति ज्ञायते । अनुपसर्जनमुपपर्जनं सम्पद्यमानं कृतम् उपसर्जनाकृतम्, तच्च तत् स्वं चोपसर्जनोकृतस्वं, तद्र्योऽथौ येन स उपसर्जनोकृत-स्वार्थं इति अर्थविशेषणम् । अर्थः स्वारमानम् (अर्थम्) उपसर्जनमप्रधानं कुर्वन्, अर्थः स्वयमुपसर्जनोभवन् अप्रधानीभवित्रत्यर्थः ।

उज्जीवनी ।

तथा उपसर्जनीकृतः स्वस्य (शब्दस्य) अर्थः अभिधेयः यैन स शब्दः इत्युपसर्जनीकृतस्वार्थत्वं शब्दिविशेषणम् । एवं च उपसर्जनीभूनीऽर्थः उपसर्जनीकृतस्वार्थः शब्दो वा इत्यर्थः । उपसर्जनीकृतस्वार्थश्च उपसर्जनीकृतस्वार्थश्च उपसर्जनीकृतस्वार्थश्च उपसर्जनीकृतस्वार्थश्च उपसर्जनीकृतस्वार्थाः । उपसर्जनीकृतस्वार्थात्व प्रमानिकृतस्वार्थात्व प्रमानिकृतस्वार्थाति द्विवचनमुपात्तम् । "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तावित्यन्तेकशेषः" । तथाप्युभयोरप्युपसर्जनीकृतस्वार्थत्वं नैकरूपम् । अर्थः शब्दो वा इत्येकवचनमुपात्तं तु तयोः पृथक् प्राधान्याभिप्रायेण । प्राधान्येनार्थस्य व्यञ्चकवे शब्दस्य सहकारित्वं शब्दस्य प्राधान्येन व्यञ्चकत्वे तु अर्थस्य सहकारित्वं च वेदितव्यम् । नतु तयोरभयोरेकस्थलानुरोधेन व्यञ्चकत्वे प्राधान्यं सम्भवित । तमर्थं योऽविद्यमानत्वादिवादिनराकरणेन साधितः तं प्रतीयमानमर्थं व्यञ्चक्तः व्यञ्चयतः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं प्रयोगः । उपसर्जनीकृतस्वार्थाविति विशेषणानुरोधेन व्यञ्चक्त इति द्विचनम् । स काव्यविशेषः ध्विनः व्वनिसंज्ञित इति एवं, सूरिभिः विद्विद्धः, कथित उक्तः ।

वस्तुतस्तु—"वा स्याद् विकल्पोपमयोवितर्के पादपूरणे । समुच्चये च'' इति मेदिनी । "वा स्याद् विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये इति विश्वः । इति कोशपर्यालोचनया वाकारस्य समुच्चयार्थत्वावगतेः उपसर्जनीकृतात्मा अर्थः, उपसर्जनीकृतार्थः शब्दश्च यत्रार्थान्तरं व्यख्जयतः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ध्वनिकृद्धचनै न काप्यनुपपत्तिः । तदनुरोधेनैव पण्डितराजेन "शब्दा-थौ गुणीभावितात्मानौ यत्रार्थान्तरमभिव्यङ्कतस्तदाद्यम्' इति उत्तमोत्तमकाव्य-लक्षणमिशिहतम् ।

एवं घ्वनिलक्षणोऽशीं लक्षणामूलोऽभिधामूळक्चेति द्विविधः। शब्दादेव लक्षणया लक्ष्यार्थबोधे सति तन्मूलः प्रयोजनादिरूपो योऽर्थस्तस्प्रतिपादने व्यञ्जनाव्यापार एव प्रभवतीति स शब्दो व्यञ्जक इत्युच्यते। वस्त्वलङ्काबरसा-दिरूपाणां त्रयाणामपि व्यङ्गधार्थानां अर्थसामर्थ्यक्षिप्तत्वस्य साधारण्यात् लक्षणामूलघ्वनौ अर्थस्य प्राधान्येन व्यञ्जकत्वं, शब्दस्य सहकारित्वं चाम्युपगम्यते। अभिधामूलघ्वनौ तु अनेकार्थबोधनसमर्थस्य शब्दास्याभिषया यत्रार्थी वाच्यविशेष: शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्यविशेषो व्वनि-रिति ।

४२

उज्जीवनी ।

संयोगादीनां साहाय्येन प्राकरणिकार्थबोधः प्रथमं सञ्जायते। ततः तदर्थबोधनेन क्षीणशक्तिरभिधा अर्थान्तरं बोधियतुं यतोऽसमर्था ततो व्यञ्जनयार्थान्तरप्रतोति-जीवत इति मतानुसारेण तस्य व्यञ्ज्यस्थार्थस्य सशब्द एव प्राधान्येन व्यञ्जकः। प्राथमिकार्थश्च सहकारीति विवेकः। तदक्तम्—

> "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थवीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥" "संयोगौ विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सम्बद्धाः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः, कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥" इति ।

काव्यं चोत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधमित्याहुरालङ्कारिकाः। यत्र व्यङ्गयो-ऽर्थो वाच्यातिशायी तदुत्तमं काव्यम्। वाच्यानतिशायिनि व्यङ्ग्ये मध्यमं काव्यम्। अव्यङ्गयं तु अधमं काव्यमिति च। अव्यङ्गयमित्यत्र नत्रीषयथें बोध्यः। अनुदरा कन्येत्यत्र यथा। तदेवोक्तम्—

> ''तत्सादश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता। अप्राणस्त्यमभावश्च नत्रर्थाः षट् प्रकीत्तिताः॥ इति।

एतेन शब्दबोघ्योपसर्जनीभूतार्थव्यङ्ग्य-शब्दबोध्योपसर्जनीकृतार्थव्य-ङ्ग्यान्यतरत्वं ध्वनिसामान्यलक्षणम् । तच्चाविविक्षितवाच्यविविक्षितान्यपर वाच्यान्यतरत्वरूपम्। एवं च अविविक्षितवाच्यविविक्षितान्यपरवाच्यान्यतरार्थ-व्यञ्जकशब्दत्वं काव्यविशेषस्य लक्षणम् । काव्यसामान्यलक्षणं तु योऽर्थः सहद्यश्लाघ्य इत्यनेनोक्तम्। तथा च यत्रार्थं उपसर्जनीभूतस्तमर्थं व्यनिक्ति सोऽविविक्षितवाच्यो लक्षणामूलध्वनिः। यत्र शब्द उपसर्जनीकृतार्थस्तमर्थं व्यनिक्ति, स विविक्षितान्यपरवाच्योऽभिषामूलध्वनिः इति च ध्वनेः प्रकारद्वयमिष कारिकयैव प्रतिपादितमिति वेदित्यम्। अनेत वाच्यवाचकचा हत्त्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुपासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वत्रेतिषय इति दिशितम्। यदप्युक्तम्—''प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेध्वेनिर्नास्ति'' इति, तदप्ययुक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः। लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृ स्थाह्नादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्नै दर्शविष्यामः।

उज्जीवनी ।

उक्तमेवार्थं विशवयति—यत्रेति। यत्र काव्यविशेषे, अर्थः सङ्केतितो वाच्यविशेषः, यस्यार्थंस्यार्थान्तरव्यञ्जनसामर्थयं च वाच्यार्थविशेषः। नहि सामान्येन सर्वस्यापि वाच्यस्यार्थान्तरव्यञ्जकत्वं पश्यामः। शब्दः अभिधेयार्थन्वाच कः वाच कविशेषो, यस्य वाच कशब्दविशेषस्यार्थान्तरव्यञ्जकत्वस्ति स इत्यर्थः। तमर्थं प्रतीयमानं व्यङ्ग्चमर्थं, व्यङ्क्तः प्रकाशयतः, स काव्यविशेषो, यत्र लक्षणामूलव्यङ्ग्चोऽर्थंश्चनत्कृतिजनकः, यत्र वाभिधामूलव्यङ्ग्योऽर्थंस्तथा स च काव्यविशेषो व्वनिरिति व्यपदेशमहंतीति मतम्। इदं काव्यविशेषलक्षणम्।

अनेन काव्यविशेष नक्षणाख्यानेन वाच्यचारुत्वहेतुम्य उपमादिम्योऽलङ्कारेम्यः वाचकचारुत्वहेतुम्योऽनुप्रासादिम्यश्च विभक्त एव पृथ्यभूत
एव, ध्वनेविषय इति दिशत प्रतिपादितम् । यदपोति— प्रसिद्धं
प्रस्थानं सह्दयहृदयाह्नाद्यर्थप्रतिपादकशब्दसमुदायात्मकत्वं काव्यस्य लक्षणम् ।
तदेव प्रसिद्धं प्रस्थानं प्राचामनुमनम् । तदितक्रिमणः तदितिरिक्तस्य
मागंस्य काव्यत्वं नास्त्रोत्यतः, ध्वनिः ध्वनिसज्ञितोऽर्थः कश्चित्रासित इति
प्राचीनैर्यदेप्युक्तं तदिप एतेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च ध्वनेः पृथ्यभू तत्वकथनेन निरस्तिनित्यर्थं । यदप्युक्तिमित्यस्य तदप्ययुक्तिमित्यनं सम्बन्धः । तत्र हेतुमाह—यत इति । लक्षणकृतां प्राचां काव्यलक्षणकाराणामेव केवलं स ध्वनिः न प्रसिद्धः । ध्वनिक्पोऽर्थस्तेषां दृष्टिगोचरतां
न मतः । तु किन्तु, लक्ष्ये महाभारते रामायणे च परीक्ष्यमाणे परितौ दृष्ट्यमाने,
ग एवार्थः ध्वनिक्षपोऽर्थः । सहृदयहृदयाह्नादकारि काव्यतत्त्वं सहृदयानां
काव्यवासनापरिपक्षबृद्धीनाम्, आह्नादमानन्वं अलौकिकं कर्तुं शोलमस्यति
तादशंदम् काव्यतत्त्वं काव्यस्य प्रतोयमानार्थवत्त्वरूपं तत्त्वं, ततः तस्मादन्यद्
भिन्नः, चित्रमेव चित्रकाव्यमेवैति, अग्रे तृतीयोद्द्योते दर्शयिष्यामः ।

यदप्युक्तम् कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारा विप्रकारेष्व-न्तर्भाव इति, तदप्यसमोचोनम् ; वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्गच-व्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वने : कथमन्तर्भावः , वाच्यवाचकचः रुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्याङ्गरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

उज्जीवनी !

एतेन, यत्रार्थः शब्दो वा इति काव्यविशेषलक्षणमुक्तम् । काव्यसामान्यस्य तु सहृदयश्लाघ्यार्थप्रतिपादकशब्दत्वं लक्षणम् । स चार्थः वाच्यवस्त्वलङ्कार, व्यङ्गचवस्त्वलङ्काररसात्मना पञ्चविष्ठः । वस्त्वलङ्काररसादीनां त्रयाणामपि व्यङ्गचर्त्वेन वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकत्वसम्भवेऽपि वस्त्वलङ्कारयारभयोः स्वशब्दिनवेदितत्वस्यापि सम्भवात् रसादीनामेव परमं प्राधान्यम् । तत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य विद्यमानत्वे पूर्वेषां विप्रतिपत्तिरासीत् । स च प्रतीयमानस्यार्थस्य अस्तित्वसमर्थनेन तस्य वाच्यार्थपिक्षया प्राधान्यं यत्र तस्य काव्यविशेषत्वप्रख्यापनेन च निराकृता । एवं प्रतीयमानस्य अर्थस्य सिद्धौ सत्यां तस्य यस्मिन् काव्ये वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकत्वं, व्भञ्जकस्यार्थस्य शब्दस्य वा उपसर्जनत्वं, स काव्यविशेषो ध्वतिः, यत्र च प्रतोयमानार्थसद्भावेऽपि तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कृतिजनकत्वं, व्यङ्गचस्य च तदङ्गत्वं तत् क व्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यं च वेदितव्यम् । अविद्यमानतावादिनराकरणेन प्रतीयमानस्यार्थस्यास्तित्वं समिथितमित्यर्थः । ततोऽःयत् ध्वतिगुणीभूतव्यङ्गचाभ्यामन्यत् चित्रमित्यपि तृतीयोदद्योते दर्शयिष्यते । एवं च ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यं, चित्रं चित् काव्यं त्रिविष्यति दर्शयिष्यते । एवं च ध्वनिः, गुणीभूतव्यङ्ग्यं, चित्रं चिति काव्यं त्रिविष्यति ६वनिकाराभिमतम् ।

तृतीयमभाववादिमतमप्येतेन निरस्तमित्याह—यदप्युक्तमिति । कामनीयकं काव्यशोभाधायकत्वेन यत् सहृदयहृदयाह्लादकारित्वरूपं तद् अनितवर्तमानस्य अनितक्रममाणस्य तस्य प्रतीयमानार्थस्य. उक्तेषु काव्यशोभाकरत्वेनाभिमतेषु अलङ्काराणां गुणानां वा प्रभेदेषु, अन्तर्भावः अन्तर्गतत्वं; काव्यशोभाकरत्वेनाङ्गीकृतेम्यो गुणालङ्कारादिभ्यो ध्वनेरनितिरिक्तत्वाद् ध्वनिर्माति तृतीयं ध्वन्यभाववादिमतम्। तदिप असमीचीनमयुक्तम् ।

१. 'रप्र**़**' क्

परिकरश्लोकश्चात्र-

•यङ्गधन्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने:। वाच्यवाचक वारुत्वहेत्वन्त:पातिता कुतः॥

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्यनाप्रतोतिः स नाम मा भूद् व्वनेविषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा—नमासोत्त्वाक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायो-क्तापह् नृतिदोपकसङ्करालङ्करादौ, तत्र व्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीति निराक्तिप्रसित्म्—"उपसर्जनीकृतस्वार्थौ" इति ॥

उजीवनी।

तदेव विशदीकरोति—वाच्येति । वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने वाच्यमथं, वाचकं शब्दं च केवलमाश्रित्यावतिष्ठमाने मार्गे, व्यङ्गच्यञ्जकसमाश्रयेण व्यव-स्थितस्य, व्यङ्ग्यः प्रतीयमानोऽर्थः, व्यञ्जकः तत्प्रत्यायकः शब्दः, तदुभगाश्रयेण व्यवस्थाविषयस्य, व्वनेव्यंङ्ग्यस्य, कथमन्तर्भावः, अन्तर्भावो नास्त्येवेत्यर्थः । हि यतः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवः वाच्यस्य चारुत्वहेतवो येऽलङ्कारा गुणाश्च, वाचकस्य शब्दस्य चारुत्वहेतवो येऽनुप्रासादयोऽलङ्काराः शब्दगुणाश्च श्लेषादयस्ते तस्य व्वनेरङ्गभूता उपसर्जनीभूताः । स तु व्वनिस्तु अङ्गिष्टपः प्रधानभूत एव इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । एवमग्रे प्रतिपादयिष्यत इत्यर्थः ।

परिकर इति । परिकरोति प्रकृतार्थविश्वदोकरणायोपकरोतीति परिकरः । उक्तस्यार्थस्य स्प्रैष्टप्रतिरत्यर्थं श्लोको बिद्यत इत्यर्थः ।

वयङ्ग्यः अर्थः, व्यञ्जकस्तद्बोधकः शव्दः, तयोः सम्बन्धः व्यञ्जकत्वं व्यञ्जनात्मकः, तिन्नवन्धनतया तदधोनप्रतिपत्तिजनकरवेन स्थितस्य ध्वनेः व्यङ्ग्यार्थस्य, वाच्यवाचकचारुत्वहेतुषु वाच्यस्य वाचकस्य वा यत् चारुत्वं कामनीयकं तस्य हेतुषु अलङ्कारेषु, अन्तःपातिता अन्तगंतत्वं कुतः कस्माद् भवतीति शेषः।

काव्यविशेषलक्षणे उपसर्जनीकृतस्वार्थत्वस्य प्रयोजनं प्रतिपादयितुमाह— नन्विति । वित्रकाव्यस्य यदव्यङ्गचत्वं तद् न रसभावादेरत्यन्ताभावनिबन्धनं, किन्तु रसभावादेरविवक्षाधीनम् । तदिविवक्षायामपि किचिद् वाच्यसामर्थ्यवशेन

१. ्'तु्त्रहंं ं क,

२. 'त्यादि' स. च.

अर्थो गुणोक्ततातमा, गुणोक्तताभिवेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनिकत स व्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । व्यब्ग्यप्राधान्ये हि व्वनिः । न चैतत् समास।वस्यादिष्वस्ति ।

समासोवती तावत्-

उपोढरागेण विञोलतारकं, तथा गृहीतं शशिना निशानुसम् । यथा समस्त तिमिरांशुकं तथा, पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

उज्जीवनी

रसादिवतीतिः जायमाना दुबंला भवतीत्यतो नीरसत्वं चित्रकाव्यस्याङ्गीक्रियते। एवं चयत्रालङ्कारे प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येन स्फुटत्या प्रतीतिः स व्वने विषयो न भवतीति चेद् मास्तु । यत्र तु यस्मिन्नलङ्कारे तु, प्रतीतिरस्ति रसभावादेः प्रतीयमानस्यार्थस्य स्फुटं प्रतीति विद्यते, तत्र समासोक्त्यादौ, व्वनेरन्तर्भावो भविष्यति । यत्र काव्ये समासोक्तिरलङ्कारस्तत्र, वाच्यसामर्थ्यक्षिप्तस्य व्यङ्ग्यार्थस्यापि सम्भवात्, तत्र व्वनिलक्षणस्यातिव्याप्तेः इत्यादि निराकर्तुं अतिव्याप्तिदेशपात्वेगापि सम्भवात्, तत्र व्वनिलक्षणस्यातिव्याप्तेः इत्यादि निराकर्तुं अतिव्याप्तिदेशपात्वेगोपाद्यानं कृतिमृत्यर्थः । तथा च यत्र समासोक्त्यादिरलङ्कारः तत् काव्यं गुणीभूतव्यङ्क्यम् । तत्रातिव्याप्तिवारणायोपसर्जनीकृत-स्वार्थत्वं विशेषणमिति फलितम् ।

पर्यवसितमर्थमाह — अर्थ इति । अर्थः गुणोक्ततात्मा, उपसर्जनीकृतः स्वार्थः येन सः । शब्दो गुणोक्तनाभिवेयः, गुणोकृतः उपसर्जनाकृतः अभिवेयः स्वार्थः (स्वस्य शब्दस्य अर्थ) येन सः । यत्र यस्मिन् कान्ये, अर्थान्तरं प्रतीय-मानमर्थं, अभिव्यनित अभिव्यञ्जयित स ध्वनिरिति कान्यविशेष इति कथित इति शेषः । अलंकारेषु तस्य ध्वनः, कथमन्तर्भावः । अन्तर्भावो न सवत्येव । व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रधानतायां हि तत् कान्यं ध्वनिव्यपदेशं भजते । एतद् व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं समासोक्त्यादिषु समासो-क्त्यादयो यत्र तेषु कान्येषु नास्तीत्यर्थः ।

उन्तमेवार्थं उदाहरणैविशदयति—समासोनतौ तावदिति, उपोढेति । उपोढरागेण उपोढो धृतो, रागः सान्ध्योऽहिणमा येन तास्त्रोन, शशिना चन्द्रेण, विलोलतारकं विलोलास्तारका ज्योतीषि यत्र तास्त्रां, निशामुखं निशाया रात्रे- इत्यादौ व्यङ् ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते, समारोपितनायिकानायक-व्यवहारयोनिकाक्षणं नोरेव वाक्यार्थत्वात् ।।

आक्षेपेऽपि व्यङ्गचिविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तत्रहि शब्दोपारूढो विशेषाभिधाने-च्छया प्रतिषेषरूपो य आक्षेप: स एव व्यङ्गचिविशेषमाक्षिपन्सुख्यं काव्यशरीरम् ।

उज्जीवनी ।

र्मुखं प्रारम्भः तथा तेन प्रकारेण गृहीतं, यथा पुरः पूर्वस्यां दिशि, गलितं प्रशान्तं, समस्त सकलं, तिमिरांशुकं तमःपटलं, रागात् सन्ध्यारुण्यात्, न लक्षितमित । अत्र चन्द्रोत्यवर्णंनं प्रस्तुतम् । निशायाः प्रारम्भे उद्यता चन्द्रेण तमांस्यपनीतानीति प्रकृतवाक्यार्थः । ततो विशेषणानामन्यार्थं बोधजननानुकूलानां महिम्ना प्रकृतस्य कस्यचिद्रथंस्य दोषोऽिष भवति । तथा हि—उपो हो घृतो रागः प्रेमा येन तादशेन शिक्तिति पुस्त्वनिर्देशेन केनिचन्नायकेन, विलोल-तारकं विलोलाश्च अलस्तारका अक्षिकनोनिकाः यत्र तादशं, निशामुखमिति निशाशब्दगतस्त्रोत्वनिर्देशेन नायिकाया मुखं वदनं तथा गृहीतं चुम्बतुमुन्नमितं यथा, तिमिशांशुकं नीलजालिकारूपं, रागात् प्रेमणः, पुरोऽिष अग्रेऽिष, गलित पतितं, न लक्षितं नावलोकितमिति । अयं चाप्रकृतोऽर्थः । अत्र च समासोक्ति-रलङ्कारः ।

यत्रोक्ती गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणै: । सा समासोक्तिकदिता सक्षिप्तार्थेतया बुधै: ॥

इति भामहरुक्षणम् । अत्र अकृतवृतान्तोऽभिषया प्रतिपाद्यते । अप्रकृत-वृत्तान्तस्तु व्यश्वनयेव । प्रकृतार्थबोधनेनवोपक्षीणत्वादभिधायाः ॥

अत्राप्रकृतवृत्तान्तो व्यज्यमानी वाच्ये प्रकृतव्यवहारे, अभिन्नतया चारो-प्यमाणो वाच्योत्कर्षमेवाघत्त इत्यङ्गतयेवास्ते न तु प्रधानतयेति न व्वनिव्यवहारः, किन्तु अपराङ्गव्यङ्गचरूपगुणीभूतव्यङ् मचव्यवहारं एवेति ज्ञायते।

इत्यादौ समासोक्तिस्थले । व्यङ्ग्येन प्रतीयमानेनाप्रकृतव्यवहारेण, वाच्यमेव प्रकृतो वाच्यार्थ एव, प्राधान्येन मुख्यतया प्रतीयते प्रतीतिविषयो भवति । अत्र समारोपितनायिकाव्यवहाराया निशायाः समारोपितनायक-व्यवहारस्य च शशिनो वाक्यार्थत्वं वाक्यतात्पर्यविषयत्वम् ।

उज्जीवनी।

आक्षेपे व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं प्रतिषेधति—आक्षेपेऽपीति ।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः ग्रहा ।

(काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह:-P. No. 31)

वक्तुमिष्टं विवक्षितं यत् तदवश्यं वक्तव्यम् । तस्य चातश्यवक्तव्यत्वमित-प्रसिद्धत्वं वा विशेषमभिषातुमिच्छ्या प्रतिषेष इव यः स आक्षेप इत्याहुः। वक्ष्यमाणविषयः, उक्तविषयश्चेति स आक्षेपो द्विषः। यथा—

> अहो ! स्मरस्य माहातम्यं यद् रुद्रेऽपि दशेदशी । इयदास्तां समुद्राम्भः कुम्भैमनि तु के वयम् ॥

इदं वक्यमाणविषयस्याक्षेत्रस्योदाहरणम् । अत्र स्मरमाहात्म्यावस्याविशेषाणा-मानन्त्यलक्षणो विशेषः, अभिधातुमिष्टः । स च नाभिहितः तस्य च प्रतिषेष-च्याजेन विशेषेऽवस्यापनादाक्षेपः । अत्र च "अहो ! स्मरस्य माहात्म्यं, यद् रुद्रेऽपि दशेदशी" इत्येतच्छब्दव्यवहारसहायेन 'इयदास्तां' इति निषेधेनेव स्वकण्ठेनानुपात्तातामा मन्मथमाहात्म्यावस्थाविशेषाणां वक्ष्यमाणत्या सूचनम् । यथा च—

> इति चिन्तयतस्तस्य चित्रं चिन्ताविधिनं यत् । क वा कामविकल्पानामन्तः कालस्य चेक्षितः ॥

इदमुक्तविषयस्याक्षेपस्योदाहरणम् ।

अत्र चित्रत्वस्योवितः क वेति प्रसिद्धत्वादाक्षिण्यते । यश्चात्रोभयत्रापि निषेत्रः क्रियते स चित्रक्षितार्थति रोधात् स्वतात्पर्यं त्यक्त्वा वित्रक्षितमे दार्थं संस्कुर्वन् तदङ्गतां प्रतिपद्धते । एवं चाक्षेपेऽपि, आक्षेपालङ्कारेऽपि, व्यङ्गच-विशेषापेक्षिनः अपि व्यङ्गचित्रोषं य आक्षिपति बोधयति तस्यापि, वाच्यस्य वाच्यार्थस्यत् चारुत्वं चमत्कृत्याधायकत्वं, वाक्यार्थं वाक्यतात्पर्यविषयीभूतेऽर्थं, आक्षेपोक्तिसामध्यदि । क्षेपोक्तेनिषेधत्वचनस्य सामध्यदित्, प्राधान्येन मुख्यतया, ज्ञायतेऽवगम्यते । तत्र हि आक्षेपालङ्कारे हि, शब्दोपाङ्कः शब्दमिवितिष्ठन्, विशेषाभिधानेच्छया विशेषमभिधानुमिच्छयां, प्रतिषेधक्षेपो निषेधक्ष्यो, य चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्गचयोः प्राधान्यविवक्षा । यथा — अनुरायवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः । अहो दैवगतिः कीटकः तथापि न समागमः ॥

उज्जीवनी ।

आक्षेपो निषेधोक्तिरूपः स एव व्यङ्गचिविशेषं व्यञ्जनाव्यापारागम्यमर्थविशेषं, वाक्षिपद् व्यञ्जयत्, मुख्यं काव्यशरीरं काव्यरूपं रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दरूपं शरीरं, अर्थरूपस्यातमस्यानीयस्यावच्छेदकरूपम् ॥

वाच्यव्यङ्गचयोः प्रधानेतरभावव्यवस्थाया नियामकमाह-चारुत्वेति । काव्येषु वाच्यव्यङ्गचयोरिष सतोरुभयोरर्थयोः चारुत्वोत्कर्षमाश्चित्य प्राधान्य-विवक्षा क्रियत इत्यर्थः । एतेनार्थः सहृदयश्चाच्यः काव्यस्यात्मेत्यनेन सहृदयश्चाच्यस्य सामान्येनार्थस्य काव्ये सारभूतत्वमुक्तं सङ्गच्छते । वाच्यस्यार्थस्य चारुत्वोत्कर्षमाश्चित्य प्राधान्ये तत् काव्यं गुणोभूतव्यङ्गचम् । व्यङ्गचस्यार्थस्य चारुत्वोत्कर्षे तस्य प्राधान्ये, व्वनित्वं च वेदितव्यम् । तथा च वाच्यस्य व्यङ्गचस्य वा प्राधान्याधिगमे चारुत्वोत्कर्षे एव निबन्धनमित्यर्थः । उदाहरति—यथेति । अनुरागवतीति । अनुरागः प्रेमा तद्वती सन्ध्या । दिवसः तत्पुरसरः तस्याः सन्ध्यायाः पुरो गच्छन् वर्तते । तथापि तयोः समागमो मिलनं नास्ति । अहो ! आश्चर्यम् ! दैवस्य गतिश्चित्रा विचित्रा । अत्रानुरागशब्दो रिक्तमानं, पुरःसरशब्दः सम्मुखस्थिति, समागमशब्दः, श्वीपुरुषसङ्गमरूपं चार्थन्तरं व्यञ्जनया बोध्यति (अभिघायाः प्रकृतार्थबोधनेनोपक्षीणत्वात्) । एव विशेषणमहिम्ना नायकवृत्तान्तः प्रतीयत इति अत्र समासोक्तिरलङ्कार इति सम्मटमतम् । अत्रापि व्यङ्गचापेक्षया वाच्यस्यैवार्थस्य चारुत्वोत्कर्षहेतुत्वात्र ध्वनिगङ्का कार्येति मतमाश्चित्येदमुदाहृतम् ॥

व्वन्यालोके तु, अलङ्काराणां यस्मिन् काव्ये सहृदयश्लाघ्यत्वेनावस्थानं सतोऽपि व्यङ्गचस्यार्थस्य वाच्यचारुत्वाद्यायकत्वे च, तस्य न घ्वनिव्यपदेश इत्युप्रक्रम्य समासोक्तिस्थले, उपोढरागेणेत्यादौ गुणीभूतव्यङ्गचत्वमुपपादितम्। तत्त आक्षेपालङ्कारस्थलेऽपि, वाच्यस्येव चारुत्वमिति वन्तुमुपक्रम्य वाच्यव्य- ङ्गचयोः बारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि प्राधान्येतरव्यवस्थेति स्वसिद्धान्तश्च

अत्र सत्मामिष व्यङ्गचप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षविति तस्यैव प्राधान्यविवक्षाः।

यथा च दी गकापह् नुत्यादी व्य ङ्गचत्वेनोपमायाः प्रतीतावृष्टि श्राधान्येनाः विवक्षितत्वाञ्च तया व्यपदेशस्तद्वदशापि द्रष्टव्यम् ॥

उज्जीवनी ।

प्रतिपादितः । ततश्च 'अनुरागवती सन्ध्ये'ति पद्यमप्युदाहृतस् । तच्च पूर्वोक्त-प्रकारेण संसासीक्तेरुदाहरणत्वेन मम्मटेनोपन्यस्तम् । वस्तुतस्तुः, जत्राक्षेयोदा-हरणमेव वक्तव्यत्वेन प्रस्तुतम् ।

लोचनकारस्तु—"वामनाभिष्रायेणायमाक्षेतः, भामहाभिष्रायेण समासो-क्तिरित्यमुमाश्यं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्रचाक्षेत्रयोर्युक्त्येदमेकमेवोदाहरणं व्यतरद् ग्रन्थकृत् । एवं हि समासोक्तिर्वास्तु आक्षेपो वा । किमनेनास्माकम् । समासोक्त्यादिषु सर्वथालङ्कारेषु व्यङ्ग्यं वाच्ये गुणीभवतीति नः साध्यम् । इत्याशयोऽत्र ग्रन्थे गुरुभिनिरूपितः" इत्याहः ।

वामनस्तु—उपमानाक्षेपश्चाक्षेप: इति आक्षेपलक्षणमाह । उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेध उपमानाक्षेपः, तुल्यकार्यार्थस्य नैर्थं क्यविवक्षायामाक्षेपः इत्यैक आक्षेपलङ्कारः । उपमानस्याक्षेपः आक्षेपतः प्रतिपत्तिरिति द्वितीयश्च' इति द्विविधमाक्षेपं प्रदिश्तिवान् ।

द्वितीयस्योदाहरणं तु —

"ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद दघानाद्रं नखक्षताभम् । प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं, तापं रवेरम्यधिकं चकार ।'' इति ।

अत्र शरद् वेश्येव, इन्दुं नायकिमव रवेः प्रतिनायकस्येवेति उपमानानि (गम्यन्ते) आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपः ।

तद्रीस्या 'अनुरागवती'त्यत्र दिवसो नायक इवेति नायकान्तरस्योपमान-त्वेनाक्षेपादाक्षेपालङ्कारस्यैवोदाहरणत्वेनेदं पद्यं प्रदर्शितमिति अभिधानं नानुचितं भविष्यति ।

उक्तमर्थं निगमयति—अनेति । अत समासोक्तौ आश्चेपे च, व्यङ्ग्यप्रतीतौ व्यङ्ग्यस्थार्थस्यावगतौ सत्यां, वाच्यस्यैव, वाच्यार्थस्यैव, चाह्रत्वं

 $\tau : \mathbb{T}_{\tau}$

1 7 19 S

उज्जीवनी ।

चमरक्रतिमत्त्वं, उत्कर्षतवुरकृष्टमिति, इति हेतोः, तस्यैव वाच्यस्यैव प्राधान्यविवक्षा मुख्यत्वेन वनतुमिण्छेत्यर्थः ।

वाच्यव्यङ्गद्ययोरन्यतरस्य प्राधान्यतिवक्षायां चारुत्वोत्कर्णतिबन्धनत्व-मुपपाद्य, प्राधान्यनिबन्धनत्वं व्यपदेशस्य दर्शयति—यथा चेति । दीपकापह् नु-त्यादौ दीपके, अपह् नृतौ, आदिशब्दादुपसामूलकेष्वलङ्कारेषु च, उपमायाः उपमालङ्कारस्य, व्यङ्गचत्वेन प्रतीयमानत्वेन प्रतीतौ प्रतीतिविषयतायामपि प्राधान्येन मुख्यवाक्यार्थत्वेन अविवक्षितत्वाद् विवक्षानधीनत्वात्। तया उपस्या, नव्यपदेशः नामकरणं, तद्वद् अलापि समासोक्त्याक्षेगादिष्वपि इति इष्टव्यमवगन्तव्यम्।

तथा हि -

आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः । अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद् दीपकं विदुः ॥

इति दीपकं भट्टोद्भटो लक्षयति । प्रस्तुताप्रस्तुतानामेकधर्मान्वयो यत्र तत्र दीपकमलङ्कारः। यथा—

> सञ्जहार शरत्कालः कदम्बकुसुमश्रियः। प्रेयोवियोगिनीनां च निःशेषसुखसम्बदः॥

अत्र कदम्बकुसुमिश्रयः निश्शेषसुखसम्पदश्च संहरणात्मा एकी धर्मः उपनि-बद्धः। शरत्समयस्य चोपवर्ण्यमानतया कदम्बकुसुमशोभासंहारस्य प्रकृतत्वं, विरिह्णोसुखसम्पत्संहारस्याप्रकृतत्वं च। तेनान्तगंतोपमात्वं यथा शरत्कालः प्रयोवियोगिनीनां निश्शेषाः सुखसम्पदः सञ्जहार, तथा कदम्बकुसुमिश्रयोऽपीति उपमालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि दीपकस्यैव प्राधान्यं, तिश्चन्धनो दीपक-व्यपदेशश्च प्रामाणिकरभ्युपगतः।

तथाह भट्टोद्भट:-(P.62)

अपह, नुतिरभोष्टा च किन्धिदन्तर्गतोपमा। भूतार्थापह्नवेनास्या निबन्ध: क्रियते बुधै: ॥ अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ-

आहूतोऽपि सद्दार्थेरेमी भ्युक्तवा विमुक्तनिद्रोऽपि । गन्तुमना अपि पथिक: सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

हयादौ व्यङ्गचस्य प्रकरणसामर्थात् प्रतीतिमात्रम् । त तु तत्प्रतीतिनिमित्ताः काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।

उज्जीवनी।

यत्र भूतं विद्यमानमुपरीयलक्षणमर्थमपह् नुत्योपमानरूपारोपेणोपमानो-यमेयभावोऽवगम्यते सोऽपह् नुतिरलङ्कारः ।

यथा--

एतद्धि न तपः सत्यमिदं हालाहलं विषम् । विशेषतः शशिकलाकोमलानां भवादशाम् ॥

अत्र प्राकरणिकस्य तपसः स्वरूपमपह् नृत्य हालाहलाख्याविष्विभेषरूप-साध्यारोपेण तत्साद्यमवगमितम् । तच्चात्र हालाहलसाद्ययपुपमेयस्या-पहृतत्वात्र स्फुटरूपम् । अत्र तपसो विषसाद्ययं व्यङ्गचम् । तथापि तस्याविवक्षितत्वान्न तेन व्यपदेशः ।

प्रकारान्तरेणापि व्यङ्गचस्याप्राधान्यं विशेषोक्तिस्थले प्रदर्शयति — अनुक्तनिमित्तायामपीति ।

यत् सामग्रयेऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम् । विशेषस्याभिधित्सातस्तिद्विशेषोक्तिरुच्यते ॥

इति भट्टोद्भटकृतं विशेषोक्तिलक्षणम् । सा चोक्तिनिमत्तानुक्तिनिमत्ता चेति द्वेषा । तत्रानुक्तिनिमत्तां विशेषोक्तिमुदाहरति—आहूतोऽपीति । सहायै : सहचरैः, आहूतोऽपि आकारितोऽपि । एमि, आगच्छामि इत्युक्त्वा, विमुक्तिनद्रः विमुक्ता निद्रा येन तादशोऽपि निद्रां त्यक्तवानिप । तथा गन्तुमनाः गन्तुं ताननुगन्तुं मनो यस्य तादशोऽपि पिथकः पथि कचिन्निद्राणः पान्यः सङ्कोचं नेत्रगात्रादीनामाकुञ्चनं, नैव शिथलयति नैव शिथलं करोति । अत्र यन्निमित्तं शीतबाधा- विकं तद् अभिधित्सतं विशेषहर्षं नोक्तिमित्त, अनुक्तिनिमत्ता विशेषोक्तिः

१. 'रोमि' ड.

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्गचर्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्त-भवि: । न तु ध्वेनेस्तत्रान्तभवि: । तस्य महाविषयत्वेनाङ्गिरवेन च प्रति पादियाष्ट्रमाणुरवात् ।

उज्जीवनी ।

इत्यादी विशेषोक्त्यादिस्थले व्यङ्गचस्य प्रतीयनानस्यार्थस्य, प्रकरणसामध्याद् प्रतीतिमात्रं प्रतीतिरेव जायत इति यावत् । तु किन्तु, तत्प्रतीतिनिमित्ता व्यङ्गचप्रतीति निमित्तीकृत्य, काचित् चारुत्वनिष्पतिर्ने, स्वल्पमपि चारुत्वं- न निष्पद्यते । कतस्तस्य न प्राधान्यम् ।

पर्यायोक्ते व्यङ्गचस्य स्वभावं प्रदर्शयति —पर्यायोक्तेऽपीति । पर्यायोक्तं नाम कश्चिदलङ्कारः । तच्च लक्षितमुदाहृतं च भट्टोद्भटकृते काव्यालङ्कार-सङ्ग्रहे (P. 55)

"पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगुमात्मना ॥"

वाचकस्याभिधायकस्य स्वशब्दस्य वृत्तिव्यापारो वाच्यार्थप्रत्यायनं; वाच्यस्य त्वभिधेयस्य, व्यापारो वाच्यान्तरेश सहाकाङ्क्षायोग्यतामाहात्म्यात्, संसर्ग-गमनं, एवंविधश्च यो वाच्यवाचकयोव्यापारस्तमन्तरेणापि, प्रकारान्तरेणार्थ-सामध्यात्मनावगमस्वभावेन यदवगम्यते तत् पर्यायेण स्वकण्ठानभिहितमि सान्तरेण शब्दव्यापारेणावगम्यमानत्वात् पर्यायोक्त वस्तु । तेन च स्वसंश्लेश-

येन लम्बालक: साश्रः करघातारुणस्तन:।
अकारि भग्नवलयो गजासुरवधूजनः॥
सोऽपि येन कृतः प्लुष्टदेहेनाप्येवमाकुलः।
नमोऽस्रववार्यवीयिय तस्मै मकरकेतवे॥

अत्र लम्बालकत्वादयः कार्यक्षपत्वात् कारणभूतं गजासुरवधं वाच्यवाचकारपृष्ट-मिष गमयन्ति । तेन च तथाविधया विच्छित्यावगम्यमानेनार्थेन ते लम्बालक-त्वादयोऽर्थाः अलङ्क्रियन्ते । तस्मात् पर्यायोक्तमलङ्कारः ।।

१. 'तिविषा' च.

उज्जीवनो ।

अत्रोदाहरणे भगवान् परमेश्वरः स्वासाधारणरूपेण गम्यः गजागुरवधू-लम्बालकत्वादिकारकत्वेन रूपान्तरेण विवक्षितरूपादणि चाक्तरेण केनिचद् रूपान्तरेणाभिधानात् पर्यायोक्तमिति ज्ञायते ।

अत्र भगवतः परमेश्वरस्य प्रभावातिशयो विवक्षितः । स चार्थो गणासुरो हतो येनेति वचनेन चमत्कारकारो भवति । अतो येत लम्बालक इत्यादिना प्रकारान्तरेण विवक्षितोऽर्थोऽभिहितः ।

पर्यायोवतेऽपि पर्यायोवतालङ्कारेऽपि, यदि प्राधान्येन व्यङ्गचत्वं विक्षितं भगवत्प्रभावातिशयस्य साक्षादिभिधायकं शब्दं वर्जयित्का प्रकारान्तरेणाभिधाने तस्य च प्रकारस्यतदर्थवाचकत्वाभावाद् व्यङ्गचत्वं तस्य प्राधान्यं च, यद्यभिमतं, तत् तदा, तस्य व्वनावन्तर्भावः । तस्यार्थस्य प्राधान्येन व्यङ्गचत्वमाश्रित्याः लङ्कारत्वेनाभिमतोऽपि सोऽर्थो व्वनिभवतु प्राधान्येन व्यङ्गचो व्वनिरूपो भवतु । न तु व्वनेः प्राधान्येन व्यङ्गचस्यार्थस्य, तत्र पर्यायोक्तेऽलङ्कारे, अन्तर्भावः अन्तर्गतत्वमित्यर्थः । तस्य व्वनेः, महाविषयत्वेन विपुलविषयत्वेन, अङ्गित्वेन प्रधानत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ॥

दण्डिना काव्यदर्शे (P.179) पर्यायोक्तस्य लक्षणमुदाहरणं चैवं प्रदर्श्यते —

"इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये। यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोवतं तदिष्यते ॥''

पर्यायोक्तं नामालङ्कारं लक्षयति – इष्टमर्थमिति । इष्टं प्रतिपादयितुमीहितं, अर्थं साक्षादनाख्याय अभिष्ययानुक्त्वा, तस्वैवाभिधित्सितार्थस्य सिद्धये
सचमत्कारप्रतीतये यत् प्रकारान्तरेण चमत्कारजनकमङ्गिविशेषेणाख्यानं
व्यञ्जनया प्रतिपादनं तत् पर्यायोक्तं नामालङ्कारः । विवक्षितमर्थं साक्षात्
तद्वाचकपदैरनुक्त्वा चमत्कारातिशयप्रनिपत्तये प्रकारान्तरेण तत्कथनं पर्यायोक्तमिति फल्तिम् । पर्यायो नामै कस्यार्थस्य प्रतिपादकान्तरम् । पर्यायता हि
चिद्ययोरेकार्थवोषकता । सा चेकयैव वृत्येति न नियमः । तथा च वाच्यस्यार्थस्य व्यञ्जनया प्रतिपादनमेव पर्यायोक्तमिति भावः । न चैवमस्य व्वनिष्ठपता-

न पुन: पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसद्शे व्यङ्गचस्यैव प्राधान्यम् । वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात् । व्यष्ट् नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं, व्यङ्गचस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ॥

उज्जीवनी ।

पत्तिः। अत्र तु व्यञ्जनया वाच्यस्यैवाभिधानम्। ध्वनौ तु न वाच्य एवार्थो विषय इति भेदात्।

> दशत्यसौ परभृतः सहकारस्य मञ्जरीम् । तमहं वारिष्ठियामि युवाभ्यामास्यतामिह ॥ सङ्गमय्य सञ्जी यूना सङ्केते तद्रतोत्सवम् । निर्वर्तयितुमिच्छन्त्या कयाप्यपसृतं ततः ॥

पर्यायोक्तमुदाहरित — दशत्यसाविति । असौ परभृतः कोकिलः, सहकारस्या-म्रस्य, मखरीं दशित आस्वाद्य विनाशयित । अहं तं परभृतं वारिमण्यामि, युवाभ्यामिह स्वैरं विस्रब्धमास्यताम् । अत्राहं गच्छामि, युवाभ्यां यथेप्सितं सुरतं विधीयतामिति विवक्षितमर्थं प्रकारान्तरेण चमत्कारकारिणोक्तं विभाव्य पर्यायोक्तलक्षणं सङ्गतं वेदितव्यम्" इति ।

अत्रेदं बोध्यम् — वाच्यस्यैवार्थस्य व्यञ्जनया प्रतिपादने पर्यायोक्तमलङ्कारः। व्यङ्गचस्यार्थस्य व्यञ्जनया प्रतिपादने तु ध्वनिरिति विवेकः। पर्यायोक्ते तु यदि विवक्षितस्य व्यञ्जनयाख्यातस्यार्थस्य चमत्कृतिमत्त्वरूपं तदा तस्यालङ्कारस्यापि ध्वनित्वरूपं प्राधान्यमुपपद्यते।

भामहेन पर्यायोक्तस्य यदुदाहरणं दत्तं तत व्यङ्गचस्य प्राधान्यं निषेघति—न स्विति । भामहेनोदाहृतम्—

> ''गृहेब्बब्बसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः । विप्रा न भुञ्जते तच्च रसदाननिवृत्तये ।'' इति ।

अधीतिनो विप्रा यदन्नं न भुञ्जते, वयं गहेष्वध्वसु वा तदन्नं न भुञ्जमहे इत्यर्थः। अत्र रसशब्दो विषवाची। भोजनं निर्विषं भवित्वित भगवदिभप्रायो व्यङ्गचः स च पर्यायेणाख्यातः सन् प्रकृतं भोजनार्थमेवालङ्करोति। सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायायनुगृह्णाति, तदा ब्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् ॥

उज्जीवनी ।

पर्यायोक्ते पर्यायोक्तालङ्कारस्थले, श्वामहोदाहृतसद्शे भामहे यदुदानहृतं तत्सद्शे, व्यङ्गचस्यैव पर्यायेणाख्यातस्यार्थस्यैव । न पुनः प्राधान्यं, चमत्कृति-जनकत्वं नास्तीत्यर्थः । हेतुमाह—वाच्यस्येति । वाच्यस्याभिधोयमानस्यार्थस्य तत्र पर्यायोक्ते, उपसर्जनो नावेन उपसर्जनत्वेनाविवक्षितःवात् विवक्षाभावात् ।

अपह् नुतिदीपकयोः पुनः अपह् नुतौ दीपके च पूर्वोक्ते वाच्यस्याभिधेय-स्यार्थस्य प्राधान्यं, व्यङ्गचस्यानुयायित्वं तदनुगत्तत्वं तदुपस्का स्करवं च प्रसिद्धमेव ।

सङ्करालङ्कारेऽपीति-

सङ्करालङ्कारस्तावत् भट्टोद्भटेनैवं निरूपितः ।

सङ्करश्चतुर्विधः — सन्देहशब्दार्थवर्त्यलङ्कारैकशब्दाभिधानानुग्राह्यानुग्राहक भेदेन । तत्र सन्देहसङ्करस्तावद्—

> अनेकालङ्कियोल्लेखे समं तद्वृत्यसम्भवे । एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः।

यत्रानेकालङ्कारोल्लेखे युगपद्वृत्यसम्भवे च, एकतरस्य ग्रहणे साधक-बाधके प्रमाणे समस्तव्यस्ततया न विद्यते तत्र सन्देहसङ्करः। यथा—

> यद्यप्यत्यन्तमुचितो वरेन्दुस्तेन लम्यते । तथापि विचम कुत्रापि क्रियतामादरो वरे ।।

अत्र वरेन्दुस्ति, वर एव इन्दुः, वर इन्दुरिवेति रूपको प्रमयोर्द्धयो रल-ङ्कार भोरू रेखः । न च तस्याने कस्यालङ्कारस्य युगपद्वृत्तिः सम्भवति । एकालङ्कारसमाश्रयेणैवालङ्कारस्य कृतकृत्यत्वात् । न चात्र द्वयोर्मध्यादेकस्य ग्रहणाय साधकबाधकप्रमाणयोगः, साधकं हि प्रमाणं विद्यमान विधिमुखेना-लङ्कारं ज्ञापयेत्, तथा बाधकमि प्रहातव्यालङ्कारनिषधमुखेनोपादेयम-लङ्कारं पूर्वोद्धिखतं पारिशेष्यादुपादेयत्या प्रतिपादयति । अत्र तु द्वयौः साधकबाधकप्रमाणयोरभावात् सन्देहस्तेन सन्देहसङ्करोऽलङ्कारः ।

उज्जीवनी ।

शब्दार्थवर्यलङ्कारस्तु---

शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र भासिनः। सङ्करो वा

यत्रैकस्मिन् वाक्ये शब्दवर्तिनोऽर्थवर्तिनश्चालङ्काराः संसर्गमुपयान्ति स शब्दार्थालङ्कारः । तस्योदाहरणम्—

> इत्थं स्थितिर्वरार्था चेन्मा हृया व्यर्थमिथताम्। रूपेण ते युदा सर्वः पादबद्धो हि किङ्करः।।

वराथि भर्त्रथी। किङ्करो दासः। अत्र भकारोपनिवद्धोऽनुप्रासात्मकः शब्दालङ्कारः। अर्थालङ्कारश्चार्थान्तरन्यासो विद्यते। तथा ह्यत्र'मा कृया व्यर्थमिथिताम्' इत्युपादित्सितेऽर्थेऽधित्वस्याकरणं यदुपनिबद्धं तदनुपपद्यमानतया सम्भाव्य तत्समर्थनायोक्तम्—'रूपेण ते युवा सर्वः पादबद्धो हि किङ्कर' इति। यो गुणोत्कर्षशाली स नार्थयते अपि त्वर्थ्यते, यथा रत्नादि। त्वं च रूपवत्त्वात् गुणोत्कर्षशालिनी। तस्मादुपादित्सितेऽर्थे तवाथित्वमयुक्तमिति। तनायं शब्दार्थवर्येलङ्कारसङ्करः।

एकशब्दाभिधानसङ्करस्तु--

एकवान्यांशप्रवेशाद् वाभिधीयते।

एकस्मिन् वाक्यांशे वाक्येकदेशे यत्रानेकस्यालङ्कारस्यानुप्रवेशः स एक-शब्दाभिधानसङ्करः । तस्योदाहरणम्—

> मैवमेवात्थ सच्छायवणिका चारुकणिका। अम्भोजिनीव चित्रस्था दृष्टिमात्रसुखप्रदा।।

बन्नो मालङ्कार उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुश्च श्लेष इत्येतौ द्वाबलङ्कारावेकस्मिन् वान्यांश इवशब्देऽनुप्रविष्टो । तथाहि सम्भोजिनी उपमानम् । गौरी उपमेया । दिष्टमात्रसुखप्रदत्वं साधारणो धर्मः इत्युपमा । सच्छायवणिका, चारुकणिकेति श्लेषः । सम्भोजिन्यां हि वर्णा राजावर्तादयः । गौर्यां तु गौरत्वम् । अभ्योजिन्यां कर्णिका कमलमध्यवर्त्ती बीजकोशः । गोर्यां तु चारुकणों, कप् चात्र समासान्तः । तेनायं श्लेषः । एतौ च द्वावलङ्कारौ एकस्मिन् वाक्यांशे इवशब्देऽनुप्रविष्टौ । तैनायमकशब्दाभिधानसङ्करः ।

उज्जीवती

अनुग्राह्यानुग्राहकसङ्करस्तु—

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कारतया स्थिताः । स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥

यत्रोपकार्योपकारकभावादस्थितत्वादलङ्काराः स्वातन्त्र्येणात्मानं न लभन्ते सोऽनुग्राह्यानुग्राहकसङ्करः॥

तस्योदाहरणं --

, हरेणेव स्मरव्याधस्त्वयानङ्गीकृतोऽपि सन्। त्वद्वपुः क्षणमप्येष घाट्यादिव न मुञ्जति॥

अत्र घाष्ट्यादिव न मुञ्जतोति यासावुत्प्रेक्षा सा हरेणेव स्मरव्याघस्त्वयानङ्गीकृतोऽपि सिन्नत्युपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतु क्लेषवशेन स्वरूपं प्रतिलभते । अनङ्गीकृतो हि अनङ्गत्वमशरी स्त्वमापादितः । अनूरीकृतश्च । यश्चानूरीकृतः क्षणमपि न मुञ्जति, तत्र षाष्ट्रयं हेतुतयोप्रेक्षितुं शक्यते । तेन दलेषवशे नात्रोत्प्रेक्षा, आसादितस्वभावा, अतोऽयमनुग्राह्यानुग्राहकसङ्करः ।

एवमयं चतुर्विधः सङ्करो नानालङ्कारगतविकल्पव्यवस्यासमुच्चया-ङ्गाङ्गिभावसमाश्रयेणाभिहितः। तत्रानेकालङ्कारविकल्पात् सन्देहसङ्करः। बिभिन्नाधारत्वेत शब्दार्थवर्तिनोरलङ्कारयोरवस्थानात् व्यवस्थासमाश्रयः शब्दार्थवर्त्यलङ्कारसङ्करः। एकशब्दाभिधानसङ्करे तु समुञ्चयेनानेकोऽलङ्कार एकस्मिन् वाक्यांशे इवादावनुप्रविशति । अनुग्राह्यानुग्राहकसङ्करे तु अनेकस्था-लङ्कारस्याङ्काङ्किभावः । अतो विकल्यव्यवस्थासमुञ्चयाङ्गाङ्गिभावसंश्रया एते सङ्करभेदाः॥

एवं भट्टो द्वर्टेन लक्षित उदाहते च सङ्करालङ्कारे, व्यङ्गयस्य स्फुटप्रतीयः मानता न विद्येते ॥

यश्च सङ्करालङ्कारस्य चतुर्थी भेदोऽनुग्राहकभावापनः स भामहेनैव लक्षितः— जलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्गचयोः समं प्राचान्यम् । अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्गचस्य यत्रावस्थानं तदा सोऽपि व्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव व्वनिदिति वक्तुं शक्यम् पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात् ।

उज्जीवनी।

परस्परोपकारेण यदालङ्कृतयः स्थिताः। स्वातन्त्रयेणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः॥ इति ।

यथा---

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या । तया गृहोतं नु मृगाङ्गनाम्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥ अत्र श्रीपार्वत्यवलोकनस्य मृगाङ्गनावलोकनस्य च सादश्यात्मक उपमालङ्कारौ व्यङ्गचः । स च वाच्यस्य सन्देहालङ्कारस्यानुग्राहकः । अनुग्राह्यश्च सन्देहा-लङ्कारः । अत्र चावलोकनयोरस्ति सादश्ये सन्देहो नातमानं लगत इत्युपमायाः सन्देहाङ्गत्वम् । सति तु सादश्ये, उपमया जनितायां चमत्कृतौ सन्देहस्योपमा-साह्यकरणात् सन्देहस्योपमाङ्गत्वमिति परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावो वर्तते ।

तदेवाभिप्रेत्याह—सङ्करातङ्कारेऽपीति। सङ्करालङ्कारे सङ्करालङ्कारस्य योऽयमनुग्राह्यानुग्राहकभावसङ्कराख्यश्चतुर्थः प्रकारः तस्मिन् । अलङ्कारः प्रवातनीलोत्पलेत्याद्युदाहरणानु रोधेनालङ्कारः ससन्देहः, अलङ्कारान्तरच्छाया-मुपमालङ्कारच्छायामनुगृह्णाति। तदनुग्राहको भवति, तदा सन्देहालङ्कारे-णानुगृहीतस्योपमालङ्कारस्य, व्यङ्कचस्य व्यञ्जनाव्यापारगम्यस्य, प्राधान्येन वाच्यादिधकचमत्काराजननेन न व्वनिविषयत्वं, नायं व्वनेविषय इत्यर्थः। अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु यदा द्वावप्यलङ्कारो स्वतन्त्रतया सम्भाव्येते तदा वाच्यव्यङ्कचयोः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावेनोपस्थितयोः, समं तुत्यं, प्राधान्यं द्वयोरिप अनुग्राहकतादशायामङ्गत्वं, अनुग्राह्यतादशायां प्राधान्यमिति साम्यं तयोक्भमोरपीति यावत्।

सङ्करस्य ध्वनिविषयत्वं पर्यायोक्तन्यायेनातिविशति—अथेति । अथ यदि तत्र सङ्करालङ्कारोपस्कृते काव्ये, व्यङ्गचस्य व्यञ्जनाव्यापारगम्यस्यार्थस्य, बाच्योपसर्जनोभावेन, वाच्यं उपसर्जनमश्रधानं यस्य (व्यङ्गचस्य) तङ्कावेन, व्यपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च कचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति । अप्रस्तुतप्रशंसाय।मपि थदा सामान्यविशेषभावाद्, निमित्त-निमित्तिभावाद् वा, अभिधोयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुते-नाभिसम्बन्धः तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् ।

उज्जीवनी।

वाच्योपसर्जनत्वेन, अवस्थानं अवस्थितः, तदा तस्थामवस्थायां, सोऽपि व्यङ्गचोऽलङ्कारोऽपि व्यङ्गचर्यान्वयोऽस्तु व्यङ्गचर्या-लङ्कारस्य प्राधान्यमाश्रित्यालङ्कारव्वनिव्यपदेशोऽङ्गीक्रियताम्।

स एव सङ्कर एव, ध्विनिरिति वक्तुं न शक्यम्। पर्यायोक्ते व्यङ्गचस्य वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकतादशायां यथा तस्य ध्विनिविषयत्वं यथा प्रति-पादितं स न्यायः सङ्करेऽपि स्थलविशेषेऽनुसत्तंव्यः। अन्येषु सङ्करप्रभेदेषु ध्विनित्वसम्भावनेव नास्तीत्याह—अपि चेति। अपि च किंच, सङ्कारालङ्कारेऽपि, कचिद् यत्रानेकेषामलङ्काराणां, वाच्यार्थोपस्कारकत्वेनेव स्वातन्त्र्येणावस्थानं तत्र, सङ्करोक्तिरेव सङकर इति नामकरणमेव, ध्विनिसम्भावनां ध्वितशङ्कां, निराकरोति निवारयति।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपीति---

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति:। अप्रम्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥

इदं भामहोक्तमप्रस्तुतप्रशंसालक्षणम् । त्रैविध्यं च सामान्यविशेषभावाद्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याञ्च । अधिकारादुपवर्णनावसरादपगतस्य प्राकर्षणकादन्यस्य, वस्तुनः प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी या स्तुतिः प्रशंसा साप्रस्तुत-प्रशंसेत्यर्थः। अस्याश्च, सामान्ये प्रस्तुते सित तदन्यस्य विशेषस्य, विशेषे प्रस्तुते सित तदन्यस्य सामान्यस्य, कार्ये प्रस्तुते सित तदन्यस्य, कारणस्य, कारणे प्रस्तुते सित तदन्यस्य कार्यस्य, तुल्ये प्रस्तुते सित तदन्यस्य तत्सदशस्य प्रशंसा इति पञ्च प्रकाराः सम्भवन्ति । यथा—

> एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो यन्मुक्तामणिरित्यमस्त स जडः शृण्वन् यदस्मादिष ।

उज्जीवनी ।

अङ्गुल्यग्रलधुक्रियात्रिवलयिन्यादीयमाने शर्नै: कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निदाति नान्तःशुचा ॥

कस्यचित्मूर्खंस्य वृत्तान्तं कुतिश्चिश्चिश्चमय विस्मयेन भाषमाणं किन्धित प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । मूर्खं किश्वित् निलनीपत्रे स्थितं जलकणं मौनितकं जातवानिति यत् तस्य मुखात् श्रुतं तदेतदत्यल्पमेत्र । अस्मादत्यधिकज्ञदन-बोधकं श्रुणु । मौनितकबुद्धचा जलकणे निलनोपत्रगते मन्दमादोयमाने अङ्गुल्यभ्रयोर्लंग्ने सति, मम मुक्तामणिः कुत्रोड्डीय गत इति शोकेन निद्रामेव नाप्नोति जडोऽन्य इत्यर्थः । अत्र जडानामस्थान एव ममत्वभावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते सति जडिवशेषस्य जलकणे ममत्वबुद्धिक् वाप्रस्तुतममत्वित्रशेष-स्याभिवानादप्रस्तुतप्रशंसा ।।

विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य यथा-

सुहृद्वधूदाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः। स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः॥

कुष्णेन नरकासुरे हते तत्सुहृदं शाल्वं प्रति तन्मन्त्रिण इदं वचनम् । यः पुरुषो वैरनिर्यातनं कृत्वा मित्रस्त्रीणां बाष्पजलं प्रमाष्टि स एव पूज्यः, स एव पुमान्, स एव नीतिमान्, तस्यैव सुष्ठु जीवित, स एव श्रियो भाजनिमत्यर्थं ।

अत्र 'श्रीकृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाध्यः' इति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

कार्ये प्रस्तुते कारणस्याभिधानं यथा-

याताः कि न मिलन्ति सुन्वरि पुनिश्चन्ता त्वया मत्कृते नो कार्या नितरां कृशासि कथयत्येवं संबाब्पे मयि । लञ्जामन्यरतारकेण निपतप्पीताश्रुणा चक्षुषा स्ट्रा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया पुनितः ।

उज्जीवनी।

अमहक गतकान्तर्गतं पद्यमिदम् । स्वगृहं प्रति प्रस्थातुकामः यद्यः प्रस्थानाहि-वृत्तः कश्चित् मित्रेण तत्कारणं पृष्टः, ग्रमतिवृत्तिहेतुं प्रियावृत्तान्तं कथयति —

सके गृहात् प्रस्थानसमये मम विरहं सोदुषपारयन्तो मे प्रिया मया सजावामिद्रमभिहिता "सुन्दरि देशान्तरं गताः अत्रथ्यं पुनिम तन्त्येव, अतो मत्कृते जिन्ता न कार्या, अद्येव नितरां क्षोणा चासि" इति । स च प्रियणमन-मिनच्छन्ती प्रियेण जातिति लज्जया, प्रस्ववत्यु चञ्चषा निगृह्य, पत्या प्रस्थानातु प्रतिनिवर्तमाने प्रियाया जीविते सत्येव मेलनं भवति, अहं तु प्रियवियोगे कथमपि न जीविष्यामि इति जात्वापि एवमनुतिष्ठसोति स्वाशयं हासेन सूचयन्तो स्वकीयं भाविमरणोत्साहं सूचितवतोत्यर्यः ।

अत्र प्रस्थानान्निवृत्तोऽसि किम्, इति प्रस्थाननिवृत्तिरूपे कार्ये पृष्टे कारणस्य प्रियाभाविमरणोत्साहस्याभिधानं कृतम्।

कारणे प्रस्तुते कार्यस्याभिधानं यथा —

राजन् राजमुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः कुव्ने भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि कि भुज्यते । इत्यं नाथ शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽष्वगैः पञ्जरात् चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ।।

कश्चित् कवी राजानं प्रत्याह — हे राजन्, तब प्रस्थानश्चवणमात्रेणैव शत्रुभवते व जनीकृते पञ्चरात् पान्धेविमुक्तः शुकः चित्रलिखितान् राजादीनवलोक्च ''राजसुता मां न पाठयति, देव्यो न भाषन्ते, कुव्जे मां भोजय'' इत्येवमादिक-भेकैकमाभाषत इत्यर्थः।

अत्र शत्रुपलायनरूपे कारणे प्रस्तुते पश्चिकमुक्तशुकाभाषणरूपाप्रस्तुत-कार्याभिघानं कृतम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधानं यथा--

आदाय वारि परित: सरितां मुखेम्य: कि तावदिजितमनेन दुरर्णवेन । क्षारीकृतं च बडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥ यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिश्रीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धः, तदा विशेष प्रतीतौ सत्यामिष प्राधान्येन तत्सामान्येना- विशेषस्य सामान्यस्यापि प्राधान्यम् । यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये, सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम् ।

उज्जीवनी।

अत्र परधनमपहृत्य विफलव्ययं कुर्वाणे दुरीश्वरे तत्तुल्यस्याप्रकृतस्यार्णवस्य कथनम् ।

अत्रस्तुतप्रशंसायामिष अप्रस्तुतप्रशंसाख्येऽलङ्कारेऽपि यदा यस्यामवस्थायां. सामान्यिविशेषभावात् सामान्यिविशेषभावसम्बन्धात्, निमित्तनिमित्तिभावात् निमित्तनिमित्तिभावसम्बन्धाद्वा, अभिधीयमानस्य वाच्यस्य, अप्रस्तुतस्या-प्रकृतस्य, प्रतीयमानेन व्यज्यमानेन, प्रस्तुतेन प्रकृतेन, अभिसम्बन्धः अनुगतः सम्बन्धः । तथा तस्यामवस्थायां, अभिधीयमानप्रतीयमानयोः वाच्यव्यङ्गचयोः समं तुल्यं प्राधान्यं प्रधानता ।

अयमर्थः सामान्यिवशेषभावसम्बन्धेन सामान्यस्याप्रकृतस्य प्रशंसाया-मिभधीयमानतायां प्रकृतस्य विशेषस्य प्रतीयमानता, विशेषस्याप्रकृतस्य प्रशंसा-यामभिधीयमानतायां प्रकृतस्य सामान्यस्य प्रतीयमानता भवतीति हैविष्यं सामान्यिवशेषभावसम्बन्धनिबन्धनाया अप्रस्तुतप्रशंसायाः । एवं कारणस्या-प्रस्तुतस्याभिधीयमानतायां कार्यस्य प्रस्तुतस्य प्रतीयमानता कार्यस्याप्रस्तुत-स्याभिधीयमानतायां कारणस्य प्रस्तुतस्य प्रतीयमानतेति निमित्तनिमित्ति-भावसम्बन्धनिबन्धनायाश्च तस्याः पुनश्च हैविष्यम् । एतत्सवन्धनिबन्धनायाम् प्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यस्य व्यङ्गचस्य च तुल्यं प्राधान्यम् । न त्वेकस्येतरातिशायि-चमत्कृतिजमकत्वरूपं प्राधान्यम् ।

यदेति । यदा तावद् यस्मिन् सन्दर्भविशेषे, सामान्यस्याप्रस्तुतस्याप्रकृतस्य। सामान्यस्याभिधीयमानस्य, प्राकरणिकेन विशेषेण प्रकृतेन विशेषेण, प्रतीयमानेन

१. बहुब प्रवर्षकः स्त्रः तुः २. श्वावपिवर्षकः स्त्रः गः

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः । यदा तु सारूप्यमात्रविभेनाप्रस्तुत-प्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयसानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां घ्वनावेवान्तर्भावः । इतरथा त्वलङ्कारान्तर⁹मेव ॥

उज्जीवनी ।

व्यङ्ग्येन सम्बन्धः । तदा तस्मिन् सन्दर्भविशेषे । विशेषप्रतीतौ सत्यामिष विशेषस्य प्रतीयगानतायामिष । प्राधान्येन पुख्यतया, तत्सामान्येनाविनाभावात् तस्य विशेषस्य यत् सामान्यं तेन व्याप्तत्वात् नियतसम्बन्धात् सामान्यस्यापि प्राधान्यं मुख्यत्वं विद्यते । यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं यदा विशेषः सामान्येऽन्तर्भवति, तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्यस्य प्रधानतया प्रतीतिविषयतायां सत्यां सामान्ये विशेषाणां सामान्यावयवभूतानां सर्वेषामिष् विशेषाणां, अन्तर्भावाद् अन्तर्गतत्वेन विशेषस्यापि प्राधान्यं प्रत्येकावयवस्यापि सामान्यान्तर्गतस्य प्रधानता भवति ।

निमित्तनिमित्तिभावे चेति—निमित्तनिमित्तिभावनिबन्यनायामप्रस्तुतप्रशंसायाम् अयमेव न्यायः सामान्यविशेषभावसम्बन्धनिबन्धनायां सत्यां यथा
वाच्यप्रतीयमानयोस्तुत्यं प्राधान्यं स एव न्यायोऽत्रापि प्रसरतीत्यर्थः । सारूप्यनिबन्धनायास्तु तस्याः पूर्वोक्ताभ्यामप्रस्तुतप्रशंसाभ्यां भेदमाह—यदा त्विति ।
यदा तु यस्यामवभ्यायां, सारूप्यमात्रवशेन केवलसारूप्यं पुरस्कृत्य, अप्रकृतप्रकृतयोः अभिधाविषयस्याप्रकृतस्य, व्यञ्जनागम्यस्य प्रकृतस्य च सम्बन्धः
परस्परसम्बद्धता, तदापि तस्यामप्यवस्थायां, अप्रस्तुतस्य सरूपस्य सारूप्यसम्बन्धपुरस्कृतस्य, अभिवीयमानस्याभिषाव्यापारबोध्यस्य, प्राधान्येनाविवक्षायां प्राधान्यविवक्षायामसत्याम् अस्य सारूप्यसम्बन्धनिबन्धनस्याप्रस्तुतप्रशंसा
भेदस्य, ध्वनावेवान्तर्भावः अप्रस्तुनप्रशंसाभेदोऽयं ध्वनावन्तर्भवतीत्यर्थः ।
इत्रथा तु अभिवोयमानस्य प्राधान्यविवक्षायां तु, अरुङ्कारान्तरमेव अप्रस्तुतप्रशंसा नामालङ्कारविशेष एव ।

इदमत्रावधेयम् — अन्यत्र यदिश्वधीयते तत् प्रकृतम् । अप्रकृतं तु प्रतीयतः इति स्थितिः । अप्रस्तुतप्रशंसायां तु, अप्रस्तुतमेवाभिधीयते, प्रस्तुतं प्रतीयतः

१. 'रत्वमे०' **क.** ग.

तदयमत्र संक्षेप:--

व्यङ्गचस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः । समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥ व्यङ्गचस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा । न ध्वनियंत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥ तत्परावेत्र शब्दार्थौ यत्र व्यङ्गचं प्रति स्थितौ । ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्ञितः ॥

उज्जीवनी ।

इति भेदः। तथापि ध्वनिन्यपदेशस्यायं विषयः, प्रकृतं वाप्रकृतं वा भवतु वाच्यप्। तथापि अप्रकृतस्याप्यभिषीयमानतायां, तस्य प्राधान्यविवक्षायामसत्यां व्यङ्गचस्य तदपेक्षया प्राधान्यमाश्रित्य ध्वनिन्यपदेशः। वाच्यस्य प्राधान्य-विवक्षायां, तु अलङ्कारव्यपदेश एव ।

इत्थं च यत्र शब्दः स्वार्थमुपसर्जनीकृत्यान्यमर्थं व्यतिक्त, अर्थः स्वयमुपसर्जनीभूयान्यमर्थं व्यनिक्त, स काव्यविशेषो व्वनिः (उत्तमं नाव्यम्) इति व्यपदिश्यते । यत्र च समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्ता-पह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, अर्थान्तरस्य प्रतीयमानतायामपि वैशद्येन तस्याप्रतीतेः, तदपेक्षया वाच्यस्य प्राधान्यं चानुभूयते, तद् गुणीभूतव्यङ्गचं नाम काव्यमिति च जायते ।

जनतमर्थं सक्षिपति—तदयमत्रेति । स्रत्रायसर्थः सक्षेपः सङ्प्रहात्मकः । व्यङ्गचस्येति । यत्र यहिमन् स्थले, वाच्यमात्रानुयायिनः वाच्यमभिषेयमर्थमेवोप-स्कुतंतः, व्यङ्गचस्य व्यञ्जनाव्यापारगम्यस्यार्थस्य, अप्राष्ठान्यं वाच्यातियायि-चमत्कृत्यजनकत्वेन प्राधान्याभावः, तत्र तिस्मन् स्थले, समासोक्त्यादयः समासो-क्तिप्रभृतयः, वाच्यालङ्कृतयःस्फुटाः । वाच्यार्थोपेस्कारकत्वरूपं वाच्यालङ्कृतरवः स्फुटाः । वाच्यार्थोपेस्कारकत्वरूपं वाच्यालङ्कृतत्वः प्रतीतौ स्फुटप्रतीतिरहिततायामित, वाच्यार्थानुगमेऽपि वा वाच्यमर्थमुपस्कुर्वाणेऽपि वा वस्य प्रतीयमानस्यार्थस्य प्राधान्यं स्फुटप्रतीतिविषयत्वेन मुख्यत्वं, यत्र वा न प्रतीयते यत्र न बोध्यते तत्न न ध्वनिः तस्य समासोत्तचादेष्वंनित्वं नाङ्गीक्रियते ।

वस्तुतो यत्र घ्वनिव्यपदेश इत्याह—तत्परावेवेति । यत्र शब्दशक्तिमूले

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भाव: । इतश्च नान्तर्भाव:, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि—अलङ्कारा गुणा बृत्तयश्चेति प्रतिपादियध्यन्ते । न चावयव एव पृथन्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथनभावे तु तदङ्गत्वं तस्य, न तु तत्त्वभेव । यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्त्व। न तिन्नष्ठत्वभेव ।

उज्जीवनी।

अर्थशिक्तमूले च व्यनौ (काव्ये) शब्दाथौ शब्दआर्थश्च, तत्परावेत व्यङ्गचार्थ-परावेत यह शब्दशिक्तमूत्तस्वनौ व्यङ्गचार्थबोधतात्पर्येण प्रयुक्तः शब्दः स्वदोव्यं वाच्यमर्थं पुपसर्जनीकृत्य व्यङ्गचार्थानुगुण्येनावतिष्ठते सः, यत्र अर्थशिक्त-मूलव्वनौ शब्दबोव्योऽर्थः स्वयमुपसर्जनोभूय व्यङ्गचार्थान्तरानुगुण्येन स्थितः स च सङ्करोज्झितः सङ्करेणालङ्कारान्तरसमावेशेन रहितद्वेत् स एव व्यनेविषयः तादश एव व्वनिव्यपदेशमहंति।

तस्मादिति—वाच्याधिक्षया प्रतीयमानस्यार्थस्य प्राधान्य एव ध्वनित्त्रा-ङ्गीकाराद, ध्वने: अन्यत्रालङ्कारादी नान्तभाव:। इतश्चेति—इतश्च कारणा-न्तरतोऽपि, नान्तर्भावः ध्वनेः अन्यत्रान्तर्भावविरहः। तदेव कारणमाह — यत इति । यस्मात् कारणात्, काव्यत्रिशेषः वयङ्गचप्राधान्यमाश्रित्य काव्य-विशेषपदन्यपदेश्यः। अङ्गी प्राधान्येनावतिष्ठमानः ध्वनिरिति ध्वनिसज्ञः कथितः उक्तः । तस्य पुनः घ्वनेरङ्गिनस्तु, अङ्गानि अरुङ्कारा, गुणा वृत्तयश्वेति प्रतिपादयिष्यन्ते । अङ्गाङ्गिनोश्च न तादात्म्यम् । वाचकत्व-व्यञ्जनत्वयोव्यागिरयोर्भेदात् । अवयव एव अङ्गभूत एव, पृथ्गभूतः पार्थवयेन विद्यमानः, अवयवीति अङ्गीति, न प्रसिद्धः न प्रसिद्धिमहेति । अपृध्यमावे तु समुदायपतितत्वे तु, तस्य ध्वने:, तदङ्गत्वमलङ्काराङ्गत्वमेव । समासोक्ती व्यङ्गचस्याप्यप्रस्तुतवृत्तान्तस्य वाच्यार्थोपस्कारकत्वाद् वाच्यस्यैवालङ्कारस्य घ्वनिरङ्गं भवति । न तु तत्त्वमेव, नैव तादात्म्यं भजत इत्यर्थः । वा अथवा, यत्रारि यस्मित्रलङ्कारेऽपि, तत्त्वं घ्वनेस्तादात्म्यं वाच्यस्य प्राधान्यविवक्षया प्राधान्यं च व्यङ्गचस्यापतित, तत्रापि व्वने: प्रतीयमानस्यार्थस्य तिन्नष्ठत्वं अलङ्कारनिष्ठत्वमेव अलङ्कारेऽन्तर्भाय एव । तस्य हेतुस्तु व्वनेर्महाविषयत्व-।मति वस्तूस्यिति:।

'सूरिभि: कथित'' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, नातुः यथाकथिवत् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु व्वतिरिति व्यवहरिति ।

तथैदान्यैस्तन्मतानुसारिधिः स्रिक्षः काव्यतत्त्वार्थदिशिभविच्यवाचक-सन्मित्रः शब्दात्मा काव्ययिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। न चैषंविधस्य ध्वनेर्वश्च्यमाणभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः।

उज्जीवनी।

काव्यविशेषलक्षणगतं 'सूरिभिः कथित' इत्यंशं विवृणोति—'सूरिभिः कथित' इति । सूरिभिः प्रयमैविद्वद्भिः वैयाकरणैः कथित उपज्ञायोक्तः । इयमुक्तिः शब्दस्य व्वनिरिति नाम्नोदितः अभिधानं विद्वदुपज्ञा विदुषां (वैयाकरणानां) छपज्ञा आद्यं ज्ञानं यस्यास्तथाभूतेत्यर्थः। अत इयमुक्तिः यथा कथन्त्रित् न प्रवृत्ता, संज्ञेयं निर्मुला नेति भावः। इति प्रतिपाद्यते ग्रन्थकृतेति शेषः । प्रथमे इति—प्रथमे भाचा विद्वांस: पण्डिता: वैयाकरणा: व्याकरणमधीयते विदन्ति वा वैयाकरणा:, सर्वविद्यानां सर्वासां विद्यानां, व्याकरणमूलःवाद् व्याकरण मूलं यस्य तत्त्वात् । तदेशोपपादयति—ते इति । ते च वैयाकरणास्तु, श्रूयमाणेषु श्रवणेन्द्रियज्ञान-(प्रत्यक्ष) विषयेषु, वर्णेषु शब्देषु, घ्वनिरिति व्यवहरन्ति घ्वनिसंज्ञां कुर्वन्ति । तन्मतानुसारिभिः तेषां त्रैयाकरणानां मतमनुसरद्भिः अन्यैरिप सुरिभिः अन्यशास्त्रविद्भिरपि, काव्यतत्त्वार्थविद्भिः काव्यस्य कविकर्मणः, तत्त्वभूतं प्रवृत्तिनिमित्तभूतं शब्दात्मकमर्थं जानद्भिरलङ्कारशास्त्रकारैरित्यर्थः । वाच्य-वाचकसंमिश्रः वाच्येनार्थंशक्तिमूलव्यङ्गचव्यञ्जकेन शब्दप्रतिपाद्येनार्थेन, वाचकेन शब्दशक्तिमूलव्यङ्गचव्यञ्जकेन शब्देन संमिश्रो मिश्रित:, काव्यमिति व्यपदेश्य: काव्यव्यपदेशविषयः, शब्दात्मा शब्द एव, घ्वनिरित्युक्तः घ्वनिरिति नाम्ना-ङ्कितः। वैयाकरणैः प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यङ्गचव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनि-व्यपदेशः कृत इति तस्य शब्दमात्रस्य स्फोटव्यञ्जकत्वेन व्यञ्जकत्वं, स्फोटस्य व्यङ्गचत्वं चावगम्यते । प्रकृते तु न केवलशब्दस्य काव्यत्वं, कि त्वर्थवत एव, न केवलमथँस्य । तस्य च शब्दार्थस्यानन्यलभ्यत्वात् । तथा च स्थलभेदेन न च कथिवदीर्थया कजुषितशेमुषीकत्वसाविष्करणीयम् । तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः । अस्ति व्वनिः । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विषिः सामान्येन ।

तत्राद्यस्योदाहरणम् —

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्चन्ति पुरुदास्त्रयः।

उज्जीवनी।

वाच्यप्रधानो वाचकप्रधानश्च शब्द एव चमत्कृतिजनकार्थान्तरस्य व्यङ्गचस्य व्यङ्गनेन शब्दात्मकस्य काव्यस्य व्यञ्जकत्विमिति, स्फोटव्यञ्जकस्य शब्दस्य वाच्यवाचकसंमिश्रस्य च तस्य व्यञ्जकत्वं समानिमिति ध्वनिरिति व्यपदेश: कृत इति भावः। न चेति — एवं विधस्य व्यङ्ग गचार्थप्रधानस्य ध्वनिसंज्ञालङ्कृतस्य ध्वनेः प्रतोयमानार्थस्य, वक्ष्यमाणा ये प्रभेदास्तदवान्तरभेदाश्च तेषां सङ्कलनया गणनया, महाविध्यस्यापरिमेयविध्यस्य, यत्प्रकाशनं यदाविष्करण, तद् अप्रसिद्धानां अतिप्रसिद्धिशून्यानां अलङ्कारिवशेषाणां परं यत् प्रतिपादनं, तेन तुल्यं न भवतीत्यर्थः। अलङ्कारिनक्षणादिवकं प्राशस्त्यं ध्वनिनिक्षणस्येति यावत्। इति अतः तद्भावितचेतसां तस्मिन् ध्वनो, भवितं प्रणिहितं, चेतो येषां तादशानां ध्वनिकाराणां संरम्भो ध्वनिनिक्षणोद्यमः, युक्त एव उचित एव। तेषु ध्वनिकारेषु, ईर्ध्ययासूयया कलुषिता कलङ्किता, शेमुषी येषां तेषः भावः। आविष्कतुः न युज्यते च। तदेवं तस्मात् पूर्वोक्तप्रकारेण, ध्वनेरभाववादिनां सभावो यैहच्यते ते प्रत्युक्ताः निरस्ताः।

ततः सिद्धमाह—अस्ति ध्वनिरिति । ध्वनिर्नाम अनपह्नवनीयचमत्कार कश्चिदर्थः, वाच्यातिशायिनीं चमत्कृतिमादधानः अस्ति विद्यते । एवं ध्वनेर-भाववादिनां मतं निराकृत्य ध्वनिः सयुक्तिकं स्थापितो ध्वनिकारेण ।

घ्वनि विभाजते—स चेति । स च घ्वनिश्च, सामान्येत सामान्यतः, द्विविधः द्विप्रकारः, अविवक्षितवाच्यः अविवक्षितो वाच्योऽभिधाविषयोऽर्थः यस्मिन् सः लक्षणामूलघ्वनिः, विवक्षितं वक्तुमिष्टं, अन्यपरं अन्यार्थतात्पर्यकं च वाच्यं , वाच्योऽर्थो यस्मिन् स चेति अभिभामूलघ्वनिरिति च द्वैविध्यं घ्वनेरित्यर्थः।

तत्र घ्वनौ, आद्यस्य प्रथमस्याविवक्षितवाच्यस्योदाहरणमाह—सुवर्णपुष्पाः

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ द्वितीयस्थापि —

> शिखरिणि कनुनाम कियञ्चिरं किमभिधानमसावकरोत् तपः। तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुक्रीशावकः॥

उज्जीवनी ।

मिर्ति । यः शूरः शौर्यवान्, यः क्रुतिवद्यः विद्यात्रान्, यः सेवितुं परानाराधयितुं, जानाति वेत्ति सेवाकुशलश्चेत्यर्थः । स चेत्येते त्रयः पुरुषाः, सुवर्णपुष्यां मुवर्णमेव पुष्पं, यस्यास्तां, पृथिवीं वसुधां विन्वन्ति स्ववशे कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अत्र श्रक्तिविद्यसेवकानां सर्वत्र सुलभा विभूतय इति व्यङ्गचोऽर्थः । पदार्थबोबानन्तरमाकाङ्क्षादिभिन्नां न्यार्थो वाच्योऽत्रबुष्येत, तस्याविवक्षितत्वात् प्रतीयमानोऽर्थः प्राधान्येन चमत्कारमावहतीति अविवक्षितवाच्यव्वनेरिद-मुदाहरणम् ।

द्वितीयस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्योदाहरणमाह—शिखरिणीति। नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः। हे तरुणि, येन तपश्चरणेनायं शुकशाबकः पुरो दश्यमानः शुकिशिशुः। तन ते, अधरपाटलमधरोष्ठवत् पाटलवर्णं विम्बक्तं दशित सम्यक् स्वदते, तत् तदीपियकं तपः कनु नाम शिखरिणि कस्मिन् पर्वते, अकरोदनुष्ठित-वान्।

अत्र तीत्रेण तपश्चरणेन विना नायिकाधरसदशविम्बफलस्याप्यास्वादनं यदि न सुलभं तहि नायिकाधरास्वादनलाभः सुतरामसुकर एवेति व्यज्यते । अत्र वाच्यस्यार्थस्य विवक्षितस्याप्ययन्तिरतात्पर्यपर्यवसानाद् विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनिहस्यभित्यर्थः।

एतावता प्रबन्धेन ध्वने रिवद्यमानतावादिमतं दूषितम्। काव्यविशेषातमा शब्दात्मको ध्वनिश्च वयाकरणसरिणमनुसरता श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यण संज्ञातः। स च ध्वनिरिति संज्ञाशब्दो व्युत्पत्तिभेदात् व्यञ्जके शब्दे, व्यञ्जके ध्ये, व्यञ्जनाव्या-पारे, व्यञ्ज्ञ्यार्थस्य प्राधान्येन प्रतिपादके काव्ये च शक्तिमत्त्वेनाम्यु-पगतः। इदमम्युपेत्यव ध्वनिकारेण प्रथमं 'काव्यस्यातमा ध्वनिरिति पद्ये ध्वनिस्वक्पनिरूपणं प्रतिज्ञातवता व्यञ्जयार्थपरो ध्वनिशब्दः प्रयुक्त इति पूर्वमेवोक्तम्।

[्]रु, १. पोत्रं, क. इ.

यदप्युक्तं भक्तिध्वनिरिति, तत् प्रतिसमाधीयते— भक्तया विभित्तं दैकत्वं रूपभेदाद्यं ध्वनिः॥

अयमुक्तप्रकारो व्वितिभेक्त्या नैकत्वं विभित्तं भिन्नक्ष्यत्वात् । वाच्यव्यति-रिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्गचप्राधान्ये ॥ व्विति:। उपचारमात्रं तुभिक्ति:।

उज्जीवनी !

इदानीं ध्वनेरथंस्य भाक्तत्वं बदतां मतं निराक्त मुपक्रमते—यदप्युक्तमिति ! भन्तेरागतो भाक्तः, भक्तिनीम लक्षणाख्यो व्यापारः, यया (भन्त्या) 'गङ्गाया धोष' इत्यादौ तीरादिष्ठपोऽथंः सदगम्यते, यश्च तदनन्तरमावी शैत्यपावनत्वादिरथंः प्रतीयते, स भन्ति जन्यप्रतीतिविषय एवास्तु । व्यञ्जनाख्यं व्यापारान्तरं किमर्थमङ्गीक्रियत इति पूर्वपक्षाणयः । ध्वन्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या व्यापारस्यापि ध्वनिव्यपदेशविषयत्वाङ्गीकारात् शैत्यपावनत्वादिष्ठपस्यार्थस्य भक्तिजन्यत्वेऽङ्गीक्रियमाणे भक्तिरेव ध्वनिर्भवतु, भन्त्यतिरिक्तो ध्मनिर्नाम व्यापारो नास्तीति पर्यवसन्नम् । एवं ध्वनिरिति ध्वनिसंज्ञो यो व्यापारः सा भक्तिरेव लक्षणेवेति यदिष कैश्चिदुक्तमभिहितं तत् तन्मतं प्रतिसमाधोयते समा-धीयत इत्यर्थः । भन्त्येति । अयमस्माभिः प्रमाणोपन्यासपुरःसरमम्युगम् अन्तानः ध्वनिः ध्वन्याख्यो व्यापारः, रूपभेदात् स्वरूपभेदात्, भन्त्या लक्षण-यंकत्वं तादात्मयं न बिर्भात नावहित । 'गङ्गयां घोष' इत्यत्र भन्त्या तीरस्यार्थस्य ध्वनिना शैत्यपावनत्वादेश्च विषयीकरणादर्थयोरनयोः स्वरूपभेदः स्फुट एव ।

तदेव विवृणोति—अयमिति । अयमुक्तप्रकारो घ्वनिः व्यापारोऽपि
भक्त्या व्यापारेण भिन्नरूपत्वाद् मिथो भिन्नार्थप्रतिपादकत्वाद्, एकत्वं
एकरूपत्वं, न बिर्भात । व्यापारयोरनयोः स्वरूपतोऽपि भेदं प्रदर्शयति—
वाच्येति । वाच्यवाचकाभ्यां वाच्येनाभिषाबोधितेन वाच्यार्थेन, वाचकेन
वाच्यार्थबोधकेन शब्देन च, वाच्यव्यतिरिक्तस्य वाच्यभिन्नस्य, वाच्यादर्थादधिक्तचमत्कृतिमावहतोऽर्थान्तरस्य तात्पर्येण वक्तृविवक्षया प्रकाशनमाविष्करणं
यत्र स्थलविशेषे, व्यङ्गचप्राधान्ये तथा प्रकाशमानस्यार्थस्य प्राधान्ये प्रधानवाक्यार्थत्वे, स व्यापारो घ्वनिष्वंनिस्नितः, उपचारमात्रं साद्यमात् सम्बन्धा-

मा वैतत् स्याद् भक्तिर्रुक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १५ ॥

नैव भक्तन्ना व्वनिर्लक्ष्यते । कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च । तत्रातिव्याप्तिव्विनिव्यतिरक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात् ।

यत्र हि व्यङ्गचकृतं महत् तौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्या प्रसिद्धचनुरोवप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते !

उज्जीवनी ।

न्तरतोऽपि वा स्वस्यमाणगुणैयोगमात्रं प्रतिपादयति भक्तिन्यापारः। एवं व्यापारयोरप्यनयोः स्वरूपभेदात् तयोरेकत्वं दुरुपपादमित्यर्थः।

तम्बस्तु भाक्तत्वं ध्वनेर्लक्षणित्याशङ्कायामाह—मा चैतदिति । ध्वने-ध्यंङ्गचस्यार्थस्य, भित्तभाक्तत्वं भक्तेशागतत्वं लक्षणाजन्यबोधविषयत्वं लक्षणिति यद् ध्यावर्तकधर्मे इति यदुक्तं, एतच्च एतदिषि, मा स्यात् मा भूदित्याह, तदिष निशाकशोतीत्यर्थः।

अतिव्याप्ते रिति । अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिर्लक्षणस्य । लक्ष्यैकदेशावृत्तित्व-मन्याप्तिः । द्वाभ्यामेताभ्यां, लक्षणदोषाभ्यां, असौ ध्वनिः, तया भनत्या, प्रक्तिजन्यबोधवियत्वेनः न लक्ष्यते भानतत्वं ध्अनेर्लक्षणं न भवितुमर्हति, अतिव्याप्तेरक्षाप्तेश्चेत्यर्थः ।

तदेव विवृणोति—नैवेति । भक्त्या व्वनिर्कक्ष्यते, व्वनेभंक्तिनं लक्षणम् । तत्र हेतुमाह—अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चेति । व्यङ्गचो योऽथों, व्यञ्जनया व्वनिना व्यापा-रेण सिद्धचतीत्यङ्गोक्रियते सोऽथों लक्षणयेव भवति । अतो व्वनेभंक्तिजन्यत्वं लक्षणमिति चेदुच्यते तिह्विनिव्यतिरिक्ते व्वनिभिन्नेऽपि विषये, अलक्ष्ये लक्षणस्य सम्भवाद् विद्यमानत्वाद् अतिव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः । 'गङ्गायां 'घोष' इत्यादो तीषादौ व्वनिभिन्नेऽर्थे भक्तेः सत्त्वात् ।

कि च भक्तिग्रम्यस्यार्थस्य स्वात्ममात्रे चमत्कृतिजनकत्वं यतौ न विश्राम्यति, बतः प्रयोजनप्रतीतेः व्यञ्जनागम्यायास्त्रत्र सम्भवाद् व्वनिभिन्नस्य यथा परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतस्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं भ्रूथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्गचाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम् ॥

तथा— चुम्बिजइ असहुत्तं अंत्रहन्धिजइ सहस्सहुत्तिम । विरमिअ पुणो रमिजइ, पि॰औ जणो णत्थि पुणरुत्तम् ।।

उज्जीवनी ।

कथं प्रसिद्धिरित्याशङ्कच समाधत्ते—यत्र हीति । यत्र सत्यपि व्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यकृतं महत् सीष्ठतं चमत्कारातिशयः, नास्ति न विद्यते तत्र तस्मिन् स्थलविशेषेऽपि, उपचरितवृत्त्या गौणवृत्त्या, प्रसिद्धचनुरोधप्रवितिव्यवहाराः प्रसिद्धचनुरोधन महाकविप्रयोगप्रसिद्धिमनुसृत्य, प्रवितितो व्यवहारः शब्दप्रयोगो यैस्तादशाः, कवयः काव्यकर्तारो दश्यन्ते ।

उदाहरति—यथेति। परिम्लानमिति। हुर्षदेवकविकृतायां रत्नावलीनाटिकायां द्वितीयेऽङ्के सागरिकामृद्दियं वत्सराजस्योक्तिरियम्। इदं बिसिन्याः कमिल्याः, पत्राणां शयनं तत्दं, पीनयोमीसलयोः स्तनजवनयोः, सङ्गात् सम्पर्काद्, उभयतः स्तनजवनस्थानयोः, परिम्लानं शुष्कं, तनोः क्षीणस्य, मध्यभागस्य परिमिलनमामदंनमप्राप्य मध्यभागे हरितं, श्लु श्रेः सुजलतयोः क्षेपवलनैः व्यस्तो विपरीतो न्यासो यस्मित्तादशं कृशाङ्गयाः सन्तापं विरहतापं वदित सूचयति। अत्र व्यक्तवागर्थको वदघातुः। कथयतोति वाच्योऽर्थः। तस्य अचेतनशय्याकर्वृ कत्वानुपपत्त्या भक्त्या सूचयतीत्यर्थे प्रयोगः कृतः। स्फुट-प्रकाशनक्ष्यो व्यङ्गचाऽर्थः सन्नपि न महत् सौष्ठवमावहति।

द्वितीयमुदाहरणं प्रदर्शयति—'चुम्बिक्क इ' इति । प्रियो जन: प्रियेण जनेन शतकृत्वः चुम्ब्यते, सहस्रकृत्वः सहस्रं वारान्, अवरुध्यते आलिङ्गचते, विरम्य विश्वम्य, पुनश्च रम्यते, अत्र पुनरुक्तं नास्ति । पुनरुक्तशब्दस्य पुनर्वचनरूपोर्थो वाच्यः। तस्य चुम्बनादिक्रियास्वनन्वयात् पुनर्तुपादेयत्वरूपोऽर्थो लक्ष्यते ।

१. 'प्रशिथिलभुजाक्षेप॰' च. २. 'विग्रज्ञ एं कृ. ग. 'विश्रे ज एं ड'

[चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः। विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्॥]

तथा— कुविआओ पसण्णाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ । जह गहिओ तह हिअअं, हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ ॥ [कृपिताः प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो विहसन्त्यः । यथा गृहीतास्तथा हृदयं हुरन्ति स्वैरिण्यो महिला।]

तथा— अज्ञाए पहारो णवल वाए दिण्णो पिएण थगवट्टे।
पिउओ वि दूसहो व्वित्र जाओ हिअए सवत्तीणम्।।
[अर्थायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्।।]

तथा परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।

उज्जीवनी ।

तासां क्रियाणां पुनरनुपादेयत्वं नास्तीत्यर्थः।

तृतीयमुदाहरणमाह कुविआओ इति । स्वैरिण्यः पृश्चल्यः महिला युवत्यः, कुपिताः प्रसन्नाः सन्तुष्टाः अवरुदितमुख्यः रुदितवदना वा तथा तैन प्रकारेण हृदयं प्रेक्ष गणां मानसं हरन्ति । अत्र हरतेः हरणरूपो वाच्योऽर्थः । तस्य चानुपपद्यमानतया पारवश्यापादन छपोऽर्थो भक्त्या बोध्यते ।

चतुर्थमुदाहरणं दर्शयति — बजाए इति । कनिष्ठभायीयाः स्तनपृष्ठे नवलतया प्रियेण कान्तेन मृदुकोऽपि अतिमृदुरिप प्रहारो दत्तः, सपत्नीनां हृदये दुःसह एव जातः । दत्त इत्यस्य वितीर्ण इति वच्योऽर्थः । अत्र दानस्यानुष-पद्यमानतया विहित इति लक्ष्यस्यार्थस्य प्रतीतिभवति ।

पञ्चममुदाहरणं यथा—परार्थे इति । य इक्षुः, परार्थे अन्यस्योपकाराय, पीडां निष्पीडनम्, अनुभवति प्राप्नोति । भङ्गेऽपि भञ्जनेऽपि, मधुरो माधुर्य-गुणोपेतः, इह लोके, यदीयो विकारः इक्षोविकारो गुडादिरूपपरिणतः, सर्वेषां प्राणिनां, अभिमतो हितो भवति, स इक्षुः, भृशमक्षेत्रपतितः अक्षेत्रे ऊषरप्रदेशे

१. 'झा.' ख. ग.

न सम्प्राप्तो वृद्धि यदि । संभूशम क्षेत्रपतितः किमिक्षोदेषि रेसी न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः। न चैवंविधः कदाचिद्यि ध्वनेविषयः।

यतः — उक्त्यन्तरेणाश्चक्यं यत्, तच्चारुत्वं प्रकाशयन् । शब्दो व्यञ्जकतां विश्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥ १६ ॥ अत्र चोदाहते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः ।

उज्जीवनी ।

पतितो वृद्धि पृष्टि, यदि न सम्प्राप्तः अत्यन्तं परियोगं न गतश्चेत्, असौ पोषाभाव-रूषः किमिक्षोर्दोषः, अगुगाया निर्मुणाया, करुभुवः ऊषरभूमेः कि न दोषः । मरुभूनेरैवायं दोष इति भावः:।

एतेनाप्रस्तुनवृत्तान्तवर्णनेन प्रस्तुत: सज्जनवृत्तान्तः परिस्फुरति । अत्र प्रस्तुतः सज्जनः सदा परेषामर्थे पीडामनुभवति । परिभवेऽपि क्रियमाणे गुणवाश्च भवति । यदीयः सज्जनसम्बन्धी विकारः कोपश्च, सर्वेषामभिमतः प्रिय एव च भवति । सचानुचितं स्थानं प्राप्तः, वृद्धिमभ्युन्नति न प्राप्नोति यदि सोऽपि म साधोदींष इत्यर्थः । अत्र प्रतीयमानार्थापेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कृतिजनकत्वाद-लङ्कारः अप्रस्तुतप्रशंसेति पूर्वमुक्तम् ।

इहानुभवतिशब्दो ज्ञानार्थकः, सज्जनपक्षे उपपद्यमानोऽपि इक्षुपक्षे नोपपद्यते, तस्याचेतनत्वात् । अतो लक्षणया प्राप्नोत्यर्थं बोधयतीति एवमादिस्यलेषु व्यङ्गचार्थस्य विद्यमानतायामपि तस्य सौष्ठवं नोत्कृष्टमिति भक्त्या शब्दप्रयोगो दृश्यत एव। अत्रानुभूतिः प्राप्त्यथक इक्षुपक्षे प्राप्तिरूपोऽर्थश्च न ध्वनिः। अतो ध्वनिव्यतिरिक्ते तस्मिन्नर्थे भक्तिः प्रवर्तत इति भाक्तत्वं तस्येति ध्वनेभाक्तत्वं लक्षणमित्यङ्गोक्रियमाणेऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। इत्यत्रेति । परार्थे य इत्यस्मिन् पद्ये, इक्षुपक्षे इक्षुवर्णनात्मके वाक्ये, अनुभवतिशब्दः प्राप्त्यर्थं भाक्तः प्रयुक्तश्च हश्यते। एवंविधः एवंप्रकारः अर्थः, कदाचिद्यपि जातुचिदपि ध्वनेविषयो न भवति ।

तत्र हेतुमाह—यत इति । उक्तचन्तरेणेति । यत् सौन्दर्यं उक्त्यन्तरेण व्यक्तिनाम्नो व्यक्कताच्छव्दादन्येन अशक्यं बोधयितुं न शक्यते । शब्दः स एव

 ^{&#}x27;दि. भृ.' ख.
 भ्रवक्षे ख.

किञ्च रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादिषि । लावस्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १७ ॥

तेषु चोपचिरतशब्दवृत्तिरस्तीति। तथाविधे च विषये कचित् सम्भवन्नणि ध्विनियवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते। न तथाविषशब्दमुखेन।।

उज्जीवनी ।

शब्दो व्यञ्जकतां व्यञ्ज हत्वं, व्यञ्ज्ञचाथेदोधकत्वं विभ्रद्, ध्यन्युक्तेविषयी भवेत् ध्वनियदव्यपदेशभाग् भवित् । अत एव अत्र च 'कृशाञ्ज्ञचाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनिमि'त्यादो, उक्त्यन्तरेण ध्वनिव्यतिश्किशब्दान्तरेण, अशक्यचा खारुत्वव्यक्तिः चमत्कृतिव्यञ्जकत्वं तद्धेतुरिन्त्यर्थः । एवं च पूर्वोक्तेषूदाहरणेषु वदतीत्यादयः शब्दाः उक्त्यन्तराशक्यं चारुत्वं न प्रकाशयन्तीति लाक्षणिकाः (प्रयोजनवत्या लक्षणयार्थंप्रतिपादकाः, शब्दाः) ■ ध्वनिव्यपदेशमर्वंन्ति ।

मुख्यार्थबाधे इत्यादिना प्रतिपादिता या प्रयोजनवतो निरूढा चेति द्विविधा लक्षणा । तत्र प्रयोजनवत्यां प्रयोजनस्य व्यञ्जनाव्यापारविषयत्वेऽपि विजातीय चमत्कृतिजनकत्वाभावाद् सोऽर्थो न ध्वनिव्यपदेशमहंतीत्युवत्वा निरूढलक्षणाप्रति-पाद्यस्याप्यर्थस्य तद्वचपदेशं निषेधति-किञ्चेति । अनादितात्रयंविषयीभृता लक्षणा निरूढलक्षणेत्युच्यते । तत्र प्रयोजनस्य कर्यंव नास्ति । रूढा इति । लावण्याद्याः लावण्यानुकूलप्रतिकूलादयो ये शब्दाः, स्वविषयादिष्, स्वस्य विषयाद् योगजन्यार्थप्रतीतिविषयादिष अन्यत्रान्यस्मिन् विषये, अनादितात्पर्य-विषयीभूतेऽर्थे, रूढाः निरूढाः प्रयुक्ताः, ते शब्दाः व्वनेः पदमिष्ठानं न भवन्ति, तत्रापि व्वनिव्यवहारो नास्तोत्यर्थ:। तेष्विति । तेषु अर्थेषु च । उपचरिता गौणी शब्दस्य वित्तव्यापा शितमकास्तीति निरूढलक्षणयार्थप्रतिपादकेषु शब्देष्वपि ध्वनिविषयत्वं नास्तोति फलितोर्थं:। तथाविधे च विषये, यत्र निरूढलक्षणयार्थं प्रतिपादकाः लावण्यादयः शब्दा यस्मिन् शब्दसन्दर्भात्मके काव्ये प्रयुक्ताः, तादशे कचित स्थलविशेषे, सम्भवन्नि विद्यमानत्वेनाङ्गीक्रियमाणोऽपि, ध्वनिव्यवहारो ध्वनिव्यपदेशविषयत्वरूपः प्रकारान्तरेण लावण्य।दिशब्दघटितवाक्यस्य वाच्यौ यः सहृदयश्लाघ्योऽर्थः, तस्य व्शञ्जकत्वात्मकव्यापारमहिम्ना प्रवर्तते प्रतीतिपथमव-तरति । न त्विति—त् किन्त्, तथाविधशब्दमुखेन लावण्यादिशब्दद्वारा न प्रवर्तन्तः इत्यर्थः ।

व्रथम उद्धोतः

अपि च.

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य, गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् । यदुद्दिश्य फलं तत शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १८ ॥

तत्र हि चारुत्दःतिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तब्ये, यदि शब्दस्यामुख्यता तस्य प्रयोगे दुष्टतेव स्यात् । न चैवम् ।

उज्जीवनी ।

एवं च व्वनेभिक्तत्वं लक्षणिति चेद्, लक्ष्यो व्वितः। स च व्वितिक्ष्पोऽधौं निरूढलाक्षणिकशब्दप्रयोगे न स्फुरित । प्रतीतिविषयस्त्वर्थो लक्ष्य एव, न व्वितः । तत्र व्वित्वयितिश्वते यदुक्तं भाक्तत्वं व्विनिलक्षणं तदस्तीत्यिति-व्याप्तिः।

व्यवेभिनतत्वं प्रकारान्तरेणापि परिहरति—अपि चेति। अपि च कि च। मुख्यामिति। मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य विहाय, गुणवृत्या लक्षणाव्यापारेण, अर्थदर्शनं अर्थस्य दर्शनं ज्ञापनं, यत् फलं यादशं प्रयोजनं, उद्दिश्याभिसन्धाय, क्रियते, तत्र तस्मिन्नर्थे, शब्दः न स्खलद्गतिः स्खलन्ती प्रच्युता भवन्ती, गतिबोधनसामध्यं यस्य तादशो न भवतीत्यर्थः।

इदं तु तत्त्वम्—प्रयोजनप्रतिषिपादियिषया लाक्षणिकशब्दप्रयोगे कवीनां नैभंयंम्। किवना प्रयुज्यमानश्च स शब्दः मुख्यार्थं बाघादिसमवधाने ल क्ष्यमर्थं बोधियतुं न खल्वसमर्थो दश्यते। तथा तादशशब्दप्रयोक्ता किवना प्रेप्सितस्य प्रयोजनक्ष्यस्यापं बोधने समर्थं एव स शब्दो भवति। किन्तु लक्ष्योऽन्यः, व्यङ्गचश्चान्य इति विषयभेदादिष्। ॥ एव शब्दोऽभिधया, लक्षणया, व्यञ्चनया च तत्तत्स्यलानुरोवेन वाच्यं, लक्ष्यं, व्यङ्गचं चार्थं बोधियतुं समर्थं एवेति यावत्।

उन्तं काव्यप्रमाशे—(P. No. 58.)

यस्य प्रतीतिमाधात् लक्षणा समुपास्यते । फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥' इति ।

तदेव विश्ववीकरोति—तत्र हीति । हि यतः, चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशन-

तस्माद्

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणद्यत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्वैकमुलस्य ध्वनेः स्यान्लक्षणं कथम् ॥ १६ ॥

उज्जीवनी ।

लक्षणे चारुत्वातिश्वयः सौन्दर्यातिशयः तद्विशिष्टार्थस्य प्रकाशनात्मके प्रयोजने, कतंव्ये विधातव्ये, शब्दस्य यदि अमुख्यता स्खलद्गित्वं चेत्, तदा तस्य तादश-स्यासमर्थस्यार्थावद्गीधनसामध्यंरिहतस्य शब्दस्य प्रयोगे दृष्टतेव स्यात् । काव्यं (ताद्दशशब्दसन्दर्भात्मकं) दृष्टमेद स्याद् इति यावत् । न चैवं, एवं न वस्तुस्थितः। यद्वा अमुख्यता गौणता । गङ्गायां घोष इत्यादौ शैत्यपावनत्वादिरूपे प्रयोजने तस्य शब्दस्य गङ्गाशब्दस्य यदि गौणत्वं प्रयोजनप्रतीतिः लक्षणया भवतीत्यङ्गोनिक्रयते, तदा तत्र प्रयोगे, दृष्टतेव स्यात् । शैत्यपावनत्वादिरूपे फले गङ्गाशब्दस्य सङ्केताभावात् अभिधा तत्र न प्रसरत्येव । प्रयोजने लक्षणापि न प्रभवति । मुख्यार्थशाद्यभावात् । यश्च गङ्गाशब्दस्य तीररूपोऽर्थः, स न मुख्यः । यथा गङ्गाशब्दः स्रोतिस बाधित इति तीरं लक्षयित, तथा तीरेऽपि यदि बाधितस्तदा प्रयोजनं लक्षणया बोधयेत् । तीरं तु न मुख्योऽर्थः । न च तस्य बाधः । शैत्यपावनत्वादिभिः च तीरस्य सम्बन्धोऽपि नास्ति । नापि प्रयोजने लक्ष्ये किश्चित् प्रयोजनम् । नापि गङ्गाशब्दस्तीरिमव प्रयोजनं प्रतिपादियतुमसमर्थः । तस्यापि प्रयोजनान्तरेऽभ्युपगम्यमानेऽनवस्था । उक्तं च काव्यप्रकाशे—(P.60)

"लक्ष्यं न मुख्यं नाष्यत्र बाधो योग: फलेन नो। न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गति:।। इति।

तस्मादिति । ध्वनेभिक्तत्वासम्भवात् । वाचकत्वेति । वाचकत्वाश्रयेणैव वाचकत्वमभिषाव्यापारमाश्चित्यैव अभिधापुच्छभूतैव, व्यवस्थिता व्यवस्थां भजमाना, गुणवृत्तिः भाकतत्वं (भिक्तः) व्यञ्जकत्वैकमूलस्य व्यञ्जकत्वं व्यञ्जना-व्यायार एव एकं मुख्यं, मूलं कारणं यस्य तादशस्य, ध्वनेव्यं ङ्गचार्थस्य, लक्षणं ष्रयम उद्योत:

तस्मादन्यो व्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। अब्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य । त हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकारा भत्तथा व्याप्यन्ते ।

उज्जीवनी।

व्यावर्तकथर्मः, कथं स्यात् कथं भवेत् । भज्यते सेव्यतेऽनया मुख्योऽर्थ इति व्युत्पत्त्यनु रोधेनः गुख्यमर्थमाश्विररेव प्रवर्तमाना भिक्तः गुणवृत्तिः व्यञ्जनामात्रएम्यस्य व ः ङ्ग्चस्यार्थस्य कथमि बोधिका न भवति । अतो भिक्तिध्वं निलक्षणमिप न भवितुमहेतीति भावः ।

सिद्धमर्थमाह—तस्मादिति । यस्माद् भाक्तत्वं ध्वनेनं लक्षणं तस्मादित्यर्थः । अन्यो भिन्नविषयः, ध्वनिध्वेन्यात्मको व्यापारः, अन्या अन्यविषया च, गुणवृत्तिः भक्तिः (लक्षणा) इति विषयभेदोऽपि भक्तिव्यक्त्योरित्यर्थः ।

एवं भवते ध्वं निलक्षणत्वेऽतिव्यातिमुक्तवा अव्यातिमध्याह — अव्यातिरित । अस्य लक्षणस्य, ध्वने यंद् भाक्तत्वं लक्षणमुक्तं तस्य । अव्यातिरिप । लक्ष्यैक-देशावृत्तित्वमव्यातिः लक्षणदोषः । अविवक्षितवाच्यः विवक्षितान्यपरवाच्य- ध्वेति ध्वनिद्धिवधः किष्यतः । तत्र विवक्षितान्यपरवाच्यो नाम ध्वनेः प्रभेदः । विवक्षितं वक्तृतात्पर्यविषयीभूतं, अन्यपरं व्यङ्गचस्यार्थस्योपसर्जनीभूतं, वाच्यं व च्योऽर्थो यस्मिन् सः विवक्षितान्यपरवाच्यो ध्वितः काव्यभेदः, यतस्तत्र ध्वनेः प्रतीयमानस्यार्थस्य भाक्तत्वं नास्ति । स काव्यभेदो भत्तचा न व्याप्यते । तस्मिन् ध्वनो भक्तेव्यात्रियभावाह्यस्य केदेशावृत्तित्वरूपा अव्यातिः भाक्तत्वलक्षणस्य । तस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य भेदप्रकाराः अन्ये च बहवः, रसभावतः। भाक्तान्यपरवाच्यस्य भेदप्रकाराः अन्ये च बहवः, रसभावतः। भाक्तान्यपरवाच्यस्य भेदप्रकाराः अन्ये च वहवः, रसभावतः। भाक्तान्यपरवाच्यस्य भेदप्रकाराः अन्ये च वहवः, रसभावतः। भाक्तान्यपरवाच्यस्य भेदप्रकाराः विविधित्रमानेषु रसभावादिष्वर्थेषु ध्वन्यात्मकेषु भाक्तत्वलक्षणमव्यातिः। तथा च तेष्विप प्रतीयमानेषु रसभावादिष्वर्थेषु ध्वन्यात्मकेषु भाक्तत्वलक्षणमव्यातिन्तर्थः।

अत्र च, अन्ये च बहवस्तद्भेदप्रकारा इत्यनेन ससंलक्ष्यक्रमध्वनेः प्रकारा गृह्यन्ते । अतो ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षण इत्यनेन संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यो ग्रन्थकर्तुरभिमत इति ज्ञायते । एवं च सर्वोऽपि ध्वनिलंक्षणीयः । तत्र कचिल्लक्षणस्यासत्त्वे अव्याप्तिरित्युक्तं भवति । अविवक्षित्वाच्ये ध्वनी भिनत-रस्ति, विवक्षितान्यपरवाच्ये तु भिनतनिस्तीति ।

उज्जीवनी।

वस्तुतस्तु धाक्तत्वस्य ध्वितिक्षणत्वे अयाप्तिः प्रदर्शिता । अविविक्षितवाच्ये ध्वनौ भाक्तत्वमस्तीति चानुमन्यते । किन्तु तत् कुत्रास्तीति विचारणीयम् । अविविक्षितमन्वयायोग्यं, वाच्यं वाच्योऽर्थो यत्र तादशो ध्वितिर्यविक्षितवाच्य-ध्वितः, लक्षणामूलध्वितिरिति चोच्यते । स चार्थान्तरसङ्क्रिमतवाच्योऽत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः । आद्यो यथा—

> त्वामस्मि विच्म विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति । आत्मीयां मितमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्।।

विद्वत्सभां गच्छन्तं प्रति कस्यचिदाप्तस्येदं वचनम् । यतः अत्र विदुषां पण्डितानां समवायस्तिष्ठति । ततोऽत्रात्मीयां स्वीयां, मित्रमास्थायाश्रित्य स्थिति विधेहि कुरु इति अहं वच्मोत्यर्थः । अत्र सम्बोध्यं पुरुषमुद्दिश्य सर्वमुक्त्वा पुनः 'त्वामस्पि विच्म' इति कथनमनुचितमिति उपदेशाईं त्वां आप्तोऽहं विच्म उपदिशामीति लक्ष्यते । हितकारित्वं व्यङ्गचम् । तथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्। विद्यदीदशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्।।

अपकारिणं प्रति कस्यचिदुिवतिरियम्। त्वया यद् बहूपकृतं तत्र विषये किमुच्यते, न किमिप वक्तं शक्यत इत्यर्थः। भवता परं केवलं सुजनता प्रकटिता। अतो हे सुहृद्, यतस्ते सुजनता प्रथिता तत ईदशमेव सदा विदधन् कुर्वाणः शरदां शतं सुखितं सुखयुक्तं आस्स्व वर्तस्वेति वाच्योऽर्थः। स च विपरीतलक्षणया उपकृतिमित्यनेन अपकृतमिति, सुजनतेत्यनेन दुर्जनतेत्यादिकं लक्ष्यते। तेन चापकारातिशयो व्यज्यते।

एवं चाविवक्षितवाच्यध्वनिभेदयोरभयोरिप योऽर्थः लक्षणाद्वारा व्यञ्जना-मात्रजन्यप्रतीतिविषयो भवति, तस्मिन्नर्थे भाक्तत्वं न सम्भवत्येव। इदं च तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिरिति ग्रन्थकारेणेवाभिहितम्। एवं भक्ति-ध्वन्योविषयभेदश्च प्रकटीकृतः। अत्र कश्चिदिप ध्वनिः (प्रतीयमानोऽर्थः) भाक्तो भवितुं नाहंतीति भावतन्वलक्षणस्यासम्भवो दोष इति सुवचम्। अयं च सकलशास्त्रकारसम्मतः पन्थाः। यत् कस्यचिह्नक्षणस्यालक्ष्यवृत्तित्वरूपाया

तस्माद् भक्तिरलक्षणम् ।। कस्यचिद् ध्वनिमेदस्य सा तु स्यादुवलक्षणम् ।

सा पुनर्भिक्तवंश्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षण-तया सरभाव्येतः

उज्जीवनी ।

अतिव्याप्तैः प्रसक्तौ तद्वचावर्तकविशेषणदानेन सा परिहरणीया। तथा लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वरूपाया अव्याप्तेस्तु प्रसङ्गे लक्षणं परिष्करणीयम् । यदा तु कचिदिष लक्ष्यो लक्षणासम्भवरूपोऽसम्भवस्तदा लक्षणमेव तत् त्याज्यमिति ।

तस्मादिति पूर्वोक्तदोषाद् भिक्तभिक्तत्वं लक्षणं व्वतिलक्षणं न सम्भव-तीति सिद्धम् । एतावता च प्रबन्धेन व्वनेरिवद्यमानत्वं भाक्तत्वं च निराकृतम् ।

भाक्तत्बस्य ध्वनिलक्षणत्वासम्भवेऽपि तस्योपलक्षणत्वमस्त्वित्याशङ्क्ष्याह — कस्यचिदिति । अविद्यमानं व्यावर्तकम्पलक्षणम् । काकवद् देवदत्तगृहसित्यत्र काकवत्त्वमुपलक्षणम् । तञ्च देवदत्तगृहमितरस्माद् व्यावत्र्यं ततो निवर्तते । तस्य च तत्र सर्वदावस्थानं नियमेन नापेक्ष्यतें । प्रथमं तीरं भक्त्या लक्षयति । तत्रश्चोपलक्षणविवया शैत्यपावनत्वादिकं बोघयति । तथा च भिनत जन्यप्रतोतिविषयत्व रूपं भारतत्वं ध्वने रुपलक्षणं पूर्वपक्षाश्यः । शैत्यपावनत्यादिकं प्रत्याययित्वा भवत्विति निवर्तत इत्यर्थः। सातु भिनतरस्तु। कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य यस्मिन् ध्वनेः प्रभेदे भक्तिर्वर्तते तस्य व्वनः । उपलक्षणं अविद्यमानो व्यावर्तको धर्मः, स्याद् भवेद्, भवत्वित्यर्थः । अमुभेवार्थं विश्वदीकरोति सा पुनरिनि । या घ्वनेर्लक्षणत्वेन पूर्वपक्षिणोक्ता सेत्यर्थ: । वक्ष्यमाणप्रभेदाद्, ध्वनेर्ये प्रभेदा वक्ष्यन्ते, ततः अन्यतमस्य यस्यकस्यचिदपि भेदस्योपलक्षणत्वेन, यदि नाम सम्भाव्येतानुमन्येत चेत् तथैव भवत्विति शेषः । व्वनेः प्रभेदेषु बहुषु सत्स्विप कचिदेव भक्ति:। कि च भक्त्योपलक्षितस्यापि ध्वनेव्यं क्षचार्थस्य प्रत्यायने नास्ति व्यञ्जनादते अन्यो व्यायारः । तथा च भाक्तत्वस्य काचित्कध्वन्युपलक्षण-त्वकथनेन ध्वनिकाराणां न किञ्चिदपि हीयेत। भाक्तत्ववादिनामभीष्टंन यदि च गुणवृत्त्यैद ध्विनिर्तृक्ष्यत इत्युच्यते, तदिभिधाव्यापारेण तदितरो-ऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवयर्थ-प्रसङ्गः। कि च,

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य यक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ २० ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैः व्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेत्र नः । यस्माद् व्वनिरस्तोति नः पक्षः।

उज्जीवनी ।

किमपि साध्यते । अत उपलक्षणत्यपक्षेणापि न किन्चिदपि प्रयोजनिमिति वाक्यार्थः आयोजनीयः ।

भ तेष्वं निलक्षणत्वकथने दोषान्तरमण्याह—यदि चेनि । व्यनिः व्यङ्गयोऽयंः, गुणवृत्त्यंव लक्ष्यत इति च यदि उच्यते, गुणवृत्तिः भाक्तत्वं व्यन्नेलक्षणमिति च यदि कथ्यते, तत् तिहि, अभिधाव्यापारेण भक्त्या, तदितरो व्यनिभिन्नः, व्यङ्गयालङ्कारभिन्नः, वाच्यः अलङ्कारवर्गः अलङ्कारसमूहः समग्र एव सर्व एव । लक्ष्यते शाक्तत्वं (शक्तिजन्यप्रतीतिविषयत्वं) वाच्यालङ्काराणां सर्वेषामिप सामान्यलक्षणमिति वक्तुं शक्यत इति हेतोः प्रत्येकं पृथग् अलङ्काराणां, लक्षणकरणवैयर्थप्रसङ्गः लक्षणकरणमलङ्कारिविषेषाणां व्यर्थमापद्यैतेत्यर्थः ।

लक्षणकरणेन स्वाभीष्ठज्ञाशमाह—कि चेति। किञ्च अपि च, अस्य व्वनेः, अन्यः पूर्वेर अङ्कारशास्त्रकारेः लक्षणे कृतेऽपि भाकतत्वमन्यद् वा यत् किमपि लक्षणं विह्नं चेदिप, नः अस्पाकं व्वितिकाराणां, पक्षसंसिद्धिरेव पक्षस्य सम्यकं विद्धिरेव सञ्चातेत्यथः। विवृणोति—कृतेऽपि वेति। अन्यैः पूर्वेः, व्विति नक्षणे व्वनेलंक्षणे, पूर्वमेवादावेव, कृतेऽपि वा बिहिते वा नः पक्षसंसिद्धिरेव भवति। हेतुमाह —यस्पादिति। यस्पाद् यतः, व्विनिर्नाम सहदयहृदयानन्दकरः अर्थः अस्ति विद्यते इति नोऽस्माकं, पक्षः मतम् अभावप्रसिद्धि प्रति, प्रतियोगि-प्रसिद्धेराक्ष्यकता, व्वनेरिवद्यमानत्ववादिनां मते प्रतियोगिविधया व्विनः प्रसिद्धः पूर्वमेवेति मिद्धचिति । व्वनेर्भावतत्वं वदिद्भरपि लक्षणोयत्वेन व्वनिरेवाङ्गीकृत इति तन्मतानुरोधेनापि व्वनिरस्तीति पूर्वेरङ्गीकृत इति

स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः । येऽपि सह्दयहृदयसंवेद्यमनः स्थेयमेव ध्वने रात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः, यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनास्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत् प्रसन्तम् ।

यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यातया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपम् आख्यायते, तत् तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ।!

*इति राजानकानन्दवर्धनदिरचिते ध्वन्यालोके प्रथम उद्योत: ॥

उज्जीवनी।

वस्तुतत्त्वमाह—स चेति । स च ध्विनिश्चः प्रागेव पूर्वमेव, संसिद्धः प्रसिद्ध इति हेतोः, अपत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः अयत्नेत्वे सम्पन्नः सिद्धः, समीहितोऽभीिष्सतः, अर्थो ध्विनरूपो येषां तादशाः संवृत्ताः स्म अभूमेत्यर्थः ।

एवं भाक्तत्वं नास्तित्वं च निराकृत्य घ्वनेरनाख्येयतां निरस्यति—येऽपि इति । येऽपि ये तु. सह्ययह्वयसंवेद्यं सह्वयानां हृदयेन सम्यण् वेतुमह्, घ्वनेः प्रतिपक्षनिराक णन सिद्धस्य, वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकस्य व्यङ्गचस्यार्थस्य स्वरूपं, अनाख्येयं नाख्यातव्यम्। वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयमिति समाम्नासिषुः। तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः तत्त्वमपरीक्षमाणा एव ते यत् किश्चिदवोचित्रत्यर्थः। तदेव विशवयिति—यत इति । यतो यस्मात् कारणाद् उक्तया नोत्या "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपमजनीकृतस्वायौ । व्यङ्क्तः" इत्यन्तेन कारिकांशेन घ्वनेः सामान्यकक्षणं, वक्ष्यमाणया नीत्या "अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् । अविविधितवाच्यस्य घ्वनेर्वाच्यं द्विचा मतम् । इत्यनेत घ्वनेरिविधितवाच्यात्मक्रविशेषस्य लक्षणं च प्रतिपादितं भवित । तयाहि—शब्दबोघ्योपसर्जनीभूतार्थव्यङ्गचान्यतर्व—अविविधितवाच्यविधितवाच्यान्यतर्वक्षणेण पर्यवसन्नं घ्वनेः सामान्यकक्षणमितित्वाच्यविधितवाच्यात्यत्तरःवरूपेण पर्यवसन्नं घवनेः सामान्यकक्षणमभिहितम्। ततः—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यव्यङ्गचात्यन्त-

^{*&#}x27;'इति श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालीचने प्रथम: सङ्केतः'' ट.

[&]quot;इति राजानकानन्दवर्धनविरचिते सह्दयालोकनाम्नि काव्यालङ्कारे प्रथम उद्घोतः"। ख. ग. घ.

उजीवनी।

तिरस्कृतवाच्यव्यङ्ग्यान्यत रत्वम् अविवक्षितवाच्यात्मकस्य ध्वनिविशेषस्य लक्षणम् । अस्मिन् ग्रन्ये लक्षणानि प्रायेण तत्तद्विभागपुरःसःमेव प्रदर्शन्ते । यथा न्यायशास्त्रे पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं, द्रव्यत्वं पृथिव्याद्यन्यतमत्त-मिति । अविविधातवाच्यस्य लक्षणमप्येवंरूपं प्रदर्शितम् । तत्र द्विभा मतिमिति कण्ठत उक्तम् । यत्रार्थः शब्दो वेत्यत्र तु द्विधा इति नोक्तं, तथापि उक्तरीत्या विभागपुरःसरमेव लक्षणकथनाद् वाकारघटितेन शब्दसमुदायेन अन्यत रत्वात्मकं-व्वित्सामान्यलक्षणम्बतं ग्रन्थकारेण । एवं स्फूटतया ज्ञादमानं विभागवचनं लोचनकारो यदि नाभ्युपैति तर्हि अनेन प्रत्येन ध्वनेः सामान्यलक्षणमपि नोक्तं भवति । कारिका तु सामध्येण अविवक्षितव।च्यविवक्षितान्यपरवःच्यत्वरूप-विभागधीटतसामान्यसक्षणाकान्तो ध्वनिः यत्र (काव्ये) प्रधानवाक्यार्थो भवति स काव्यविशेषः ध्वनिः (उत्तयं काव्यम्) इति काव्यविशेषलक्षणमेवानया कारि-कयाख्यायते । काव्यसामान्यलक्षणं तु ''योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्तृतौं ।। इत्यनेन सहदयश्लाघ्यवाच्यप्रतीयमानान्यतरार्थबोधकशब्दत्वात्मकं पूर्वमेव प्रतिपादि-तम्। एवं च व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिः, गुणभावे गुणीभूतव्यङ्ग्यं, अस्फुटत्वे चित्रं चेति काव्यस्य त्रैविध्यं भवति इत्येव ध्वनिकारस्य सुचिन्तितो दढतरश्चाभिप्राय:। तत्र प्रथमोद्योते व्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम् । विभागस्तु वृत्तिकारेणैव कथित इत्यादिलोचनवचनस्योपादेयताः सुधीभिविभावनीया । उपपत्तिरहितमेताद्यं लोचनकारवचनमेव परमं प्रमाणं मन्वानाः, अतिपरिस्फुटार्थबोधके ध्वन्यालोकवाक्ये अश्रद्धानाश्च कारिका वत्त्योभिन्नकर्तृ कत्व भुद्धाषयन्तीत्यहो विवेकान्धता तेषाम् ।

एवं ध्वनेः सामान्यलक्षण विशेषलक्षणमि प्रतिप।दितमिति ग्रन्थस्य समुचितोऽर्थः कथितः। तदनुसारेणैव द्वितायोद्द्योतारम्भे एवमविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशित इत्यादि ग्रन्थोऽपि सुसङ्गता-र्थो भवति ।

सामान्यविशेषलक्षणाभ्यां घ्वनौ प्रतिपादितेऽपि यदि अनाख्येयत्वम् (अवर्णनीयत्वम्) आख्यातुमनहृत्वम् उच्यत इति शेषः । तत् तहि, तद्

उज्जीवनी ।

अनाख्येयत्वं, सर्वेषां वस्तुनां, सकलानामिष पदार्थानां, प्रसक्तं सर्वेषामिष पदार्थानामनाख्येत्वं प्रसज्यत इत्यर्थः ।

ध्वनेरनाख्येयत्वव। दिनोऽपरीक्ष्या निधायित्वेन दूषित्वा तेषां युक्तः-भिधायित्वमपि भङ्ग्या प्रकाशयति—यदि पुनरित्ति । ध्वने : ध्वनिकाव्यस्य, अन्यातिश्योक्त्या अनाख्येयत्वेन वन्तमामनोचरत्वेन, चमत्कारातिशयवत्त्वस्य, उन्तत्या कथनेन, काव्यान्तरातिशायि गुणीभूतव्यङ्ग्यादिकाव्यान्तरातिशायि चमत्काख्वत्त्वादनाख्येयत्वं स्वरूपं लक्षणं तैः प्रतिपक्षिभिः यदि आख्यायते। उच्यते चेत्। तत् ततः, तेऽपि युक्ताभिधायिन एव युक्तपिधातुं शिलमेषामस्तीति ताद्या एवेति मन्यामहे।

एवं घ्वनेरिवद्यमानत्वस्य, भावतत्वस्य, अनाख्येयत्वस्य च निरसनेन घ्वनिरस्ति इति समिथितम् । स च यस्मिन् काव्ये प्राचान्येन प्रतीयते स काव्यविशेषो घ्वनिरिति च सिद्धान्तितम्। स च द्विविधः अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति प्रथमोह्चोतेन प्रतिपादितम्।

द्वितीय उद्घीतः ।

एवमविवक्षितवाच्यदिवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्दिप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

> अर्थान्तरे सङ्क्रभितमस्यन्तं वा तिरस्कृतम् । अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

उज्जीवनी ।

प्रथमोद्द्योते वाच्यव्यङ्ग्यातमना द्वयोः काव्यार्थयोः ध्वनिसंज्ञितो वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनको व्यङ्गचोऽर्थः, तस्याविद्यमानत्वभाक्तत्वा-निर्वचनीयत्ववादिमतिनगकरणपूर्वं सम्थितः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विप्रकार इति च प्रतिपादितम् आनन्दवर्धनाचार्येण ।

अथ द्वितीयोद्द्योतेन ध्वनेभेंदप्रभेदान् वक्तुमुपक्रमते—एविमित । एवं प्रथमोद्द्योतोक्तप्रकारेणः अविविक्षितवाच्यविविक्षितान्यपरवाच्यत्वेन, अविविक्षितवाच्यत्वेन विविक्षितान्यपरवाच्यत्वेन चोपाधिना, ध्विनिः द्विप्रकारः द्वौ प्रकारौ विभाजकधमौ अविविक्षितवाच्यत्व, विविक्षितान्य-परवाच्यत्वात्मकौ यस्य तादशः प्रकाशितः निरूपणेन स्फुटीकृतः । तत्र तयोभेंदयोमंध्ये अविविक्षितवाच्यस्य प्रथमस्य भेदस्य, प्रभेदप्रतिपादनाया-वान्तरभेदं प्रतिपादियत्, इदं वक्ष्यमाणमुच्यते उक्तिविषयीक्रियते । तदेवाह—अर्थान्तर इति । अविविक्षितवाच्यस्य अविविक्षितं तात्पर्याविषयीभूतं पदार्थान्तरान्वयायोग्यं वा वाच्यं वाच्योऽर्थः यस्य तादशस्य ध्वनेः अनेनाभिधेयस्यार्थस्य या पदार्थान्तरेण साकमन्वयस्य तात्पर्यस्य वानुपपित्तस्तस्या छक्षणाबीजत्वं तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्गचस्यैव विशेष:।

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा-

सिनग्धश्यामलकान्तिलिप्तिवियतो वेल्लद्बलाका घना वाताः शीकरिणः पयोदसुहृद।मानन्दकेकाः कलाः । कामं सन्तु इढं कठोश्हृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे वैदेही तु कथ भविष्यति ह हा हा देवि घीरा भव ॥

उज्जीवनी ।

सूचितम् : अत एव प्रथमभेदस्यास्य लक्षणामूलध्वनिस्तिमिति होयम् । वाच्यं वाच्योऽर्थः, अर्थान्तरे सङ्क्रमितं अन्येन प्रकारेण वाच्यलक्ष्यसाधारणेऽर्थे सङ्क्रमितं परिणमितम् । वा अथवा, अत्यन्तं तिरस्कृतम् । प्रकृतार्थान्वयानुपयो गत्वे-नान्यार्थमात्रवोधकम् । एवं द्विधा द्विप्रकारेण मतं अभिमतमित्यर्थः ।

यत्र प्रतियमानार्थस्य व्यञ्जको वाच्योऽर्थः अर्थान्तरे सङ्क्रमितो वा अत्यन्तं तिरस्कृतो वा भवित तथानि तस्य (वाच्यार्थस्य) स्वेन रूपेण, अविविधानत्वात् तात्याविषयत्वाद् अविविधातवाच्य इत्यन्वर्थेयं संथा। व्यतिप्रभेदे प्रस्तुते वाच्यद्वैविव्यक्षयां कथमुपपद्यत इत्याशङ्कायामाह—तथाविधाभ्यापिति । तथाविधाभ्यां च ताभ्यामुक्तप्रकारेण द्विविधाभ्यां वाच्यार्थाभ्यां व्यञ्जकाभ्यां व्यङ्गचस्येव प्रतीयमानस्य व्वनेरेवार्थस्य विशेषो वैशिष्ट्यम्।

प्रथा गनेवमुदाहरित—तत्रेति । तत्र अर्थान्तरसङ्क्रमितात्यः ति रस्कृत-वाच्यव्यन्योर्भव्ये, अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः तदाख्य आद्यभेदः उदाह्रियत इत्यथः । स्निग्धेति । विरहिणः श्रीरामस्य वचनमिदम् । स्निग्धश्यामक-कान्तिलिप्तवियतः स्निग्धया श्लक्ष्णया, श्यामलया अत्यन्तं कृष्णया च कान्त्या रोचिषा, लिप्तं व्याप्तं, वियद् आकाशं यैस्तादशाः । वेल्लद्बलाकाः वेल्लन्त्यः शोभमाना बलाका बकपङ्क्तयो येषु तादशाश्च, घना मेघाः, कामं सन्त्वित शेषः । तथा शोकरिणः खम्बुकणवाहिनः, वाता मस्तः, कामं सन्तु । ततश्च पयोदसुहृदां पयोदो मेघः, सुहृद् मित्रं, येषां तथाभूतानां मयूराणां कला अत्यन्तमधुराः, आनन्दकेकाः आनन्देन सञ्जाता वाण्यः (केशा वाणी मयूरस्थै-ह्यमरः) च कामं यथेष्टं सन्तु वर्तन्ताम् । तथापि यतोऽहं दढमितश्चयेन कठोर- इत्यत्र रामशब्द:। अनेन हि व्यङ्गश्चर्मान्तर परिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्र्य्।

यथा च ममैव विज्ञागलीलायाम्-

ताळा जात्रन्ति गुणा जाळा दे सहिअएहि वेप्पन्ति । रइकिरणाणुग्गहिबाइं होन्ति कमळाइं कमळाइं ॥

उज्जीवनी

हृदयः कठोरं कूरं हृदयं चेतो यस्य तादशः, अस्मि भवामि। ततः सवं दुः बजातं विरहिजनोद्दोपनजनितं, सहे सोढुं यते । तु किन्तु, वैदेही जानकी, कथं भविष्यति कथं जीविष्यति । दुःखमिदं कथमि सोढ्ं न प्रभविष्यतीत्यर्थः । अतो हे देवि, सीते, ह हा हा अतिदुः खजनकिमदं भवेत्। धीरा भव धैर्यभव-लम्बस्व । अत स्वयं रामस्य सतः रामोऽस्मि इति वचनम् अनुपयुक्तं सद् रामपदवाच्यस्यार्थस्याविवक्षितत्वेन दुःखभाजनत्वरूपेऽर्थान्तरे लक्ष्ये सङ्क्रान्तम्। दु:खभाजनत्वं लक्ष्यम् । स्वावधीरणं व्यङ्गचं, तस्य 🛢 प्राधान्येन प्रतीति-विषयत्वादत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः प्रधानवाक्यार्थीभूत इति बोध्यम्। तदेवोपपादयित—इत्यत्रेति । इत्यत्र इत्यस्मिन् काव्ये (पद्ये) रामशब्दः अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य: । अनेन रामपदेन, व्यञ्ज्ञचधर्मान्तरपरिणतः व्यङ्गचे न लक्षणाकलत्वेन प्रतीयमानेन, धर्मान्तरेण स्वावधीरणात्मकेन परिणतः विशिष्टः, संज्ञी धर्मी प्रत्याय्यते ज्ञाप्यते । न तु संज्ञिमात्रम् न तु केवलसंज्ञीत्यर्थः । स्वकीयमुदाहरणान्तरमाह -यथा चेति । ममैव विषमबाणलीलायां घ्वनिकारे-णैव निर्मिते विषमबाणलीलास्ये ग्रन्थे इत्यर्थः । 'ताळा' इति । सौशील्यादय:, यदा यस्मिन् समये सहृदयै: सुहृदयै:, गृह्यन्ते ज्ञायन्ते, तदा तदानीमेव, गुणाः प्राथस्त्यवन्तो गुणाः जायन्ते भवन्ति । उपमानवाक्यमाह— रवीति । रविकिरणानुगृहीतानि रवे: सूर्यस्य, किरणैरनुगृहीतानि रविकिरण-सम्पर्केणाभिनन्दितानि कमलानि पद्मानि, कमलानि कमलपदव्यपदेशयोग्यानि भवन्ति जायन्त इत्यर्थः । इत्यल द्वितीयः कमन्नशब्दः अर्थान्तरसङ्क्रमिसवाच्य-

१. ररूपप० ख,

[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहदयेगुं ह्यन्ते ।

रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति छाया ।] इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

अत्यन्तति रस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वालमीके:--

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः । निःश्वासान्धः इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति ।

अत्रान्धशब्दः ।

उज्जीवनी ।

व्वनेः बोधकः । अभेदान्वयबोवश्च विरूपोपस्थितयोरेवेति व्युत्पत्त्या कमलानि कमलानि इति सरूपोपस्थितयोः पदार्थयोः शाब्दबोधो न सम्भवतीति द्विनीय-कमलशब्दार्थस्य प्रथमकमलशब्दार्थेन साकमन्वयस्यानुपपत्या कमलपदवा-च्यत्वरूपेऽर्थान्तरे लक्षणा स्वीक्रियते । अतिशयितकान्तिमत्वं व्यङ्गचम् । रविकिरणानुगृहीतान्येव कमलानि अतिशयितकान्तिसम्पादनात् कमलशब्द-व्यपदेशाहीणि भवन्तीत्यर्थः ।

मुख्यार्थस्य तात्वर्यानुपयत्या, अन्वयानुपयत्त्या वा लक्षणा सम्भवतीत्यिन-प्रायेणार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिप्रभेदस्योदाहरणद्वयप्रदर्शनं बोध्यम् ।

द्वितीयं प्रभेदमुदाहर्तुमाह—अत्यन्तेति । अत्यन्तिति रस्कृतवाच्यः अत्यन्तम् अविवक्षितत्वेन वकृतात्पर्याविषयत्वेन तिरस्कृतं निराकृतं वाच्यं यस्मिस्तादशः व्विनः । यथा येन प्रकारेण, आदिकवेर्वात्मीकेः आदिकाव्ये प्रकाशते तथा प्रदर्शत इत्यर्थः । रवीति । अयोध्यातो वनं गतो रामः पञ्चवट्यां वसन् हेमन्ते कदाचिदेवं वक्ति । रविसङ्क्रान्तसौभाग्यः, रवौ सूर्ये, सङ्क्रान्तं सौभाग्यं शोभामम्पद् यस्य तथाविधः, तुषारावृतमण्डलः तुषारेण हिमेन, आवृतं, संवृतं मण्डलं यस्य तादशः, चन्द्रमाश्चन्द्रः, निःश्वासान्धः निःश्वासेन मुखमारुतेन अन्यः मलिनः, आदर्शं इव दर्पण इव न प्रकाशते न शोभते । अत्रेति—अत्रास्मिन् उदाहरणे, अन्धशब्दः अत्यन्तिरस्कृतवाच्यः सन् व्यक्षको भवतीत्यर्थः । अत्र

१. च्यार्थौ ध्वनिर्य०. ख.

यशा च---

गअणं च मत्तमेहं घाराळुळिअज्जुणाइं आवणाइं । णिरहंकारिमअंका हरन्ति णीळाओ वि णिसाओ ।। [गगनं च मत्तमेघं घारालुलितार्जुनानि च वनानि । निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि तिशाः ।। इति च्छाया ।]

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ।

असंत्तस्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः !

उज्जीवनी।

च ६वनेः पदप्रकाश्यत्वम् । तदुक्तं, काव्यप्रकाशे—"एकावयवस्थितेन भूषणन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्गधापि भारती भासते" (P.149) अन्ध उपहतदृष्टिति वाच्योऽर्थः । मिलन इति च लक्ष्यः । उपयोगरहित इति च व्यङ्गधाः । अत्र मुख्यस्यार्थस्य अविवक्षितत्वेन पदार्थान्तरे आदर्शे अन्वयानुपपत्या तिरस्कारेण मालिन्यगुणविशिष्ट इत्यर्थे सङ्क्षमेण उपयोगशून्यत्वं व्यङ्गधमर्थं बोधयतीत्ययम् अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यध्वनेविषयः ।

उदाहरणान्तरमयाह — गअणिमित । गगनमाकाशं, मत्तमेषं च मत्ता उद्धता मेघा यत्र तादशमित, चोऽप्यर्थे । तेन न केवसं सञ्जाततारकित्यर्थः सिध्यति । तथा वनान्यरण्यानि धारालु लितार्जुनानि च धाराभिर्लु लिता आलोडिताः, अर्जुनवृक्षा यत्र तादशान्यपि । अत्रापि न केवलं मलयमारुताकिम्पितसहकाराणि इत्यपि-शब्दाज्ञायते । निरहञ्कारमृगाङ्काः निरहङ्कारो विच्छायो, मृगाङ्कश्चन्द्रमा यासु तादशा नीला अपि न केवलं शुभ्रांशु किरणशुभ्राः, निशा रात्रयः हरन्ति ओत्मुक्य जनयन्ति । वर्षत् वर्णनिमदम्। अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ मत्तशब्दो निरहङ्कारशब्दश्च मत्तशब्दोऽनुपयुक्तस्वार्थत्या मदिरापानजन्यक्षीबत्वरूपमृख्यार्थस्य बाधेनोद्धतत्वं लक्षयति । ततश्च विरहिमारणाद्धनर्थंकारित्वासमीक्ष्यकारित्वादीन् व्यञ्चयति । तथा निरहङ्कारशब्दोऽपि असम्भवत्स्वार्थतया बाधितमुख्यार्थः मालिन्यं लक्षयति । तेनान्धकारपराजयोद्धमानुक्रलजनुर्विक्तस्थानाभावोव्यज्यते ।

एवमविवक्षितवाच्यं लक्षणामूलध्वनि निरूप्य द्वितीयं विवक्षितान्यपर-

विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरातमा द्विधा मतः ॥ २ ॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्गचोऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्याथिक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः । तत्र—

रसभावतदाभास भावशान्त्यादिरक्रमः । ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानोः व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

उज्जीवनी ।

वाच्यमभिधामुलं निरूपियतुमाह--असंलक्ष्येति । विविक्षिताभिधेयस्य विविक्षितं तात्यर्यविषयत्वेनाभिमतं आभिधेयं वाच्योऽयः यत्र, तस्य व्वनेः व्यङ्क्षचार्यस्य । आत्मा स्वरूपं असंलक्ष्यक्रमोद्योतः असंलक्ष्यः सूक्ष्मतया लक्षयितुम् अशक्यः क्रमः यत्र तादशः उद्द्योतः प्रकाशो यत्र तादशः, कार्यकारणयोः पौर्वापर्य-क्रमस्य नियतत्वेऽपि कचिद्विद्यमानोऽपि क्रमः सूचोशतपत्रपत्रशतभेदन्यायेन न लक्ष्य । इति स एको व्वनिः । परः अन्यः द्वितीय इत्यर्थः । क्रमेण द्योतितः सलक्ष्येण क्रमेण प्रतिभासमानः, द्विधा मतः द्वेधा अभिमन्यत इत्यर्थः । एतेनासंलक्ष्यक्रमोद्द्योतान्यत्तरत्वं विविक्षितान्यपरवाच्यव्वनेन् लक्षणम् उक्तं वेदितव्यम् । तथा च विविक्षितान्यपरवाच्यो व्वनिः असंलक्ष्यक्रमः, संलक्ष्यक्रमक्ष्वेति द्विविधः सम्पद्यते ।

तदेव विवृणोति — मुख्यतयेति । मुख्यतया प्राधान्येन, प्रकाशमानो द्योतमानो, व्यङ्गचोऽर्थः प्रतायमानोऽर्थः, घ्वनेः ध्वंनिसंज्ञितस्यार्थस्य आत्मा स्वरूपम् । स च विवक्षिताभिषेयो ध्वनिश्च, कश्चिदेकः, वाच्यार्थापेक्षय विवक्षितमिष वाच्यमर्थमषेक्ष्य, अलक्ष्यक्रमत्या प्रकाशते द्योतते । कश्चिदन्यः कोऽपि, क्रमेण सलक्ष्येण क्रमेण द्योतत इति द्विधा द्विप्रकारः मतः अभिमतः ।

अलक्ष्यक्रमस्य प्रभेदान् व स्तुमाह्य—तत्रेति । तत्र अलक्ष्यक्रमलक्ष्यक्रम-व्यङ्गचयोर्मध्ये । रसभावेति—अक्रमः असंलक्ष्यक्रमस्य घ्वनेरात्मा प्रकारः। अङ्गिश्वावेन प्राधान्येनः भासमानः प्रकाशमानः । रसभावतदाभासभावः

१. सतत्प्रशा०. ग.

रसादिरथीं हि सहेव वाच्येनावभासते। स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा।

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो व्वनै: विभक्तो विषय इति प्रदर्श्वे—

उज्जीवनी ।

शान्त्यादिः, रसः भावः, तदाभासाः रसाभासा गावाभासाश्चः भावशानयादिः भावशान्तिः, भावौदयः, भावसन्धः भावशबलतादिः च व्यवस्थितः ।

रसादिदिति—रस आदिर्यस्येति व्युत्पत्त्या रसः भावः रसाभासः, भावाभासः, भावोदयः, भावसन्धिः, भावशबलताः, भावशान्त्यादिरूपः अर्थः, वाच्यार्थं बोधान्तत्तरं प्रतीयमानो व्यङ्ग्योर्थः कार्यकारणयोः पौर्वा यैनियमात् सत्यि क्रिमे तस्यासं लक्ष्यत्वेन वाच्येन वाच्यः थेः, सहेत्र अक्रम इव, अवभासने प्रकाशते, स च व्यङ्ग्योऽर्थं रचः अङ्गित्वेन प्रधानत्वेनः अवसासमानः प्रती य मानः, ध्वनेः प्रतीयमानस्यार्थस्यातमा स्वहपसित्यर्थः।

अत्रेदमववेयम् — स्फुटे प्रकरणे रत्यादिलक्षणः व्यङ्गचापञ्च , विभावानु-भावव्यिभचारिषु च झटिति प्रतीतिविषयेषु सह्दयतमेन प्रमात्रा सूक्ष्मेणंव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वा ग्रंग्यारुक्षणादलक्ष्यक्रम इति व्यपदि-श्यते । यत्र तु प्रकरणं विचारवेद्यं. विभावादयश्चोन्नेयाः तत्र सामग्री-विख्मवेत रत्यादेरास्वादस्य जिलम्बात् सलक्ष्यक्रमव्यङ्गचोऽपि रसादिष्वनिर्भं वत्येव । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचो, रतादिष्वनिरिति व्यवहारस्य तु क्षत्रचिद् रसादिष्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यते सम्भवत्यपि सर्वोऽपि ध्वनिः न संलक्ष्यक्रम-व्यङ्गच इत्यत्र तात्पर्यम् ।

रसवदलङ्कार द् ध्वने भेंदं प्रिपादिय तुमाह—इदानी मिति। इदानी, प्रथमोद्द्योतेन ध्विन प्रसाध्य वाच्यव्यङ्गचयोः क्रमस्य संलक्ष्यत्वेनासंलक्ष्यत्वेन द्विवध्यं प्रदिश्चितं तदनन्तरिमत्यर्थः। रसवदलङ्कारात् यत्र प्रधानतया रमः स्थितः, तत्र सोऽलंकार्यः। यत्र तु प्रधाने अन्यत्र वाक्यार्थे रसोऽङ्गभूतस्तव गुणीभूतव्यङ्ये काव्ये स रसवदलङ्कापो भवति। अङ्गस्यापि तस्य रसस्य परिपोषभावाद रसतुल्यता। रसेन तुल्यं रसवदिति तुल्यार्थे वतिः।

वाच्यवाचकचारुत्वहेत्नां विविधातमनाम् । रसादिपरता यत्र स ध्वनेविषयी मतः ॥ ४ ॥

रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुस्यगर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दा^९र्था-लङ्कारा गुणादच परसारं घ्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये घ्वनिरित्ति न्यपदेशः।

> प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिहिति मे मतिः ॥ ५ ॥

उज्जीवनी।

तस्माद् अलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वने: असंलक्ष्यक्रमव्यक्ष्पस्य ध्वने:• विषयो विभक्तो भिन्नो विषय इति प्रदर्शते निरूप्यते:

वाच्येशि। वाच्यस्याभिधेयस्यार्थस्य, वाचकस्याभिधायक्षस्य शब्दस्य च, यच्चारुत्वं सीन्दर्थं तस्य हेतूनां तदाधायकशब्दार्थालङ्काराणाः यत्र यस्मिन् काव्ये, रसादि ररता रसभावाद्युपस्कारकत्वं, रसस्य प्रधानवाक्यार्थत्वं अलङ्काराणां तत्तात्पर्यकत्वं च, सः रसादि: ध्वनेविषयः ध्वनिव्यपदेश-विषयः, मतः अभिमत इत्यर्थः।

तदेव विवृगोति— 'सभावेति । 'रसभावतदाभा तत्प्रश्वमलक्षणं मुख्यमर्थं रसभावरसाभासभावाभासभाव गान्त्यादयोऽर्था यत्र प्रधानवाक्यार्थीभवन्ति तं प्रधानमर्थं, अनुवर्तमाना उपकुर्वाणाः, यत्र काव्येः शब्दार्थालङ्कारा शब्दगता अनुप्रासादयः, अर्थगता उपमादयश्चालङ्काराः । गुणाश्च शब्दगतास्तथार्थगताश्च ध्वन्यपेक्षया ध्वनेः सकाशाद् विभिन्नरूपा भिन्ना व्यवस्थिताः भिन्नरूपेण व्यवस्थां प्राप्ताः तत्र काव्ये तस्मिन् काव्ये, ध्वनिरिति व्यपदेशः प्रधानवाक्यार्थीभूतोऽर्थो ध्वनिव्यपदेशं भजत इत्यर्थः ।

रसाद्यलङ्कारानाहु—प्रधानेऽन्यत्रेति । अन्यत्रान्यस्मिन्, वाक्यार्थे वस्त्वलङ्काररूपे वाच्ये, वस्त्वलङ्काररसरूपे व्यङ्ग्ये वा अर्थे, प्रधाने प्रधानवाक्यार्थभूते सति, यत्र यस्मिन् काच्ये, रसादयः रसादयः रसभाव-

१. ''ब्दालङ्कारा ग्र०'' ल

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्देशितो विषयस्तथापि यस्मिन् काञ्ये अधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थाभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरल-ङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः । तद् यथा चादुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दश्यन्ते ।

उज्जीवनी !

तदाभासादयः अङ्गं अङ्गत्वं प्रपद्यन्ते, तस्मिन् काव्ये, रसादिः रसभा-वादिः, अलङ्कारः अलङ्कारव्यपदेशविषयः इति मे नतिः इति ममाभि-प्रायः।

यद्यपीति — अन्यैः पूर्वेषद्भटादिभिः, रसवदलङ्कारस्य रसवदित्यनेन भावरसाभासभायाभःसभावतान्तीनामिष ग्रहणं विवक्षितम् तेषामङ-ङ्काराणां विषयस्तैः रसादीनि विभाजकोपावित्वेनाभ्युपगम्य रपवत्त्रे । उर्जिस्वसमाहिताख्यानि चत्वारि काव्यानि तैः प्रतिपादितानि । तत्र रसादीनां प्रधानवाक्यार्थत्वेऽपि काव्यशोभःकरत्यरूपालङ्कारसामान्यलक्षणप्रकन्तैस्तैः काव्यमलङ्कृतं भवतीति तेषां रसादीनामलङ्कारस्वं पूर्वेषामभिनतमिति ज्ञायते ।

स्वमतमाह—तथापीति । यस्मिन् काव्ये काव्यविशेषे, प्रधानतया मुख्यत्वेन, अन्योऽर्थः वस्त्वलङ्काररूपो वाच्यो, वस्त्वलङ्काररसङ्पो व्यङ्गचो दायः कोऽप्यर्थः वाक्यार्थभूतः वाक्यतात्पर्यविषयीभूतः तस्य च वाक्यार्थस्य, अङ्गभूतास्तत्सहायभूताः ये रसादयः रसभावरस भासभावा-भासभावशान्त्यादयस्ते, रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारस्य विषया इति सत्वदाद्यलङ्कारव्यपदेशभाजो भवन्तीति मामकीनः पक्षः । प्रन्यकर्तुः स्वकीय आश्य इत्यर्थः ।

उदाहरति—तद्यथेति । चाटुषु चाटुविषये, प्रेयस्विपदप्रवृत्तिनिमत्तं भावः । स च गुरुदेवनृपतिपुद्मादिविषया रितः प्रीतिरेव । स भावः प्रेयस्थिकाव्येऽलङ्कारो भवति । तस्य प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यावंत्वेऽपि, रसादयो ससभावादयः, अङ्गभूताः प्रधानवाक्यार्थीभूतप्रेयोऽलङ्कारः याङ्गभूता इदयन्ते ।

१. "कः पo'' **ख**. ज.

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णी वा । तताची यथा—

कि हास्येन न मे प्रयास्यित पुनः प्राप्तिश्चिराद् दर्शनं केयं निष्करुण ! प्रवासरुचिता केतासि दूरीकृतः । स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमञ्ज्ञासक्तकण्डगृही बुद्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुधीजनः ॥

इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात् रुपष्टमेव रसवदलङ्कारत्यम् । एवंविघेऽपि विषये रसान्तराजां स्पष्ट एवाङ्गभावः ।

उज्जीवनी

स चेति। स च रसादिः, अलङ्कारः प्रशानवाक्य। र्थस्याङ्गत्वं प्राप्तो रसभावादिः, शुद्धः केवलः, सङ्कीर्णो वा रसान्तरेण भावान्तरेण वा सङ्कीर्णो द्रयत इत्यर्थः। आद्यप्रदाहरति —तत्राद्यो यथेति। कि हास्येनेति। कश्चित् कविः र ज्ञः प्रता गतिशयम्पवर्णयति-हे राजन् ते तव रिप्स्त्रोजनः शत्रुस्त्रो-रूपो जनः, शत्रुभार्येत्यर्थः, स्वप्ते दृष्टं कान्तं सम्बोध्य प्रलपति । किं हास्येन परिहासेनालम् । चिराद् बहोः कालादनन्तरं मे दर्शनं मम दृष्टिगोचरतां प्राप्तः उपगतः । त्वं पुनः न प्रयास्यसि पुन रिप न गमिष्यसि । चिरात् प्राप्तं त्वौ नाहं मोक्ष्यामीत्वर्थः । निष्करुण निर्देय यतस्त्व यदच् अयोग्गतो न तू स्वयमागतः, अतो निर्देयोऽसि । इयं प्रवासक्चिता प्रवासे क्चियंस्य तस्य भावः, दूरदेशवासेऽभिरुचि: का ? अनुचितेत्यर्थः । केनापराधेन दूरोकृतोऽसि, इति पूर्वीक्तप्रकारेण, स्वप्नान्तेषु उत्स्वप्नाथितेषु. प्रियतमन्यासक्तकण्डग्रहः वियतमे स्वप्ने इष्टे पत्थौ विशेषेणासक्तः, कण्ठस्य ग्रहो ग्रहणं, यस्य तादशः वदन् कथयन्, बुद्ध्वा प्रबोधं प्राप्य, रिक्तबाहुवलयः रिक्तः शून्यः बाह्वीः वलयं यस्य तथाविबी भूत्वा, तारं उच्चैः रोदिति। अत्र राज्ञः प्रतापातिशयरू : प्रधानवा बयार्थ: राजगता कविरतिरत्र भाव:। अत्र चादु-विषये करुणरसाङ्गम् अत्र प्रमोतपतिरालम्यनम्। स्वप्ने तर्द्शनमुद्दोपनम्। शोकः स्थाया भावः । अत्र शुद्धस्य रसान्तरेण भावाद्यन्तरेण वा, असङ्कोर्णस्य करुणरसस्य राजविषयकरतौ अङ्ात्वाद् रसवदलङ्कारः । एवमुक्तया रीत्या एवंविधे विषये यत्र रक्षो वा, भावो वा, अन्यो वा प्रधानवावयार्थो भवति तत्र, रसान्तराणां तिद्भिन्नानां रसादीनामङ्गभावः अङ्गत्वं स्पष्टमेव स्कुटमेव सङ्कीणीं रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतश्चाददानोंशुकान्तं गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण । आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्च^भनेत्रोत्पलाभिः कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

इत्यत्र त्रिपुरिरपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईध्यविप्रलम्भस्य ६लेषसहितस्याङ्गभाव इति, एवंविष एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विषय:।

उज्जीवनी।

ज्ञायत इत्यर्थ: । द्वितीयमुदाहरित सङ्कीणं इति । सङ्कीणों निश्रः, रसादिः रसभावादिः, अङ्गभूतः प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थेऽङ्गतां प्रपन्नः । क्षिप्त इति अम्हककिवकृतं मङ्गलपद्यमिदम् । सित्रपुरदाहकालिकः शम्भुप्रेरितः बाणरूपोऽग्निः वो युष्माकं दुरितं पापं, हरतु अपनयतु इति प्रार्थ्यते । अनेन शम्भवः शराग्निः बार्द्रापरोधेन कामिनोपमीयते । क्षिप्त इत्यादीनि विशेषणानि श्लिष्टानि । तरुणीभिस्तत्क्षणकृतापराधः । कामी हस्तावलग्नः पाणौ स्पर्शं कुर्वन्, क्षिप्तः तिरस्कृतः । प्रसभं बलात् अंशुकान्तं चेलाञ्चलं आददानो गृह्णन्नपि, अभिहतस्ताडितः केशेषु शिरोरहेषु, गृह्णन् स्पृशन् अपास्तः अनाद्तः । चरणनिपतितः चरणयोः प्रणतः । सम्भ्रमेणावेगेन, नेक्षितो नावन्लोकितः, आलिङ्गन्नाश्लिष्यन्, अवधूतो निर्वाकृतश्च, यथा सर्वति तथा, साश्रुनेत्रोत्पलाभिः साश्रुणी अश्रुसहिते नेत्रोत्पले नयनकमले यासां ताभिः त्रिपुरयुविभिः त्रिपुरासुराणां योषिद्भः, हस्ते रपृशन् वियोजितः । अंशुकान्तमाददानः निर्धृतः, केशेषु गृह्णन् अपास्तो दूरोकृतः, चरणयोः निपतितः पतितः, सम्भ्रमेण भयेन नेक्षितः । य एवम्भूतः स शाम्भवः शम्भुप्रेरितः, शरागिनः बाण्हरो वह्निः, वो दुरितं दहतु इति वाक्यार्थः सम्पद्यते ।

उपपादयति—इत्यत्रेति । इत्यत्र इत्यस्मिन् पद्ये (काव्ये) त्रिपुरारिप्रभावा-तिशयस्य त्रिपुरासुराणां संहर्तृः शम्भोः, यः प्रभावातिशयो महिमातिरेकः,

१. ''स्र∘' ज.

अत एव चेर्षाविप्रलम्भकरणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः । यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम् । अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः, न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः ।।

उज्जीवनी :

तस्य वाक्यार्थत्वे वाक्यतात्पर्यविषयत्वेत प्रमानवाक्यार्थत्वे, ईर्ष्याधिप्रलम्भस्य ईर्ष्याहितुकस्य विप्रलम्भमृङ्गारस्य, रतेष प्रहितस्य रहे गोपस्कृतस्य, अङ्गभावः अङ्गत्वमितिः इति हेतोः, एवंविध एव एवंप्रकार एव, रसवदाद्यलङ्कारस्य, न्याथ्यो न्यायादनपेतों विषयः। अत्र रहेषालङ्कारसङ्कीणंस्य विप्रलम्भ- शृङ्गारस्याङ्गतया रसवदलङ्कारस्यायं विषय इत्यर्थः। अत्र त्रिपुरयुवतिगतः विपुरासुरालम्बनः शोकस्थायभावकः करुणरसोऽप्यङ्गम्।

शृङ्गारादीनां नदानां रसानां केरिप सह मिथोऽितरोधः, केश्चिदिप सह विरोधोऽप्यस्ति । तत्र शृङ्गारबीभत्सयोः, शृङ्गारकरुणयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्धयोः, शान्तशृङ्गारयोश्च विरोधः । विरोधश्च तदिधकरणावृत्तितारूपः (विरुद्धयोरेकत्र) स्थितिविरोधः, तज्ज्ञानप्रतिबद्धज्ञानकत्वलक्षणः, ज्ञानिवरोध्यक्षेते दिक्षगोऽस्ति । अधिक रणान्तरे विरोधिनः स्थापने न स्पितिवरोधः, रसान्तरस्याविरोधनः सन्धिकर्तुं रियान्तरास्ठेऽवस्थापने न ज्ञानिवरोधोऽपि परिहृतो भवति । अपि चाङ्गाङ्गिनोद्येद विरुद्धयोरिन तयोविरोधो न विद्यते । अङ्गिनि विरुद्धयोद्धयोरङ्गत्वेन सिन्नवेशेनापि विरोधः परिह्रियते ।

प्रकृते विप्रलम्भन्युङ्गारकरुणयोः परस्यरं विरोधेऽपि तयोर्द्धयोरपि अन्यत प्रधाने वाक्यार्थेऽङ्गत्वेन न विरोधः ।

अत एवेति । प्रधानै वाक्यार्थेऽन्यस्मिन् रसादीनामङ्गत्वे रसवदल-ङ्कारत्वाभ्युपगमादेव । ईष्यिविप्रलम्भस्य करुणस्य च मिथो विरुद्धत्वेऽपि । अङ्गत्वेन व्यवस्थानाद् अङ्गिन्यन्यस्मिन् विरुद्धयोरपि तयोर्द्धयोरङ्गभावे-नावस्थापनात् । समावेश: उभयोस्तयोः सन्निवेशनं, न दोषः न दुष्य-तीत्यर्थः ।

यत्र होति । यत्र यस्मिन् काव्ये, रसस्य रसभावादेः वाक्यार्थीभावः प्रवानवाक्यार्थत्वं, तत्र कथकलङ्कारत्वम् । रसादेः तत्राल्ङ्कार्यत्वेना-

तथा चायमत्र संक्षेपः--

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् । अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥

तस्माद् यत्र रसादयो वान्यार्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कार १स्य विषयः। स व्वनेः प्रभेदः तस्योपमादयोऽलङ्काराः।

यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङकारताया विषयः।

टज्जीवनी

लङ्कारत्वं नास्तीत्यथं: । हेतुमाह — अलङ्कारो हीति अलङ्कारो हि वाक्यार्थो । स्कारकत्वे न अलङ्कारच्यपदैशविषयः, चारुत्वहे तुः स्वस्मादन्यस्य सौन्दर्याधायकः इति प्रसिद्धः प्रसिद्धि गतः । तु किन्तु, असौ आत्मैत्र यः अलङ्कार्यत्वे न सारभूतः स एवात्मनः स्वस्यैव सारभूतस्यार्थस्य । चारुत्वहेतुः सौन्दर्याधायकः, तेनालङ्कार्यस्येतरस्य वाक्यार्थस्याभावादशङ्कारत्वं न प्राप्नोति ।

पर्यवसितमर्थं संक्षिप्य दर्शयितुमाह—तथाचायमत्र संक्षेप इति । रपेति । रसभावादितात्पर्यं रसभावादोनां प्रधानवाक्यार्थत्वं, आश्वित्यावलम्ब्य, विनिवेशनं समावेशः, सर्वासामत्रङ् कृतीनां अलङ्काराणां सर्वेषामिष, अलङ्कारत्वसाधनमलङ्कारत्वस्यालङ्कारपद्वपदेशविषयतायाः कारणम् । अयमर्थः—अलङ् क्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या अलङ्कारशब्दः यं कमप्यर्थमलङ् कृतिणो-ऽलङ्कारत्वं न भजते । किन्तु यत्र रसभावादयः प्रधानवाक्यार्थीभूनाः तेषामलङ्करणेनेवातङ्कारत्वं उपमादीनामित्याशयः। यत्र तूपमादयो वाच्यमेव प्रधानमर्थपु ग्कुवंन्ति तत्रापि विभावत्वादीनां केवलान्वियतया व्यङ्गचार्थावबोधनस्वरूपयोग्यतावत्त्वे । वाच्यस्याप्यर्थस्य रसभावादितात्पर्यमविरुद्धम् ।

तदेव विवृणोति – तस्मादिति । तस्माद् यस्माद् रसभावादीनां प्रधान-वाक्यार्थानामलङ्करणेनेव सर्वेऽप्यलङ्कारा अलङ्कारव्यपदेशं प्राप्नुवन्ति

१. "रताया वि०" ख. ग.

एवं व्ननेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति ।

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तद्युपमादीनां प्रविरलविषयता निविषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतन-वस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनयस्तुवृत्तान्तयोजनया यथाकथिचद् भवित-च्यम्।

उज्जोवनी ।

तस्मादित्यर्थः। यत यस्मिन् काव्ये, रसादयो रसभावादयः, वाक्यार्थीभूताः प्राधान्येन वाक्यतात्पर्यविषयोभूताः, स तथाविधः, सर्वो वाक्यार्थः, रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारस्य विषयः न भवति, किन्तु स ध्वनेः ध्वनेरेव विषय इत्यर्थः। तस्य ध्वनेः उपमादयः अलङ्काराः शोभाहेतवः भवन्ति। यत्र तु यस्मिस्तु, काव्ये, प्राधान्येन मुख्यत्वेनार्थान्तरस्य वाच्यादेरर्थान्तरस्य, वाक्यार्थभावे वाक्यतात्पर्यविषयत्वे सति, रसादिभिः, चाह्त्वनिष्पत्तिः चमत्कारसम्पत्तिः, स रसादिः, रसादेरलङ्कारताया रसवदाद्यलङ्कारस्य विषयः।

एविमिति—यत्र व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रथानवाक्यार्थत्वं तत्र व्विनः । तदुपस्काराका उपमादयोऽलङ्काराः । अन्यस्य यस्य कस्यापि प्रधानवाक्यार्थत्वे तदुपस्कारका रसभावादयः रसवदाञ्चलङ्कारस्य विषया इति व्विनेः उपमादीनां रसवदाञ्चलङ्काराणां च विभक्तविषयता विषयविभागो भवति ।

यदीति । तु किन्तु, चेतनानां चेतनावतां प्राणभृतां, वाक्यार्थीभावः वाक्यजन्यार्थबोघविषयत्वं, रसाद्यलङ्कारस्य प्रधानवाक्यार्थाङ्गभूतत्वेन रस-भावादेः अलङ्कारस्य विषय इति यदि उच्यतेऽभिषीयते, तर्हि उपमादीनां वाक्यार्थशोभाघ।यकानामलङ्काराणां, प्रविरलविषयता अल्पविषयत्वं, निर्विषयता विषयशून्यत्वं वा, अभिहिता भवेद उक्तं स्यात्।

हेतुमाह—यस्मादिति । यस्माद् यतः, अचेतनवस्तु वृत्ते अचेतनवस्तुवृत्तान्ते, वाक्यार्थीभूते वाक्यतात्पर्यविषयतां प्राप्ते, सित । पुनः चेतनवस्तुवृत्तान्तयो गनया चे अनवस्तुवृत्तान्तसमा रोपणेनः यथाकथिचद् भवितव्यं यथाकथिचदिप चेतनवस्तुवृत्तान्तसमा रोपणं कर्तव्यिमित्यर्थः । अयमाशयः—यत्र चेतनानां अथ सत्यामिष तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्त्युच्यते, तन्महतः काव्यप्रवन्धस्य रसिवानभूतस्य नीरसत्वमभि-हितं स्यात् ।

उज्जीवनी ।

वाक्यार्थत्वं तत्र प्रधानभूतं रसिमन्तं वाक्यार्थमलङ्कृर्वाणानामर्थानां, विभाव-त्दादीनां केवलान्वियत्वेतः, विभावादित्वेन पर्यवसितानां यथाकयिन्द् रस-संस्पर्शोऽस्तीति रसभावादीनामेव तत्रालङ्कारत्वसम्भवात् । तिद्भिन्नस्थले अचेतनवस्तुवृत्तस्य वाक्यार्थत्वे उपमादीनामलङ्कारतायाः सम्भवात् प्रविरल-विषयत्वमुपमादीनां । यदि चाचेतनवृत्तात्ते वाक्यार्थीभूते चेतनवृत्तान्तस्य समारोपणं क्रियते तिह् विभावत्वादिसम्पादनेन रसस्पर्शवत्वात् तमप्यर्थं रसवदाद्यलङ्कारा व्याप्तुवन्तीति उपमादीनामलङ्गराणां विषयापहार एव स्यात्।

अथेति। तस्यां चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनायां सत्यां जातायामिष। यत्र यस्मिन् स्थले । अचेतनानां वाक्यार्थीभावः वाक्यतात्पर्यविषयत्वं, असौ रसवदलङ्कारस्य न विषय इप्युच्यते तत्र रसवदलङ्कारो नास्तीति यदि कथ्यते, तत् तर्हि, रसिन्धानभूतस्य रसाश्रयभूतस्य, महतः काव्यप्रबन्धस्य रसानुकूलवस्तुनिबन्धनात्मकस्य कविकर्मणः, नीरसत्वं रसशून्यत्वं, अभिहितं स्याद् उक्तं भवेत्।

अत्रेदमवधेयम्। यत रसादयः प्रधानवाक्यार्थत्वमुपयान्ति तत्र तेषां काव्यमलङ्कुर्वाणानां अलङ्कारत्विमिति प्राचीनालङ्कारिकाणां मतम् । तन्मतानुसारेण यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावस्तत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तसमारोपणे क्रियमाणेऽपि नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इति चेदुच्यते तिह रसनिधान-भूतस्य महतः काव्यस्य नीरसत्वमभिहितं स्याद् इत्युक्तम्। रसादेः प्रधान-वाक्यार्थत्वं यत्र तत्र तस्य ध्वनित्वमङ्गीकुर्वाणानां ध्वनिकाराणां मते तु रसवदादेरलङ्कारताया अभावो न काव्यप्रबन्धस्य नीरसत्वापादने प्रयोजकः किन्तु रसाभाव एव।

यथा—तरङ्गभ्रभङ्गा भ्रह्मितविहगश्रेणिरशना विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् । यथाविद्धं याति स्खलितम्भिसन्धाय बहुशो नदी २ छ्पेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥

थया च-तन्वी मेघजलाईपल्लवतया घौताघरेवाश्रुभि: शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्तपुष्पोद्गमा । चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैदिना लक्ष्यते चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

उज्ज़ीवनी।

उदाहरणेन विशदयति—यथेति । तरङ्गेति । तरङ्गा वीचय एव भूभङ्गाः भूविक्षेपाः यस्यास्तादशी । क्षुभिता विह्गानां शकुन्तानां श्रेणी पिङ्क्तरेव रशना काश्वी यस्यास्तादशी । संरम्भेण कोपावेशेन, शिथिलं श्लुयबन्धम् । वसनमंशुकिव फेनं विकर्षन्ती आकर्षन्ती । बहुशो नानाप्रकारेण, स्खलितं ममापराधं, अभिसन्धाय पुनः पुनिविचिन्त्य, असहना असहमाना सैयं मे दियता, नदीरूपेण पिरणता नदोत्वं प्राप्ता । यथाविद्धं कुटिलतामनतिक्रम्यः कुटिलगितिरित्यर्थः । याति गच्छिति । अत्राचेतननदीवृत्तान्ते चेतनमानिनीवृता-न्तसमारोपणं चमत्कारजनकं दृश्यते ।

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । तन्वीति । तन्वी वियोगेन काष्यंमुप-गता । मेघ जलाई । छवतया मेवजलैं विदिकः, आई णि पछवानि यस्यास्ता-दश्या भावस्तत्ता तया । अश्रुभिः नेवजलेः, घौताधरेव घौतं क्षालितमघरं यस्यास्तादशीव, स्वकालविरहात् स्वस्य पुष्पोदगमस्य यः कालस्तस्य विरहा-दभावात् । विश्वान्तपुष्पोदगमा विश्वान्ताः पुष्पाणां सुमनसां उद्गमाः यस्या-स्तादशी सतीः आभरणैः भूषणैः । शून्येव रहितेव, मधुकृतां भ्रमराणां, शब्दैः रवैः, विना विनाभूता, चिन्तामौनं चिन्तया मौनं तूष्णीभावम् । आश्रिता प्राप्ता इव, सा चण्डी कोपना, पादपतितं पादयोः पतितं प्रणतम् । मामवध्य तिरस्कृत्य, जातानुतापेव जातोऽनुतापः पश्चात्तापः यस्यास्तादशीव । पूरः पूरस्तात्, लक्ष्यते दश्यते ।

१. 'ङ्गधु'० ग. २. 'भावेनेयं' ख.

यथा वा—

तेषां गोपत्रध्वित्राससुहदां राधारहःसाक्षिणां क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतन्यातीरे लतावेश्यनाम् । विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्तीलत्विषः पल्लवाः ॥

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाल् स्त्येव । अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलङ्कारः । तदेवं सत्युपनादयो निविषयाः प्रविरलविषया वा स्युः ।

उज्जीवनी ।

अत्र लताबृत्तान्ते नायिकावृत्तान्तसमारोपणेन चारुता। पुउरप्युदाहर रित—यथा वेति। तैषामिति। उद्धवं प्रति श्रीकृष्णस्येदं वचनम्। भद्र, गोपवधूनां गोपिकाङ्गनानां, ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। राधाया रहः समागमस्य साक्षिभूतानां तेषां पूर्वानुभूतानां, किलन्दशैलतनया कालिन्दी, तस्यास्तीरे, लतावेशमनां लतागृहाणां, किं क्षेमं कुशलं किमु। अधुना अद्य, बहोः कालादनन्तरं स्मरतल्पस्य मदनशयनीयस्य, कल्पनाय निर्माणाय मृदु यथा भवति तथा, यश्छेदः छेदनं तस्योपयोगे विच्छिन्ते विरते सित, विगलन्ती नश्यन्ती नीला त्विट् कान्तियेषां तादशास्ते पह्नवाः किसलयानि, जरठी भवन्ति जीणेतां यान्ति इति जाने मन्ये इत्यर्थः॥

अत्र अचेतनलतागृहवृत्तान्ते चेतननर्मसिचववृत्तान्तसमारोपः सुन्दरता-मावहति ।

तदेव विशदीकरोति—इत्येवमादौ विषये उक्तोदाहरणस्थले । अचेत-नानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवृत्तान्तयोजना चेतनवृत्तसमारोपणम्, अस्ति विद्यत एव । पर्यवसितमाह—अथेति । एवं च यत्र, अचेतनवृत्तान्ते वर्ण्यमाने चेतनवृत्तान्तयोजना चेतनवस्तुवृत्तान्तसमारोपणमस्ति विद्यते, तत्र तत्रस्थितो रसादिः आस्वादविषयोभूतरत्यादिः, अलङ्कारः अलङ्कारव्यपदेशं भजते । तत् तस्माद् एवं सति पूर्वोक्तप्रकारेण, उपमादयोऽलङ्काराः निर्विषयाः निराह्मकाः, प्रविरल्विषयाः अलपविषया वा स्युर्भवेयुः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन रसादीनामलङ्कारता। यः पुनरङ्गो रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स घ्वने रात्मे पति । किञ्च —

तमर्थप्रवत्तम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः । अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६ ॥

छज्जोवनी ।

तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । यस्माद् यतः, यत्र अचेतनवृत्तान्ते चेतन-वृत्तान्तयोजना चेतनवृत्तान्तसमारोपणं नास्ति, अन्ततो विभावत्वेन विभावत्वः दिरूपेण पर्यवसानं वा नास्ति, असौ ताद्द्यः अचे उनवस्तु-वृत्तान्तः नास्त्येव न विद्यत एवेत्यर्थः । तस्माद् रसादीनां रसभावादीनां, अङ्गत्वेन अङ्गतासम्भवेन, अलङ्कारता रसाद्यलङ्कारत्वम् । यः पुनः यस्तु रसो वा भावो वा अङ्गी प्रधानभूतः, सः सर्वाकारं सर्वथा अलङ्कार्यः, स ध्वनेरात्मा तदेव ध्वनेः स्वरूपिनत्यर्थः ।

एवं च रमादीनां प्रधानवाक्यार्थत्वे तेषामलङ्कार्यत्वमेवेति । स्वमतं द्रढियतुमाह—क्रिञ्चेति । तिमिति । येऽिङ्गनं प्रधानवाक्यार्थत्वेन अिङ्गभूतं, तमधं रसभावादिरूपं प्रतीयमानमर्थं, अवलम्बन्ते आश्वित्यावितष्ठन्ते, ते गुणाः स्मृताः । अङ्गानि वाच्यवाचकरूपाणि आश्विताः आश्वित्य वर्तमानाः कटकादिवत् शरीरमाश्वित्य कटकादय इव, विद्यमानं तमेवार्थं परम्परया उपकुर्वाणास्तु, अलङ्काराः मन्तव्याः अलङ्कारपदव्यपदेश्या इत्यर्थः ।

अत्रेदमवधेयम्—यत्र रसभावादेः प्रधानवाक्यार्थत्वं तत्र माधुयौजःप्रसान्दाख्यास्त्रयो गुणाः, शौर्यादय आत्मन इव साक्षादुपस्कारका भवन्ति, यत्र च वाच्यस्यार्थस्य वाचकस्य शब्दस्य च चारुत्वहेतव उपमादयः, अनुप्रासादयश्चा- सङ्काराः। एतेन यत्र रसभावादिः प्रधानवाक्यार्थीभवन्नपि काव्यशोभाकरत्व- रूपालङ्कारसामान्यलक्षणाक्रान्तत्वेन, रसवदाद्यलङ्कारत्वेन व्यपदिव्यत इति प्राचां मतं निरस्तमिति । इदमेवोक्तं — "वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधत्मनाम् । रसादिपरता यत्र स व्वनेविषयो मतः" इति ।।

१. 'त्मा।' क

ये तमर्थं रसादिनञ्जलणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शीर्यादिवत् । वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि । ये पुनः तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः क^९टकादिवत् ।

उज्जीवनी

य इति । ये समर्थं प्रतीयमानमर्थं रसादिलक्षणं रसभावादिरूपम् । अङ्गिनं सन्तं अङ्गित्वेनाविस्थतं, अवलम्बन्ते आश्रयन्ते, ते गुणाः माध्रयद्वयः, शौर्यादिवद् सात्मनः शौर्यादय इव समवायवृत्त्या । वाच्यवाचकलक्षणानि वाच्यः अर्थः वाचकः शब्दः, तद्रूपाणि चाङ्गानि इत्युच्यन्ते । व पुनः ये तु तदाश्रिताः तान्यङ्गान्याश्रित्य वर्तन्ते । ते कटकादिवत् शरीरं कटकादय इव, अलङ्काराः मन्तव्याः, अलङ्कारा इति ज्ञेयाः (संयोगवृत्त्या) ।

अत्र असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य रसभावादेर्वर्णने प्रस्तुते माधुर्यादीनां गुणानां निरूपणं कथं सङ्गच्छते ? उच्यते—काव्यशोभाकरत्वमलङ्कारसामान्य-लक्षणं मन्यमानैः प्राचीनैः गुणैरलङ्कारै रसादिभिश्च काव्यमेवालिङ्क्रयत इति रसादीनामप्यलङ्कारत्वमम्मुपगतम्। व्वन्यभाववादिनां (१) व्वनि-र्गुणालङ्कारेम्यो न व्यतिरिक्तः, (२) व्यतिरिक्तत्वेऽपि न शोभाषायकः काव्यस्य, (३) शोभाधायकत्वेऽि न सर्वेषामादरास्पदम् इति त्रिरूपा विप्रति-पत्तीनिरस्य व्वनिरानन्दवर्धनेन समिथतः। ततो व्वनेरुपमादीनां रसवदल-ङ्कारस्य च विविक्तविषयत्वमिप प्रतिपादितम् । रसभावादिश्च प्रधान-वाक्यार्थीभूतो यो व्विन: यद्यपि तस्य काव्याश्रितस्यैव, प्रमातृप्रतीतिविषयत्वं तथापि तेन तदा न कश्चिदप्यन्यो वाक्यार्थोऽलङ्क्रियत इत्यतस्यालङ्कार्य-त्वमपि अङ्गीकृतम् । तथा रसाद्यनुगुणपदसङ्घटनाधर्मत्वेन काव्याश्रितेमधि-र्यादिभिरेव काव्यशोभाधाने तदनतिरिक्तत्वमेव रसादीनां न तु पृथग्भाव इति शङ्कायां मुख्यवाक्यार्थीभूतरसभावादेमीधुयौजः प्रसादादिधर्मं ६ त्वात् तद्द्वारा तद्धिमत्वेन, रसादीनां मुख्यवाक्यार्थत्वेनापि प्राधान्यं भवतीत्यभिसन्धाय गुणान् निरूपितुमाह — किंचेति । वाच्यं प्रतीयमानं चेति द्विविधमर्थं प्रदर्शे तत्र वाच्यं प्रसिद्धत्वेन प्रख्याप्य प्रतीयमानार्थनिरूपणोद्युक्तो ध्वनिकारः अङ्गनासु लावण्यस्येव महाकविवाणीषु प्रतीयमानस्य माधुर्यादेः स्वरूपनिरूपणे कृते

१. कुण्डल।दिवत्। ख. ग. घ.

तथा थ-

शृङ्गार एम मधुरः परः प्रह्णादनो रसः । तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः, परः प्रह्लादहेनुत्वात् तत्प्रकाशन-परशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः । श्रव्यत्वं पुनरोचसोऽपि साधारणमिति ॥

उज्जीवनी ।

तद्धिमणो रसादयः निरूपिता भवन्ति इत्याशयेन माधुर्शारोन् निरूपितीति अस्य ग्रन्थस्य साङ्गत्यमनुसन्धेयम् ।

गुणान् निरूपित्मुपक्रमते — तथा चेति । मधुरः माधुर्यगुणविशिष्टः, श्रुङ्गार: एव पर: प्रह्लादन: इतरातिशाय्याह्ल दजनकः रसो भवतोत्यर्थः। तन्मयं श्रुङ्गारमयं काव्यं आह्नाद ननकार्थप्रतिपादकश्चरसःदर्भस्य काव्य-त्वात् । यत्र शृङ्गारो व्यङ्गचः प्राधान्येन तद्वचञ्जकं शब्दरवनादिकमःश्रित्य माधुर्यं पृथक् गदत्यरूपं प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितं वर्तते । आह्नाद जनकत्यरूपं यन्माधुर्वं स रसवर्मः शौर्यादिरिवात्मतः । तेन मधुरो गण इति मुख्यः प्रयोगः, वर्णरचनादिगतं च पृथक् पदत्वादिकमि तत्तद्रसानु गुण्येन आह्वादप्रयोक्षकं शरीरगतं आकारसौष्ठवादिकमिवेति मधुरा रचना, मधुरो वर्णः इत्यादिः गौगः प्रयोग:। आह्नादप्रयोजकत्वं माधुर्यं शरा रात्मनोरविशिष्टम् । विशदोकरोति-शृङ्गार इति । शृङ्गार एव सहदयास्वादविषयोभूता रतिः श्रुङ्गारात्मिकैव । रसान्तरापेक्षया अन्यान् रसानमेक्ष्य, मधुरः मधुर्यगुगविशिष्टः, प्रह्लादहेतुत्वात् प्रकृष्टाह्नाद ननकत्वात्, काव्यस्य कविकर्मणः, तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया तस्य आह्वादस्य, प्रकाशनपरेण व्यञ्जनतात्पर्येण प्रयुक्तो यः शब्दः तद्वत्तया, तत्त्रतिपाद्यार्थवत्तया च, सः माधुर्यलक्षणो गुणः, काव्यरूपं शरीरमाश्रित्य वर्तत इत्यर्थ: श्रुतिसुभगत्वं माधुर्यमस्त्वित्याशङ्कां मनसिक्नत्याह-शव्यत्वं (श्रुतिहृद्यत्वं) ओजसोऽपि ओजोगुणस्यापि साधारणम्, ओजस्यपि श्रव्यत्वम-स्तीति तन्न व्यावर्तकं भवति।

शृङ्गारे विप्रलम्भारूये करुणे च प्रकर्णवत् । माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ = ॥

विप्रलम्भशुङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत् । सहदयहदयावर्जननिमित्त- त्वादिति ॥

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः । तद्वचिक्तहेतू शब्दार्थावाश्रित्बौजो व्यवस्थितम् ॥ ६ ॥

रौद्रादयो हि रसा: परां दोप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दोप्ति-रित्युच्यते । तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं दाक्यम् ।

उज्जीवनी ।

माधुर्यस्य विशेषमाह—श्रृङ्गार इति । यतो यम्माद्, विप्रलम्भाख्ये शृङ्गारे विप्रलम्भशृङ्गारे, करुणे च करुणरसे च, मनश्चित्तं, अधिकमधिकतया आर्द्रतामाद्रीभावं, याति प्राप्नोति । अतिशयितां चित्तवृत्ति द्रुत्यात्मिक जनयतीति भावः । ततो विप्रलम्भशृङ्गारे करुणे च माधुर्यं प्रकृषेवत् प्रकृष्टमित्यर्थः।

इदं तु तत्त्वम्—यद्यपि पूर्वैः श्लेषादयो दश शब्दगुणाः दश अर्थगुणाश्च समाम्नायन्ते तथापि, नब्याः माधुयौजःप्रसादाख्यांस्त्रीन् गुणानेव मन्यन्ते । माधुर्यगुणविशिष्टसम्भोगशृङ्गारविप्रसम्भशृङ्गारकश्णरसचर्वणया द्रुत्याख्या, ओजोगुणविशिष्टकीभत्सरौद्ररसचर्वणया दीप्त्याख्या, प्रसादगुणविशिष्टसर्व-रसचर्वणया विकासाख्या च चित्तवृत्तिश्पजायते ।

वित्रलम्भेति । तु किन्तुः वित्रलम्भशृङ्गारकरुणयोः वित्रलम्भशृङ्गारे करुणे चः माधुर्यमेव आङ्कादजनकत्वरूपं माधुर्यगुणवत्त्वमेवः प्रकर्षवत् प्रकृष्टम् । हेतुमाह —सहृदयेति । सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वात् सहृदयानां हृदयस्य चित्तस्यावर्जने योऽतिशयस्तस्य निभित्तत्वात् कारणभूतत्वाद्, इति एवं माधुर्याख्यो गुणो निरूपित इत्यर्थः ।

अोजो निरूपयति—रौद्रादय इति । काव्यवर्तिनः काव्ये वर्तमानाः रौद्रादयो रौद्रप्रकाराः वोरबीभत्सरौद्रा इत्यर्थः। दीप्त्या रसा लक्ष्यन्ते यथा--

चश्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिधात-सञ्चूणितोस्युगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावबद्धधनशोणितशोणपाणि-रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीम:॥

उज्जीवनी।

वीप्तिमत्त्रेन लक्ष्या भवन्ति । चित्तस्य विस्तारक्ष्या दीप्तिः घीराद् बीभत्ये, ततोऽपि रोद्रे च, क्रमेण साितशया वर्तते । ततस्तत्कारणमोजाः क्रमेणोत्कर्षवत् । स्निग्धस्य सामाजिकचित्तस्य. द्वेष्यविषयसम्पर्केण, दीप्तत्वमुष्णता जायते । तत्र वीरस्य द्वेष्यिनग्रहे जिणीषामात्रम् । बीभत्से तु जुगुष्सित विषयेऽत्यन्तं त्यागेच्छा । रोद्रे तु अपकारिणो वधावधिकः प्रयास इति क्रमेण दौष्त्याधिक्यम् । तद्व्यक्ति-हेतू तस्या आत्मविस्तृतिकृपाया दीष्तेः या व्यक्तिरभिव्यक्तिस्तस्या हेतू, शब्दार्थो शब्दमर्थं च आश्रित्याधिष्ठाय, ओजः दीप्तिजनकत्वकृपो गुणः व्यवस्थितः । अत्रापि ओजस्बी रस इति मुख्यः ओजस्वी बन्धः इति च गौणः प्रयोगः ।

विवृणोति—रौद्रादय इति । रौद्रादयो हि रसाः वीरबीभत्सरौद्रा रसा उत्साहजुगुप्साक्रोधस्थायिनः, परां उत्कृष्टां, दीप्ति दीप्ततां उज्ज्वलतां ज्वलना-त्मकतां जनयन्ति, अभिव्यक्तिहेतवो भवन्तीति, लक्षणयोपचारेण । त एव रौद्रादय एव, दोप्तिरित्युच्यते दीप्तिपदव्यवहारविषया भवन्ति । तत्प्रकाशनपरः रौद्रादिरसप्रकाशनतात्पर्येण प्रयुक्तः, शब्दः शब्दसन्दर्भः, दौर्षसमासेन उद्धत-रचनया च अलङ्कृतं विभूषित, वाक्यं च दीप्तिरित्युच्यते ।

उदाहरति—चश्चिदित । चश्चता भुजेन बाहुना, श्रमितायाः चण्डाया उग्राया गदायाः अभिघातेन ताडनेन, सञ्चूणितं ऊर्वोर्युगलं यस्य तादशस्य सुयोधनस्य, स्त्यानेन स्निग्धेन, अवबद्धेन लग्नेन, घनेन निबिडेन चः शोणितेन रुघिरेण शोणोऽरुणः, पाणिर्यस्य तादशो भीमः, हे देवि तव कचान् संयतान् केशान्, उत्तंसियष्यति शिरसो भूषणं करिष्यति । वेणीसंहारे भीमसेनो द्रीपदीमेवं बूते । अत्र दुर्योधनालम्बनः, भोमसेनगतः क्रोबाख्यः स्थायी भावः रौद्ररसव्यपदेशहेतुः । अत्र शब्दस्य प्राधान्येन क्रोधरसव्यक्षकत्वात् तदनुक्रलो दीर्घसमासः, रचना च दीप्तिमती ।

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नआचकाभिधेयः । यथा—

यो यः शस्त्रं बिभिति स्वभुजगुरुगदः पाण्डवीनां चमूनां यो यः पाञ्चालगीते शिशुरिधकतया गर्भशय्यां गतो वा। यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरित प्रिय रणे यश्च यश्च प्रतीपः क्रोधान्यस्तस्य तस्य स्वयमिष जगतामन्तकस्यान्तकोऽयम्। इत्यादौ द्वियोरोजस्त्वम्॥

उज्जीवनी ।

तत्प्रकाशनपरश्चार्यः शब्दप्रतिपाद्योऽर्थश्चेत् प्राधान्येन दीप्तिप्रकाशनपर-स्तदा, अत्रपेक्षितदीर्घसमासरचनः अनपेक्षिते अपेक्षाशून्ये, समासो रचना च समासरचने, येन तथाभूतः प्रसन्नवाचकाभिधेयः प्रसन्नेन प्रसादगुणयुक्तेन वाचकेन अर्थप्रतिपादकेन शब्देन अभिघेयः अभिधया प्रतिपाद्यः । शब्दस्य रौद्राद्यभिव्यञ्जकत्वे दीर्घसमासः, ओजस्वी बन्धश्चापेक्ष्यते । अर्थस्य तद्वचञ्जकत्वे त्भयमिदं नापेक्ष्यत इत्याशयः ।

उदाहरति—यो य इति । वेणीसंहारनाटके क्रुद्धस्याश्वत्थाम्न इदं वचनम्। अर्थस्यात्र प्राधान्येन व्यञ्जकत्वाद् दीर्घसमासः, उद्धता च रचना नापेक्ष्यत इति दर्शयितुमिद्भुदाहरणम् । पाण्डवीनां पाण्डवसम्बन्धिनीनां चमूनां सेनानां मध्ये, स्वभुजगुरुमदः स्वस्थात्मनो, भुजयोबिह्नोः, गुरुर्महान्, मदो गर्वो यस्य तादशः यो यः शस्त्रमायुधं विभित्तं धारयति । पाञ्चालगोत्रे पाञ्चालराजस्य द्रुपदस्य वंशे । शिशुः, अधिकवया वृद्धः, गर्भशय्यां गतः गर्भ-स्थितो वा यो यः । तत्कर्मसाक्षो तस्य क्रूरस्य मत्पितुद्रीणस्य पराभवलक्षणस्य कर्मणः साक्षी द्रष्टा च यो यः । यश्च यश्च रणे सङ्ग्रामे मिय चरित जागरूके सित, प्रतीपः प्रतिकृतः । तस्य तस्य पुरुषस्य सर्वस्य स्वयं जगतां लोकानां, अन्तकस्यापि संहर्तुरिप । क्रोधान्धः क्रोधेनान्धः, अहं अन्तकः संहर्ता भवामि । अत्र दीर्घसमासस्य दीर्घरचनायाश्चाभावेऽपि प्राधान्येनार्थस्य रसप्रकाशनपरता युक्ता ।

१. 'त' ख

समर्पकर्त्वं काव्यस्य यस्तु सर्वरसान् प्रति । स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ १० ॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरससाधारणो गुणः, सर्व-रचनासाघारणश्च व्यङ्गचार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ॥

उज्जीवनी :

इत्यादाविति—इत्यादौ चश्चिदित्यादौ यो य इत्यादौ च ओजोगुणव्यञ्ज-कत्वं द्वयोः शब्दर्यार्थस्य च स्पष्टमिति भावः।

यत्तु पण्डितराजेन "काव्यप्रकाशगतरौद्ररसोदाहरणे तु 'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं मनुजपशुभिनिर्मर्यादैभंविद्ध्रिरुदायुष्टः । नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमिकरीटिवामयमहमसृङ्मेदोमांसेः करोमि दिशां बिलम् । इति पद्ये रौद्ररसव्यञ्जनभ्रमा नास्ति वृत्तिः, अतस्तत्कवेरशिक्तरेव'' इत्युक्तम् तद् व्विनकारानिभमतिमित्येव भाति । स्वस्यार्थमुपसर्जनीकृर्वाणः शब्दो वा, स्वयमुपसर्जनीभवन् शब्दप्रतिपाद्योऽर्थो वा यत्र प्राधान्येनार्थान्तरं प्रतीयमानं प्रकाशयित तत्र शब्दस्यार्थान्तरप्रकाशनतात्पर्ये सित दीर्घसमासादयः अपेक्ष्यन्त इति, अर्थस्य तथात्वे दीर्घसमासादयो नापेक्ष्यन्त इत्युक्त्वा चञ्चद्भु-जेति, यो य इति चोदाहरणभेदप्रदर्शनेन चेदं स्फुटमवगम्यते । एतद्रीत्या काव्यप्रकाशगतरौद्ररसोदाहरणे 'कृतमनुमतिम'त्यादिपद्यऽित, अर्थस्य व्यञ्जकत्वाद् रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा दीर्घसमासादयो नापेक्ष्यन्त इनि मन्तव्यम् ।

प्रसादगुणं निरूपयति—समर्पकत्वमिति । काव्यस्य कविकर्मणः, सर्वरसान् श्रङ्कारादीन् माधुर्येणौजस्वित्वेन च विदितानितरानिप च सर्वात् रसान् प्रति यत् समर्थकत्वं सहृदयहृदयसंवादकारित्वं, सः सर्वरससाधारण-क्रियः सर्वेषां रसानां साधारणी अनुकूला क्रिया स्थितिर्यस्य तादशः प्रसादो गुण इति ज्ञेयः प्रसादाख्यो गुण इत्यवगन्तव्यः ।

प्रसाद इति । प्रसादाख्यो गुणः । प्रसादस्तु प्रसादाख्यो गुणस्तु, शब्दार्थस्य शब्दस्यार्थस्य च, स्वच्छता नेर्मल्यम् । त च प्रसादश्च सर्वेदससाधारणः सर्वरसाभिव्यञ्जनानुकूलः सर्वरचनासाधारणश्च रौद्रादिरसाभिव्यञ्जिनासु

श्रुतिदुष्टादया दोषा अनित्या ये च दर्शिताः । ध्वन्यात्मनयेव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥ १६ ॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादय सूचितास्तेऽपि न वाच्ये सर्थमात्रे, न च व्यङ्गये, शृङ्गारव्यतिरेकिणि, श्रुङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते । किं तिह ? ध्वन्यात्मन्येव, श्रुङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्गये ते हेया इत्युदाहृताः । अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतेव न स्यात् । एनमयणसंलक्ष्यक्रम भ्योतो ध्वनेरात्मा प्रदिश्तः सामाग्येन ।

उज्जीवनी।

अपि रचनासु शुष्केन्धनमग्निरिव, निर्मलं वस्त्रादिकं जलमिव च सह्दह्दये झिटत्यर्थं ग्रीतिजनकत्वेन साधारण्येन स्थितश्चा मुख्यतया प्राधान्येन व्यङ्गधापिक्षयैव व्यङ्गधापिक्षयैव व्यङ्गधापिक्षयैव, व्यवस्थितः सम्यगवस्थितः, मन्तव्य ज्ञातव्यः । एवं माधुर्यादीनां गुणानां निरूपणेन श्रङ्गारादयो रसा अपि प्रदिशता इति ध्येयम् । एतेन रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दरूपकाव्यस्याङ्गं अनुप्रासादिरूपेण, तादशशब्दप्रतिपादमर्थं उपमादिरूपेण वा, आश्रित्य काव्यस्य शोभामातन्वाना अरुङ्काराः, अङ्गिनं प्रधानभूतं व्यङ्गयं अर्थमाश्रित्य शोभानितशयमाविष्कुर्वाणा माधुर्यं जःप्रसादरूपेण त्रिविधा गुणा इति च गुणालङ्कारयोविभागः स्फुटो ज्ञायते ।

एवं च तत्तद्रसानुगुणानां रचनादीनां व्यवस्थापनेन श्रुतिदुष्टादीनां काव्यदोषाणां सार्वित्रकत्वं नास्तीति दर्शियतुमाह—श्रुतिदुष्टादय इति । ये च यद्ग्रीस्च श्रुतिदुष्टादयः श्रुतिदुष्टत्वादयो दोषाः शब्दार्थदोषाः, दिशता उक्ताः । ते दोषा, घ्वन्यात्मिन प्राधान्येन घ्वन्यमाने, श्रुङ्गारे श्रुङ्गार-रसमात्रे, हेयाः त्याज्याः, इति उदाहृता उक्ताः । स्वय विवृणोति—अनित्या इति । अनित्या नित्यत्वज्ञून्याः । श्रुतिदुष्टादयः श्रुतिदुष्टत्वादयः, ये दोषाश्र सूचिताः ये दोषत्वेन प्रकाशिताः ते दोषाः, वाच्ये अर्थमात्रे न हेयाः, न च व्यङ्गये, श्रुङ्गारव्यित्रेकिणि श्रुङ्गारभिन्ने व्यङ्गये च । एवं घ्वनेः अनात्मभूते श्रुङ्गारे, प्राधान्येन प्रतीत्यविषये । तेन किमायातिमत्याह—कि तहींति ।

१. ''मोद्द्यो०'' ख

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदाः स्वगतारच ये । तेथामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२ ॥

अङ्गितया व्यङ्गचो रसादिविवक्षितान्यपरवाच्यस्य व्वनिरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासत्तप्रशमलक्षणा विभावानुभाव-व्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निःसोमानो विशेषास्तेषा-मन्योन्यसम्बन्धपरिकहाने ब्रियमाणे कस्यचिदन्यत्नस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते किमृत सर्वेषाम्।।

उज्जीवनी ।

अङ्गितया प्रधान्येन, व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने, ध्वन्यात्मनि ध्वनिरूपे श्रृङ्गारे श्रृङ्गारध्वनावेवेत्यर्थः । ते श्रुतिकदुत्वादयो दोषाः, हेयाः त्याज्याः, इति एवम्, उदाहृताः प्रदिश्ताः । अन्यथा श्रुतिकदुत्वादीनां किनिद् हेयत्वं, किनित् तदभावः, इति यदि न स्यात्, तेषां दोषाणाम् अनित्यदोषतैव अनित्यदोषत्वं न स्यादेव न भवेत् । एवमुक्तप्रकारेग, असंलक्ष्यक्रमद्योतो ध्वनेरात्मा असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्गचस्य ध्वनेः स्वरूपं सामान्येन प्रदिशतं सामान्यतो विणितमित्यर्थः ॥

विशेषत इयत्तया निरूपणस्याशक्यतामाह—तस्येति । तस्य ध्वनेः । अङ्गानाम तङ्काराणां ये प्रभेदा अवान्तरभेदाः । ये च स्वगता आत्मगताश्च, प्रभेदाः, तेषां प्रभेदानाम् अन्योन्यसम्बन्धपश्चिकल्पने अन्योन्यसम्बन्धस्य परस्पर-सम्बन्धस्य परिकल्पने कल्पनायाम् आनन्त्यम् अनन्तत्वम् । इयत्तया अपरिच्छेद्याः प्रभेदाः स्युरिति यावत् ।

विवृणोति—अङ्गिनयेति । यः अङ्गितया प्रधानत्वेन व्यङ्गद्यः प्रतीय-मानः, रसादः रसभावादिः । विवक्षितान्यपरवाच्यस्य तदाख्यस्य ध्वनेः, एक बात्मा एकः प्रकारः तस्य ध्वनेः, अङ्गानामङ्गभूतानाम् । वाच्यवाचकानुपा-तिनां वाच्यमर्थं वाचकं शब्दं चानुपातिनाम्, अनुसृत्य वर्तमानानामलङ्काराणाम् अनुप्रासादीनाम् उपमादीनां च ये निरवधयः अनन्ताः प्रभेदाः, ये च स्वगताः स्वमङ्गिनं रसभावादिकमाश्रित्यं वर्तमानस्याङ्गिनः, अर्थस्य व्यङ्यस्यार्थस्य विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता विभावानुभावानां च्यभि- तथाहि—श्रुङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ सम्भोगो विव्रतम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतिवहरणादिलक्षणाः प्रकाराः । विप्रलम्भ-स्याप्यसिलाषेष्याविरहप्रवासविष्रलम्भादयः ।

तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदः । तेषां च देशकाला धा श्रयातस्याभेद इति स्वगतभेदापेक्ष यैकस्य तस्थापरिमेयत्वं कि पुनरङ्गप्रभेद कल्पनायाम् । ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमारी सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥

उज्जीवनी !

चारिणां च प्रतियादनेन सिहताः, रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणाः रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशमनरूपाः अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया स्वस्याश्रय-मपेक्ष्य, निःसीमानः निरवधयः, विशेषाः प्रभेदाः, तेषां प्रभेदानाम्, अन्योन्य सम्बन्धकल्पने परस्परसम्बन्धकल्पनायाम् । अन्यतमस्य बहुष्वेकस्यापि कस्य-चिद् रसस्य प्रकारा भेदाः, परिसङ्ख्यातुं गणियतुं न शक्यन्ते । किमुत कि पुनः सर्वेषां सर्वप्रभेदानां परिगणना सुतरां न शक्येत्यर्थः।

उपपादयति—तथाहीति। अङ्गिनः प्रवानतया व्यङ्ग्यस्य श्रुङ्गारस्यः आद्यौ प्रथमो, द्वौ भेदौ प्रकारौ भवतः—सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति। तत्र प्रथमस्य श्रुङ्गारस्य परस्परप्रेमा स्त्रीपंसयोरन्योन्यालम्बनः चित्तवृत्तिविशेषः, दर्शनं परस्परावलोकनं, सुरतिवहरणिमत्येवमादिरूपाः प्रकारभेदाः विद्यन्ते। द्वितीयस्य विप्रलम्भस्यापि अभिलाषहेतुको विप्रलम्भः, तथा ईव्याविरहप्रवा—सादिहेतवो विप्रलम्भप्रकाराः सम्भवन्ति। तेषां च विप्रलम्भश्रङ्गारभेदानां विभावानुभावव्यभिवारिभेदाश्च। तेषां च विभावादीनां देशकालाद्याश्रया-वस्थाभेदः, देशकालादीनाश्रित्य जायमानानां अवस्थानां भेद इति स्वगत भेदापेक्षया स्वनिष्ठभेदानपेक्ष्यैकस्यापि तस्य शृङ्गारस्य रसस्यः अपरिमेयत्व—मसङ्ख्यता, कि पुनरङ्गभेदकल्पनायाम् अङ्गस्य भेदानां परिगणने, प्रस्तुते किमुवक्तव्यम्। ते ह्यङ्गभेदाः अङ्गभूतानां च विभावादीनाम् अङ्गिनो भेदेन

१. 'लाश्र॰' ख. २. 'यैव त॰' ख. च.

द्वितीय उद्धोत:

दिङ्मात्रं त्च्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् । बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥ १३॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्का-रैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति । तत्र,

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवा न । सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥

उज्जीवनी

सह सम्बन्धस्य योगस्य परिकल्पने क्रियमाऐ। सङ्ख्याने विधीयपाने सति आनन्त्यम् अनन्तत्वमेवोपयान्ति उपगच्छन्ति ॥

दिङ्मात्रमिति । दिङ्मात्रं तूच्यते मार्गप्रदर्शनमात्रं क्रियते । येत मार्ग-प्रदर्शनेन, व्युत्पत्नानां लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणाद् व्युत्पत्तिमतां सचेतसां सहदयानाम् । आसादितालोका बुद्धिः आसादितः सम्प्राप्तः, आलोकः प्रकाशः यस्याः तादृशी मितः सर्वत्र सर्वेषु ध्विनिकाव्यप्रभेदेषु प्रकाशेत एकदेशप्रदर्शनेन सहदयानां बुद्धिः सर्वत्र प्रसरिष्यतीत्यर्थः ।

विशयति—दिङ्मात्रकथनेनेति । दिङ्मात्रकथनेन एकांशवर्णनेन व्युत्तन्नानां काव्यादिदरिशीलनेन समुपगतिनपुणतानां सह्दयानाम् एकत्रापि रसभेदे रसस्य एकस्मिन्नपि प्रकारे अलङ्कारैः सह अलङ्करणैः सह, अङ्गाङ्गि-भावपरिज्ञानाद् अङ्गभावस्याङ्गिभावस्य च विशेषतो विज्ञानाद्, आसादिनानोका आसादित आलोको यस्याः सा बुद्धिः सर्वत्र समुदितालोका भविष्यतीत्यर्थः॥

काव्यस्याङ्गान्याश्रित्याविष्ठमाना अलङ्कारा अङ्गद्वारा अङ्गिन एत्रोत्रकारका इत्युक्तम्। तदेतं प्रतिपादियितुमाह —शृङ्गारस्येति। अङ्गिनो व्यङ्गचत्वेन प्रधानस्य शृङ्गारस्य शृङ्गाररसतां प्राप्तस्यास्वादिषयस्य रत्याख्यस्य स्थायिनो भावस्य सर्वेष्वेव प्रभेदेषु सर्वेष्ववान्तरभेदेषु यत्नाद् यत्नमत्रलम्बय पृथक् प्रयत्नेनेति यावत्। एकरूपानुबन्धवान् एकरूपेण अनु-बन्धेन युक्तः, अनुप्रासः शब्दगतोऽलङ्कारः, न प्रकाशकः न चमत्कारकृत्।

१. 'नात्' च.

अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुशासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैक-रूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह--

ध्वन्यातमभूते शृङ्गारे यमकादिनिवन्धनम् । शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५ ॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाशमानस्तस्मिन् यमकादोनां यमकप्रकाराणां विवन्यनं दुष्करशब्दशङ्गश्लेषादीनां शक्ताविष प्रमादित्वम् ।

उज्जीवनी ।

तदेव विवृणोति -- प्रङ्गिन इति । अङ्गिनः अङ्गित्वेन प्रकाशमानस्य शृङ्गारस्य शृङ्गाररसस्य ये उक्ताः प्रभेदाः, येऽवान्तरप्रकाराः प्रदिश्वताः । तेषु सर्वेषु समस्तेषु तेष्वलङ्कारेषु, एकप्रकारानुबन्धितया एकरूपपदावृत्त्या प्रबन्धेन प्रवृत्तः प्रबन्धगातत्वेन निबद्धः, अनुप्रासः अलङ्कारः न व्यञ्जकः न रसानुगुणः । अङ्गिन इत्यनेन प्रधानभूतस्य रसस्येति कथनेन, अङ्गभूतस्य शृङ्गारस्य, व्यङ्ग्यत्वेऽि इतराङ्गत्वेन, अङ्गभूतस्य शृङ्गारस्य, व्यङ्ग्यत्वेऽि इतराङ्गत्वेन, अङ्गभूतस्य शृङ्गारस्य, विश्वन्धी योऽनुप्रासः, तिश्वन्धने कामचारं यथेष्ठप्रवर्तनाईत्वम् आह कथयति ।

तदेव भूयो विशदीकर्तुमाह्—ध्वन्यात्मभूत इति । शृङ्गारे सम्भोगास्ये, ध्वन्यात्मभूते प्रतोयमानतया प्रधानतया च ध्वनेः प्रकारभूते । यमकादिनिबन्धनम् 'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः, यमकम्' इति लक्षणलक्षितो यः । शब्दालङ्कारो यमकाख्यः । तद्रूपाणां शब्दावृत्तिरूपाणां अलङ्काराणां निबन्धनं निबन्धः शक्तावपि कवेः तन्निबन्धने शक्तिमत्त्वेऽपि प्रमादित्वं प्रमाद एवानवधानतेवेति यावत् । विप्रलम्भे तु विप्रलम्भशृङ्गारे तु विशेषतः प्रमाद एवेत्यर्थः । चित्तवृत्तिरूपाया द्रतेः हेतुभूतं यन्माधुर्यं तस्य करुणे विप्रलम्भे शान्ते चोत्कर्षातिशयदर्शनाद् विप्रलम्भे यमकनिबन्धनमत्यन्तमनुचितमिति यावत् ।

विवृणोति—ध्वनैरिति । ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारः ध्वनेः प्रधानव्यङ्गचस्य प्रकारभूतो यः शृङ्गाररसः, वाच्यवाचकाभ्यां वाच्येन।र्थेनः वाचकेन शब्देन च, तात्पर्येण विवक्षाधीनत्वेन प्रकाश्यमान आविष्क्रियमाणः यः शृङ्गारो रसः

प्रमादित्विमत्यनेनैतद् दर्श्यते—काकतालीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेनिष्पत्ताविप भूम्नालङ्कादान्तरवद् रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति । विप्रलम्भे विशेषत इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते । तस्मिन् चोत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ।

अत्र युक्ति राधीयते —

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् । अपृथम्यत्ननिर्दर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ १६ ॥

उज्जीवनी ।

तस्मिन् शृङ्गारे, यमकादीनां यमकम् आदिः प्रकारो येषां तादशानां, यमकप्रकाराणां मलङ्काराणां शब्दावृत्तिरूपाणां निबन्धनं, दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां
दुष्कराणां पृथक् प्रयत्नापेक्षिणामशवयनिबन्धानां पदभङ्गश्लेषादीनां शब्दाखङ्काराणां, शक्ताविप प्रबन्धुः शक्तिसत्त्वेऽपि प्रमादित्वं प्रमादः । प्रमादित्वमिति
काश्कियां वचनेन स्वयं विवक्षितमाह—प्रमादित्वमित्यनेनेति । प्रमादित्वमित्यनेन प्रमादित्वमिति कथनेन । एतद् दश्यंते विवक्षितं प्रदश्यंते । काकतालीयेन काकतालीयन्यायेन । कदाचित् समये, कस्यचित् कवेः, एकस्य कस्यचिद्
यमकादेः शब्दावृत्तिरूपस्यालङ्कारस्य, निष्पत्ताविप उत्तान्नत्वेऽपि, भूमना
बाहुल्येन, अलङ्कारान्तरवद् अलङ्काराणामन्येषामिन, निबन्धः स्वयंनिबन्धनंन कर्तंब्य इति कर्तुं न युक्तमित्यर्थः । "विप्रलम्भे विशेषतः" इत्यनेन तादशकारिकाभागेन विप्रलम्भे विप्रलम्भशृङ्गारे, सौकुमार्यातिशयः अतिशयतं
सौकुमार्यं ख्याप्यते प्रख्याप्यते । तस्मिन् सौकुमार्यातिशयः वित्रये प्रकाश्यमाने
यमकादेरङ्गस्य अङ्गत्वेन यमकादेरलङ्कारस्य निबन्धः नियमान्न कर्तव्य
इति न निबन्धनीय इत्येव नियम इत्यर्यः ।

विशदो करोति—अत्रेति । अत अस्मिन् विषये युक्तिः अभिधीयते कथ्यते । रसेति । रसाक्षिप्ततया रसाविनाभूतत्वेन, रसान्यथानुपपत्त्या वा, यस्याङ्गस्य बन्धो निबन्धः शक्यक्रियः कर्नुं शक्यः स्वयमेव कृतो भवेत् स्यात् । अपृथग्-

१. 'रिभधी०' ख. ग.

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शवयक्रियो भवेत् सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः । तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः ॥

यथा---

कपोले पत्राली करतलिरोधेन मृदिता निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽघररसः॥ मृहुः कण्ठे लग्नस्तरलयित बाष्पःस्तनतृटीं प्रियो मन्युजीतस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्निर्वर्द्यत्विभिति यो रसं बन्धुमध्यविस्तस्य

उज्जोवनी

यत्निर्वर्त्यः अपृथगचत्नेन पृथग्यत्नेन विनैव निर्वर्तयितुं शक्यः यो भवति, व्वनौ प्रधानतया व्यङ्ग्ये रसे, स एवालङ्कारो मतः सम्मत इति यावत्।

स्वयं विवृणोति । निष्पत्ताविति । निष्पत्तावृत्पत्तौ, आश्चर्यभूतोऽपि कथमयमृत्पन्न इत्याश्चर्यास्पदोभूतः यस्यालङ्कारस्य बन्धो निबन्धनं रसाक्षिप्त-तयेव रसनान्तरीयकतयेव शक्यक्रियः कर्नु शक्यो भवेत् । सतादशः अपृथग्यत्नेन स्वयं निष्पन्नः । अलक्ष्यक्रमञ्यङ्ग्ये ध्वनौ असंलक्ष्यक्रमञ्यङ्गचध्वनौ । अलङ्कारो मतः अलङ्कारत्वेनाभिमतः । तस्यैव अपृथग्यत्ननिर्वृत्तस्यैव तस्य मुख्यं प्रधानं रसाङ्गत्वं रसानुकूलत्विनत्यर्थः ।

उदाहरति—यथेति। क्रोधेन परित्यक्तस्य नायकस्य नायिकां प्रत्युक्तिरि-यम्। कपोले पत्राली पत्रचना। करतलिन रोधेन करतलसम्मर्देन, मृदिता परिमार्जिता, अयम् अमृतहृद्धः अमृतवन्मनोरमः, अधररसः, निःश्वासंनिःश्वास-मरुद्धः निपीतः नितरां पोतः, शोषं प्राप्तः। कण्ठे गले लग्नो निरुद्धः, बाष्पः, अश्रु, स्तनतटीं स्तनयोस्तटीं, मृहुः असकृत्, तरलयित चालयितः है निरनुरोधे, अनुरोधशून्ये, प्रिये, तव ते मन्युः क्रोधः प्रियो जातः, न तु वयं नाहं प्रियो जात इत्यर्थः।

अत्र नायकालम्बनाः नायकत्यागानुभाविता क्रोधसहचरिता रतिः (ईव्या विप्रतम्भशृङ्गारः) प्राधान्येन प्रतीयते । कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्यदाते स न रसाङ्-गमिति ॥

थमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनेव शत्नान्तरपरिग्रह आपतित शब्दिविशेष न्वेषणपरः । अलङ्कारान्तरेष्विप तत् तुल्यिपिति चेत्— नैवम् । अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति ।

उज्जीवनी ।

अत्र प्रियायाः क्रोधस्य प्रियोत्कर्षे रूपो व्यतिरेकालङ्कारः अपृथग्यत्न-निर्वृ तः विप्रलम्भश्रृङ्गारमुपस्करोतीति रसाङ्गत्वम् ।

रसाङ्गत्व इति । तस्य स्वयं निष्पन्नालङ्कारस्य रसाङ्गत्वे सम्भवति, अपृथग्यत्निर्वर्त्यत्वं पृथग्भूतेन प्रयत्नेन विना निव्यूढत्वं लक्षणं तस्यालङ्कार-स्येतिभाव: । इति एव, रसं शृङ्गारादिकं बन्धुं निबन्धुम्, अध्यवसितस्य कृतनिश्चयस्य कवेनिवन्धुः. तां रसानुक्रनतया निबन्धनसमर्थां, वासनां कवित्वबीजरूपं संस्कारविशेषम्, अत्यूद्ध अतिक्रम्य, योऽलङ्कारः, निष्पद्यते, यत्नान्तरमास्थितस्य प्रयत्नान्तरमाश्चितवतः, स तादशोऽलङ्कारो, न रसाङ्गं रसाङ्गत्वं न प्राप्नोतीत्यर्थः: यमके च यमकालङ्कारे तु, प्रबन्धेन अनुस्यूततया बुद्धिपूर्वं तत्परतया, क्रियमाणे विधीयमाने, नियमेन नियतत्वेनेव । शब्द-विशेषान्वेषणरूपः शब्दविशेषस्य यमकत्वप्राप्त्यनुक्करस्य । अन्वेषणात्मकः यत्नान्तरपरिग्रहः, प्रयत्नान्तरस्य स्वीकारः,आपतति अवश्यक्तंव्यो भवति ।

सर्वस्यापि निबन्धनं प्रयत्नपूर्वकमेवेत्याशङ्कते—अलङ्कारान्तरेष्वपीति । अलङ्कारान्तरेषु यमकभिन्नालङ्काराणां निबन्धनेऽभि, तत् प्रयत्नपूर्वकरवं तुत्यं समानिमित चेद् इत्याशङ्कायामुत्तरयित—नैविमिति । अलङ्कारान्तराणि यमकातिरिक्ता अलङ्काराः । निरूप्यमाणानि कविना निरूपितुमुद्युज्यमानानि तथापि दुर्घटानि अघटमानानि घटितानि न भवन्तीति यावत् । तथापि रससमाहितचेतसः रसे रसनिरूपणे समाहितं सश्रद्धं चेतो मानसं यस्य तादशस्य, प्रतिभानवतः नवनवोन्मेषशालिप्रज्ञाविशेषवतः, कवेः काव्यकर्तुः अहंपूर्विकया अहमहिमकया । परापतन्ति स्वयमाविभवन्ति । पृथक् प्रयत्नं

यथा कादम्बर्याकादम्बरीदर्शनःव तरे। यथा च मायारामिशरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ। युक्तं चैतत्, यतो रसा वाज्यविशेषैरेवाक्षेत्रव्याः।

तत्त्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्त्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽल-ङ्काराः । तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसान्निव्यक्ती । यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव । यत्तु रसवन्ति कानिन्दिद् यमकादीनि दश्यन्ते, तत्र रसादीनाः मङ्गता, यमकादीनां त्वङ्गितेव ।

उज्जीवनी।

तान्यलङ्कारान्तराणि नापेक्षन्त इत्यर्थः। उदाहरति – यथेति । कादम्ययाँ कादम्बरीदर्शनावसरे भट्टबाणविरचिते कादम्बयस्यि प्रबन्धे-- "चन्दनविलेपना-मनङ्गरागिणीं च बालां मन्मथजननीं च, मृणालिनीमभ्यर्थिततुषारस्पर्शां च कादम्बरीं चन्द्रापीडो व्यलोकयद् ' इति विरहोत्कण्ठितायाः कादम्बर्या विरह-विप्रलम्भवर्णनावसरे रससमाहि चेतसो बाणस्य अपृथग्यत्ननिवर्निता अलङ्कारा अहमहिमक्या परापतिता दश्यन्ते । उदाहरणान्तरं च यथा—सेतौ सेतुबन्धाख्ये प्रवरसेनविरचिते प्राकृतमहाकाव्ये इन्द्रजिता छित्त्वा प्रदर्शितानि रामादीनां शिरांसि विलोक्य विह्वलायाः सीताया वर्णने चालङ्कारान्तरोपनिपातः दश्यते। तस्य युक्ततामाह—युक्तिमिति । एतत् युक्तं युज्यत एवेत्यर्थः । यत इति । यतो यस्मात् कारणाद् रसा आस्वाद्या रत्यादयः । वाच्यविशेवैरेव अभिषया प्रतिपाद्यमानै रर्थ विशेषे रेव । आक्षेप्तव्याः प्रत्याययितुमहीः । तत्प्रतिपादकैश्च तस्य वाच्यार्थस्य प्रतिपादनाय प्रयुक्तैरेव शब्दैः तत्प्रकाशिनः तैः प्रकाशता-मुपगता:, वाच्यविशेषा एव, वाच्यार्थविशेषा एव, रूपकादयोऽलङ्कारा: रूपका-द्यलङ्कारन्यपदेशभाजो भवन्ति । तस्माद् अपृथग्यत्ननिर्वृत्तत्वात्, तेषा-मलङ्काराणां, रसाभिव्यक्ती रसव्यञ्जने, न बहिरङ्गत्वम् अन्पेक्षितत्वं नासी-त्यर्थः । यमकदुष्करमार्गेषु यमकात्मकेषु दुष्करेषु कुच्छ्रेण कर्तुं योग्येषु, पृथायतनिवंत्येषु मार्गेषु,तद् बहिरङ्गत्वम् अनुपकारकत्वम् स्थितमेव विद्यत एव।

अत्र विशेषमाह—यत्त्रित । रसवन्ति रसानुगुणानि, कानिचिद् यमकादीन्यलङ्करणानि यदि दश्यन्ते, तत्र तादशे स्थलविशेषे, यमकादीनामेव अङ्गित्वं प्राधान्यं, रसादीनां तु अङ्गत्वमेवाङ्गीक्रियते । रसाभासे अनीचिद्रय- रसाभासे चाङ्गत्वमध्यविरुद्धं, अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं पृथग्य-त्निर्वर्त्यत्वाद् यमकादेः ।

अस्यैवार्थस्य सङ्ग्रहश्लोकाः ---

ेरसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् । एकेनैव प्रयत्नेन निर्वेत्यंन्ते महाकवेः ॥ यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते । शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥ रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेनं वार्यते । व्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥

इदानीं घ्वन्यातमभूतस्य शृङ्गारस्य व्यक्तकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते—

उज्जीवनी।

प्रवृते रत्यादी च यमकादोनामङ्गस्यं गुगभावः। अविष्द्धं, न विष्ट्यते।
यनकादेरलङ्कारस्य, पृथग्यत्निर्वर्त्यत्वात् पृथग्भूतेन यत्नेन निष्पाद्यत्या,
अङ्गितया मृष्यत्वेन व्यङ्ग्ये रसे आस्वाद्यविषये रत्यादोः अङ्गःवं रसानुक्रलत्वं
नास्ति। उक्तमर्यं सङ्गृह्य कारिकयः प्रदर्शयितुमाह—प्रस्यवेति। अस्येव
पूर्वोक्तस्यैवार्यस्य सङ्ग्रह्भ्योक्ताः संक्षिप्तपद्यानि। अघो निर्दिष्यन्त इत्यर्थः।
महाकवेः महत् काव्यं रचयितुमुद्युक्तस्य, एसवन्ति प्रतिगाद्यत्या रसयुक्तानि,
सालङ्काराणि अञ्च्छारसहितानि च, कानिचित् कतिगयानि, वस्तूनि काव्यजातानि, एकेनेव यत्नेन एकछ्पेणेव प्रयत्नेन, निवंत्यंन्ते निष्पन्नानि भवन्ति।
अस्य कवेः, यमकादिनिवन्वे तु यमकादोनामलङ्काराणां ग्रयने तु, पृथग् यत्नः,
पृथग्भूतो यत्नः, जायते आवश्यको भवतीत्यर्थः। शक्तस्यापि निवन्धनानुक्क नशिवनमतोऽपि कवेः, एषां यमकादोनामलङ्काराणां, रसे श्रङ्कारादौ, अङ्गत्वम्
अङ्गभावः, न विद्यते नास्ति। तु किन्तु, यमकादेरलङ्कारस्य, रसाभासाङ्गभावः
रसाभासान् प्रति अङ्गत्वं न वायंवे न प्रतिष्टियते। व्वन्यात्मभूते शृङ्कारे
प्राधान्येन प्रतीयमाने शृङ्कारे रसे तु अङ्गता अङ्गत्वं नोपपद्यते न युज्यतः
इत्यर्थः।

१. एतदारभ्य षट् पङ्क्तयः कारिकात्वेन परिगिएताः घ. पाठे.

ध्वन्यातमभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः । रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ १७ ॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते । वाच्या-लङ्कारवर्गश्च रूपकादियवानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित् । अलङ्काराणामनन्त-त्वात् ।

स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमन्थङ्गचस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेर्तुनिष्पद्यते ।

उज्जीवनी

अलङ्काराणां, रसाङ्गस्वं वक्तुमाह—इदानीमिति । इदानीं पृथग् यतनं विना स्वयं प्रवृत्तानाम् अलङ्काराणां वर्गः समूहः, ध्वन्यात्मभूतस्य प्राधान्येन प्रतीयमानस्य शृङ्गारस्य शृङ्गाररसस्य अनुकूल इत्यर्थः । आख्यायते कथ्यत इति यावत् । ध्वन्यात्मेति । ध्वन्यात्मभूते प्राधान्येन व्यङ्ग्ये शृङ्गारे शृङ्गाररसे समीक्ष्य सम्यग्विज्ञाय, विनिवेशितः सन्निवेशितः, रूपकादिः अलङ्कारवर्गः रूपकप्रभृतिः काव्यालङ्कारसमूहः, यथार्थताम् अन्वर्थत्वम् एति प्राप्नोति ।

अलङ्कार इति । अलङ्कारो हि वाच्यस्यार्थस्य चारुत्वहेतुः । रूपकादि-रलङ्कारस्तु, बाह्यालङ्कारसाम्याद् बाह्यः शरीराश्चितैरलङ्कारैः सह साद्यात् चारुत्वहेतुः चमत्कृतिजनकः, उच्यते कथ्यते । वाच्यालङ्काराणां वर्गः सङ्घः यावान् उक्तः पूर्वैर्भामहादिभिः । कश्चित् पश्चात्तनैवंक्ष्यते कथयिष्यते च । अलङ्काराणामनन्तत्वाद् बहुत्वात् । यथा लोके देहालङ्करणानि केयूरादि-विभूषणानि नवनवानि विधृतानि शरीरशोभामातन्वते तथा प्रतिभानवता रससमाहितचेतसा कविना समोक्ष्य विनिवेशितानि रूपकादीनि काव्यं विभूष-यन्तीत्यर्थः ।

स इति । स सर्वोऽि अलङ्कारवर्गः । यदि समीक्ष्य समीक्षापूर्वकं, विनिवेश्यते प्रतिपाद्यते, तत् तिह्नं, सोऽलङ्कारवर्गः अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य असंजक्ष्यक्रमव्यङ्गचाख्यस्य व्वनैः अङ्गिनः प्राधान्येन प्रतीयमानस्य, सर्वस्यैव सर्वप्रकारस्यैव चारुत्वहेतुः चमत्कृतिजनकः, निष्पद्यते निष्पन्नो भवति । एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा -

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गिस्वेन कदा चन । काले च ग्रहणत्यामी नातिनिर्वहणैनिता ॥ १८ ॥ निर्व्युढावि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसावनम् ॥ १६ ॥

रसबन्धेष्वत्याद्यतमनाः कवियेमञङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति । यथा— चलापाङ्कां दष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं रहस्याख्यायीव स्वनसि मृद् कर्णान्तिकचरः ।

उज्जीवनी।

समीक्षाप्रकारमाह—एषा चेति । एषा वक्ष्यमाणप्रकारा च, अस्या-लङ्कारसङ्घस्य, विनिवेशने सिन्नवेशने समीक्षा समीक्षणम् । रूपकादेः रूपक-प्रभृतेः, अलङ्कारस्यालङ्कारवर्गस्य अङ्गत्वसाधनम् अङ्गत्वस्य रक्षाङ्गत्वस्य साधकमुपपादकम् । कि तदित्याह—विवक्षेति । अलङ्कारस्य रूपकादेः, तत्परत्वेन अलङ्कारतात्पर्येण, विवक्षा वक्तुमिच्छा । अङ्गित्वेन रसापेक्षया-प्राचान्येन, न विवक्षा । कदाचिदलङ्कारोऽङ्गित्वेनापि विवक्षितो दश्यते । काले समुचिते समये, ग्रहणं प्रतिगादनम्, अनुचिते काले त्यागः । नातिनिर्व-हणेषिता अत्यन्तं निर्वहणेच्छाभावः । निर्व्यूढावि निर्वहणविषयतासम्भवेऽपि अङ्गत्वे रूपकादेरङ्गत्वे अङ्गभावे, यत्नेन प्रयत्नतः । प्रत्यवेक्षणं समोक्षा । एष्वैककमिष रूपकादेरलङ्कारस्य अङ्गत्वसाधनोपायतां घत्त इत्यर्थः ।

उदाहरति—रसबन्धेष्विति । रसबन्धेषु श्रुङ्गारादिरसनिबन्धनावसरेषु । आदतमनाः आदतमादरवद् मनो यस्य स तथाविधः कविः यमलङ्कारं रूपकादिकं, तदङ्गतया रसाङ्गत्वेन । विवक्षति वक्तुमिच्छति ।

यथेति । चलापाङ्गामिति । हे मधुकर, भ्रमर, चलापाङ्गां चलश्च-श्वलोऽपाङ्गः कटाक्षो यस्यास्ताम् । वेपथुमतीं समुग्जातकम्पां, द्दांष्ट्र नयनं, बहुशः असकृत् स्पृशसि । रहसि विजने, आख्यायोव वदन्निव, कर्णान्तिकचरः

१. 'थञ्च॰' ख.

करी व्याधु भन्वत्याः पिवसि रतिसर्वस्वमधरं वयं तत्त्वान्देषानमधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।।

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः, नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन । कदाचिद् रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽि ह्यलङ्कारः कश्चिदिङ्गित्वेन विवक्षितो इश्यते । यथा—

> चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य । आलिङ्गनोद्दासदिलासवन्थ्यं रतोत्सवं चुम्बनमःत्रशेषम् ॥

उज्जीवनी।

श्रीत्रसमीपे चरन्, मृदु कोमलं, स्वनसि नदसि। करौ बाहू, व्याधुन्वत्याः चालयन्त्याः। रितसवस्वं रतेः सर्वस्वभूतम्। अधरमधरोष्ठं पिबसि। वयमिति राज्ञो वचनम्। तत्त्वान्वेषात् तत्त्वस्य याथार्थ्यस्यान्वेषणात्। हताः पीडिताः। त्वं खलु कृती कृतकृत्यो भवसीति यावत्। शाकुन्तले दुष्यन्तस्य भ्रमरं प्रत्युक्ति-रियम्। अत्र भ्रमरस्वभावोक्तिरङङ्कारः अभिलाषविप्रचम्भशृङ्गाररस-तित्परत्वेनेव विवक्षितः।

अतेति । अत्रास्मिन् पद्ये, भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारः । रसानुगुणः रसाभिव्यक्तेरनुकूल इत्यर्थः । नाङ्गित्वेन न प्राधान्येनैति तत्परत्वेन विवक्षा-मुक्त्वा व्यतिरेकमप्याह । कदाचिदित्यंशं विवृणोति—कदाचिदिति । कदाचित् समयविशेषे, रसादितात्पर्येण, रसभावादितत्परत्वेन । विवक्षितोऽपि वक्तु-मिष्टोऽपि । अलङ्कारो रूपकादिः कश्चिदेकः, अङ्गित्वेन प्राधान्येन, विवक्षितो दश्यते रसानुगुण्येन विवक्षितोऽपि कश्चिदलङ्कारः प्राधान्येन कचिद् विवक्षाविषयः दश्यत इत्यर्थः । उदाहरति—यथेति । चक्रति । चक्रण सुदर्शनाख्येन विष्णु चक्रण, योऽभिघातोऽभिहननं तद्र्पा या प्रसभाज्ञा अलङ्कनीयो नियोगस्तया एव । राहोवंधूजनस्य वघ्वाः, रतोत्सवं रतरूपमुत्सवम् आलिङ्ग-नोद्दामविलासवन्ध्यम् आलिङ्ग-नोद्दामविलासवन्ध्यम् आलिङ्ग-नोद्दामविलासवन्ध्यम् आलिङ्ग-नोद्दामविलासवन्ध्यम् । चुम्बनमावशेषं चुम्बनमेव शेषभूतं यस्मिस्तथाविधं चकारेत्यर्थः ।

१. 'घू०' ख.

अत्र हि पर्यायोक्तस्य। ज्ञित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपि । अङ्ग १त्वेन २ विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे । अवसरे गृहीतिर्यथा—

> उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद् आयासं श्वसनोद्गमैरविरलै³रातन्वतीमात्मनः । अद्योद्यानलतासिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देल्याः करिष्याम्यहम् ॥

इत्यत्र उपगा इलेषस्य ॥

उज्जीवनी !

अत्र पर्यायोक्तस्य व्यङ्ग्यस्य भङ्गचन्तरेणाभिधानरूपस्यालङ्कारस्य रसादि-तात्पर्ये सत्यपि अङ्गित्वेन प्राधान्येन विवक्षा दश्यते ।

यम् अलङ्कारम्, अङ्गत्वेनामुख्यत्वेन, विवक्षितमपि विवक्षाधीनमपि । अवसरे उचितेऽवसरे, गृह्णाति उपादते । नानवसरे अनुचितेऽवसरे नोपाददातीत्यर्थः । अवसरे गृहौतिग्रंहणं यथेति । उदाहरणं प्रदर्शयति—उद्दामेति ।
उद्दामा उद्भूता उत्कल्किः कोरका यस्यास्ताम् । विपाण्डुरक्चं विपाण्डुरा
विशेषेण पाण्डुरा रुक् कान्तियंस्यास्तथाविधाम् । क्षणात् तस्मिन्नेवावसरे,
प्रारब्धगृम्भां प्रारब्धा आरब्धा, जृम्भा विकासो यया तादशीं, अविरलैः
निरन्तरैः, श्वसनोद्गमैः श्वसनस्य वसन्तमारुतस्य उल्लासैः । आत्मनः
स्वस्य, आयासमान्दोलनयत्नम् । आतन्वतीं कुर्वतीं, समदनां मदनेन वृक्षविशेषेण सहिताम्, अद्येदानीम् । इमामुद्धानलताम् उद्धानस्थितां वल्लीम् ।
उद्दामोत्कलिकाम् उद्दामा उत्कलिकोत्कण्ठा यस्यास्ताम् । विपाण्डुरा विशेषेण
पाण्डुरा रुग् वर्णो यस्याः ताम् । क्षणात् तस्मिन्नेव क्षणे, प्रारब्धगृम्भां
प्रारब्धा गृम्भा गृम्भणं मुखविकासो यशा ताद्शीं, अविरलैः धारया प्रवृतैः,
श्वसनोद्गमैः श्वसनस्य निःश्वासमस्त उद्गमैः प्रादुर्भविः, अत्मनः स्वस्य
आयासं हृदयस्थितं सन्तापम् आतन्वतीं प्रकाशयन्तीं, समदनां मदनाविष्टाम्
अन्यां धारिणोतरां, नारीमिव स्वियमिव, पश्यन् अवलोकयन्, देव्या धारिण्याः

१. 'ङ्गि' च २. 'नावि॰' च ३. 'तै॰' ज

गृहीतमिष यमवसरे त्यजित तद् रसानुगुणतयालङ्का रान्तर पेक्षया । यथा—

रक्तस्त्वं नवपस्रवैरहमि श्लाघ्यै: त्रियाया गुणै-स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ता भ्तया गामि । कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्मयाप्यावयोः सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि इलेषो व्यःतिरेकविवक्षया त्यज्यमानौ रसिवशेषं पुष्णाति ॥

उज्जीवनी ।

प्रियायाः, गुलं वदनम् । कोषविपाटलद्युति कोषेन ईष्यजिनितेन, क्रोधेन, विपाटला अरुणा द्युतिः कान्तिर्यस्य तादशम्, अहं करिष्यामि ध्रुवं नृनम् ।

अत्र नार्याः कस्याश्चिदुद्यानलतासाद्दयरूपोपमायाः, भाविन ईर्ष्या विप्रलम्भश्चङ्गारस्यानुगुणत्वेन उचितेऽवसरे दलेषालङ्कारस्य च ग्रहणं कृतम्।

गृहीतिमिति । यम् अलङ्कारं गृहीतमिष स्वीकृतमिष अवसरे उचिते समये, तद्वसानुगुणतया तस्य प्रकृतस्य रसस्यानुगुण्येन, अलङ्कारान्तरापेक्षया अन्यस्यालङ्कारस्य परिग्रहापेक्षायामुपस्थितायां, त्यजित पूर्वगृहोतमलङ्कारं परित्यजित इत्येतदुवाहरित—यथेति ।

रक्तेति । अशोकतरुं प्रति कस्यचिन्नायकस्योक्तिरियम् । हे अशोक ! त्वं नवपल्लवे : नूतनत्योद्गतैः किसलये : रक्तः रक्तवणे । अहमपि श्लाध्यैः श्लाधनीयैः, प्रियायाः प्रेयस्याः गुणैः, रक्तः अनुरक्तः, अस्मि । कि च त्वां (अशोकतरुं) शिलीमुखाः भ्रमराः आयान्ति उपगच्छन्ति । तथा मामपि (नायकम् उद्दिश्य) स्मरधनुर्मुक्ताः स्मरस्य कामस्य, धनुषः चापान्मुक्ताः शिली, पखाः बाणाः, आयान्ति । तथा कान्तापादतलाहृतिः कान्तानां सुन्दरीणां-मुादतलाहृतः पादतलेनाहृतिस्ताडनं तव मुदे सन्तोषाय भवति । स्नीणां पादा-

१. 'क्ताः सखेमा०' खगाचाजा

नात्रालङ्कारद्वयसंनिपातः, किं तिह ? अलङ्कारान्तरमेव दलेषव्यति-रेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेन्न तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्।

यत्र हि क्लेषित्रषयंरेय शब्दैः प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रशितिजीयते स तस्य विषयः:। यथा—'स हिर्निम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ । अत्र ह्यन्य एव शब्दः क्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य । यदि चैवंविवे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत् संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात् ॥

उज्जीवनी !

घातादशोकः पृष्यतीति प्रसिद्धिः। तद्वन्मप्रापि कान्तायाः पादतलेनाहननं मुदं जनयति । एवं सर्वं तुल्यं सदशम् । किन्तु घात्रा विधिना केवलमहं सशोकः शोकसहितः कृतो विहितः । अत्र हि अस्मिन् पद्ये प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि प्रबन्धेनादितः प्रभृति, प्रवृत्तोऽपि इलेष: इलेषालङ्कार:, व्यतिरेकविवसया नायकस्य उपमानादाँ धिवयरूपव्यतिरेकालङ्कारस्य कविमत्युपारोहे सति त्यज्यमान उपेक्ष्यमाणः, रसविशेषं विप्रलम्भशृङ्गारं पुष्णाति पोषयति । आशङ्कते — नात्रेति । अत्र रक्तस्त्वमिति पद्ये । अलङ्कारद्वयसंनिपातः द्वयोरलङ्कारयोः इलेषव्यतिरेकयोः सन्निपातः समबल्दवेन सन्निवेशः। भवत्वत्याशङ्का, न नास्तीत्यर्थः । पुनः किं तदिति पृच्छति—िकं तहीति । यद्यत्र द्वयोस्तुल्यत्वेन सन्निवेशो नानुमन्यते, तर्हि, कोऽसावत्रालङ्कार इति स्वयम। शङ्क्य स्वाभिमतं प्रदर्शयति—अलङ्कारान्तरमेवेति । श्लेषव्यतिरेकलक्षणं श्लेषव्यति-रेकसङ्कररूपम् अलङ्कारान्तरमेवात्र चारुत्वहेतुः । दृष्टान्तमाह—नरसिंहवदिति । नरहरिवपुषोरुभयोरेकत्र साङ्कर्येण यथा नरहरिरूपमेकं शरीरं तथा श्लेष-व्यतिरेकसङ्करात्मक एकोऽलङ्कारो भवत्विति पूर्वपक्षाशयः । समाधत्ते नेति । तस्य सङ्कराख्यस्यालङ्कारस्य, प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात् । अन्येन प्रकारेण, व्यवस्थाया विधानात्। कः स प्रकार इत्याह्—यत्रेति। यत्र यस्मिन् काव्ये, श्लेषविषय एव शब्दे यः शब्दोऽनेकार्थत्वेन श्लेषालङ्कारविषयो भवति तत्रैवेत्यर्थः । प्रकारान्तरेणान्येन प्रकारेणार्थवर्णने, व्यतिरेकप्रतीतिव्यंतिरेका-लङ्कारस्यावगित:, स काव्यरूपः शब्दः, तस्य सङ्करालङ्कारस्य विषय: स्थानम् । उदाहरति - यथेति । स हरिर्नाम्ना स प्रसिद्धः, अच्युतः, नाम्ना हरिरित्युच्यते, देवः प्रकृतो राजा तु सहरिः हरिभिः सह वर्तत इति तादशः

क्लेषमुखेनवात्र व्यतिरेकसत्यमलाभ इति नायं संसृष्टेविषय इति चेत्— न, व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्।

यथा--

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शिष्मा' गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहीन न रहिता नो तमःकज्जलेन । प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो वितः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वोपदीपस्य दीप्तः ।।

उज्जीवनी ।

वरतुरगिनवहेन वराणाम।जानेयानां तुरगाणां निवहेन समूहेन हरिसहितो जात इत्यर्भः । आद्यः स हरिरिति व्यस्तः, द्वितीयः सहरिरिति समस्तः । तथा चात्र सहरिशब्द एक एव विषयः, इलेषव्यतिरेकयोर्वाचकः । अत्र 'रक्तस्त्वमिति पद्य, अन्य एव शब्दः रक्तः इत्यादिः शब्दः, श्लेषस्य श्लेषालङ्कारस्य विषयः। अन्यः अशोकः सशोकः इत्यादिरिति भेदः । नन्वत्र सङ्कर एवालङ्कार इत्याशङ्कते - यदि चेति । एवविधे विषये, सहरिरित्यादौ, अलङ्कारान्तर-त्वकल्पना [नीरक्षीरन्यायेन।स्फुटभेदालङ्कारद्वयमेलने सङ्करः। सचाङ्गा ङ्गिभावेन, समप्राधान्येन, सन्देहेन, एकवाचकानुप्रवेशेन, च चतुर्विधः। तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्य भेदालङ्कारमेलेने संसृष्टिः] यदि क्रियते यद्यङ्गीक्रियते । तस्य फलमाह—संसृष्टेरिति । संसृष्टेस्तद। ख्यस्यालङ्कारस्य विषयापहार एव स्यात्, कचिदिप संसृष्टिर्न भवेदित्यर्थः। अभ्युपगम्याह्-क्लेषेति। अत्र सहरिश्तियत्र श्लेषमुखेन श्लेषालङ्कारद्वारैव, व्यतिरेकस्य व्यतिरेकालङ्कारस्य, आत्मलाभः स्वरूपप्राप्तिः। इति एतेन हेतुना, नायं संसुष्टेविषयः एतादशस्थले यत्र स्वतन्त्रेण केनचिदलङ्कारेण अलङ्कारान्तरस्य माप्तिः, तत्र संसृष्टेः प्रतिभैव नास्तीति, नात्र संसृष्टिरलङ्कारो मास्त्वित्यर्थः। समाधत्त-नित । व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेण।पि, इलेष।दिना साम्यप्रतिपादनं, विनापि सम्भवस्य, दर्शनात्। तदेवोदाहरणेन दर्शयति-यथेति। नो इति। सूर्यशतकस्थितं त्रयोविशं पद्यमिदम् । अदयरयदलत्क्ष्माघरस्य अदयेन निर्देयेन, तीव्रेण रयेण वेगेन, दलन्तः शीर्यमाणाः क्ष्माघराः पर्वता यस्मिन् तथाविधस्य

१. 'ग'. ख.

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दिशतः।

नात्र क्लेषमात्राञ्चारुत्वप्रतीति रस्तीति क्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वा न्न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम् । यत एवंविये विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादितात् चारुत्वं दश्यत एव ।!

उज्जीवनी।

कल्यापायवायोरिप कल्पस्य योऽपायोऽन्तस्तस्य वायोः प्रलयमारुतस्यापि, नो शम्या अविनाश्या, अहिन दिवसे, गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीः गाढं यथा तथा, उद्गीर्णा उज्ज्वला दीप्ता श्रीयंया तास्शी, तमःकज्जलेन अन्धकाररूपेण कज्जलेन न नो रिहता रिहतंबेत्यर्थः। पतङ्गात् सूर्यात्। प्राप्तोत्पत्तिः प्राप्ता उत्पत्तिर्यया तास्शो, मोषं निर्वाणं, पुनः नोपगता न प्राप्ता, निष्तिलद्वीपदीपस्य निखिलानां समस्तानां, द्वीपानां जम्बूप्रभृतीनां, दीपस्य प्रदीपस्य अन्यरूपा विलक्षणा वितः वित्रूपा उष्णित्वषः सूर्यस्य, दीप्तिः कान्तिः वो युष्मान् सुखयतु सुखिनः करोतु।

अत्रेति । अत्र अस्मिन् पद्ये, साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनेव साम्यस्य साद-दयस्योपमायाः प्रपञ्चेन विस्तरेण प्रतिपादनं स्वशब्देनाविष्करणमकृत्वेव । व्यतिरेकः सूर्यकान्तेक्तकर्षात्मको व्यतिरेकालङ्कारो दिश्वतः प्रदर्शितः ।

इदं तु तत्त्वम् । अत्र वाचकशब्देनोपमा नाभिहिता । नानार्थशब्दस्थले प्रकरणादिभिः प्राकरणिकेऽर्थे प्रथमतया बुद्धचारूढे वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्टय-वशादर्थान्तरस्य प्रतीतौ सत्यां तयोरर्थयोः रुलेषालङ्कारविषयत्वमेव प्रामा-णिकैरलङ्कारशास्त्रकारैरम्युपगतम् । एवमेकेन वाक्येन प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुभयोरर्थयोर्बोधे वाक्यभेदापत्त्यास्य वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रासाङ्क्षीदिति तयोरुपमानोपमेयभावश्च तैः कल्प्यते । अतश्च प्रतीयमानेनैव साद्ययेनात्र व्यतिरेकोऽङङ्कारतां भजते । तथा च श्लेषमात्रेणात्र चारुत्व-प्रतीतिनीस्ति । किन्तु तदुपस्थापितेन साम्यप्रतिपादनेनैव ।

इलेषस्य पृथगलङ्कारत्वमाशङ्कते — नात्रेति । अत्र 'नो कल्पापाये' त्यादिपद्ये । इलेषमात्रात् इलेषालङ्कारमात्रात्, चारुत्वप्रतीतिश्चमत्कृतिजनक-

१. 'त्वंन' ख. च. ज.

यथाः—

आक्रन्दाः स्तिनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-स्तिद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तिडिद्विभ्रमैः । अन्तर्मे दियतामुखं तव शशी वृत्तिः समैदावयो-स्तत् कि मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेदोद्यतः ॥

इत्यादी ।

इज्जीवनी

त्वबोधः, नास्तोति हेतोः, क्लेषस्य व्यतिरेकालङ्कारं प्रत्यङ्गत्वेनैव, अत्र क्लेषाभावे व्यतिरेकस्याप्रादुर्भावेन, विवक्षितत्वाद् विवक्षाधीनत्वाद् । न स्वतोऽलङ्कारता क्लेषस्यात्रालङ्कारत्वेन परिगणना नास्ति । समाधत्ते—न वाच्यमिति । क्लेषस्य विविक्तविषयत्वमस्त्येवेति भावः । हेतुमाह—यत इति । यतः यसमात् कारणात् । एवंविधे विषये प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोः साम्यमात्रादिष, सुप्रतिपादितात् क्लेषस्य साहाय्यं विनेव, सम्यक् प्रतिपादितात् केवलं साद्दयात्, चारुत्वं चमत्कारातिशयो द्वयत एव । क्लेषविनाकृतेनैव साद्दयेन उपमारूपेणोद्भूताद् व्यतिरेकादिष चारुत्वं दृश्यत इत्यर्थः ।

उदाहरति —यथेति । आक्रन्दा इति । कस्यचिद् विरहिणो मेघं प्रत्युक्ति-रियम् । हे जलघर, हे मेघ, मम आक्रन्दाः, स्तिनितः मेघर्गाजतैः, तुल्याः सदशाः । तुल्यशब्दोऽत्रोपमावाचकः । विलोचनजलानि विलोचनाभ्यां नेत्राभ्यां प्रस्नवित्ति असूणि, अश्रान्तधाराम्बुभिः अश्रान्तमिवच्छेदेन, प्रवहद्भिः घारा-रूपेर्वृ ष्ट्युदकैस्तुल्यानि । ति इच्छेदभुवश्च तस्या नायिकाया विच्छेदेन विरहेण भवन्ति इति तादशाः, शोकशिखनः शोकाग्नयश्च, ति इदिश्वमैः सौदामिनी-विलासेः तुल्याः । तथा मे मम, अन्तः हृदये, दियतामुखं दियताया भार्याया वदनं, तव तु अन्तः अन्तर्भागे, शशी चन्द्रः । एवम् आवयोः विरहिणो मेघस्य च समा तुल्येव वृत्तिः वर्तनम् । तत् तथापि, सखे, मित्र, मेघः त्वं माम् अनिशं सर्वदा, दग्धुं पीडियतुमित्यर्थः । कि किमथंमुद्यतोऽसि उद्युक्तोऽसि । इत्यादाविति एवमादिस्थले, श्लेषं विनैव केवलयोपमया व्यतिरेकप्रतीतिः सम्भवतीति श्लेषस्य विविक्तविषयत्वमुपपादितम् । रसिनर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोदुमिच्छति । यथा—

> कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाक्षेत बद्ध्या दढं नीत्वा वासनिकेतनं दिख्तया सायं सखीनां पुरः । भूयो नैविमिति स्खलत्कलिशा संस्च्य दुक्ष्चेष्टितं धन्यो हत्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रस^२पुष्टये । निर्वोद्धिमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते । यथा—

उज्जीवनी ।

नातिनिर्वहणैषित्वं प्रतिपादयति — रसेनि । रसिन्वहणैकतानहृदयः रसस्य रसभावादेः, निर्वहणे निर्वाहे, एकतानमनन्यवृत्ति हृदयं यस्य तथाविधः, किविरिति शेषः । यं चालंकारम्, अत्यन्तं सम्यक्तया, निर्वोहं नेच्छिति नाभिल-षित, तादशस्यापि रसभाव।देरङ्गभूतस्यालङ्कारस्य अलङ्कारत्वं, ध्वनिका-राभिमतिमत्यभिप्रायः । उदाहरित — यथेति । कोपादिति । 'सायमपराह्णो, कोमललोलबाहुलितकापाशेन कोमलया मनोहारिण्या, लोलया च बाहुलितकया तद्रपेण पाशेन, रज्ज्वा । दढं यथा भवित तथा । कोपाद् बद्ध्वा, वासनिकेतनं नीत्वा, सखीनां वयस्यानां, पुरोऽग्रे भूयः पुनरिष, एवं न कुर्या इति स्खलत्क-लिगरा स्खलन्ती कला मधुरा, गीर्वाग् यस्यास्तादृश्या दियतया प्रेयस्या, दुश्चेष्टितं दन्तक्षतादिरूपम् असच्चेष्टितं, संसूच्य सम्यक् सूचित्वा, धन्यः प्रेयान् हसन् निह्नुतिपरः अपह्नवतत्परः, हन्यत एव ताडचत एव ।।

अत्र बाहुलतिकायाः पाश्वत्वेन रूपणमुपक्रान्तं, तथापि रसस्य विप्रलम्भ-शृङ्गारस्य पुष्टये परं परिपोषायैव, अनिव्यूढं निर्व्यूढं न कृतमित्यर्थः। अत्रोपक्रान्तस्य रूपकस्य निर्वहणमत्यन्तमनुचितमेव भवेत्।

निर्वहणेच्छायामलङ्कारस्य स्थानमाह—निर्वोद्धमिति । निर्वोदुमारब्ध-स्यालङ्कारस्य निर्वहणाय, इष्टमि इच्छाविषयमिप, यमलङ्कारमङ्गत्वेन

१. 'मोहनमन्दिरं' द॰' ख.

२. 'सपरिपु०' ख. ज

श्यामास्वङ्गं चिकतहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् । उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीयीचिषु भ्रूविलासान् हन्तैकस्थं कचिदपि न ते भीरु सादश्यमस्ति ॥

इत्यादौ---

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिन्यक्तिहेतुः कवेर्भवति । उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यते । लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्विप दश्यते बहुशः॥

उज्जीवनी ।

प्रत्यवेक्षते रसाङ्गत्वेन पर्यवसाय यितुं यतते । उदाहरति — यथेति । श्यामास्विति । हे भीर, श्यामासु प्रियङ्गुलतासु, ते अङ्गं, चिकतहरिणीप्रेक्षणे भयसम्भान्ताया हरिण्याः प्रेक्षणे ईक्षणे ते दृष्टिपातं नयनव्यापारम् । शिशिन चन्द्रे, वक्त्रच्छायां वक्त्रस्य मुखस्य छायां कान्ति, शिखिनां मयूराणां बर्हभारेषु पिञ्छकलापेषु केशान् केशपाशान् नदीवीचिषु नद्या वीचिषु तरङ्गेषु भूवि-लासान् भुवोविलासान् च उत्पश्यामि सम्भावयामि । तथापि एकस्थम् एकत्र स्थितं ते सादश्यं कचिदिष कुत्रापि नास्ति ।।

अत्र विरही कश्चित्रायकः पृथक् पृथगुत्प्रेक्षाजीवातुभूतं साद्श्यमवलोक-यन्नप्येकत्र स्थितं सर्वसाद्श्यमपश्यन् स्वकीयं वैद्धब्यं प्रकाशयति ।

अत निर्वहणायेष्टमप्युत्प्रेक्षालङ्कारं यत्नेन विप्रलम्भशृङ्गारस्याङ्ग-त्वेनावस्थापयति ।।

एवं पूर्वोपदिशतप्रकारेण, कवेः काव्यकर्त्तुः, उपनिबध्यमानः किन्सम्बिष्धि किन्तुं वं यदुपिनवन्यनं तिद्वषयः किन्ना प्रतिपाद्यमानः इत्यर्थः। अलङ्कारो रूपकादिः, रसाभिव्यक्तिहेतुः रसस्य रसभावदेः अभिव्यक्ती प्रत्यायने, हेतुः कारणं भवति। उक्तप्रकारातिक्रमे तु उक्तो यः प्रकारः रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य रसाङ्गत्वेन समीक्ष्य विनिवेशनरूपः तस्यातिक्रमेऽतिक्रमणे तु नियमेनैव नियतमेवः रसभङ्गहेतुः रसस्य यो भङ्गः विच्छेदः, तस्य हेतुः कारणम्। सम्पद्यते सम्पन्नो भवति। तथाविधं लक्ष्यं याद्शेन लक्ष्येणः रसभङ्गः

तत्तु स्क्तिसहस्रद्योतितात्मनां महा त्मनां दोषोद्धोषणमात्मन एव दूषणं भवतोति न विभष्य दिशितम् । किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग् दिशता तामनुसरन् स्वयं चान्यस्रक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यस्यक्रम प्रतिभमनन्तरोक्तमेनं व्वने रात्मान मुपिन बद्याति सुकविः सना- हितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति ॥

क्रमेण प्रतिभात्यातमा योऽस्यानुस्वानसन्निभः। शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥ २० ॥

एजजीवनी ।

परापतित ताद्यां, महाकविप्रबन्धेष्वेव महाकवीनां महाकविपदवीमधितिष्ठतां प्रबन्धेषु शब्दसन्दर्भात्मकेषु काव्येषु, बहुशः अनैकधा दृश्यते, अवलोक्यते। सूक्ष्मेक्षिकया परोक्ष्यमाण तथाविधं लक्ष्यं बहुशो दृश्तत इति यावत्। तथापि तहचनमात्मन एव दोषाविष्करणमिति मन्यमान आह—तत्त्वित। सूक्ति-सहन्नद्योतितात्मनां, यतस्ते महाकवयः सूक्तीनां सुभाषित।नां सहस्रः द्योतिता आत्मानो यस्ते सूक्ति पहस्रेण प्रकाशमाना बिद्यन्ते तेषां महात्मनां महतां, दोषोद्धोषणं दोषाविष्करणसंरम्भः आत्मन एव स्वस्यैव दूषणं दोषाविष्करणं भवति परिणमेदिति विभज्य पृथक्कृत्य न दिश्तं न प्रकाशितम्। स्वाशयं प्रकाशयित—किन्त्वित । पूर्वेरलङ्कारशास्त्रकांरैः सहदयश्लाध्यार्थप्रिनपाद-कस्य शब्दसन्दर्भस्य काव्यत्वमङ्गीकृतम्। तत्राभिधेयस्याप्यथंस्य सहदयश्लाध्यत्वन तद्वपस्कारका रूपाव्यत्वमङ्गीकृतम्। तत्राभिधेयस्याप्यथंस्य सहदयश्लाध्यत्वन तद्वपस्कारका रूपाव्यत्वमङ्गीकृतम्। तत्राभिधेयस्याप्यथंस्य सहदयश्लाध्यत्वन तद्वपस्कारका रूपाव्यत्वमङ्गीकृतम्। तत्राभिधेयस्याप्यथंस्य सहदयश्लाध्यत्वन तद्वपस्कारका रूपाव्यत्वमङ्गीकृतम्। तत्राभिधेयस्याप्यथंस्य सहदयश्लाध्याव्यत्वन प्रवित्त विभज्य प्रदिश्ताः।

काव्यप्रकाशकारादिभिश्च काव्यलक्षणे "तददोषौ सगुणावनलङ् कृती पुनः कािप" इत्यादिना गुणानामलङ्काराणामभावप्रतियोगित्वेन दोषाणामि प्रवेशः कृतः । घ्वनिकारेण न तथा अलङ्कारादयः पृथक् प्रदिश्तिताः । येऽन्यै एका रूप कादयोऽलङ्कारास्तेऽङ्गीक्रियन्ते । किन्तु सामान्येन प्रमतानुसारेण काव्यमलङ्कुर्वाणानामिष तेषां रसादिव्यञ्जकत्वे सत्येव तत्त्वमङ्गीक्रियते । एव रूपकादे: रूपकप्रभृतेः, अलङ्कारवर्गस्यालङ्कारसमूहस्य रसादिविषये

१. 'हतां दो०' ज २. 'पिततम०' च 'प्रतिभास्वस्य तु ध्व०' ज

अस्य वितक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः १संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलक्ष्येति द्विप्रकारः ।

उज्जीवनी।

व्यञ्जकत्वे रसादिव्यञ्जकत्वे येयं लक्षणादिण् समीक्ष्ययिनिवेशनरूपो यो निरू-पणमागः। प्रदेशित आविष्कृतः, तां दिशमनुसरन् तदनुसारेण, अन्यल्रक्षण-मुत्रेक्षमाणः स्वतन्त्रं लक्षण सम्भावयन्, अलक्ष्यक्रमप्रतिभम् अलक्ष्यो न लक्ष्यः क्रमः यस्यास्तादशी, प्रतिभा प्रतिभानं यस्य तथाभूतम्। अनन्तरोक्तमनन्तर-मेवाव्यवहितपूर्वभावेनेव कथितं व्वनेरात्मानं व्वनेः काव्यात्मनः स्वरूपं, समाहितचेताः समाहितं सम्यगाहितं चित्तं यस्य तादशः, मनः समाधायेत्यर्थः। सुकविः उपनिबद्धनाति काव्यं सुकविः निबद्धनाति यदि, तदा तस्य सुकवेः महान् आत्मलाभो भवति महतो कृतकृत्यता भवति इति अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-द्वितिन्द्षितः।

अथ संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचध्वित निरूपियतुमुपक्रमते कमेणेति। अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः। अनुस्वानसंनिभः घण्टायां वाद्यमानायां प्रधानशब्द वितेष्यनन्तर यथा क्षोदीयानपरोऽनुरणनानुस्वानप्रतिध्वन्यादिपदाभिधेयः शब्द विशेषः प्रतीयते तत्सिन्नभस्तत्सद्दशः। य आत्मा यः प्रकारः, क्रमेण पौर्वापर्येण, प्रतिभाति प्रतीयते सोऽपि विवक्षितान्यपरवाच्यस्य संलक्ष्यक्रमाख्यो यो भेदः सोऽपि शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् शब्दशक्तिमूलत्वादर्थशक्तिमूलत्वाद्भ्, द्वेषा द्विप्रकारः। व्यवस्थितः द्वेविध्यं प्राप्त इत्यर्थः। तदेव विवृणोति—अस्येति। अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः, अभिधामूलध्वन्याख्या यो भेदः तस्य, संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचत्वात् अनुरणनप्रख्यः अर्थयोः पौर्वापर्यक्रमस्य संलक्ष्यत्वाद-नुरणनघ्विनव्यपदेश्यः य आत्मा प्रकाराः सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्ति-मूलक्षेति द्विप्रकारः द्विविध इत्यर्थः, योऽयं शब्दशक्तिमूलध्वनिरित्युच्यते स च नानार्थस्यले सम्भवति। तत्र च शब्दस्य सर्वेष्वर्थेषु शक्तिः समाना । प्रकरणादिवशादिभिषया प्राकरणिकार्थबोद्यानन्तरं द्वितीयो योऽर्थोऽप्राकरणिकः

१. 'सक्र ०' ख

नन् शब्दशक्तया यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ६३नेः प्रकार उच्यते तदिदानी इलेबस्य विषय एवापहृत: स्यात् ॥

नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्तचा प्रकाशते । यस्मिन्नतुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ २१ ॥

यस्मादत्रङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्तचा प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो व्वनिरित्यस्माकं विवक्षितभ्।।

वस्तुद्वये च शब्दशक्तचा प्रकाशमाने श्लेष:। यथा— येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।

उज्जीवनी

तस्य व्विनित्वे दोषमाशङ्कच समाधत्ते—निविति । शब्दशक्तचा शब्दादिभिधया, यत्र यिसम् काव्ये, अर्थान्तरं प्रकाशते अप्रकृतोऽर्थः तस्यैव शब्दस्य शक्तचा प्रतिपाद्यमानोऽन्योऽर्थः । स यदि व्वनेः प्रकारः व्वितिप्रभेद इति यदि उच्यते, तत् तिहं, श्लेषस्य श्लेषाख्यस्य नानार्थंसश्रयस्यालङ्कारस्य विषय एवापहृतः स्यात् श्लेषाख्योऽत्रङ्कार एव न स्यात् । इयमाशङ्का । समाधानं तु नापहृत इति । एतिह्रशदीकरणायाह —इत्याहेति । समाधानमेवाह आक्षिप्त इति । हि यतः, यस्मिन् काव्येः शब्देन वाचकशब्देन, अनुक्तोऽनिधिहृतः, अलङ्कारो रूपकोपमादः, शब्दशक्तचा शब्दस्य द्वितोयार्थवोधनसामर्थ्यवशाद्, आक्षिप्त एव प्रतीयमान एव, प्रकाशते प्रकटो भवति, स शब्दशक्त्युद्भवः शब्दशक्ति- मूलव्वनिरित्युच्यते ।

विवृणोति—यस्मादिति । यस्माद् यतः, अलङ्कारो रूपकादिः, न तु वस्तुमात्रं न तु द्वितीयोऽर्थः, यस्मिन् काव्ये यत्र काव्यविशेषे, शब्दशक्तया शब्दस्य शक्तया, अर्थान्तरबोधनसामध्येन, प्रकाशते भासते, स शब्दशक्तया ध्विनिरिति शब्दशक्तिमूलध्वनिरिति, अस्माकं विवक्षित वक्तुमिष्टं, शब्दस्य शक्तया यत्र वस्तुद्वयं प्रकाशते तत्र श्लेषः अलङ्कारः, स श्लेषालङ्कारस्य विषयः । उदाहरति—यथेति । विष्णुपक्षे—

येन व्वस्तम् अनोऽभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो

यस्याहु: शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः, पायात् स स्वयसन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

उज्जीवनी ।

यश्चीद्वृत्तभुजङ्गहा रवलयोऽगं गां च योऽघारयत्। यस्याहु: शिष्मिच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो नाधवः॥

येन देवकीतनयत्वेनावतीणेंन विष्णुना, अनः शकटं, तद्व रक्षः, कंसेन कृष्णनिग्रहाथं प्रेषितं, व्वस्तं नाशितम्, अभवेन अजातेन बलिजित्कायः दिलनोऽसुरान्
जयतीति तादशः कायो देहः, पुरा अमृतमथनसमये,स्त्रीकृतः मोहिनीरूपं प्राप्तिः
यश्च उद्वृत्तभुजङ्गहा उद्वृत्तं धूर्तं भुजङ्गं कालियाख्यं सर्वं हन्तीति तादशः ।
रवलयो रवे शब्दे लयो यस्य तथाभूतः । अगं गोवर्धनपर्वतं, गां च हिरण्याक्षेणापहृतां भूमि वराहरूपेणावतीयं यो विष्णुरक्षारयत् । यस्य विष्णोः अमरा
देवाः, शशिमच्छिरोहर इति शशिनं पूर्णिमाचन्द्रं मध्नातीति तादशस्य शिषमथः
राहोः शिरः शीर्षं हरतीति तथाविषः, इति स्तुत्यं प्रशंसाहं नामाहुः कथयन्ति ।
अन्धकक्षयकरः अन्धकानां यादवानां, क्षयं नाशां, करोतीति तादशः, सर्वदः
सर्वाभीष्टप्रदायकः, माधवो माया लक्ष्म्याः धवः पतिविष्णुः, त्वां स्वयं पातु
रक्षतु ।

शिवपक्षे—येन शिवेन, ध्यस्तमनोभवेन ध्वस्तः भस्मसात्कृतः मनोभवो मन्मथो येन तथाभूतेन, पुरा त्रिगुरदाहसमये, बलिजित्कायः बलिजितो विष्णोः कायो देहः अस्त्रीकृतः शरः कृतः, तथा यः शिवः, उद्वृत्तभुजङ्गहारवलयः उद्वृत्ता वर्त् लाकाराः, भुजङ्गा एव हारावलयानि च यस्य तादशः, गङ्गां च भागीरथीं च यः शिवः, अधारयत्; यस्य शिवस्य शिरः शशिमञ्चन्द्रयुक्तम्, अमरा देवाः, यस्य स्तुत्यं स्तवाहं, नाम नामधेय, हर इति चाहुः वदन्तिः, सः तादशः, अन्धकक्षयकरः अन्धकासुरस्य क्षयं नाशं करोतीति तादशः उमाधवः उमायाः पार्वत्याः, धवः पतिः, त्वां सर्वदा सर्वस्मित्रि काले स्वयं पायाद् एक्षतु । अत्र क्लेषोऽलङ्कारः । श्रुत्यं क्यार्थप्रतिपादनं क्लेषः । अत्रेकया श्रुत्या विष्णुः पायात्, शिवः पायादिति चार्थद्वयस्याप्यभिधानात्, द्वयोरिय स्तोतव्यत्वेन प्रकृतत्वानपायाञ्च श्लेषोऽलङ्कारः ।

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामिष इलेषव्यपदेशो भवतीति वर्शितं भट्टोद्भ टेन । तत् पुनरिष शब्दशिक्तमूत्रो ध्विनिरवशाश इत्याशङ्क्थेदमुक्तम् 'बाक्षिप्त' इति ॥

उज्जीवनी।

अाक्षिप्तत्विविशेषणव्यावन्यं प्रदर्शयति -- निविति । अत्र भट्टोद्भटः --

एकप्रयत्नोञ्चार्याणां तच्छायां चैव बिग्नताम् । स्वरितादिगुणैभिन्नैबैन्धः श्लिष्टिमहोच्यते ॥ अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः। द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम् ॥

इति श्लेषाख्यमलङ्कारं लक्षितवान् ।

तस्य चोदाहरणम्—

स्वयं च पल्लवातास्त्रभास्वत्करविराजिनी । प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥

अत्र भगवती, किसलयवदाताम्री, भास्वन्तौ दीप्तिमन्तौ यौ करौ हस्तौ ताभ्यां विराजते । प्रभातसन्ध्या तु, पल्लववद् आताम्रैः सास्वत आदित्यस्य करैमंयूखेविराजते । अत्र चोभयत्रापि हलादीनां साम्यम् । अतस्तन्त्रेणोच्चारणस्य सम्भवादयमर्थश्तेषः ।

अस्वापफललुब्बेहितप्रदेत्यत्र तु भगवतीपक्षे—अस्वापे सुखेनाष्तुमशवये फले, लुब्बेम्यः ईष्सितं प्रददातीत्यर्थः । प्रभातसन्ध्यापक्षे तु—स्वापस्य निद्रानुभवस्य फले श्रमनिवृत्तिलक्षणे यो न लुब्बः सन्ध्योपासनप्रवृत्तत्वात् तद्विषयं हितमद्ब्दं समर्पयतीति तथाविधेत्यर्थः । अत्रैकस्मिन् पदे समुच्चारिते शब्दान्त रस्य तत्साद्द्यात् प्रतिपत्तिः । अतोऽयं शब्दश्लेषः ।

एतयोश्च हुँद्वयोरिप अर्थश्लेषशब्दश्लेषयोरुगमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वम् । प्रभातसन्ध्या ह्यत्रोपमानम् । भगवती उपमेया । इव शब्द उपमानोपमेयभावं द्योतयति । शब्दव्यतिरेकेण तु साधारणो धर्मोऽयीधिकरणोऽत्र न विद्यते । तैन नेयमुपमा । अपि तु इलेष उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः । द्विविधस्यापि इलेषस्य

तदयमर्थः —यत्र शब्दशक्तचा साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः इलेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्तचा सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्गचमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स व्वनेविषयः॥

उज्जीवनी ।

अर्थद्वयप्रतीत्यविनाभावेनेवालङ्कारत्वाभ्युपगमाद्याश्रितत्वेन।थालङ्कारत्या अलङ्कारसर्वस्वकारादिभिरथालङ्कारत्वेन परिगणना कृता । अलङ्कारान्तर-प्रतिभायामपि श्लिष्टेन पदेनार्थद्वयस्य प्रतिपादनेऽपि तावन्म।त्रे चमत्कृतिजन-कत्वस्य विश्वान्त्यभावात् तत्नालङ्कारान्तरस्योपमादेः प्रतिभानं तत्रापि, क्लेषस्यपदेशः क्लेषस्यवालङ्कारत्वाभ्युपगमो भवति इति भट्टोद्भटेन स्वकीये काव्यालङ्कारसङ्ग्रहे प्रतिपादितम् । तत् तस्मात् । पुनरपि क्लेषण यत्नार्था-नत्तरस्य प्रतिभोत्पद्यते तत्रार्थान्तरस्यालङ्कारान्तरात्मकस्य क्लेषादेव प्रतीत्या, तादशस्थले क्लेषस्यैवालङ्कारत्वं मुख्यमिति वचने शब्दशक्तिमूलध्वनिनिरव-काश इत्याशङ्कायाम् 'आक्षिप्त' इत्युक्तम् ।

विशेषणस्य सार्थवयं प्रदर्शयति—तदिति । तदयमर्थः—यत्र यस्मिन् काव्ये (पद्ये) शब्दशक्तचा शब्दस्य योऽभिधाल्यो व्यापारस्तेन, साक्षात् तस्मादेव शब्दात् । अलङ्कारान्तरम् उपमाद्यातमकं, वाच्यं सद् वाचकशब्दबोधितं सत्, प्रतिभासते प्रतिपाद्यते, स सर्वः श्लेषविषयः तत्रैव श्लेषव्यपदेशः । यत्र तु यस्मिन् काव्ये, शब्दशक्तचा, सामर्थ्याक्षिप्तं तस्यैव शब्दस्यार्थान्तरबोधकत्व-सामर्थ्याद् आक्षिप्तं व्यञ्जनागम्यं, वाच्यव्यतिरिक्तं वाच्यभिन्नं, व्यञ्जचमेवान् जङ्कारान्तरम् उपमाद्यात्मकं प्रकाशते स ध्वनेविषयः तदेव काव्यं शब्दशक्ति-मूलध्वनिव्यपदेशमहंतीत्यर्थः ॥

अत्रेदमवधेयम् भट्टोद्भटकृते श्लेषोदाहरणपद्ये उपमादेखाङ्कारान्तरस्य प्रितिभानिमवादिशब्दैरिभधीयमानमेव प्रदिश्तिम्। तत्र च काव्यालङ्कारः श्लेषो वा, उपमा वा प्राधान्येन परिगणनीयेति सन्देहे श्लेष एवालङ्कारस्तत्र व्यपदिश्यत इत्युक्तम्। उपमादेस्तत्र व्यङ्गचत्वस्यैवाभान्न तत्र ध्वनिः सावकाशो भवति । अतस्तादशस्थले ध्वनैः सावकाशत्वसम्पादनायाक्षिप्तत्वविशेषण-मित्युक्तं चिन्त्यम्।

शब्दशक्तयाः साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा— तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ। जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ।

अत्र शृङ्ग।रव्यभिचारी विस्मयाख्यो भाद: साक्षाद विरोधालङ्कारआ प्रतिभासत इति दिरोधच्छायानुग्राहिणः इतेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपम-ज्यङ्गचस्य घ्वने:।।

अलक्ष्यक्रम⁹व्यङ्गचस्य तु ध्वनेर्वाच्येन इलेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव । यथा ममैव—

उज्जीवनी ।

शब्दशक्त्येति—शब्दस्य नानार्थस्य शक्तचा सङ्केतितत्वेनैवार्थान्तर-स्यालङ्काररूपस्य प्रतिभानं दर्शयित—यथेति। तस्या इति। तस्या नायिकायाः पयोधरौ वक्षाजौ, हारेण स्रजा विनापि हारिणौ हारवन्ताविति विरोधः, अपिशब्देन वाच्य एव भवति। वस्तुतौ वास्तवस्य विरोधस्यालङ्कारत्वं नास्ति। अतस्तत्परिहारः, हारिशब्दादर्थान्तरबोधने सति भवति। हरतः (हृदयं) इति हारिणौ रमणीयावित्यर्थः। अत्र श्लेषेण विरोधालङ्कारस्य प्रतिभा जायते। नायं ध्वनेविषयः, किन्तु श्लेषस्यैव।।

अत्रेति । अत्रास्मिन् पद्ये, शृङ्गारव्यभिचारी विभावानुभावव्यभिचारिसंयो-गादास्वाद्यमानो रत्यास्यः स्थायीभावः तस्य व्यभिचारिभावः, सन्धारिभावो विस्मयात्मकः भावः, साक्षाच्छव्दशक्तचा प्रतिभासमानो विरोधालङ्कारश्च वर्तत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः विरोधालङ्कारप्रतिभोत्पत्तिहेतोः श्लेषस्य इलेषास्यस्यैवायं विषयः ।

अनुस्वानोपमव्यङ्गचस्य अनुस्वानैनानुरणनेनोपमा साद्द्यं यस्य तथा-विधस्य व्यङ्गचस्य प्रतीयमानार्थरूपस्य घ्वनेः, शब्दशक्तिमूलघ्वनेस्तु नायं विषयः। तु किन्तु वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यङ्गितस्य व्यञ्जनागम्यस्य शृङ्गाररसस्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचात्मकस्य घ्वनेर्यं विषय एव।

१. 'प्रतिभस्य' ख. ग., प्रतिभासस्य ज.

श्लाघ्याशेषतन् सुदर्शनकरः सर्वाङ्गिलीलाजित-त्रैलोक्यां चरणारविन्दलितिनाक्रान्तलोको हरिः । विभ्राणां मुखमिन्दुरूपमिललं चन्द्रात्मचक्षुर्देधत् स्थाने यां स्वतनोरपश्यदिषकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

अत्र वाच्यतयेव व्यतिरेकच्छायानुगाही श्लेषः प्रतीयते ॥ यथा च—

> भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूच्छां तमः शरीरसादम् । मरणं च जल्दसुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

उज्जीवनी

अलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतोः रलेषस्य स्वकीयमुदाहरणं प्रदर्शयति—
यथा ममैवेति । श्लाघ्येति । सुदर्शनकरः सुदर्शनं चक्रं करे यस्य तादशः ।
चरणारिवन्दलिलतेन चरणारिवन्दस्य पादपद्मस्य लिलतेन लीलया, आक्रान्तलोकः आक्रान्तो मितः लोकस्त्रिभुवनं येन तथाभूतः । चन्द्रात्मचक्षुः चन्द्रात्मा
चन्द्ररूपं चक्षुः नयनं दघत् घारयन्, हिरः कृष्णः, श्लाघ्याशेषतनुं श्लाघ्या
प्रशंसनीया, अशेषा सकला, तनुः शरीरं यस्यास्ताम् । सर्वाङ्गलीलाजितत्रैलोक्यां सर्वेषामङ्गानामवयवानां, लीलया जितं त्रैलोक्यं त्रिभुवनं यस्यास्ताम् ।
इन्दुरूपं चन्द्रात्मकम्, अखलं मुखं वदनं, बिभ्राणां बिभ्रतीं, यां स्वतनोः स्वदेहाद्,
अधिकामुत्कृष्टाम् । स्थाने युक्तमेव, अपश्यद् दृष्टवान्, सा तथाविधा, रुक्तिणी
कृष्णस्य पत्नी । वो युष्मान्, अवत् रक्षत् इत्यर्थः ।

वन हरेः रुक्मिण्या उत्कर्षात्मको व्यतिरेकालङ्कारो वाच्यः । श्लेषस्तु व्यतिरेकप्रतिभोत्पत्तिहेतुः । चिक्रणः सकाशादुत्कर्षः, शोभनं दर्णनं यस्य ताद्दशो रमणीयः करः यस्य ताद्दश इति सुदर्शनकरशब्दश्नेषेण हरेः कर एव रमणीयः, देव्यास्तु सर्वा तनुः रमणीया इति, यो हरिः त्रिविक्रमरूपेणावतीणः, पादेन लोकत्रयं ममी, तस्मात् सर्वाङ्गलीलया त्रैलोक्यं जितवत्या दश्कर्षः। पादेन लोकानाक्रान्तवान् जितवानिति श्लेषेण, हरिः पादमात्रेण त्रिलोकीं जितवान्, रुक्मणी तु सर्वाङ्गौरिति। एवं यस्य चक्षुश्चन्द्ररूपं, तस्माञ्चन्द्रमुख्या उत्कर्षः, चक्षुमत्रिण चन्द्रवानिति श्लेषेण, हरिश्चक्षुमित्रं चन्द्रात्मकं देव्यास्तु मुखं चन्द्रात्मकमिति प्रतिभासते।

यथा वा--

चमहिअमाणसकञ्चणपंकअणिम्महिअ परिमळा जस्य । अखण्डिसदाणप्यसरा बाहुप्पळिहा विविध गइन्दा ॥

[खण्डितमानसकः चनपङ्कजिनमेथितपरिगलः यस्य। अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः॥ इति छाया]

अत्र रूपकच्छायानुगाही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते ।

उज्जीदनी ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—यथा चेति । भ्रमिमिति । नायिकात्रस्यां नायक-मावेदियतुं सख्या सामान्यतो वर्षात्रणं नापरा उक्तिरियम् । जनदसुत्रगजं जलदो मेघ एव भुजगः सर्पः तज्जं विषं जलमेव गरलं, वियोगिनीनां विराहिणोतां, प्रसह्य बलात्कारेण, भ्रमि भ्रमणं, मूर्घादिविकारकारिणमान्तरं विकारं चेतसोऽन-वस्थानं वा । अर्रात विषयेष्वनिभलाषमरुचि वा, अलगहदगानाम् अनसं हृदयं यासां तादशीनां भावस्ताम् । (उदासीनताम्) । प्रलयं बहिरिन्द्रियतेष्टाराहित्यं, मूच्छां बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियचेष्टाराहित्यं, तमः, तमोगुगोद्रेकेणान्ध्यं शरीरसादं कार्यं, मरणं मरणप्रागमावावस्थां च कुरुते करोति ।

यथा विशि । खण्डिनेति । राजानं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मयितपरिमनाः खण्डितैः |विदीणैंः (शत्रूणां) मानसैरेव
काञ्चनपङ्कजैः कनककमलैः निर्मिथत उद्भावितः परिमलः प्रतापोत्व षो येषां
ताद्याः अखण्डितदानप्रसदाः अखण्डितो विच्छे इरिहतः, दानस्य प्रसरः प्रमुमरत्वं येषु ताद्याः यस्य राज्ञो बाहुपरिघाः लोह इण्डवद् दृढा बाह्वः एव तद्रूपाः
गजेन्द्राः । खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मयितपरिमनाः खण्डितानां मानसस्य
मानसस्यः, काञ्चन रङ्कजानां स्वर्णकमलानां निर्मिथतो निर्मेन्यनात्, विमर्देनादुत्थः परिमलो गन्धो येषु ताद्याः । अखण्डि ।दानप्रसदाः अखण्डिताः
अविच्छिन्नाः, दानस्य मदजलस्य प्रसदा येषु ताद्याः, शोभन्त इति शेषः ।

अत श्लेषो रूपकच्छाया त्रनुगृह्णाति । वाच्यायंव अभिवेषतयं व, अवभासते प्रतिभासते ।

१. 'चिग्र' ल.

स चालिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणामिहितस्त्ररूपः, तत्र न शब्द-शक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्गचध्वनिव्यवहारः । तत्र यक्नोक्तचादिवाच्यालङ्कार-व्यवहार एव ॥

यथा---

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किन्त्रित्र दृष्टं नया तेनैव स्खलितास्मि नाथ ! पतितां कि नाम नालम्बसे। एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमन्सां सर्वाबलानां गति-गेंप्यैवं गदित: सलेशमवताद् गोष्ठे हरिवंश्चिरम्।।

उज्जीवनी।

सचिति। एवमाक्षिप्तः व्यक्तिविषयीभूतः वलङ्कारो, यत्र पुनः नानार्थं-शब्दप्रयोगस्थले, शब्दान्तरेण कैनःपि शब्देन अभिहितस्वरूपः अभिहितमभिषया प्रतिपादितं स्वरूपं यस्य तादशोऽलङ्कार इत्यर्थः। तत् तस्मिन् काव्ये, शब्दशक्त्यु-द्भ्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः शब्दशक्तिमूलध्वनिव्यपदेशः नास्त्येव। तत्र तादशस्थले, वक्रोक्तचादिवाच्यालङ्कारव्यवहारः एव उक्तिवैचित्र्यरूपया य वाच्या अलङ्काराः, तैरेव व्यवहार इत्यर्थः।

उदाहरति—यथेति। दृष्ट्येति। हे केशव, हे कृष्ण, गोपरागहृतया गवां परागैः खुरोद्धतेर्धूलिभिः, हृतया आवृतया, दृष्ट्या, मया किश्विस्न दृष्ट नाव-लोकितम्। तेनैव हेतुना स्खलितास्मि, निम्नोन्नते मार्गे भ्रष्टास्मि। हे नाथ, पिततां मां कि नाम नालम्बसे कुतो नावलम्बं ददासि। विषमेषु निम्नोन्नत-प्रदेशेषु खिन्नमनसां खिन्नं सश्वाराशक्ततया खेदमनुभवतां, सर्वाबलानां बल-पहितानां बालानां बृद्धानां स्त्रीणां च, त्वमेकः गतिः आश्रयः। इति एवं गोष्ठे व्रजे, गोप्या गोपाङ्गनया कयाचित्, सलेशं ससूचनं, गदित उक्तः, हरिः कृष्णः, वो युष्मान् विरं बहुकालं, पातु रक्षतु। अत्र शब्दशक्तचान्योऽप्यर्थो बोध्यते—केशवगोपरागहृतया केशवगेन केशवगतेन, उपरागेणानुरागेण हृतया दृष्ट्या मत्या, मया किचिदिप न दृष्टं न चिन्तितम्। तेनैव तत एव स्खलितास्मि चारित्र्याद् भ्रष्टास्मि। हे नाथ ! प्रभो ! पतितां पतिभावं भर्तृत्वं, कुतो नालम्बसे कस्मान्नाश्रयसि। कुतो मे पतिनं भवसीत्यर्थः। विषमेषुखिन्नमनसां विषमेषुणा पञ्चबाणेन खिन्नं पीडितं मनो यासां तादशीनां, सर्वाबलानां सर्वसि।मितां कामिनीनां त्वमेको गतिः अवलम्ब इति।

एवञ्चातोयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषय:। यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेविषयः।।

उज्जीवनी ।

अत्र प्रकरणवशात् प्राथमिकार्यबोधः प्रथमं जायते । तेनामिधायां विरतायां सलेशमित्यनेन सूचितोऽन्योऽप्यर्थः प्रतीतिविषयो भवति । उक्ति-वैचित्र्यरूपस्य द्वितीयार्थस्य वक्रोक्त्यरूङ्कारात्मकस्य प्रतिभां जनयन् रलेषोऽत्रा-रूङ्कारः । स जालङ्कारान्तरत्रतिभामुद्भावयति । तस्य च द्वितीयस्पार्थस्य प्रतीयमानतायां ध्विनिकाराभिमतायामिष सलेशपदजन्यप्रतीतिविषयतया वाच्यायमानत्यात्र आक्षिप्तत्वाभावात्रायं ध्वनेविषयः ।

तदेवाह—एवञ्जातीयक इति । एवञ्जातीयक एवंविधः सर्व एव सक्लोऽप्य-लञ्जारवर्गः, कामं यथाभिमतं वाच्यश्लेषस्य वाच्यस्य श्लेषास्यस्यालङ्कारस्य विषयो भवतु । यत्र तु यस्मिन् स्थले सामर्थ्याक्षिप्तं शब्दस्य तस्यैवार्थान्तर-बोधकत्वसामर्थ्येन, आक्षिप्तं व्यक्तिगम्यं सत् । अलङ्कारान्तरं श्लेषादन्यो-ऽलङ्कारः । शब्दशक्त्या अभिधाद्वारा प्रकाशते प्रतिभासते, स सर्व एव तादश आक्षिप्तरूप एव सर्वोऽप्यलंकारः, ध्वनै: शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनेविषयः ।

अत्रेदमवधेयम् आक्षिप्त एवालङ्कार इति कारिकायाम् अवघारणार्थके-नैवकारेण आक्षिप्तशब्दोत्तरं प्रयुक्तेन अभिधेयत्वं व्यवच्छिद्यते । नानार्थस्थले प्रकरणादिवशात् प्राकरणिकेऽर्थे गृहीततात्पर्येण पुसा तस्य प्रथममुपिस्थतौ जातायां तस्यैव शब्दस्यार्थान्तरबोधजननसार्थ्येन द्वितीयोऽप्यर्थोऽत्रगम्यते । तस्यापि प्राकरणिकत्वसम्भवे उभयोरिप तयोर्थयोः शक्तेस्तुल्यत्वात् श्रुत्यैक-यानेकार्थप्रतिपादनात्मकः श्लेषाख्योऽलङ्कारः ।

यत तु द्वितीयार्थस्य प्राकरणिकत्वं न सम्भवित तत्र प्राकरणिकार्थबोधनेन क्षीणशक्तिरभिवा तत्पदशक्तिविषयमन्यमप्यर्थं बोधियतुमसमर्थेति तस्य व्यञ्जनावेद्यत्वमङ्गोकुर्वते केचिदालङ्कारिकाः। श्रीमदानन्दवर्धनाःचार्यस्याप्य-भिमतोऽयमेवाभिप्राय इति स्पष्टमवगच्छामः।

अर्थो हि सहृदयश्लाघ्यः वाच्यो व्यङ्गचरचेति द्विविधः । वाच्यो वस्त्व-लङ्कारात्मना द्विविधः । व्यङ्गचो वस्त्वलङ्काषरसात्मना त्रिविधरचेति जानीमः । यथा—"अत्रान्तरे कुमुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुह्न-महिकाधवरुष्टिहासो महाकालः।"

उज्जीवनी

नानार्थस्य ते प्रकृतार्थिविषयकशाब्द बीक्षानन्तरं तस्यैव शब्दस्यार्थान्तरबोधन-साम्थ्येन द्वितीयार्थस्य वस्तुरूपस्यालङ्काररूपस्य वा बोघो भवति। स च व्यङ्गच इति मन्यते यैस्तन्मते द्वितीयस्यार्थस्य वस्तुमात्रस्तरूपेणावस्थिति विना अलङ्कारच्छायायामवगम्यमानायां यत्रालङ्कारदाचका अप्यादिशब्दा न प्रयुक्ताः तत्र आक्षिप्तो व्यञ्जनाव्यापारगम्यः सोऽर्थः शब्दशक्तिमूलालङ्कार ध्वनेविषयः। द्वितीयोऽर्थो यद्यलङ्कारस्त्ररूपं भजते तदा व्यङ्गच एव स ध्वनिविषयः, अन्यया तु तत्तदलङ्कारान्तरप्रतिपत्तिहेतुः श्लेष एव तस्मिन् काव्येऽलङ्कारः। यत्र च वस्तुस्वरूपमात्रेणावतिष्ठते द्वितीयोऽर्थस्तस्याप्रकृतार्थ-स्यापि व्यञ्जनाव्यापारगम्यत्वाभ्युपगमात् सोऽर्थः शब्दशक्तिमूलध्वनेतिषय इति शब्दशक्तिमूलध्वनिरिष वस्त्वलङ्काररूपेण द्विविधः। यद्यपि ग्रन्थकृता द्विविध इति कण्ठतो नोक्तस्तथापि आक्षिप्त एवेति आक्षप्तप्रबद्दोक्तरम् एवकारप्रयोगेण, अलङ्कारशब्दस्य, वस्तुमात्ररूपेणानवस्थितस्य अलङ्काररूपं विभ्रत इत्यर्थ-वर्णनात्मकेन 'अलङ्कारो न वस्तुमात्रम्' इति व्याख्यानेन चास्यैतदिभप्रायकत्व मुचितं प्रतिभाति।

रलेषस्य शब्दशक्ति नूलव्यनेश्च विषयभेद प्रदर्शनप्रस्तावावसरे रलेपविषयमुदाहृत्य व्वनिविषयमुदाहरित —यथेति । अतान्तर इति । बाणभट्टविरचिते
हर्षविरिते द्वितीयोच्छ्वासे ग्रीव्मसमयवर्णनात्मकं गद्यमिदम् । अतान्तरे
अस्मिन्नवसरे, कुसुमसमययुगं वसन्तर्त् मासद्वयात्मकं कालमुपसंहरन् समाप्ति
नयन्, फुल्लमिल काधवलाट्टहासः फुल्लाः विकत्ताः मिल्लकाः मिल्लकाः महानुसाः यस्य तादशः । ग्रीव्माभिधानः ग्रीव्म इत्यभिधानं
वामधेयं यस्य तादशः । महाकालः महान् कालः अजृम्भतः उल्लास । अयं
प्रकृतोऽर्थः । तद्बोधनेन क्षीणशक्तौ अभिधायां, महाकालस्य शिवरूपार्थान्तरबोधनसामध्येन विशेषणानां रलेषेण च द्वितीयोऽप्यप्रकृतोऽर्थों व्यञ्जनया बोध्यते ।
कुसुमयुगं वसन्तर्त् तुल्यं युगं कालम् उपसंहरन्, संहरन् फुल्लमिल्लकाधवलाट्टहासः
फुल्लमिल्लकावद् धवलः अट्टहासः यस्य तादशो महाकालः शिव इति ।

द्वितीय उद्दोतः

यथा च--

उन्नतः प्रोह्नसद्धारः कालागुरुमर्लीमसः । पयोधरभरस्तन्त्र्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

यथा वा---

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसपयाह्मिष्टमुष्टैः पयोभिः पूर्वाह् ऐ विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यिह्म संहारभाजः । दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वयुत्तारनावो गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमृत्पादयन्त् ॥

उज्जीवनी

द्वितीयगुदाहरणमाह—यथा चेति । उन्नत इति । उन्नतो यौवनवशात् पृथुः, प्रोल्लसद्धारः प्रोल्लसन् प्रकाशमानो हारः मुक्ताहारो यस्य तादशः, काला-गुरुमलीमसः कालः कृष्णवर्णः, योऽगुरुः सुगन्धिभूपद्रव्यविशेषस्तेन तल्लेपनेन मलीमसः कृष्णः, तन्व्याः श्चियः, पयोधरभरः कुचभारः, कं कं जनम् अभिलाषिणं न चक्रे कामयमानं नाकरोद् इति प्रकृतोऽर्थः । अत्रापि पयोधरशब्दस्य मेघरूपार्थन्तरबोधजननसामर्थ्यात् प्राथमिकार्थबोधेन विरतायामभिधागम् अर्थान्तरं शब्दात्तस्मादेवाक्षिप्यते । उन्नतः उच्छितः, प्रोल्लसन्ती धारा यस्मात्तथाविधः, कालागुरुवन्मलीमसो मलिनः, पयोधरभरो मेध्यङ्क्तिरिति ।

तृतीयमुदाहरणं प्रदर्शयति—यथावेति । दत्तानन्दा इति । मयूर गर्विविरिचिते सूर्यशतके रिविकरणवणं नात्मकं पद्यमिदम् । समुचितसमयाक्किष्टमुष्टैः समुचिते समये वर्षतौ, अक्किष्टं क्लेशेन विनेव, मुष्टैः वृष्टैः, पयोभिर्जलंः प्रजानां जनानां, दत्तानन्दाः दत्तो वितीणः, आनन्दो येस्तादशाः, पूर्वाह्णे अह् नो दिवसस्य पूर्वभागे प्रभाते । दिशि दिशि सर्वासु दिश्च, विप्रकीणाः व्याप्ताः । अह् नि विरमित सित, सहारभाजः संहितं भजमानाः । दीर्घदुः खप्रभवभवभयोदन्वदुतारनावः दीर्घस्य महतः दुः खस्य, प्रभवः उत्पादकः, यो भवः संसारः, तस्माद् यद् भयं भीतिस्तस्योत्तारे उत्तारणे, नावः नौकारूपाः, दीप्तांशोः सूर्यस्य, गावः किरणाः, पावनानां परिशुद्धात्मनां, वो युष्माकम्, अपरिमिताम् अपरिचिछन्नां, प्रोतिमानन्दं, परं केवलम्, उत्पादयन्तु जनयन्तु ।।

एषूदाहरणेषु शब्दशक्तचा प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽथित्तरे वाक्यस्या-सम्बद्धार्थाभिषायित्वं मा प्रासाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानो-पमेयभावः कल्पवितव्यः सामध्यितित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति, विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्गचस्य ध्वनैविषयः ॥

अन्येऽपि चालङ्कारा: शब्दशक्तिम्लानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये घ्वनौ सम्भवन्त्येव । तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दश्यते । यथा

उज्जीवनी ।

एवं गोशब्दस्य किरणात्मकप्राकरणिकार्थबोधनेन विरतव्यापाराभिधाः गोशब्दस्य धेनुरूपार्थान्तरबोधनसामर्थ्येन अर्थान्तरव्यक्तिमृत्पादयति । प्रजानां शिशूनां, समुविते समये प्रभातादौ, क्लेशेन विना वितीर्णेः, पयोधिर्दुग्धेः, दत्तानन्दा आनन्दसन्दायिन्यः. पूर्वाह् एो प्रभाते, दिशि दिशि सर्वदिक्षु, विप्रकीर्णा घासग्रासाय प्रेषिताः, अह्नि विरमति सायाहिन, संहारभाजः गोष्ठमुप्गताः गावो धेनव इति ॥

एषूदाहरऐषि ति । एषु पूर्वोक्तेषु अत्रान्नरे, उन्नतः प्रोह्णसद्धारः, दत्तानन्दा इति तिषूदाहरऐषु, शब्दशक्त्या अनेकार्थशब्दादिभधया वाच्यार्थबोधानन्तरम् अप्राकरणिकेऽप्रकृते, अर्थान्तरे द्वितीयिनम्नर्थे प्रकाशमाने, व्यक्त्या प्रतिपाद्यमाने, वाक्यस्य अर्थान्तरबोधजननाकूलस्य वाक्यान्तरस्य, असम्बद्धाथान्तराभिधायित्वं प्रकृतेनार्थेन सम्बन्धरहितस्यार्थान्तरस्याभिधानात्मकत्वं मा प्रासाङ्क्षीद् मा भूदिति तत्परिह्याराय अप्राकरणिकस्य प्राकरणिकस्य वार्थस्य प्रयमे—ग्रोष्मसमयशिवयोः, द्वितीये—कुचभरमेघयोः, तृतीये—
किरणधेन्वोश्च, उपमानोपमेयभावः सम्बन्धः कल्पयितव्यः, कल्पनीयः। स च सामर्थ्याद् अर्थान्तरबोधजननशिक्तमत्त्वाद् अयम् अत्रत्यः श्लेषः, द्वितीयोऽप्रकृतोऽर्थश्च न शब्दारूढः, शब्दात् तदिभधानसामर्थ्ये सत्यिप न तस्मादिमधेयतां प्राप्नोति, इति हेतोः श्लेषादलङ्काराद्, अनुस्वानोपमव्यङ्कायस्य (संलक्ष्यक्रमव्यङ्कायस्य) शब्दशक्तिमूलध्वनेश्च विषयो विभिन्न एव। तथा च द्वितीयोऽर्थो वाच्यश्चेत्रलेषः, आक्षिप्तश्चेच्छब्दशक्तिमूलध्वनिरिति विवेकः। तत्रापि द्वितीयोऽर्थो यद्यलङ्काररूपतां भजते, तत्र तत्तदलङ्कारवाचकशब्दानां समवधाने तत्तदलङ्कारप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, तद्वि हे तत्तदलङ्कारध्वनिः॥

स्थाण्यीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य—''यत्र च मात ङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च स्थामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदि-श्वसनाश्च प्रमदाः ''।

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा क्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम् । साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाक्षितत्वात् ।

उज्जीवनी

तदेवाह-अन्येऽपीति । शब्दशिवामुलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ शब्दशक्तिमूलानूरणनध्वनी, अन्येऽि इतरेऽिप, अलङ्काराः स्वस्ववाचकशब्द-रहिताः, सम्भवन्त्येव ध्वनिविषया भवन्त्येव । तथाहि विरोघोऽपि विरोघा लङ्कारोऽपि, शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपः शब्दस्यान्यार्थबोधकत्वशक्त्या, अनु-रणनात्मकः दश्यते । उदाहरति — यथेति । बाणभट्टविरचिते हर्षचरिते स्थाण्वीश्वराख्यस्य जनपदस्य देशस्य, वर्णनावसरे गद्यमिदं दश्यते । यत्रेति । यत स्थाप्त्रीश्वराख्यजनपदे, प्रमदाः कामिन्यः, मातङ्गगामिन्यः मातङ्गान् शबरान् अभिगन्तं शीलमासामिति तादृश्यः, शीलवत्यश्च चारित्रवत्यश्चेति विरोधः । परिहारस्तु, मातङ्गगानिन्यः मत्तेभगमना इति । गौर्यः पार्वतीरूपाः, विभवरताः विभवे भवरहिते स्थाने, रता आसक्ता इति विशोधः, गौरवर्णा विभवे वित्ते रता इति परिहारः । श्यामाः कृष्णवर्णाः, पद्मरागिण्यश्च पद्मस्य राग इव रागो (वर्णः) यासां ताब्व्यः इति विरोधः । वयामाः सर्वाङ्गसुन्दर्यः, पद्मरागमणियुक्ताश्चेति तत्परिहारः । धवलद्धि जशुचिवदनाः धवलानां शुद्धानां, द्विजानां ब्राह्मणानाम् इव, शुनि निर्मलं वदनं यासां तथाविधाः, मदिरामोदि-श्वसनाश्च मदिरावद् आमोदि सुरिंग श्वसनं श्वासो यासां तादश्य: इति विरोधः । धवलैः श्वेतैः, द्विजैः दन्तैः, शुचि वदनं यासामिति तत्परिहारः ।

अतेति । अत्र पूर्वोक्तस्थले, वाच्यः अभिधाव्यापारगम्यः । विरोधः विरोधालङ्कारः । वा अथवा, तच्छायानुग्राहो तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः, इलेषः इलेषालङ्कारः, अयमिति वक्तुं न शक्यं वक्तुं नोचितम् । शब्देन अपिना, साक्षाद् विरोधरूपस्य, अर्थस्यालङ्कारात्मकस्य, अप्रकाशितत्वात् प्रकाशना-भावात् ॥ यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि शिलष्टोवतौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य क्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा—तत्रेव 'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि—सन्निहितबालान्धकारापि भास्त्रनमूर्तिः' इत्यादौ । यथा वा ममैय—

सर्वेकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्। चतुरात्त्रानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥

अत्र हि शब्दशक्तिपूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते । एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दश्यते । यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो यो वा नखोद्धासिनो ये पृष्णन्ति सरोरुडश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।

उज्जीवनी।

यत्र हि यिस्मन् काव्ये, विरोधालङ्काषो विरोधाख्योऽलङ्कारः, साक्षात् शब्दे । आवेदित आविष्कृतः । तत्र हि तिस्मन् काव्ये, श्लिष्टोक्तो अर्थद्वयप्रतिपादकशब्दप्रयोगस्थले, विरोधस्य श्लेषस्य वा, वाच्यस्यालङ्कारस्य विषयत्वं, तत्र विरोधो वा इनेषो वा अलङ्कार इति वक्तव्यम् । उदाहरित—तत्रेवेति । तत्रेव हर्षचरित एव । समवाय इति । वर्णनीया गायत्रो । विरोधिनां परस्परं विरुद्धानां, पदार्थानां वस्तूनाम् । समवाय इवैकत्रावस्थानिमव । तदेवोपपादयित—तथाहीति । सिन्नहितबालांधकारापि सिन्नहितः सिन्निधं प्राप्तो, बालो नूननोऽन्धकारः तमः यस्यास्ताद्यपि । भास्वन्मूर्तिः भास्वतः सूर्यस्येव मूर्तिर्यस्तादशीति विरोधः । सिन्नहिताः बालाः केशा एव अन्धकारो यस्यास्तादशी, भास्वती चकासती मूर्तिर्यस्यास्तादशीति परिहारः । अत्र समवाय इव विरोधिनां पदार्थानामिति वचनाद् विरोधस्य वाच्यत्वम् ।।

स्वकीयमुदाहरणं विरोधध्वनेदंशंयति—यथा वा ममैवेति । सर्वेति । सर्वेषामेकं मुख्यं शरणं गृहम्, अक्षयं गृहिभिन्नमिति विरोधः । सर्वेषामेकं रिक्षः तारमिवनाशिनमिति परिहारः । धियां बुद्धीनामीशो न भवतीत्यधीशस्तम् । धीशं धियामीशमिति विरोधः । अधीशमिधपितिमिति परिहारः । हरि हरितवणं कृष्णमिति विरोधः । विष्णुं कृष्णनामानमिति परिहारः । चतुरः ये मूर्ध्वस्तवभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-। स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्गयघ्वनिप्रकाराः सन्ति, ते सहदयैः स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु प्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः ।

उज्जीवनी ।

क्रियासु कुशलः, आत्मा यस्य तादशं चतुरात्मातम् । निष्क्रियं क्रियाशून्यमिति विरोधः । चत्वारः कृष्णगलभद्रप्रद्युम्नानिरुद्धक्ष्पा आत्मानो यस्य तादशमिति पित्हारः । अराणि अस्मिन् सन्तीति अरि चक्रं तस्य नाशकं, चक्रधरं चक्रं धरतीति तादशमिति विरोधः । अरिनथनम् अरीणां शत्रूणां, नाशकमिति परिहारः । तादशं भगवन्तं नमत नमस्कुरुत, इत्यर्थः ।

उपपादयति—अत्रेति । अत्र हि अस्मिन् स्थले, विरोधो विरोधालङ्कारः । इज्द्दशक्तिमूलानुस्वानरूपः शब्दशक्तिमूलानुरणनात्मकः । स्फुटमेव स्पष्टमेव, प्रतीयते भासते । विरोधवाचकपदाभावात् ।

अलङ्कारान्तरस्य व्यङ्गचस्वं प्रदर्शयति—एवंविव इति । एवंविधः शब्दशक्तिमूलानुरणगव्यङ्गचः व्यतिरेकालङ्कारोऽपि इश्यते । स्वकीयमेवोदाहरणं प्रदर्शयति—यथा ममैवेति । खमिति । ये पादाः किरणाः, (सूर्यस्य) लूनतमसः लूनं नाशितं तमो येः तादशाः, खमाकाशम्, अत्युज्ज्वलयन्ति अतितरां प्रकाशयन्ति । ये वा पादाः चरणाः, नखेः नखरें।, उद्भासिनः उद्भासनशीलाः । ये पादाः किरणाः, सरोक्हिश्रयमि सरोक्हाणां शोभामिष, पुष्णन्ति वर्धयन्ति । ये पादाः किरणाः, सरोक्हिश्रयमि सरोक्हाणां शोभामिष, पुष्णन्ति वर्धयन्ति । ये पादाः करणाः, क्षिप्ताः दूरीकृताः, अवजानां कमलानां, भाः कान्तिः येक्तयाविवाः । ये पादाः किरणाः क्षितिभृतां पर्वतानां, मूर्धसु शिखरेषु, अवभासिनः शोभमानाः । ये पादाः करणाः, अमणां देवानां, शिरांसि आक्रामन्ति ये देवैः शिरोभिः स्पृत्यन्ते, देवैनंम्यन्त इत्यर्थः । दिनकरस्य रवेः, उभयेऽपि उभयक्षाः अपि, पादाश्चरणाः, वो युष्माकं, श्रिये क्षेमाय सम्पदे, सन्तु भवन्तु ।

अत्र दिनपतेश्चरऐभ्यस्तिकरणानामुक्षर्षो व्यतिरेकात्मा तद्वाचकशब्दा-नभिषयो व्यज्यत इति शब्दशक्तिमूजव्यतिरेकालङ्कारध्वनिः।

अर्थशक्तयुद्भवरत्वनयो यत्रार्थः स प्रकाशते । यस्तात्वर्योग वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥ २२ ॥

यतार्थः स्वसामध्यदिथन्तिरमभिव्यनित् शब्दव्यापारं विनेत्र, सीऽर्थ-शवत्युद्भवो नामानुस्तानोपमव्यङ्गचो ध्वनिः।

यथा—

एवं वादिनि देवषौ पार्वे पितुरघोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

उज्जीवनी ।

एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण, शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्गचात्सकस्य ध्वनेः प्रकाराः सन्ति विद्यन्ते । ते सहृदयैः काव्यवासनापरिपकहृदयैः, स्वयमनुसर्तव्याः स्वयमेवावगन्तव्याः । इह तु अस्मिन् ग्रन्थे तु, ग्रन्थविस्तर-भयात् तत्त्रपन्दः न कृतः अतिविस्तरो न विहितः ।

अर्थशितमूलध्विन निरूपयति—अर्थेति । यः अर्थः तात्पर्येण वक्तुरिच्छ-या, स्वतः स्वस्मादेव शब्दात् । उक्ति विनाभिषानं विना, अन्यद् वस्तु वस्त्वन्तरं व्यनिति व्यञ्जनया बोधयति । सोऽर्थः, यत्र यस्मिन् काव्ये, प्रकाशते प्रतीयते, सं तु अन्यः शष्दशक्तिमूलादितरः, अर्थशक्त्ययुद्भवः अर्थशक्तिमूलो ध्वनिरिति समामनात इति शेषः ।

विवृणोति—यत्रेति । यत्र धिस्मन् काव्ये, अर्थः शब्दः भिष्येः सामर्थ्याद् अर्थान्तरबोधजननानुकूल्येन, अर्थान्तर चमत्कृतिजनकमन्यमर्थं, शब्दव्यापारं विनैव, शब्दस्य यो व्यापारोऽभिषारूपस्तं विनैव, अभिव्यनिक्त व्यञ्जयित, सः, अर्थशक्त्युद्धवो नाम अर्थशक्तिम्लो नामानुस्वानोपमव्यङ्गचः अनुस्वानेनानुरणनेन, उपमा साद्ध्यं यस्य तादशं व्यङ्ग्यं व्यङ्गचोऽर्थः यस्य तादशो व्वनिः अनुरणन्विनः, संलक्ष्यक्रम इति यावत् ।

उदाहरति—यथेति । एवं वादिनीति । देवषौ नारदे, एवंवादिनि विवाहवृत्तान्तं वदित सति, पितुः हिमवतः, पाइवें स्थिता पावती । अधोमुखी कुमारीस्वभावादवनतवदना सती । लीलाकमलपत्नाणि लीलया करतल-गृहीतस्य कमलस्य पत्राणि दलानि गणयामास गणनामकरोत् । अत हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवा-थोन्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति । न नायमलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्यैव ध्वनेविषयः । यतो यत्न साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः । यथा कुमारसम्भवे नधुप्रसङ्गे, वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवणनं, मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृतधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दिनवेदितम् । इह गु सामर्थाक्षिप्तव्यभिचारिमुलेन रसप्रतीतिः, तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः ॥

उज्जीवनी ।

उपपादयति—अत होति । अत हि अस्मिन् पद्ये हि, लीलाकमलपतन गणनं लीलाकमलपताणि गणयामासेति शब्दप्रतिपाद्यार्थात्मकम्, उपसर्जती-कृतस्वरूपम् उपसर्जनीकृतं स्वं रूपं यस्य तथाविधं, स्वयमुपसर्जनीभूतिमत्यर्थः । शब्दव्यापारं विनैव शब्दानिभिधेयत्वेत वयभिचारिभावलक्षणं व्रीडारूपो यो व्यभिचारिभावस्तदात्मकम्, अर्थान्तरं वस्तुरूपं, प्रकाशयति व्यञ्जयति ।

ननु रसभावादीनाम् असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्छविन्छपत्वात् संलक्ष्यक्रम व्यङ्गचस्यार्थशिक्तमूल्ष्यनेलेक्षणभुक्त्वा तदुदाहरणत्वे ।, एवंवादिनीति पद्यस्योपन्यासः कथमुचितो भवेदित्य।शङ्कायामाह—न चायमिति । 'रसभाव-तदाभासभावशान्त्यादिरक्रम' इति असलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्द्वेन ।परिगणितोऽपि, अतत्यभावध्विनः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्येव ध्वनैः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्छ्वनेरे व, विषयो न भवति । एवं च असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचो रसादिध्विनरेव, न तु रसादिध्विनरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्गच एवेत्यत्र परिगणनग्रन्थस्य तात्पर्यम् । अत एवोक्तं "यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्ती"ति ।

असंलक्ष्यक्रमन्यङ्गचस्य वास्तवं विषयं प्रदर्शयितुमाह—यत इति । यतो यस्मात् कारणाद्, यत्र यस्मिन् कान्ये, साक्षात् शन्दिनिषेदितेभ्यः शन्दादन्यव-धानेन बोधितेभ्यः, विभावानुभावन्यभिचारिभ्यः रसादीनां एसभावादीनां प्रतीतिरभिन्यक्तिः । स रसभावादिः तस्य केवलस्य, अलक्ष्यक्रमन्यङ्गचध्विन-मात्ररूपेणावस्थितस्य, मार्गः विषयः । उक्तमुपपादयति—यथेति । कुमारसम्भवे महाकान्ये, मधुप्रसङ्गे वसन्तसमागमे, वसन्तपुष्पाभ्यरणं वसन्तकालसुलभैः पुष्पैः यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थांऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य

यथा----

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया । इसन्नेत्रार्थिताक्षत लीलायद्मं निमीलितम् ॥

अत्र लीलाकमलिमोलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्येव निवेदितम्।

उजीवनी ।

कृतं भूषणं, वहन्त्या घारयन्त्या देव्याः पार्वत्याः, आगमादीनां वर्णनं, मनोभव-शरसन्धानपर्यन्तं मनोभवेन मदनेन, कृतं यच्छरसन्धानं तदविधकं, शम्भोश्च शिवस्य च परिवृत्तधेर्यस्य परिवृत्तं लुप्तं धैर्यं यस्य तादशस्य, चेष्टाविशेषवर्णनादि-व्यापादिवशेषाणां वर्णनादिकं साक्षाच्छव्दिनवेदितं शब्देनाभिधया बोधितम्। इह तु एवंवादिनीत्यत्र, सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन, अर्थस्य वाच्यस्य, अर्थान्तरबोधजननसामर्थ्येन, आक्षप्तो बोडाख्यो व्यभिचारिभावस्तन्मुख्येन पसप्रतितः । तस्मादयम् अन्यः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्वनेरन्यः संलक्ष्यक्रम-व्यङ्गच्वननैः प्रकारः।

यत्रेति। यत्र च यस्मिन् कः व्ये अर्थशिक्तमूलध्वनी, अर्थः शब्दजन्यप्रतीति विषय एव। अर्थान्तरस्य व्यङ्गचस्य व्यङ्गकत्वेन, उपादीयते व्यञ्जकतया- ङ्गीक्रियते। तत्र स व्यञ्जकोऽर्थः शब्दव्यापारसहायः शब्दस्य योऽभिधाव्यापार-स्तत्साहाय्येन प्रकाशते स सोऽर्थः, अस्य घ्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य न विषयः। उदाहरति—यथेति। सङ्केतेति। विदग्त्रया चतुरया कयाचिदुपनायिकया। हसन्नेत्रापिताकृतं हसद्भ्यां विकसद्भ्याम्, नेत्राम्याम्, अपितः सूचितः, आकृतः रहस्यं येन तादशं, सङ्केतकालमनसं सङ्केतकाले सङ्केतकालज्ञाने (उत्सुकं) मनो यस्य तादशं, विदं ज्ञात्वा विज्ञाय, लीलापद्मं लीलाकुसुमं निमीन्तितं सङ्कोचितम्।

अत सायंसन्ध्या सङ्केतकाच इति व्यङ्गचोऽर्थः । जिज्ञासितः सङ्केत-मालः कयाचित् इङ्गितमात्रेण विदितः सायं समयशसिना कमचिनमीलनेन सूचितः । तस्थ च लीलाकमलिनमीलनं, लीलापद्मं निमीलितमिति उक्त्या पदेनैव निवेदितं बोधितम् । अतो नायमर्थशक्तिमूलध्वनैविषयः । तथा च-

शब्दार्थशक्तचाक्षिणोऽपि व्यङ्गचोऽर्थः कविना पुनः । यत्राविष्क्रियते स्वोक्तचा सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥ २३ ॥

शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्गघोऽर्थः किनाः पुनर्थत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्पादनुस्वानोपमव्यङ्गचाद् ध्वने रन्य एवा-लङ्कारः । अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादगन्योऽलङ्कारः ॥

तत्र शब्दशक्तच। यथा-

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सक्त्यजोर्ध्वत्रवृत्तं कमा को वा गुरुस्ते भवतु बलिभदा जृम्भितेनात याहि ।

उज्जीवनी ।

शब्दार्थीभयशक्तिमूलस्वेन प्रतीयमानमर्थं संलक्ष्यक्रमव्यङ्गचध्वनिविषयं निरूप्य तस्यैव स्वोक्तिनिवेदितःवे यो यो विशेषस्तमःह—शब्देति । यत्र यस्मिन् काव्ये शब्दार्थशक्त्या शब्दशक्त्या। अर्थशक्त्या, उभयशक्त्या वा आक्षिप्तः व्यञ्जनाव्यापारगम्यः, व्यञ्जचः प्रतीयमानः अर्थः, कविना पुनः स्वोक्त्या कवि-वचने न आविष्क्रियते प्रकाश्यते, सा ध्वने गन्या अलङ्कृतिः, ध्वनिव्यपदेश-विषयतारहितोऽलङ्कारः । न तत्र ध्वतिः, किन्तु अलङ्कार एवेत्युच्यते । च्यञ्जताव्यापारविषयोभूतोऽपि सोऽर्थालङ्कारव्यपदेशं लभते इत्यर्थः। तदेव विवृणोति - शब्देति । शब्दशक्त्या शब्दस्यार्थान्तरबोधजनकत्वशक्त्या, शक्त्या अथस्यार्थान्तरबोधजनकत्वसामध्येन, शब्दार्थशक्त्या वा शब्दार्थोभय-शक्त्या वा । आक्षिप्तोऽपि प्रतीतोऽपि, व्यङ्गचोऽर्थः, कविना पुनर्यत्र काव्ये स्वोक्त्या वचनेन, प्रकाशीक्रियते आविष्क्रियते सोऽर्थः, अस्माद् अनुस्वानोपम-व्यङ्गचाद्, ध्वनेरन्य एवालङ्कारः । वा अथवा अलक्ष्यक्रनव्यङ्गचस्य ध्वनेः असंलक्ष्यक्रमन्यङ्गचस्य व्वनेः, सति सम्भवे न्यङ्ग्यस्यार्थस्य उक्तिविषयत्वे सम्भवति सति, सः अर्थः, तादगन्यः वाच्यालङ्कारमात्रापेक्षयातिशयितचम-त्कारकारी, अलङ्कारः (रसादिध्वनि) अलङ्करोतीति व्युत्पत्त्या तस्यालङ्कार-त्वम् अङ्गीक्रियत इत्यर्थः।

प्रथममुदाहरति—तंत्र शब्दशक्त्येति । यथेति । वत्से इति । वत्से,

१. 'संवृग्रुर्ध्वं ०' ख. ग.

प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशानच्छद्मना कारियत्वा यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥

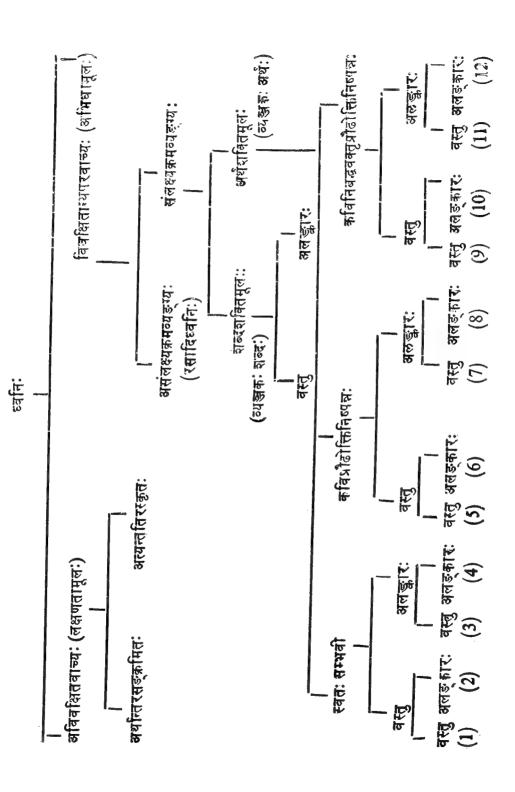
अर्थशक्तचा यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसःमग्रणीरत्र तातो निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र । अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरुष्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥

उज्जीवनी ।

कत्ये, विषादं दुःखं, मा गाः मा गमः, ऊर्घ्वमुच्चैरुद्गतं, उरुः जवे वेगो यस्य तादशं, श्वसनं श्वासमहतं, श्वासमहत अध्वेप्रवृत्तिमिति यावत् । सन्त्यज त्यजते तव, गृहर्महान्, कम्पः कः कस्माज्जायते ? बलिभदा बलक्षयकारिणा, जुम्भितेन जुम्भिततया च, कि ? न किमपि प्रयोजनम् । अतः अत्र यःहि भयरहिते स्थाने याहि गच्छ इति वाच्योऽर्थ:। एवं भयशमनच्छद्मना लक्ष्म्या भयनिवा-रणव्याजेन । सुराणां देवानां, प्रत्याख्यानं निराकरणं, कारियत्वा, मन्थमूढां मन्थानाचलस्य संक्षोभेण मूढां पर्याकुलां लक्ष्मीं, पयोधिः समुद्रः यस्मै देवाय' अदाद् दत्तवान्, स देवः विष्णुः, वो युष्माकं, दुरितं पापं, दहतु नाशयतु। अत्र लक्ष्म्या भयशमनच्छद्मना सुराणां प्रत्याख्यानं कारियत्वेति च्छद्मशब्द-प्रयोगेण विषादादिशब्दै: शिवादिरूपार्थान्तरं व्यङ्गचमपि प्रकाशते। प्रतीयमानस्यापि शब्दशक्तचार्थान्तरस्य छद्मशब्देनाविष्करणात् नायं शब्द-शक्तिमूलघ्वनेविषयः । विषमत्तीति विषादः शिवः, श्वसनो वायुः, ऊर्ध्वप्रवृत्त ऊर्ध्वज्वलवानिनः कं (जलं) पातीति कम्पो वरुणः, कः ब्रह्मा, गुरुर्महान् (स्थूलः) बलिभद् इन्द्रः, विषभक्षणम् अतिवेगवत्त्वम्, ऊर्ध्वप्रवृत्तिः, गुरुत्वं, बलभेदकत्वं च शिवादीनां दोषत्वेन व्यङ्गचानि । दोषैरेतैर्विवर्जितस्य विष्णोः अप्रत्याख्येय-तया च वाच्यायमानतां भजते ।।

अर्थशक्तिमूलव्यङ्गचस्यापि पदप्रकाश्यत्वमुदाहरति अर्थशक्तचा यथेति । अम्बेति । प्रोषितभर्तृका काचिन्नायिका पान्यं गृहागतं वदति । अत्रेतिशब्दैः तृत्तस्थानानि निर्दिश्यन्ते । अत्र अस्मिन् गृहस्य भागे, वृद्धा जरती,



उभयशक्तचा यथा—'इष्टचा केशवगोपरागहृतया' इत्यादौ ।

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।

प्राढीक्तिमात्रनिष्पत्रशरारः सम्भवी स्वतः। अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

उज्जीवनी।

अम्ता माता, अत्र कचित् (तिर्दिश्यमानै) परिणतवयसां परिणतं वयो येषां तादशानाम् अतिजरताम् अग्रणीर्जरत्तम इत्यथः। तथा अत्र अन्यत्र, निःशेषागार-कर्मश्रमविवशतनुः निश्शेषैः समस्तैः, अगारकर्मभाः गृहकर्मभः श्रमेण शिधिला तनुः यस्यास्तादशो, कुम्भदासी चेटी शेते । अस्मिन् पूर्वोक्तादन्यस्मिन् गृहभागे । कतिपयदिवसशोषितप्राणनाथा कतिपयैः दिवसैदिनैः, प्रोषितः प्रवासं गतः, प्राणनाथः पतिर्यस्याः तादशी, पाषा दौर्भाग्यशालिनी, एका असहाया, शये । इत्थम् एवं, पान्याय पथिकायाम्यागताय, अवसरव्याहृतिव्याजपूर्वं पान्यस्यागमनसमयः समागमावसर एवेति वचनापदेशपूर्वकं, तरुण्या युवत्या, कथितमुक्तम् ।

अत्र अम्बा वृद्धेत्यादि शब्दानामधीः तस्या भोगेच्छां व्यञ्जनया बोधयन्ति । तथापि अवसरव्याहृतिव्याजपूर्वमिति व्याजशब्देन वाच्यायमानां प्राप्तो व्यङ्गचोऽर्थं इति नायं ध्वनेविषयः ।

उभयशक्त्येति—उभयशक्तचा शब्दशक्तचार्यशक्तचा चेत्यर्थः। यथेति।
दृष्टचा केशवगोपरागहृतयेति। व्याख्यातं पूर्वम् । अत्र गोपरागादिशब्दानां
शक्त्येवार्यान्तरबोधनात् शब्दस्य व्यञ्जकत्वं, प्रकरणवशादर्थेनार्थान्तरप्रतीतेः
सम्भवादर्थस्याभि व्यञ्जकत्वमित्युभयशक्तिमूलध्वनेः सम्भवेऽपि सलेशशब्देन
वाच्यायमानता भवतीति नायमपि ध्वनेविषयः। किन्तु उदाहरणत्रयेऽपि
व्याजादिशब्दानामनुपादाने शब्दशक्तिमूलोऽथंशक्तिमूल उभयशक्तिमूलश्च ध्वनिभवत्येव।

अर्थशक्तिमूलध्वनौ व्यञ्जकस्यार्थस्य भेदानाह—प्रौढेति । अन्यस्य वाच्या-तिशायिचमत्कृतिजनकस्य वाच्यादन्यस्य, वस्तुनः अर्थस्य, दीपकः दीप इव प्रकाशकः । अर्थोऽिव व्यञ्जकः वाच्योऽर्थोऽिष । प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः कवेः प्रतिभावतः, प्रौढोक्तिम।त्रेणः निष्पन्नं शरीरं स्वरूपं यस्य तादशः कवि- अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङंग्थे घ्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्थापि हो प्रकारो। कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतःसम्भवी च द्वितीयः।

कविश्रौडोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा-

सज्जेहि सुरहिभासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणळक्लमुहे। अहिणवसहआरभुहे णवपळ्ळवपत्तळे अणंगस्स सरे।। [सज्जयित सुरभिमासो न तावदर्पयित सुवितिजनलक्ष्यमुखान् । अभिनवसहकारमुखान् नवपळ्ळवपत्रलाननज्जस्य शरान्।।]

उज्जीवनी।

किताः, स्वतःसम्भवी चेति द्विविधः द्विप्रकारः क्षेयः ज्ञातव्यः । अर्थशक्त्यु-द्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ. अर्थशक्तिमूले संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनौ व्यञ्ज हः व्यङ्गचार्थप्रतिपादकः यः अर्थः, वाच्य उक्तः, तस्य।पि व्यञ्ज हस्यार्थस्य द्वौ प्रकारौद्धौ भेदौ तावेवाह —कवेरिति । कवेः, कविनिबद्धस्य कविना निबद्धस्य वा, वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रेण निष्पन्नशरीरः कविष्ठौढोक्तिसिद्धः, कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्धश्चेति द्वाववान्तरिवभागौ प्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वरूपेणै कत्वेनोक्तौ । स्वतःसम्भवी च द्वितीयः । एवं व्यञ्जकोऽर्थः स्वतसम्भःवी, कविष्ठौढोक्तिसिद्धः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धः ।

कविश्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरमुदाहरति—कवीति । यथेति सज्जेहीति ।

सुरिभमासः वसन्तसम्बन्धो मासः । युवितजनलक्ष्यमुखान् युवितजना-स्तरुण्यः, एव लक्ष्याणि येषां तादशानि मुखानि येषां तान् । नवपह्यान्, नवान् पह्नवान् पत्राणि लान्ति बाददते इति तादशान् । अभिनवसहकारमुखान् नूतनसहकारकुसुमादीन्, अनङ्गस्य मन्मथस्य, शरान्, बाणान्, सज्जयित सज्जीकरोति । न तावदर्पयति न ददाति ।।

अत्राचेतनस्य वसन्तस्य मदनबाणसञ्जीकरणात्मको वस्तुरूपो व्यञ्जकोऽर्थः किविश्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरः तेन वस्तुना वसन्तस्य मन्मथोन्माथकारित्वारम्भ-रूपं वस्तु संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यते ।

कविनिबद्धवक्तृत्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेन—'शिखरिणि' इत्यादौ।

यथा वा---

साअरिबङ्ग्गजोवणहत्थाळम्बं समुण्णमन्तेहिम् । अब्भुट्टाणं विञ सम्महस्य विण्णं तुञ थरोहिन् ।। [सादरिवतीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुझमद्भ्याम् । अम्युत्थानिमव मन्सथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥]

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसङ्ख्वो न केवलं भणितिवशेनैवाभितिष्मन्न सरीरः । ययो शहराम् "एवं वादिनि" इत्यादि ।

उज्जीवनी।

कविनिबद्धवक्तुप्रौडोक्तिनिष्यन्नशरोरः वस्तुना वस्तुष्विनिः । उदाहृतं पूर्वोदाहृतं 'शिखरिणि' इति पद्यमित्यर्थः । तत्र कविनिबद्धस्य वक्तुः कामिनः प्रौडयोक्तचा निष्यन्नस्य लोहितस्य बिम्बफलस्य शुक्तशाबककृतदंशन-स्वास्य वस्तुनः व्यञ्जकत्वम् । कामिन्यस्य सस्त्रादनविषयककामुकेच्छारू । वस्तु व्यज्यते ।

उदाहरणान्तरमप्याह—यथा वेति । साअरेति ।

कविनिबद्धस्य कस्यचिद् वक्तुः नवयौवनां प्रति उक्तिरियम् । सादर-वितीर्णगौवनहस्तावलम्बं सादरं सबहुवानं वितीर्णः दतः, यौवनेन तारुण्येन, हस्तावलम्बः करावलम्बो यस्मिन् तद् यथा भवति तथा । समुक्रमद्भ्यां तक स्तनाभ्यां, मन्मथस्य मदनस्य, अभ्युत्थानिमव दत्तम् ।

तारण्येन स्तनावुत्रताविति वस्तु हारेश्यः, कविनिबद्धव स्तृत्रौढोक्तिनिष्पन्नः व्यञ्ज हः । तद्दर्शनेन सर्वोऽपि उराह्य स्वावस्यौ भवतीति वस्तु हरोऽर्थो व्यञ्जयः ॥

स्वत इति । स्वतःसम्भवी व्यञ्जकोऽर्थः । औचित्येन उविततया । बहिरिप लोकेऽपि, सम्भाव्यमानसद्भावः सम्भाव्यमानः सम्भावन।विषयः सद्भावः विद्यमानत्वं, यस्य तादशोऽर्थः न केवल, भणितिवशेनैव भङ्गिसणितिरूपेणैव केवलम्, असिनिषात्रशरोरः निष्पन्नो न भवति कि तु यथा वा —

सिहिपिञ्छकण्णऊरा जाआ वाहरस गविवरी भमइ ।
मुत्ताफळरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥
[शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गविणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥]

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते । अनुस्वानोपमन्यङ्गचः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥ २५ ॥

एउजीवनी ।

स्वयमिभिनिष्पन्नशरीरः स्वतः सम्भवीत्युच्यते । यथेति । एवंवादिनीति पद्यमस्योदाहरणमित्यर्थः । तत्र स्वतः नववधूस्वाभाव्यात् सम्भवता मुखावन-मनादिना वस्तुरूपेण व्यञ्जकेनार्थेन लज्जावती जातेति वस्तु व्यज्यते ।

स्वतः सम्भविवस्तुना वस्तुध्वनेरेवोदाहरणान्तरमप्याह-सिहीति ।

शिखिपिञ्छकर्णपूरा शिखिनो मयूरस्य, पिञ्छमेव कर्णपूरः कर्णाभरणं यस्यास्तादशी। व्याधस्य शबरस्य, जाया भार्या, गिवणी सगर्वी, भ्रमित सञ्चरति। कुत्रेत्याह—मुक्ताफलेति। मुक्ताफलरचित्रप्रसाधनानां मुक्ताफलेः रिचतानि प्रसाधनानि भूषणानि यासां तादशीनां, सपत्नोनां मध्ये, तस्यैव शबरस्य भार्यान्तराणां मध्ये।

अत्र गर्विताया व्याधवध्वाः सपत्नीमध्ये भ्रमणरूपेण वस्तुना व्यञ्जकेन तस्याः सौभाग्यातिशयात्मकं वस्तु व्यज्यते ।

अर्थशक्तिमूलं वस्तुध्विति निरूप्य तादशमलङ्कारध्विति निरूपियतुमाह— अर्थिति । यत्रापि यस्मिन् काव्येऽपि, अर्थशक्तेः अर्थस्य सामर्थ्याद्, अन्यः वाच्यादलङ्कारादन्यः, अलङ्कारः प्रतीयते व्यज्यते, सोऽर्थशक्तिमूलध्वन्यात्मकः शब्दसन्दर्भः । अनुस्वानोपमव्यङ्गचः अनुस्वानेन अनुरणनेन, उपमा साद्श्यं यस्य ताद्शं व्यङ्ग्यं व्यङ्गचोऽर्थः यस्य ताद्शः, ध्वनेः काष्यविशेषस्य, अपरः प्रकारः अन्यो भेदः । वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थात् प्रतीयमानोऽव-भासते सोऽर्थशक्तयुद्धवो नामानुस्वानरूपव्यङ्गचोऽन्यो ध्वनिः॥

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते-

रूपकादिः लङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः । स सबी गम्यमानत्वं विभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥ २६ ॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतयाः बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिभंट्टोद्भटादिभः। तथा च ससन्देहादिषूपम रूप-कातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्व प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्गचत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम्।

उज्जीवनी।

तदेव विवृणोति—वाच्येति । वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्त वाच्यादलङ्काराद् भिन्नः, यत्र काव्ये, अन्य इतरः, अलङ्कारः रूपकादिः, अर्थसामर्थ्याद् अर्थस्य सामर्थ्यात्, प्रतीयमानः व्यज्यमानः, अवभासते प्रकाशते, स ध्विनः अर्थशक्त्यु-द्भवो नाम अर्थशक्तिम्लव्यङ्गधध्विनिनामकः अनुस्वानरूपव्यङ्गधः अनुरणन-व्यङ्गधोऽन्यो ध्विनः ध्वनेः प्रकारान्तरिमर्थयः ।

तस्येति । तस्य अङ्कारध्वनैः, प्रविरलविषयत्वं प्रविरलः अरुपः, विषयो-यस्य तादशस्य भावम् । आशङ्क्य अलङ्कारध्वनेः विरल एव विषय इत्या-शङ्कायाम्, इदं वक्ष्यमाणम्, उच्यचे कथ्यते ।

रूपकादिरिति । वाच्यताम् अभि घेयत्वं, श्रितः प्राप्तः, रूपकादिः रूपकम् आदिर्यस्य ताद्दशः, अलङ्कारवर्गः अलङ्काराणां गणः, स सर्वः अपि सकलः अपि, अलङ्कारवर्गः, गम्यमानत्वं प्रतीयमानत्वं, बिश्रद् वहन्, भूम्ना बाहुल्येन, प्रदिश्तिः अन्यैः अलङ्कारतास्त्रकारेरिति शेषः॥

अन्यत्रेति । अन्यत्र कचिद्, वाच्यत्वेन अधिधेयत्वेन, प्रसिद्धः प्रसिद्धि-विषयीभूतः, रूपकादिः रूपकोपमादिः, अलङ्कारो यः, सः अन्यत्र केषुचिद-लङ्कारेषु प्रतीयमानतया व्यङ्गचत्वेन, बाहुल्येन प्रदिशतः बहुधा दिशतः । तत्रभवद्धिः पूज्यपादैः, भट्टोद्भटप्रभृतिभिरित्यर्थः । उक्तमेवोपपादयति— इयत् पुनरुच्यत एव-

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते । तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥

अलङ्कारान्तरेषु तु अनुरणनरूपालङ्कारप्रतीती सत्यामिष यत्र वाच्यस्य व्यङ्घप्रतिपादनौ मुख्येन चारुत्दं न प्रकाशते नासौ ध्वनेमिर्गः। तथा च दीएकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः। यथा—

चन्दमऊहेहि णिसा णळिनी कमळेहि कुसुमगुच्छेहि ळशा। हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जगोहि कोरइ गरुई।।

उज्जीवनी

तथा चेति । ससन्देहादिषु सन्देहाद्यत्रङ्कारेषु, उपमायाः, रूपकस्य, अतिशयोक्तेश्च प्रतीयमानत्वं, व्यज्यमानत्वं प्रदर्शितं तेरिति, एवम् अलङ्कारान्तरस्यान्या-लङ्कारस्य, अलङ्कारान्तरे अन्यस्मिन् अलङ्कारे, व्यङ्कचत्व प्रतीयमानत्वं, सम्भवतीति तदिदं न यत्नप्रतिपाद्यं तदर्थं पृथग् यत्नो न कार्यं इत्यर्थः ।

तत्र यो विशेषस्तमाह—इयदिति । इयत् पुनः एतावत् तु, उच्यत एव । अलङ्कारान्तरस्येति । यत्र काव्ये, अलङ्कारान्तरस्यापि सहृदयश्लाघ्यस्यो-पमादेस्तु, प्रतीतौ प्रतीयमानतायां वाच्यस्याभिधेयस्यार्थस्य, तत्परत्वं व्यङ्गचार्थ-परत्वं व्ङ्गचार्थोपस्कारकत्वेन तात्ययंविषयत्वं न भासते न प्रकाशते, असौ ध्वनेमीर्ग इति ध्वनिविषय इति, न मतः नाङ्गीक्रियते ।

तदेवाह—अलङ्कारान्तरेषु इति । अलङ्कारान्तरेषु वाच्यादितिरिक्तेषू-पमाद्यलङ्कारेषु तु, अनुरणनरू गालङ्कारप्रतीतौ सत्यामि अनुस्वानात्मक-त्वेनालङ्काराणां प्रतीयमानत्वेऽि , यत्र यस्मिन् काव्ये, वाच्यस्य वाच्यार्थस्य च्यङ्गचप्रतिपादनौन्मुख्येन व्यङ्गचार्थप्रतीतिजननानुकूल्येन, चारुत्वं चमत्कारः न प्रकाशते न भासते, नासौ व्वनेमार्गः । पर्यवसितमाह —तथा-चिति । दीपकादौ अलङ्कारे, उपमाया उपमालङ्कारस्य, गम्यमानत्वेऽि , चारुत्वस्य चमत्कृतिजनकत्वस्य, तत्पर्यवन व्यङ्गचोपमातात्पर्येण, अनवस्था-नादनवस्थितेः, व्वनिव्यपदेशो नास्तीत्यर्थः । [चन्द्रमयुखैनिशा, निलनी कमलै:, कुसुमगुच्छैर्लता। हंसै: शारदशोभा, काव्यकथा सज्जनै:, क्रियते गुर्वी।।]

इत्यादिषूपमागर्भत्तेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते, न व्यङ्गचालङ्कारतात्पर्येण । तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यय-देशी न्याय्यः ॥

यत्र तु व्यङ्ग्यपरःवेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्गचमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः । यथा--

उज्जीवनी।

उदाहरित—यथेति ! चन्द्रमऊएहिं इति । चन्द्रमयूखैः चन्द्रस्य मयूखैः किरणैः, निशा राज्ञः, कमलैः पद्मैः, निलनी पिद्यनी, कुसुमगुच्छैः कुसुमानां पुष्पाणां गुच्छैः स्तबकै, लता वल्ली, हंसैः शारदशोभा, शारदी शरत्काल-सम्बन्धिनी द्युतिः, सज्जनैः सहृदयैः, काव्यकथा गुर्वी क्रियते महतो प्रकाशमाना विधीयते इति यावत् ।

अत्र दीपकमतङ्कारः । प्रकृतानामप्रकृतानां चैकधर्मान्वयो दीपकम् । प्रकृतमुपमेयम्। अप्रकृतमुपमानम् । तथा चात्र काव्यकथारूपस्योपमेयस्य, निशा, निलनीलताशारदशोभानामुपमानानां च महत्त्वापादनरूपैकधर्मान्वयः । यथा चन्द्रिकरणा निशां गुर्वी (भास्वरां) कमलानि निलनीं (शोभनां) कुसुमगुच्छाः लतां (मनोहारिणीं), हंसाः शारदशोभां श्रुतिसुखकारिणीं च कुर्वन्ति, तथा सह्दयाः काव्यकथां गुर्वी समादरणीयां कुर्वन्तीति उपमालङ्कारो यद्यपि व्यङ्गचः, तथापि वाच्यस्य दीपकस्य व्यङ्ग्यतत्प्रत्वाभावान्नायं व्वनिव्यपदेश-विषयः ।

इत्यादिष्त्रित । इत्यादिषु दीपकादिष्वलङ्कारेषु, उपमागर्भत्वे सित उपमाया अन्तर्गतत्वेऽपि, वाच्यार्थमुखेनैव वाच्यार्थभूतदीपकद्वारैव, चारुत्वं चमत्कृतिजनकत्वं, व्यवतिष्ठते व्यवस्थितं भवति । न व्यङ्गचालङ्कारतात्पर्येण व्यङ्गचो य उपमालङ्कारः तत्परत्वेत, न चारुतेत्थर्थः । तस्मात् तत्र दीपकस्थले, वाच्यालङ्कारमुखेनैव दीपकालङ्कारद्वारेणैव काव्यव्यपदेशः काव्यत्वव्यवहारः, याय्य उक्तः । यत्र तु यस्मिन् काव्ये पुनः, वाच्यस्यार्थस्य व्यङ्गचपरत्वेनैव प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरिष मित्र तं मन्थखेदं विद्ध्या-भिद्रामण्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि । सेत् बध्नाति भूयः किमिवि च सकलद्वीपनाथानुयात-स्त्वय्यायाते वित्तकीनिति दक्षत इवाभाति कम्पः पयोषेः ॥

यथावा ममैव - -

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ् मुखेऽस्मिन् स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।

उज्जीवनी ।

व्यवस्थानं व्यङ्गयतात्पर्येणैव व्यवस्थितिः तत्र व्यङ्गयगुखेनैव व्यपदेशः अलङ्कारध्वनिव्यपदेशः।

उदाहरति — प्राप्तश्रीरित । महाप्रभावे किंमिश्चिद् राजिन महोद्येस्तोरमुपगते तस्य संक्षोभं पद्यतः कस्यि बुक्तिरियम् । एष पुरोद्दयमानः, प्राप्तश्रीः
पयोधिमथनावसरे तत उद्भूतो लक्ष्मों प्राप्तवान् । अतः पुतरिप भूयोऽपि, तं
ताद्यां, मन्यखेदं मन्थान्मन्दरिशियामानं खेदं पीडां, कस्माद् विद्यात्
कुर्यात् । अतलसमतसः अनलसमालस्यश्न्यं मनो यस्य तथाविष्वस्य, पूर्वां पूर्वं
सञ्जातां, निद्रामि योगनिद्रामि नैव सम्भावयामि नैव तर्भयामि, ।
सकलढोपनाथानुयातः सकलैः द्वीपनाथैः द्वीपानामिषिपैः सर्वेदि अनुपतश्च,
भूयः पुनरिष, किमिति किमथाँ, सेतुं बह्नाति सेतुब्यवनायोद्युक्तो भवेत्, इति
एवंभूतान्, वितकिन् सन्देहान्, दवत इव धारयत इव, पयोधेः सनुद्रस्य, कमाः
क्षोभः आभाति प्रतिभाति ।

समुद्रतोरमुपगतोऽयं कि मथनायागतः, अथवा योगनिद्रां कर्तृ मुत्सुकः, द्वीपान्तरस्थितं रिपुं जेतुं सेतुबन्धनतत्परो वा इति ससन्देहालङ्कारस्य, वितर्कान्

१. "व—ज्योत्स्तायूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वां वावाद्यतं सरसमभवत् सिद्धयूनोः कयोश्चित् । एकः प्राह प्रथमितहतं केशिनं कंसमन्यः स त्वं तथ्यं कथम भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥" इति खपाठेऽधिकतया दृश्यते ।

क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूदकाश्रयेण काव्यचा स्त्वज्यवस्थानाद् रूपक-घ्वनिरिति व्ययदेशो न्याय्य: ।

उपमाध्दनिर्यथः---

वीराणां रमइ घुनिणरुणिम्स ण तहा पिआथणुच्छङ्गे। दिट्ठी रिज्जिशकुम्भत्थळिम्स जह बहळसिन्दूरे॥ [वीराणां रमते घुमृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे। दृष्टी रिपुण जकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे॥]

उज्जीवनी।

दधत इवेत्यनेन उत्प्रेक्षायाश्च्य सङ्करः, तेन च विष्णुतादातम्यरूपं रूपकं व्यज्यत इति कविनि बद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नः अलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।

स्वकीयमुदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—यथा वेति । लावण्येति । हे तरलायताक्षि, तरले चले अध्यते दीर्घे चाक्षिणी नेत्रे यस्यास्तादिश , अधुना कोपकालुष्यपरित्यागानन्तरं स्मेरे मन्दहसनशोले, लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्-मुखे लावण्येत रूपमाधुर्येण कान्त्या दीप्तचा च परिपूरितानि दिशामाशानां मुखानि येन तादशे तव मुखे वदने अभिमुखमागते सित पयोधिः समुद्रः, क्षोभं मनागपि ईषदिप न एति न प्राप्नोति इति यत् तेन हेतुना अयं समुद्रः जल-राशिः डनयोरभेदाद् जडराशिः मन्ये।।

अत्र वाच्यः श्लेषालङ्कारः । अनुस्वानरूपं मुखनन्द्रयोरभेदात्मकं रूपकं व्यङ्ग्यम् । श्लेषस्य व्यङ्ग्यरूपक्षकतात्पर्येण व्यवस्थितेः अलङ्गरोणालङ्कार-व्विन्यपदेशः । तदेवोपपादयति—इत्येवंविच इति । एवंविचे एताद्देशे विषये, अनुरणनात्मकं यद् रूपकं, तदाश्रयेण काव्यस्य यत् चारुत्वं सहृदयहृदयाह्लाद-कत्वं, तस्य व्यवस्थानाद् व्यवस्थितेः, रूपकध्वनिरिति व्यपदेशः नामकरणं न्याय्य उचितः ।

उपमाध्वितमुदाहरति—वीराणामिति । वीराणां दृष्टिः, बहलसिन्दूरे बहलं सिन्दूरं यस्मिस्तादशे रिपुगजकुम्भस्थले रिपूणां शत्रूणां ये गजास्तेषां कुम्भस्थले,

यया वा ममैव विषमबाणजीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य तं ताण सिरिसहोझररअणाहरणिम्म हिअअमेक्करसम्। बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमदाणेण ॥ [तत्तेषा श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्। बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाणेन ॥]

आक्षेपघ्वतियंथा---

स ववतुमिखलाञ्शको हयग्रीवाश्रितान् गुणान् । योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

उज्जोवनी ।

यथा रमते रतिमादत्ते, तथा घुनुणाहले घुनुलेन कुङ्कुमेन, अहले शोले, प्रियास्तनोत्सङ्गे प्रियायाः कामिन्याः कुचतटे न रमते।

अत वीराणां प्रियास्तनोत्सङ्गादिप रिपुगजकुम्भस्थले रतेराधिक्यं व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः । वाच्यो व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थः । गजकुम्भस्थले प्रियास्तनतटसाद्दयं व्यज्यत इति व्यङ्ग्योपमातात्पर्वेणैव व्यतिरेकस्यात्मलाभो भवतीति उपमायाः प्रधान्यम् । अतोऽत्रोपमाध्वतिः ।

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । विषमबाणलीलाभिधे ग्रन्थे, कामदेवस्य मदनस्य, असुरपराक्रमे असुरपराक्रमवर्णनावसरे । तदिति । श्रीसहोदररहना-हरणे श्रियो लक्ष्म्याः, सहोदरस्य सहजातस्य, रत्नस्य कौस्तुभमणेः, आहरणे ग्रहणे एकरसम् एको मुख्यो रसः प्रीतिर्यस्य तादशम् । तेषामसुराणां तद् हृदयं मानसं, कुसुमबाणेन कामेन, प्रियाणाम् असुरवनितानां, विम्बाधरे कौस्तुभमणित्वेनाध्यवसिते बिम्बाधरे, निवेशितं विन्यस्तम् ।

अत्र साध्यवसानलक्षणामूलातिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः । साद्भ्यसम्बन्ध-निवन्धनत्वाच्चेयं गौगो साध्यवसानेत्युच्यते । निरतिशयशोभावत्त्वेन साधारण-धर्मेण बिम्बाधरस्य कौस्तुभमणिसाद्भ्यरूप उपमालङ्कारः प्रतीयते । अत्र व्यङ्ग्योपमातात्पर्यकत्वाद्वाच्याया अतिशयोक्तेः, उपमाध्वनिः ।

आक्षेपध्वितमुदाहरित—आक्षेपेति । स इति । यः अम्बुकुम्भै : जलग्रहणो-पयुक्तघटै :, महोदयेः महतः समुद्रस्यः परिच्छेदं परिमाणं, ज्ञातुं वेदितं । शक्तः अतिशयोक्तचा हुपग्रीवगुणानासवर्णनीयता प्रतिपादनरूपस्यासाधारण-तिद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम् ॥

अर्थान्तरन्यासध्विति: शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्गचोऽर्थशक्तिमूलानु-रणनरूपव्यङ्गचश्च सम्भवितः। तत्राद्यस्योदाहणम्—

> देव्वाएत्तिम फळे कि कीरई एत्तिअं पुणः भणिमो । कक्किळ्ळपळ्ळाः पळ्ळवाणं अण्णाणं ण सरिच्छा ॥ [दैवायत्त फले कि क्रियतामेतावत् पुनर्भणामः। कङ्केलिपस्रवाः पस्रवानामन्येषां न सदक्षाः॥]

उज्जीवनी

समर्थः भवेत् स एव पुमान्, हयग्रीवाश्रितान्, हयग्रीवमाश्रितान् तद्गतान्, अखिलान् समस्तान्, गुणान् वक्तुं वर्णयितुं, शक्तः प्रगल्भो भवेदित्यर्थः।

बहिरविद्यमानस्यार्थस्य सम्भावनामात्रेणोपनिबन्धनात्मिकातिशयोक्तिः योऽम्बुकुम्भैरित्यादिना वाच्य!लङ्काररूपा भवति ।

अत्र वर्णयितुमिष्टानां हयग्रीवगुणानां विशेषप्रतिपादने च्छया यः प्रतिषेष इव क्रियते स आक्षेपः व्यज्यते ।

अत्रेति । अत्र अस्मिन् पद्ये, अतिशयोक्तया वाच्यालङ्कारेण हयग्रीवगुगा-नामवर्णनोयनाप्रतिवादनरूपस्य अवर्णनोयत्वावशोधनात्मकं यद् व्यङ्ग्य तद्भूपस्य । असाधारणः यस्तद्विशेषः तेषां गुणानां, उत्कर्षस्तत्प्रकाशनपरस्य तत्प्रकाशनपर्यवसायिनः, आक्षेपस्य आक्षेपालङ्कारस्य, प्रकाशनं व्यङ्गचिम-त्याक्षेपालङ्कारध्वनि:।

अर्थान्तरन्यासध्वनेः शब्दशिक्तमूलानुस्वानात्मकत्वमि सम्भवतोति स्फुटीकर्तुमाह—अर्थान्तरेति । अर्थान्तरन्यासध्विनः शब्दशिक्तमूलानुरणन-रूपव्यङ्गचः अर्थशिक्तमूलानुरणनरूपव्यङ्गध्य भवति । तत्रेति । तत्र तयोर्मध्ये, आद्यस्य शब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्यस्योदाहरणं देव्वायत्तम् इति ।

फले दैवायत्ते अदृष्टाधीने, कि क्रियतां न किमिप कर्त्तुं वयं प्रभवाम इत्यर्थः । कङ्केलिः रक्तशोकः, तम्य प्रकृताः किसलयानिः अन्येषा प्रकृवानां पद । काशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः । द्वितीयस्योदाहरणं यया—

हिअअहा विअभण्णं श्वित्र अवरुण्णमुहं हि मं पसः अन्त । अवरुद्धस्स वि णहु दे बहुजाणअ रोसिउं सक्कम् । [हृदयस्थाणितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् । अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥]

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापरः घस्यापि बहुजस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थेकमर्थ सामान्यमन्वितमन्यत् तात्पर्येण प्रकाशते ।

उज्जीवनी।

आम्रादिकिसलयानां न सरक्षाः न सरकाः, किन्तु ततोऽप्युत्कृष्टाः, एतावत् पुनः वयं भणामः इयदेव वक्तुं शक्यमस्माभिनीतोऽधिकमिति वाच्योऽर्थः। फलशब्दः सस्यरूपफले समृद्धौ च शक्तः। अत्र अशोकस्य पल्लवा हृद्याः, तथापि फलमा-म्रादिवन्नास्ति। तत्तु दैवायत्तमेवेति विशेषरूपोऽर्थः लोकोत्तरविजिगीषया तदुपायप्रवृत्तस्यापि जनस्य सम्पदूपं फलं दैवाधीनमेव सामान्येन सम्थ्यंते। सामान्येन विशेषसमर्थनात्मकस्यार्थान्तरन्यासस्य फलपदशक्तिमूलात्मकस्य शब्दशक्तिमूलध्वनिविषयत्वम्।

पदप्रकाश इति । अत्र वाक्यस्य अर्थान्तरतात्पर्येऽपि सति अर्थान्तरे व्यङ्गचरूपे अर्थे तात्पर्ये सत्यपि, अयं ध्वनिः पदप्रकाश्यः अनेकार्थेन फलशब्देन प्रकाशं प्राप्त इति वचने विरोधो नास्तीत्यर्थः ।

दितीयस्थोदाहरणमाह—दितीयस्थेति । हिअअेति । हे बहुज्ञ, बहु-जानातीति त'दशो बहुज्जः तत्सम्बुद्धिः । हृदयस्थापितमन्युं हृदये मनसि स्थापितो निगूहितो, मन्युः क्रोधः यया तादशीं, अपरोषमुखीं अपगतो रोषो यस्मात् तादशं मुखं यस्यास्तथाविधां, प्रसादयन् अनुकूलयन्, भवसि, अतः अपराद्ध-स्यापि कृतापराधस्य, तव त्वद्विषये मया रोषितुं न शक्यम् ।

अत्र कृतापराघत्वेऽपि बहुज्ञे त्विय मया शोषो न बिधातुं शक्य इति दिशेषरूपेण वाक्त्रार्थेन (वाच्येनार्थेन) सर्वेष्विप बहुज्ञेषु रोषो त कर्नुं शक्य

१. 'ण्डुभरमग्रुरण्एमु०' ल. ग. ('मन्युभरमनुरक्तमुलीम्' इति च्छाया)

व्यतिरेकध्वनिर्पि उभयरूपः सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्षप्रदिशत-मेव^१।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा-

जाएज वसुद्देये खुज्ज व्वित्र पासवी गडिअवत्ती । मा मासुसम्मि छोए ताएक्करसो दरिद्दो अ ॥ [जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादेपी गळितपत्रः । प्रा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥]

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्राय जन्मानिभनन्दनं त्रुटितपत्रकृञ्जपादप-

उल्जीवनी ।

इति सामान्यरूपोऽर्थो व्यञ्जनया सिद्धचतीति इतिशेषेण सामान्यसमर्थनात्मको-ऽत्नार्थन्तिरन्यासो व्यन्यत इति सर्थशक्तिमूलोऽयमर्थान्तरन्यासध्यनिः।

अत्रेति । अत्रास्मिन् पद्ये, वाच्यिवशेषेण सापराघस्यापि बहुजस्य, कोपः कर्त्तुमशक्य इति एवं रूपेगोत्यर्थः । तेनान्वितं समर्थकं समर्थनिवषयीभूतं सामान्यं, अन्यद् वाच्यभिन्नं तात्पर्येण व्यञ्जनया प्रकाशते ।

व्यतिरेकध्वनि निरूपयित—व्यतिरेकेति । व्यतिरेकध्वनिरि व्यतिरेका-लङ्कारध्वनिरिष, उभयरूप: शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च भवति । तत्राद्यस्य शब्दशक्तिमूलध्वने: उदाहरणं प्राक् शब्दशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचध्वनि-निरूपणाबसरे 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ती 'त्यादिना प्रदिशतम् ।

अर्थशक्तिमूलव्यतिरेकव्यनिमुदाहरति—द्वितीयस्येति । जाएजेति । वनोद्देशे वनस्यारण्यस्य कोेगो कापि, कुब्जः खर्वः, गळितपत्रः गळितानि पत्राणि पर्णानि यस्मात् तादशः पादपो वृक्ष एव, जायेय जायै, तदेव वरम् । कुब्जत्वेन स्तम्भादिनिर्माणयोग्यताशून्यः, गळितपत्रत्वेन अफलश्च यद्यपित्रुभविति तथापि स अङ्गाराय बा उलूकादीनां कोटरेषु निवासाय वा उपयुज्येत, किन्तु मानुषे लोके त्यागैकरसः त्यागे दाने एको मुख्यो रसः प्रीतिर्यस्य तादशः दरिद्रश्च निःस्वश्च मा जायेय जन्म मा लभेयेत्यर्थः।

अत्रेति। अत्र हि अस्मिन् पद्य, त्यागैकरसस्य त्यागशीलस्य, दरिद्रस्य

१. 'व रक्तस्त्वमित्यादि' ख

जन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम् । तथाविधादिष पादपात् तादशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिकयं तात्पर्येण प्रकाशयति ॥

उत्पेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तमुजगिनःश्वासानिलमूच्छितः। मूर्च्छगरयेष पथिकान् मधौ मलयमारुतः॥

अत्र हि मधौ मलयमास्तत्य पथिकमूच्छि हारित्वं मनमथोनमाथदामित्वे-नैद । तत्तु चन्दनासक्तभुजगिनःश्वासानिलमूच्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामध्यदिनुरणनक्ष्या लक्ष्मते ॥

उज्जीवनी

द्रविणरहितस्य, जन्मानिभिनन्दनं जन्मनो निन्दा, त्रुटितपत्रकुञ्जपादपजन्माभिनन्दनं त्रुटितानि गलितानि, पत्नाणि यस्मात् तादशस्य कुञ्जस्य पादपस्य जन्मनोऽभिनन्दनं च. साक्षात् शञ्दवेद्यं, अयमेव वाच्यो वाक्यार्थः। तथाविधादि तादशात् कुञ्जात् विगलितपत्राञ्च पादपात् तरोः, तादशस्य त्यागरतेः दरिद्रस्य च, पुंसो जनस्य उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकम् उपमानोपमेयत्वस्य उपमानो-पमेयत्वस्य प्रतीतः बोधःपूर्वं यथा भवति तथा, शोच्यतायां शोचनीयतायाम्, आधिवयं व्यतिरेकं, तात्पर्येण व्यञ्जनया प्रकाशयति। अत्र निष्पत्रात् तरोः निःस्वस्य दानशीलस्य पुंसः शोचनीयताधिक्यव्यञ्जनाद् व्यतिरेकालङ्कारध्वनिः अर्थशक्तिम्तः।

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथेति । चन्दनेषु मलयद्रुमेषु, आसक्तानां भुजगानां सर्पाणां, निःश्वासानिलेन श्वास्मक्ता, मूर्च्छितो वृद्धिमुपगतः एष परोगतः मञ्जयमाक्तः मलयपवनः, मधौ वसन्ते, पथिकान् पान्थान्, मूर्च्छेयति मोहयति ।

अत्रेति । अत्र अस्मिन् पद्येः मलयमारुतस्य मलयपवनस्य, पथिकमूच्छी-कारित्वं पथिकजनमोहनकारित्वं, मन्मथोन्माथदायित्वेनैव, यतो मलयमारुतो मदनपीडां पान्थानामुपजनयति, ततस्तेषां मूच्छां स्वयमेव करोति तथ पि चन्दनासक्तभुजगानां निरुश्वासानिलसम्पर्कस्तद्धेतुत्वेन सम्भावितइति उत्प्रेक्षा-

१. 'करएात्वं' ख. ग. ज.

न चैवंविधे विषये इवःदिशब्दप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्शवगतिदर्शनात्। यथा—

> ईसाकळुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो । अज्ञ सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विश्वः ण माइ ॥ [ईष्यिकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूणिमाचन्द्रः । अद्य सदशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति ॥]

उज्जीवनी ।

ध्वितिः। सा चोत्प्रेक्षा साक्षादनुक्ता वाचकशब्दैरनभिहिता वाक्यार्थतामध्याँद् (अर्थशक्त्या) अनुरणनरूपा लक्ष्यते बोध्यते :

आशाङ्कते—न चेति । एवंविधे विषये, सम्भावनाविषये इवादिशब्द-प्रयोगमन्तरेण "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादशः।" इति उत्प्रेक्षावाचकत्वेन।भ्युपगतानां शब्दानां प्रयोगं विना, असमबद्धता उत्प्रेक्षासमबन्धो वकत्ं न शक्यत एव।

समाधते —तथा वक्तुं न शक्यत इति । गमकत्वाद् इवाद्यभावेऽपि तदर्थावगतेः । अन्यत्रापि तद्भिन्नस्थलेऽपि तदप्रयोगे, इवाद्यप्रयोगे, तदर्थावगति-दर्शनात् तस्योत्प्रेक्षारूपस्यार्थस्य, अवगतेख्वगमस्य दर्शनात् ।

वस्तुतस्तु नेयमाशङ्कोचिता। शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्गचनिरूपणावसरे "यत्र च मातङ्गगामिन्य: शीळवत्यश्च प्रमदाः" इत्यत्र साक्षाद् वाचकशब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वाद् वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषो-ऽयमिति वक्तुं न शक्यते। अतः अत्र विरोधालङ्कारध्विनिरिति वदता ग्रन्य-कारेण अलङ्कारान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि वाचकशब्दप्रयोगे तस्य वाच्यालङ्कार-त्वमेव, अन्यथा नु ध्वितित्वमित्यङ्कोकृतम्। प्रकृतेऽपि उत्प्रेक्षालङ्कारध्विनरेव। इवादीनामप्रयोगात्। इदमपि अर्थशक्तिमूलानुरणनध्वन्युदाहरणप्रदर्शनपरं प्रकरणम्॥

वाचकशब्दिव रहितं स्थलान्तरं प्रदर्शयित—ईसेति । नायको नायिकां वक्ति । एष पुरो दृश्यमानः, पूर्णिमाचन्द्रः पूर्णचन्द्रः, ईष्यिकलुषस्य मलिनस्यापि,

१. 'चिम्र' ख. ग.

यथा वा---

त्रासाकुलः परिपतन् पिरतो निकेतान् पुंभिनं कैश्चिदिष घन्विभिरत्वबन्धि । तस्थौ तथापि न मृगः कचिदङ्गनाभि-राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्चीः ॥

उज्जीवनी ।

तव मुखस्य सद्दश्तवं साम्यं, प्राप्य, अद्य अङ्ग एव स्वकीये अवयवे एव, न मःति न परिमिततां भजते, किन्तु दश दिश: पूरयतीत्यर्थः॥

अत्र चन्द्रकृतस्य दिशां प्रपूरणस्यः नायिकामुखसाद्दरयप्राप्तिर्हेतुत्वेनो-त्प्रेक्षिता इति उत्प्रेक्षावाचकशब्दाभावेन उत्प्रेक्ष ध्वनैरुदाहरणमिदम्।

मुखस्य सदशस्वं प्राप्येवेति इवशब्दाभावेऽपि ''ननु'' शब्दसत्त्वात्तस्य चोत्प्रेक्षाद्योतकत्वं मन्वान उदाहरणान्तरमाह—त्रासाकुल इति ।

शिशुपालवधाल्यस्य महाकाव्यस्य पश्चमसर्गे षड्विशं पद्यमिदम्। द्वारकाया इन्द्रप्रस्थं प्रति प्रयाणे रैवतकगिरौ कश्चित्कालमुषितवित श्रीकृष्णे तत्र कस्यचित् मृगस्य वर्णनात्मकमिदम्। रैवतकगिरौ जनानामपूर्वेण दशंनेन वासाकुलः त्रासेल भयेन विह्वलः मृगः, निकेतान् सेनासन्निवेशगृहान्, परितः समन्तात्। परिपतन् श्रमन्, कैश्चिदपि धन्विभः धनुष्मिद्धः पृभिः पुरुषेः, न अन्वबन्धि नानुगतः। तथापि अङ्गनानां नारीणां, आकर्णपूर्णनयनेषुहते-क्षणश्चीः आकर्णं कर्णपर्यन्तं, पूर्णेः कर्णान्तिविश्चान्तैः नयनैरेवेषुभिः बाणैः, हता प्रतिहता, ईक्षणश्चीः नयनशोभा यस्य तादशः, स मृगः, कचिदपि कुत्रचिदपि प्रदेशे, न तस्थौ स्थिरां स्थिति न चकारेत्यर्थः।

अत्र मृगस्य त्रासाकुलस्य कचिदप्यनवस्थानस्य हेतुत्वेनाङ् नानयनबाण-हतेक्षणश्रीकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । सा च उत्प्रेक्षावाचकशब्दाभावात् व्यङ्ग्येति उत्प्रेक्षाध्वनेरिदमप्युदाहरणं प्रदर्शितम् ।

अङ्गनानयनेषुहतेक्षणश्रीकत्वस्य हेतुत्वे प्रमाणं दर्शयति—शब्दार्थेति । शब्दार्थव्यवहारे अर्थप्रतीत्यर्थं शब्दप्रयोगात् शब्दरूपस्य पदार्थस्य, व्यवहारे शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् । इलेष्डवनिर्यथा—

> रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः । यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधृभिवेलभीर्युवानः ॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इत वलभ्य इति क्लेषप्रतीतिरकञ्चाप्यर्थसामाध्यन्मिख्यत्वे वर्तते। यथासंख्यध्वनिर्यथा—

उज्जीवनी।

प्रयोगे प्रसिद्धिरेव प्रमाणं, लोकप्रसिद्धिः प्रमाणमिति यावत् । तथा कविसमय-प्रसिद्धेरपि प्रामाण्यं निर्वाधम् ।

श्लेषध्वितमुदाहरति—इलेषध्विति। रम्या इति। यस्यां द्वारकाय,ां युवानस्तरुणाः, रम्या इति रमणीया इति हेतोः, रागं रितं वर्धयन्तीः, नमद्वन्तीकाः नमन्ति नम्राणि, वलीकानि नीधाणि यासु ताद्दशीः वलभी- गोपानसीः, वधिमः समं ललनाभिः सार्धं, असेवन्त आश्चितवन्तः । युवानो वधिभाः सह वलभीः असेवन्त इत्यस्य युवानः वधः वलभीश्चासेवन्त इत्यथः । विशेषणवानया-र्थानां वध्नसाधारण्यमप्यस्ति । तथा च वध्वः रम्याः पताकाः प्राप्तवत्यः सौभाग्यवत्यः विविक्ता विमलाः सुन्दर्य इति यावत् । अतो रागमनुरागं वर्ध-यन्त्यः । नमद्वलीकाश्च नमन्त्यो वह्नचः त्रिवलयो यासां ताद्दयः इति द्वितीयः स्याप्यर्थस्य प्रत्यायनात् श्लेषालङ्कारो व्यज्यते ।

उपपादयति—अत्रेति । अत्र अस्मिन् पद्ये, वधूभिः कान्ताभिः सह, वलभीगोपानसीः, असेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वाक्यार्थस्य वाच्यस्य बोधानन्तरं, वध्य इव वलभ्य इति वलभीनां वधूसाद्दयबोधिका फ्लेषप्रतीतिः क्लेषालङ्कारस्य व्यञ्जनया बोधः । इयं प्रतीतिस्तु, अशब्दा शब्दादिभधाजन्य-प्रतिपत्त्यविषयीभूतापि, अर्थसामध्यादर्थशक्तेः, मुख्यत्वेन प्रधानत्वेन विवर्तते परिणमति, अतोऽत्र इलेषध्वनिः ।

१. 'बिव' ख. ग.

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः प्रुष्पितश्च सहकारः। अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकिसः व्युष्पितश्च हृदि मदनः॥

अत हि यथोद्शमनूद्शे यञ्चास्त्वमनुरणनरूषं सदनविशेषणभूताङ्कुरि-तादिशब्दगतं तन्पदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुञ्चयलक्षणाद्वाच्यादितिरिच्य-मानमालक्ष्यते । एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगं योजनीयाः ॥

उज्जीवनी ।

यथासङ्ख्यव्विनमुदाहरित—यथोते । अङ्कुरितः इति । यथा सहकार-रच्तः, अङ्कुरितः सञ्जाताङ्कुरः प्रथमं, ततः पल्लिवतः सञ्जातपल्लवः, कोरिकतः सञ्जातमुकुलः, ततः पुष्पितः विकसितकुसुम्दव, तथा तरुणानां हृदि चेतसि, मदनः कामः, अङ्कुरितः प्रथमं प्राहुर्भूतः, ततः पल्लिवतः ईषदृद्धिमुपेतः अथ कोरिकतः अनुभावदशामाप्तः, ततः कुसुमितः विकासरूपेणानुभवविषयी भूतश्च अभवत् ।

उपपादयति—अत्रेति । 'वण्यानामितरेषां वा धर्में वयं तुल्ययोगिता' अत्र वसन्तवणंने प्रस्तुते, वर्णनीयत्वेत प्रस्तुतयोः मदनसहकारयोः एकधर्मान्वयः, अङ्कुरितत्वादीनां धर्माणामन्वय इति तुल्ययोगितालङ्कारः । तथा बहूनां क्रियाणां गुम्फनात्मकः समुख्यश्च वाच्योऽलङ्कारः । अत्र अस्मिन् पद्ये, यथोद्देशम् उद्देशमनित्कम्य, अनुद्देशे तेनैव क्रमेणोद्दिश्यमानै यत् चारुत्वं सहृदय-हृदयाह्नादकारित्वं, अनुरणनरूपं अनुस्वानात्मक, मदनिवशेषणभूतमङ्कुरि-तादिशब्दातं मदनस्य विशेषणभूतानामङ्कुरितत्व, पह्नवितत्व, कोरिकतत्व-कुसुमितत्वानाम् अङ्कुरितादिशब्देः प्रतोयमानं तत् तद्र्यं, यथासङ्ख्यालङ्कार-ध्वन्यात्मकं मदनसहकारयोः प्रस्तुतयोः तुल्ययोगितासमुद्ध्यलक्षणात्, तुल्ययोगितालङ्काररूपात् समुद्धयालङ्काररूपाद्धात्मकं मदनसहकारयोः प्रस्तुतयोः तुल्ययोगितासमुद्धयलक्षणात्, तुल्ययोगितालङ्काररूपात् समुद्धयालङ्काररूपाद्ध, वाच्यादिभवेयाद् अतिरिच्यमानं अतिरिक्तम्, आलक्ष्यते प्रतीयते । एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण, अन्येऽिप अलङ्कारा ध्वन्यमानाः, यथायोगं यथासम्भवं योजनीयाः ।

एतेन उपमादयो वाच्यार्थगता अलङ्काराः सर्वेऽिष ध्वनिकारेणाभ्युपगत इति ज्ञायते । ततश्च शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते, स यदि ध्वनेः प्रकारा

१. 'कुसुमित' ग २. 'कुसुमित' ग

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापियतुमिद-मुच्यते—

श्वरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितस् । तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वत्यङ्गतां गताः ॥ २८ ॥

ध्वस्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यञ्जयत्वेन च । तत्रेह प्रकरणात् व्यञ्जयत्वेनेत्यवगन्तव्यभ् । व्यञ्जयत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्य-विवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्गयत्वं प्रति पाद-यिष्यते ॥

उज्जीवनी ।

उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एपापहृतः स्यादित्याशङ्कय ''आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते । यस्मिन्ननुकतः शब्देन शब्दशक्त्युद्धवो हि सः ।'' इति शब्दशक्तिमूलस्यार्थान्तरस्यापि प्रकृतत्वे श्लेषो वाच्यालङ्कारः । तस्याप्रकृतत्वे तद्वयङ्कारत्वेनाभ्युपगम्यमानम् अर्थान्तरं यद्यलङ्कारात्मकं, यदि च तद्वाचकपदरिहत तदा स शब्दशक्तिमूलध्वनै विषय इति चोक्तम् ।

एवमिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, अलङ्कारध्वितमार्गं व्युत्पाद्य अलङ्कारध्वनेः दिक्पदर्शनानन्तरं तस्य प्रयोजनवत्तां सफलत्वं ख्यापयितुं प्रख्यापित्तुं. इदं वक्ष्यमाणं, उच्यते कथ्यते । शरीरीकरणमिति । येषामलङ्काराणां, वाच्यत्वे शक्तिजन्यबोधविषयत्वे, शरीरीकरणं अशरीराणामि कटककुण्डला-दितुल्यतया शरीरोपकारकाणां शरीरत्वापादनं, न व्यवस्थितं, ते ध्वन्यङ्गतां ध्वनेरङ्गत्वं, गताः प्राप्ताः, परामुत्कृष्टां छायां यान्ति प्राप्नुवन्ति ।

घ्वन्यङ्गता घ्वनि प्रति अङ्गत्वं, व्यञ्जकत्वेन व्यङ्गचत्वेन चेति उभाभ्यां प्रकाराभ्यां भवति । तत्रेह अस्मिन् स्थले प्रकरणात् व्यङ्गचालङ्कार-निरूपणात्मकात् प्रकृतात्, व्यङ्ग्यत्वेनाङ्गत्वम् । इत्यवगन्तव्यं ज्ञातव्यम् । एवम् अलङ्काराणां व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रतीयमानतायामपि, प्रधान्यविवक्षायां सत्यामेव प्रधानत्वेनाङ्गित्वेन, तात्पर्ये सत्येव, घ्वनौ काव्यविशेषे, अन्तःपातः

१. 'काशिय' ग.

द्वितीय उद्योत:

अङ्गित्वे । व्यङ्गचतायामपि, अलङ्काराणां द्वयी गतिः—कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते, कदाचिदलङ्कारेण ।

त्रयः --

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदाः । अवं ध्वन्यङ्गतः तासां काव्यवृत्तेक्तदाश्रयात् ॥ २६ ॥

तस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम् । अन्यया तु तद्वास्यमात्रमेव स्यात् ॥

उज्जीवनी।

अन्तर्भावः । इतरथा प्राधान्येनाविवक्षिततयाङ्गित्वाभावे, गुणीभूतव्यङ्गच-त्वमेव तस्य काव्यस्येति प्रतिपादियिष्यते वक्ष्यते ।

अङ्गित्वेन प्राधान्येन, व्यङ्ग्यतायामिष प्रतीयमानतः यामिष , अलङ्काराणां द्वयी गतिः व्यञ्जकत्वेन ध्वत्यङ्गस्य वस्त्वलङ् काररूपेण द्वैविध्याद् व्यङ्ग्यानामिष प्रकारद्वयमित्यर्थः । कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यञ्जकेन वस्तुना, व्यज्यन्ते प्रतीयन्ते । कदाचिञ्च व्यञ्जकेनालङ्कारेण व्यज्यते । एतेन वस्त्वलङ्काररूपाद् व्यञ्जकद्वैविध्याद् वस्त्वलङ्काररूपव्यङ्ग्यस्यापि द्वैविध्ये अर्थशक्तिमूलध्वनेश्चातुर्विध्यमित्यर्थः ।

अलङ्काराणां व्यङ्ग्यत्वे विशेषमाह—तत्रेति । व्यज्यन्त इति । यदा वस्तुमात्रेण, अलङ्कारिभन्नेन वस्तुना व्यञ्जकेनेत्थर्थः । अलङ्कृतयोऽलङ्काराः, व्यज्यन्ते, तदा तासामलङ्कृतीनां ध्वन्यङ्गता ध्वन्यात्मकत्वम् । अत्र हेतुमाह—काव्यवृत्तेरिति । काव्यवृत्तेः काव्यपदप्रवृत्तेः, तदाश्रयाद् यतः सोऽलङ्काररूपो व्यङ्ग्योऽर्थः तमाश्रित्येव काव्यपदप्रवृत्तिः वर्तते तत इत्यर्थः ।

तस्मादिति । तस्मात् ततः तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेनैव तथाविधस्य ध्वन्यङ्गभूतस्य व्यङ्ग्यस्यालङ्कारस्य प्रतीतिविषयत्वतात्पर्येणैव, काव्यं किवकमं प्रवृत्तम् । अन्यथा अलंकारस्य व्यङ्ग्यत्वाभावे, तत् काव्यं वावयमेव केवलं वाक्यात्मकमेव, स्याद् भवेत् ।

तासामेवालङ्कृतीनाम्--

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्धभावे ध्वन्यङ्गता भवेत् । चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्धप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३० ॥

उन्तं ह्ये तत्—'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना बाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति । वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे भाकाङ्काराणामनन्तरोपदिशितेभ्य एवोदाहरणेभ्यः विषय उन्तेयः । तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषणरूपेण वार्थेनार्थान्तरस्या-

उज्जीवनी।

वस्तुनाः व्यक्षकेनालङ्कारस्य ध्वन्यमानतां प्रदर्शं व्यक्षकेनालङ्कारेणा-लङ्कारस्य ध्वनिमाह्—तासामेवेति । अलङ्कारेति । यासामलङ्कृतीनां वस्तुमात्रेण व्यङ्ग्यानां प्राधान्ये ध्वन्यङ्ग्ता, तासामेवालङ्कृतीनां, अलङ्काणान्तरव्यङ्ग्यभावे अलङ्कृत्यन्तरेण, व्यङ्ग्यभावे व्यङ्ग्यत्वे सति, चारत्वोत्कर्षतः चारत्वस्य रामणीयकस्य उत्कर्षात् । व्यङ्ग्यप्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य तस्यालङ्कारस्य प्राधान्यम्। यदि लक्ष्यते यदि दश्यते, तदा ध्वन्यङ्कता ध्वनिविषयत्वं भवेत् । वाच्येन वस्तुना वालङ्कारस्य व्यङ्ग्यतायामिव वाच्येनालङ्कारेण अलङ्कारान्तरस्य व्यङ्ग्यतायामिप तस्य वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकत्वं यद्यस्ति तर्हि सोऽपि अर्थशक्तिमूलानुरणन ध्वनिविषयो भवतीत्यर्थः ।

तत्र प्रमाणमाह—उक्तमिति । वाच्यव्यङ्ग्ययोः वाच्यस्य व्यङ्गचस्य चार्थस्य प्रधान्याया विवक्षा । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना चारुत्वेत्वक्षा प्रधान्यस्य प्रधानताया विवक्षा । चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना चारुत्वस्य चमत्कृतेः उत्कर्ष एव निबन्धनं यस्पास्तादृशीः इति एतद् इदं पूर्वोक्तमित्यर्थः । अलङ्काराणां वस्तुमावव्यङ्गचत्वे ।वस्तुमात्रेणालङ्काराणां व्यङ्गचतायां, अनन्तरोपदिश्तिम्यः अव्यवहितपूर्वत्वेन प्रदर्शितेभ्यः उदाहरणोभ्य एव, विषय जन्मयः । उदाहरणानि उन्नेयानि । तत् तस्मात्, एवमुक्तप्रकारेण, अर्थमात्रेणालङ्काणविशेषरूपेण वा, अर्थन वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधेन व्यञ्जकेनार्थेन, अर्थान्तरस्य वस्तुमात्रस्य, अलङ्कारस्य उपमादेर्वा प्रकाशने,

१. 'त्वेऽलङ्कारव्यङ्गचत्वे चा०' खः

लङ्कारस्य वा प्रकाशने वारुत्वोत्कर्षतिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्तयुद्भवानु-रणनरूपन्यङ्ग्यो व्वनिरवगन्तन्यः ॥

एवं ध्वने. शभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तु सुच्यते-

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लि धत्वेन भासते । बाच्यस्याङ्गतया बापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥ ३१ ॥

द्विविधोऽपि प्रतोयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्तचार्थं-शक्तचा दा प्रकाशते स एव ध्वनैः मार्गो नेतरः ॥

उज्जीवनी।

चारुत्वोत्कर्वनिबन्धने, चारुत्वातिशयनिमित्ते प्राधान्ये सति, अर्थशकत्युद्भवानुरणनरूग्वयङ्ग्यो ध्वनिः, अर्थशक्तिमूलानुस्त्रानरूपं व्यङ्ग्यं यत तादशो ध्वनिः, अर्वगन्तव्यः ज्ञातव्यः । एवं चार्थशक्तिमूलध्वनिः चतुर्विधः । व्यञ्जकस्य चार्थस्य स्वतः सम्भवित्वेन, कविपौढोक्तिसिद्धत्वेन, कविनिबद्धवक्तृपौढोक्ति-सिद्धत्वेनापि त्रैविध्ये द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलध्वनिः ।

एतावता प्रबन्धेन घवनेः प्रभेदो दिशतः । इदानीं तस्य घवन्यमानस्यार्थस्य घवनिवयपदेशिवषयत्वमधिकृत्याह्— एविमिति । एवं पूर्वोक्ताकारेग, घवनेः प्रतीयपानार्थप्रधानस्य काव्यस्यः प्रभेदान् प्रतिग्राद्य निरूपः, तिदाभासविवेकं व्यङ्गचत्वेऽि घवनित्वेनाभासमानस्य तस्यार्थस्य, घवनिव्यपदेगविषयाद् भिन्नत्वं कतृ भेदं पदर्शियां, उच्यो कथ्यते । यत्रेति । यत्र काव्ये प्रतीयमानो व्यङ्गचोऽर्थः, प्रम्लिष्टत्वेन अस्फुटत्वेन अपि कि च, वाच्यस्याभिधेयस्यार्थस्य, अङ्गतया अङ्गत्वेन वा, भासते प्रतीतिविषया भवति, असी व्यङ्गचोऽर्थः, घवनेः न गोचरः घविषयो न भवितुमहंति ।

तदेवोगपादयति—द्विविधोऽगीति । प्रतोयमानः व्यङ्ग्यः अर्थोऽपि, स्कुटः स्फुटप्रकाशिविषयः, अस्फुटः अस्फुटतयैव प्रकाशिविषय इति एवं द्विविधः द्विप्रकारः । तत्रेति—य एव य एवार्थः स्फुटः स्पष्टः, शब्दशक्तचा शब्दात्

१. 'श्लि.' ख.

स्फुटोऽि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन त्रतीयभानोऽवभासते सोऽस्यानुरणक्रव-व्यङ्गचस्य व्वनेरगोचरः॥

> कमळाअरा ण मळिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा। केण वि गामतडार् अञ्मं उत्ताणअं छित्तं।।

[कमलाकरः न मलिता हंदा उड्डायिता न च सहसा । केनापि ग्रामतडागेऽभ्रम्तानितं क्षिप्तम् ।:]

अत हि प्रतोयमानस्य मुग्धवध्वा जलध्रप्रतिबिम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्व-मेव। एवंविथे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुःवोतकर्षं प्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेष्वंनेरविषयत्वम्। यथा—

उज्जीवनी ।

शक्तच ख्यव्यापारेण यदर्थान्तरबोधजननसः मध्यं तेन, अर्थशक्तचा अयिन्तरबोधजनकरवसामर्थ्येन वा, प्रकाशते भासते, स एव तादश एव ध्यनेः मार्गः पन्याः, नेतरः तिद्भिन्नः ध्वनिव्यपदेश्यो न भवतीत्यर्थः। यः प्रतीयमानः स्फुटोऽपि स्पष्टाया व्यङ्गचोऽपि, अभिधेयस्य वाच्यार्थस्यः अङ्गत्वेन सहकारित्वेनावभासते भासते, सः प्रतीयमानोऽर्थः, अनुरणनरूपव्यङ्गचस्य अस्य ध्वनेः अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यव्यङ्ग्यध्वनेः, अगोचरः अविषयः । एतेन यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य।स्फुटत्वं, यत्र च स्फुटत्वेऽपि तस्याभिधेयाङ्गत्वं तत्र सोऽयो ध्वनिविषयो नेत्यर्थः । उदाहरित —कमलाअरेति । काचिनसुम्धवधः पितृष्वसः र वक्ति । हे पितृष्वसः । कमलाकराः कमलानां पद्मानां समूहाः, न मिलताः न खण्डिताः, हंसाश्च न उड्डायिताः, उड्डयनं कारिताः, केनापि जनेन, ग्रामतडागे ग्रामस्थिते सरिस, उत्तानितं ऊर्ध्वमुक्तः अभ्रं मेघः, क्षिप्तं प्रक्षिप्तम् । अत्र सरोजले मेघस्य प्रतिबिम्बदर्शनं मुग्धवधूकर्तृ कं व्यङ्ग्यम् । तच्च स्फुटमेव । तत्रापि जले मेघस्य छायां दृष्टा काचिद् वधूः मेधं तत्र केनापि प्रवेशितं मन्वाना पितृष्वसारं कथयतीति वाच्यार्थस्यवाङ्गत्वेन (उपकारकत्वेन) आभासते इत्यतः नायं ध्वनैः विषयः ।

विवृणोति--अत्रेति । अत्र हि अस्मिन् काव्ये तु, मुग्धवध्वा मुग्धाया।वध्वाः, जलधरप्रतिबिम्बिदर्शनस्य जल्ले यद् जलधरप्रतिबिम्बदर्शनात्मकं तस्य प्रतीय-मानस्य व्यङ्ग्यस्य, वाच्याङ्गस्वमेव वाच्यमर्थं प्रत्यङ्गत्वमेव । अन्यत्रापि दितीय उद्दोतः

वाणीरकुडङ्गोड्डीणराउणिकोळाहळं सुणन्तीए । घरकम्मवावडाए बहुए सोअन्ति अङ्गाई ॥ [यानीरकुञ्जोड्डीनककुनिकोळाहलं शृण्यत्याः। गृहकर्मव्यापृतायाः सीदन्त्यङ्गानि॥]

एवं विधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते । यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्ग- स्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणन्हपव्यग्यस्य ध्यनेमार्गः । यथा—

उज्जीवनी ।

स्थलान्तरेऽपि, एविविधे विषये एताद्दशे विषये, यत्र वाच्यस्याभिधेयस्यार्थस्य व्यङ्गचःपेक्षया व्यङ्गचमर्थमपेक्ष्य, चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या चारुत्वस्य चमत्कृति-जनकत्त्रस्य य उत्कर्षः उत्कृष्टत्वं, तस्य प्रतीत्या भानेन, प्राधान्यं प्रधानत्वं अवसीयते प्रधानत्वेन वाच्य एव पर्यवस्यति, तत्र तादशस्थले, व्यङ्गचस्य प्रतोयमानस्यार्थस्य, अङ्गत्वेन प्रतीतेः अङ्गत्वेन ज्ञानविषयत्वादेव, ध्वनेः अविषयत्वं ध्वनिविषयत्वं न भवतीत्यर्थः।।

उदाहरणान्तरमाह—वाणीरेति । वानीरकुञ्जाद् वेतसलतागृहात्। उड्डोनानां शकुतीनां पक्षिणां, कोलाहलं कलकलं शृण्वत्या अक्षणंयन्त्याः, गृहकर्मणि स्वगृहे कर्तव्ये कर्मणि, व्यापृताया नियुक्तायाः, वध्या ललतायाः, अङ्गानि सीदन्ति अवसादं प्राप्नुवन्ति ।।

अत दत्तसङ्केतो नतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्योऽर्थः । तदपेक्षया वाच्य-स्यैव चारुत्वोत्कर्षः प्रतीयत इति तस्यैव प्राधान्याद् व्यङ्ग्यस्याङ्गत्त्रम् ।

एविव इति । एवंविधो हि विषयः व्यङ्ग्यस्य स्फुटत्वेऽि वाच्याङ्कार्वेन पर्यवसानं यत्र ताहरो विषयः गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणत्वेन मध्यम काव्यो-दाहरणत्वे । निर्देक्ष्यते । गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य तु लक्षणमुक्तं मम्मटभट्टेन—

व्यङ्ग्ये वाच्यानतिशायिनि सति मध्यमं गुणोभूतव्यङ्ग्यं काव्यमिति । तज्ञ विभक्तं—

> अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धघङ्गमस्फुटम् । सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काकाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यग्यस्याष्ट्री भिदाः स्मृताः ॥

इति । ध्वनिविषयमाह—यत्रेति । यत्र यस्मिन् काव्ये, प्रकरणादिप्रतिपत्त्या

उच्चिगुसु पिंडअकुसुमं मा घुण सेहळिअं हळिअसुह्हे । अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वळअसदो ॥ [उच्चितु पिततकुसुमं मा धुनीहि शोफालिकां हालिकस्नुषे। एष ते विषमविराव: श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्द:॥]

अत ह्यविनयपितना सह रममाणा सखी बहि : श्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते । एतदपेक्षणीयं वाच्याधंप्रतिपत्तये । प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्य।विनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिनीयमानत्वात् पुनव्येङ्गचाङ्गत्वभेवेत्यस्मिन्न- नुरणनक्ष्यङ्ग्यध्वनावन्तभविः ॥

उज्जीवनी ।

प्रकरणादेः वक्तृतात्पर्यनिर्णायकस्य प्रत्यायनेन, निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः निर्धारितो निर्णातो, विशेषो यस्य (वाच्यस्यार्थस्य) तादशो वाच्योऽिभधा-विषयोऽर्थस्तु प्रतीयमानाङ्गत्वेनावभासते प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्यार्थस्या-ङ्गत्वेनैवावभासते अप्रधानत्वेनैव भासते सध्वनिः, अस्यैवानुरणनरूपव्यङ्गच-स्य ध्वनेः संवक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनरेव मार्गः पन्याः । उदाहरति—यथेति । उच्चिगुसु इति ।

हािलकस्तुषे हािलकस्य पुत्रमार्ये, पिततं भूमौ लताया निपिततं, कुसुमं पुष्पं, उिच्चतु गृहाण, । शेफािलकां शेकािलकापुष्पलतां, वा धुनीिह मा कम्पय । हेतुमाह—एषेति । विषमविरावः विषमः विरावः, ध्वनिर्यस्य ताह्यः एषोऽयं, ते वलयशब्दः, वल्रयानां झणत्कारः, श्वशुरेण पत्युः पित्रा श्रुत अक्रिणतः ॥

ध्विन प्रतिपादयित—अत्रेति । अत्रास्मिन् पद्ये, अविनयपितना सह न विद्यते विनयो यस्य ताद्येन पत्या साकं, रममाणा क्रीडन्ती, सखी काचिद् वध्नः, बिहः श्रुतवलयकलकलया बिहः श्रुतः, श्रवणविषयीभूतः वलयानां कलकलः नादः यया ताद्या, सख्या वयस्यया, प्रतिबोध्यते ज्ञाप्यते । वाच्यार्थ-प्रतिपत्तये अत्र वाच्यस्यार्थस्य ज्ञानाय एतद् व्यङ्ग्यं अपेक्षणीयं आवश्यकम् । प्रतिपन्ने च वाच्यार्थे वाच्यार्थस्य प्रतिपत्त्यनन्तरं च, तस्य ब्यङ्ग्यस्य, अविनयप्रच्छादनतात्पर्येण अविनयस्य आच्छादनतत्परत्वेन, अभिधीयमान त्वाद् अभिध्या प्रतिपाद्यमानत्वात्, पुनः व्यङ्ग्याङ्गत्वमेव व्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गत्वमेव, इति अस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनौ अन्तर्भाव इत्यर्थः ।

१. 'हुश्रु०' ख

एवं निवक्षितव च्यस्य घ्वनेस्तदामासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्य-स्यापितं कर्तुमाह—

> अन्युत्वत्तरशक्तेर्वा निवन्धो यः स्वलद्गतेः । शब्दस्य स च न ज्ञेयः स्वतिभिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेवी निवन्धो यः स च न ध्वनेविषयः॥

यतः —

सर्वेष्टेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् । यद् व्यङ्गचस्याङ्गिभृतस्य तत्रपूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥ ३३ ॥ तच्चोदाहृतविषयमेव ॥

*इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्द्योतः।

उज्जीवनी ।

लतागृहे केनचिद् धृष्टेन पत्या सह काचित्रायिका स्त्रैरं विहरित । बहिस्तिष्ठन्ती तस्या: सखी मणितादिरणितं शृण्वती, तां ततो निवारियतुं प्रतिवोधयति। निवर्तनरूपस्य वाच्यमङ्गं भवतीति अयं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-घ्वनैः विषय इत्यर्थः।

एवं विवक्षितवाच्यध्वनिविषये व्यङ्ग्यस्य स्फुटप्रतीयमानतायामिष्
तस्य वाच्याङ्गत्वेत प्रतीयमानतया व्यङ्ग्यत्वेताभासमानत्वमेव तस्य, न च स ध्वनिविषयः किन्तु गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशविषयः इति प्रतिपाद्य सम्प्रति अविवक्षितवाच्यध्वनिविषयेऽपि तं प्रदर्शियतुमाह—एवमिति। एवं पूर्वोक्त-प्रकारेण, विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः, तदाभासविवेके प्रस्तुते सति, अविवक्षित-वाच्यस्यापि तं वाच्योरकषिधायकत्वेन प्रतीयमानतायां, गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यप-देशविषयत्वं कतुँ प्रस्तोतुमाह इत्यर्थः।

अव्युत्पत्तेरिति—अव्युत्पत्तेः निपुणतारहितत्वेन, अशक्तेः शक्तिराहित्येन च काव्यस्योद्भवे समुह्लासे च हेतुभूताभ्यां शक्तिव्युत्पत्तिभ्यां विना तद्रहितस्य कवेः, स्खलद्गतेः स्खलन्ती, अप्रभवन्ती, गतिः अर्थान्तरबोधनसामध्यै यस्य

[🍍] इत्यानन्दवर्धनविरचिते सहृदयहृदयालोके काव्यालोके द्वितीय उद्द्योतः समाप्त: ।

उज्जीवनी

तादशस्य, उपचरितस्य शब्दस्य यो निबन्धः निबन्धनं स, सूरिभिः काव्य-वासनापरिपकबुद्धिभिः, ध्वनैविषय इति न मतः नानुमन्यते ।

तस्य कारणमाह—यत इति । अङ्गिभृतस्य प्रधानभूतस्य, व्यङ्ग्यस्य प्रतीयमानस्यार्थस्य, सर्वेष्वेत्र प्रभेदेषु, सक्तेषु व्वनिप्रभेदेषु, स्फुटत्वेन अमिल्छत्वेन अवभासनं प्रतिभानं, यत् तत् पूणं व्वनिलक्षणं पूणेतां प्राप्तं व्वनेलंक्षणं, यत एवं ततः स्खलद्गतेः शब्दस्य निबन्धने व्वनित्व नास्ति । व्वनेः स्फुटत्वेनावभासनमेव तल्लभणं, तस्य प्रमाणमित्यर्थः । अथवा व्वनिलक्षणं व्वनिज्ञानं, तञ्च व्वनिज्ञानं च उदाहृतविषयमेव उदाहृता विषया यस्य तादशमेव भवतीत्यर्थः ।

अविविक्ष वाच्य, विविध्य तान्यपरवाच्यक्षेण द्विविधस्यापि ध्वनेः प्रभेदास्तेषामुदाहरणाति च अस्मिन्तुद्द्योते प्रदिश्ततानि । व्यङ्ग्यानां वस्त्व-लङ्कायरस्रूपाणामर्थानां व्यङ्ग्यत्वेनावभासमानानां स्वरूपं प्रामाण्यं च प्रतिपादितम् ।

अथ तृतीय उद्घोतः

एवं व्यङ्गचमुखेनैद ध्वनेः प्रदक्षिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनवर्यञ्जकमुखेनैतत् प्रकार्यते---

अविवक्षितवाच्यस्य यदवाक्यप्रकाश्यता । तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्गचस्य च ध्वनेः ॥ १ ॥

अति वक्षितवाच्यस्यात्यन्त तिरस्कृतवाच्ये १प्रदेभे पदप्रकाशता यया-

उज्जीवनी

एतावता प्रबन्धेन (द्वितीयोद्द्योतान्तेन) ध्वनेः अविवक्षितवाच्यस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य च स्वरूपं, व्यङ्ग्यभेदिनबन्धनो भेदश्च प्रत्यपादि । इदानीं व्यञ्ज कभेदेनापि ध्वनेभेदं वक्तुमुपक्रमते—एविमिति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण। घ्वने: अविवक्षितवाच्यादिभेदेन भिन्नस्य । व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यङ्ग्यस्यार्थस्य भेदमाश्चित्य। सप्रभेदे स्वरूपं, प्रदिशिते अवान्तरभेदपुरःसरं निरूपिते सित । पुनः प्रकारान्तरेणापि । व्यञ्जकमुखेन व्यञ्जकशब्दादिमुखेन, एतत् स्वरूपं, प्रकाश्यते ।

यद्यपि काव्यशरीरात्मकस्य शब्दस्य, अर्थस्य च अर्थान्तरव्यञ्जकत्वं समानं, तथापि अर्थस्य कदाचिद् व्यङ्ग्यत्वमपि सम्भवतीति शब्दरूपव्यञ्जक-मुखेन घनने: भेदमाहेति भाव: । तदेवाह—अविवक्षितेति । अविवक्षितवाच्यस्य लक्षणामूलस्य, तदन्यस्य तद्भिन्नस्य, अनुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलस्य, घवनेश्च सर्वविधस्यापि घवने: पदवाक्यप्रकाष्ट्यता पदप्रकाष्ट्रयता वाक्यप्रकाष्ट्यता चेत्यर्थ: । कचिदेकेनैव पदेन, कचिच्च वाक्येन व्यङ्ग्योऽर्थः प्रकाशत इति यावत् ।

उदाहरति—अविवक्षितेति । अविवक्षितवाच्यस्य तदाख्यस्य ध्वनेः, अत्यन्ततिरस्कृतव।च्यार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वाभ्यां यौ प्रभेदो तयोरन्यस्मिन्

१. 'स्वप्र ॰' च

महर्षेव्यांसस्य—'सप्तैताः सिमधः श्रियः, यथा वा कालिदासस्य—'कः सन्नद्धे विरहिवधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्,' यथा वा भ—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' एतेषूदाहरणेषु 'सिमध' इति, 'सन्नद्ध' इति, 'मधुराणम्' इति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणेव कृतानि ॥

उज्जीवनी ।

अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यात्मके प्रभेदै पदप्रकाश्यतां प्रदर्शयति — यथा महर्षेव्यक्ति स्येति ।

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा । मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥

हति व्यासप्रोवतं पद्यम् । धृतिः (धैयँ), क्षमा, दया, शौवं, कारुण्यं, अनिष्ठुरा वाग् मिलाणामनिभद्रोहः एताः सप्त श्रियः समिधः, इत्यन्वयः । अत समिच्छब्दः शक्तचा इन्धनरूपमर्थं बोधयति । इन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम्' इत्यमरः । वा चात्यन्तं तिरस्कृतः । अतः स शब्दो लक्षणया उद्दीपकत्वं, ततो व्यञ्जनया अन्यवैलक्षण्येन कार्यकारित्वादिकं प्रतिपादयति । अत इदं अविवक्षितवाच्यध्वनेः अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यात्मकप्रभेदस्य पदप्रकाश्यत।या-मुदाहरणम् । उदाहरणान्तरमाह्—यथा कालिदासस्येति । 'कः सन्न द्धे विरह-विधुरां त्वय्युपेक्षेत जायामिति ।

> त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसत्यः । कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥

इति मेघद्रतस्य पद्यमिदम् । सन्नद्ध इति मेघिविशेषणम् । सन्नद्धशब्दस्य विभित्त इति वाच्योऽर्थः । स चात्यन्तं तिरस्कृतः । तस्यार्थस्य प्रकृतानुपयोगात् । भौन्नत्यं लक्ष्योऽर्थः । निष्करुणत्वादयश्च व्यङ्गचाः ।

पुनरप्युदाहरति—यथा वेति। 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृती-नामिति।

२. 'वा तस्येव कि॰' ज.

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा—'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः श्रिये नोचितम्'। अत्र रामेणेत्येतत् पदं साहसैकरसत्वादिव्यङ्गचाभिसङ्क्रमितव।च्यं व्यञ्ज म् ।

उजीवनी।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मिलनप्रिपि हिमांशोर्रुक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

महाकविश्रोकालिदासकृते अभिज्ञानशाकुन्तले शकुन्तलां दृष्टवतो दुष्यन्तस्येदं वचनम्। "आह्लादकत्वं माधुर्यं गृङ्गारे द्रुतिकारणम् । करुणे विश्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।" इत्यनेन माधुर्यगुणविशिष्टरसविशेषः वाच्योऽर्थः मधुरशब्दस्य । तस्य चाकृत्याभेदान्वयबोधानुपत्त्या तस्यार्थस्यात्यन्तं तिरस्कारः। सर्वविषयरञ्जकत्यादिः लक्ष्योऽर्थः। अतिशयिताभिलाषविषयत्वं व्यङ्ग्यम्। एतेषु त्रिष्ट्दाहरणेषु, समिध इति, सन्नद्ध इति, मधुराणामिति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेण कृतानि अभिमतमर्थं व्यञ्जनया बोधयेयुः इत्यभिन्त्रायेण प्रयुक्तानीति पदप्रकाशता स्फुटमावेदिता।।

तस्यैवेति—तस्यैव अविवक्षितवाच्यध्वनेरेव। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये द्वितीमे भेदे। पदप्रकाशतामुदाहरति—यथेति।

प्रत्याख्यानस्त्रेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथेच्चैः शिरः। व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्वचापदां साक्षिणा रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।।

भावनोपनीतां सीतां प्रति रामस्येयमुक्तिः । हे प्रिये, जानिक प्रत्याख्यानरुचेः प्रत्याख्याने राविषेन कृतस्यापहरणस्य निराकरणे रुचियंस्यास्तादृश्यास्ते तव, कूरेण भीकरेण रक्षसा राविषेन, समुचितमात्यनः क्रीयंस्य यदुचितं तत् कृतम् । तच्च तदिष, त्वया सोढम् । यथा यतः, कुळजनः कुलजः अयं जनः, उच्चैः उन्नतं शिरो धत्ते दधाति । प्रियजीवितेन प्रिवं जीवतं जीवनं यस्व ताद्शेन,

यथा वा--

एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाए सिप्तिबिबम् । परमत्थिवआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ ।। [एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बस् । परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः ।।]

अत्र हितोयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः ॥
अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाशाता यथा —
या निशा सर्वभृतानां तस्यां जागति संयमी ।

उज्जीवनी

रामेण तु सम्प्रति अस्थामिष दशायां, त्रियाया असंरक्षणेन, निर्थकं निष्प्रयो-जन धनुश्चापं बिश्रता धारयता, त्वद्वचापदां तव आपदां, साक्षिणा द्रष्ट्रा च मयेत्यर्थः, प्रेम्णः यद्चितं तन्न कृतम् ॥

अत्र रामपदेन निष्करुणत्वं लक्ष्यते । रामेणैव वक्त्रा, मयेत्यनुक्त्वा रामेणेति स्वनः मग्रहणेन रामपदं निष्करुणेन मयेत्यर्थन्तरे सङ्क्रमितं वाच्यं यस्य तादशमित्यर्थः । तेन रामपदं साहसैकरसत्वरूपस्य व्यङ्गचस्य व्यङ्करम् ।

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। एमेअ इति।

अत्र चन्द्र एवेति पाठो युक्तः । जनः अविवेकी लोकः । तस्याः अलोक-सामान्यलावण्यवत्त्वेन प्रसिद्धाया नायिकायाः, कपोलोपमायां कपोलयोः उपमायां साद्यये वर्णतीये, शशिबिम्बं चन्द्रबिम्बं तदुपमान्त्वेन साद्य्य-प्रतियोगित्वेन ददाति निर्दिश्वति । परमार्थविचारे तुवस्तुतो विचार्यमाणे चन्द्रः योऽयमुपमाक्त्वेनोहिष्टः, स चन्द्र एवापचोयमानलावण्यविविष्ट एव, न तु कपोलोपमानभावमहति ।

अत्रेति । अत्र अस्मिन् द्वितीयश्चन्द्रशब्दः स्ववाच्यमर्थं चन्द्ररूपम् अर्थान्तरं क्षियिष्णुत्त्रादिविशिष्टे सङ्क्रामयतीत्यस्यार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ध्वनेः पदप्रकाशता ।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः अत्यन्तति रस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाशता-मुदाहरति—या निशेति। गीतायां अर्जुनं प्रति श्रीकृष्णस्यायमुपदेशः। हे, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अनेन हिवाक्येन निशार्थों न च जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः। किं तर्हि?

तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखःवं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यारय व्यञ्जकत्वम् ॥

तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा-

विसमइओ काण विकाण विवालेइ अमि अणिम्माओ। काण विविसामिअमओ काण विववसामको काळो।।

उज्जीवनी ।

अर्जुन, सर्वभूतानां सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां, या निशा रातिः व्यामोहजनकत्वात् सर्वपदार्थानामिववेककरो, तस्यां संयमो जितेन्द्रियो योगो प्रबुद्धः जागत्ति । यस्यां ग्राह्मग्राहकभेद उक्षणायामिवद्यानिशायां भूतानि जाग्रति प्रसुप्तान्येव जाग्रतीत्युच्यन्ते, सा पश्यतः परमार्थतत्त्वं जानतो मुनैः निशा।

अत्र निशानागित्यदाभ्यां रातिनागरणकायोमीक्ययोर्थयोः तात्पर्यानुगपत्या अविवक्षितत्वेन अत्यन्ततिरस्कृतत्वाद्, निष्पादष्टितत्त्वदष्टिगरयोरर्थान्तरयोर्लक्षरोन, निष्याज्ञानस्य हेयत्वं, तत्त्वज्ञानस्योपादेयत्वं च व्यज्यत इति अनैकपदव्यक्ष्यत्वादस्य प्वनेः वाक्यप्रकाशता ।

अनेन ति । अनेन वाक्येन या निशेत्यादिना, निशार्थः निशापदमुख्यार्थः जागरणार्थः जागितपदाभिधेयो जागरणिक्रय। रूपो वा मुख्योऽर्थः च कश्चित् न विवक्षितः । किं तिहं ? तिहं कि विवक्षितमिति चेत्, तत्त्वज्ञानाविहतत्वं तत्त्वज्ञानसम्पादने अवधानवत्त्वम् । अतत्त्वपराङ्मुखत्वं मिथ्याज्ञाने पराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यते, अनेन वाक्येनेति शेषः । तिरस्कृतवाच्यस्यास्य वाक्यस्य व्यञ्जकत्वं व्यङ्गचार्थप्रकाशकत्वमित्यर्थः ।

तस्यैवाविवक्षितवाच्यध्वनेरेवः अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य प्रभेदस्य वाक्यप्रकाशतामुदाहरति—यथेति । विसमइत्रो इति । कालः केषामि

१. 'श्रमयोः' च

[विषमयितः केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माणः । केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषापृतः कालः ॥]

अत्र हि वाक्ये विषामृतशब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसङ्क्रियतवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ।

विविक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्गचस्य शब्दशक्त् युद्भवे प्रभेदे पदप्रका-शता यथा---

> त्रातुं धनैरिधजनस्प वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि । पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा कि न जडः कृतोऽहम् ॥

उज्जीवनी ।

पापात्मनां, विषमयः दुःखसाधनात्मकः । केषामिप सुकृतिनां, अमृतिनर्मणः सुखसाधनरूपः, केषामिप पुण्यपापोभयभृतां, विषामृतमयः दुःखसुखोभय-साधनात्मकः, केषामिप योगिनां पुण्यपापोभयरिहतानां अविषामृतमयः सुखदुःखोभयाभावरूपश्च गच्छतीत्यथेः ।

अत्र विषामृतशब्दयोर्वाच्यावयौ अविवक्षितौ, अर्थान्तरे दुः खसुखसाघन-रूप्योरर्थान्तरयोः सङ्क्रमितौ व्यञ्जकौ । तेन पापात्मानः दुःख, पुण्यात्मानः सुखं, पापपुण्योभयवन्तः दुःखसुखोभयं, तदुभयरहितास्तदुभयाभावं चानु-भवन्तीति व्यङ्गचम्।।

विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्गधस्य शब्दशक्त्युद्धवे प्रभेदे शब्दशक्तिमूलानुरणनध्वनौ पदप्रकाशतामुदाहरति —यथेति। प्रातुमिति। दारिद्रघोपहतस्य कस्यचिदुक्तिरियम्। घनैः द्रविणैः अधिजनस्य याचकजनस्य (लोकस्य)
वाञ्छामभिलाषं, प्रातुं पूरियतुं (पूरणार्थात् प्रातेस्तुमुन्) देवेन विधात्रा यदि
नाम यद्यपि नाम, अहं न सृष्टः अस्मि तथापि, पिथ मार्गे, प्रसन्नाम्बुधरः
प्रसन्न स्वच्छं, अम्बु पयः धारयतीति तादशः, तडागः जलाशयः, अथवा,
जडः शीतजलः कूपो वा कि न कृतः कुतोऽहं सृष्टो न भवामि। मार्गे स्थितः
स्वच्छजलः तटाकः, देशाद् देशान्तरं गच्छतः पान्थलोकस्य जलाथिनः अत्यन्तमुपकरोति। एवमेव शीतजलः कूपोऽपि जनानां जलमर्थयमानानामुपयोगाय
कल्पते। विधात्रा चाहं कूपस्तडागो वा यदि सृष्टोऽभविष्यं तदानीमिथजन-

अत्र हि जड इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तः मनुरणनरूपतया क्रुपसमानाधि हरणतां स्वशक्तचा प्रतिपद्यते ।

तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा—हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु "वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये घरणीघारणायाघुना त्वं शेष:।"

एतद्भि वादयमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्तचाः स्फुटमेव प्रकाशयति।

उज्जीवनी ।

स्याभिलाषपूररोन कृतार्थोऽभविष्यम् । यतोऽहं निःस्वः सृष्टोऽस्मि ततोऽियजन कामनापरिपूरणासमर्थोऽह निर्विण्णो भवामीति भावः ।

अत्र जडशब्दो व्यञ्ज हः । मूढे शिशिरे चार्थे शक्तो जडशब्दः स च शब्दः निर्विण्णेन निर्वेदमुपगतवता वक्त्रा, आत्मसमादाधिकरणतया वक्तृविशेषणत्वेन प्रयुक्तः, स्वस्येव शक्त्या शिशिररूपार्थान्तरप्रकाशनसामर्थ्येन कूपसमानाधि-करणत्वं कूपविशेषणत्वं प्रतिपद्यते प्राप्नोति । जाड्यरूपार्थप्रतिपादनेन क्षीण-शक्तिरिभधा द्वितोयं शक्तपि शिशिररूपमर्थं बोधियतुमसमर्थेति सोऽर्थो व्यञ्जनया प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ।

वाक्यप्रकाशतामुदाहर्तुमाह--तस्यैवेति । तस्यैव विवक्षिताभिधेयस्या-नुरणनरूपव्यक्षचस्य वाक्यप्रकाशतामाह --यथेति । हर्षचरिते सिहनादवाक्येषु इति ।

प्रभाक रवर्धनाख्यस्य पितुः, राज्यवर्धनाख्यस्य ज्येष्ठश्रातुश्च निर्याणानन्तरं, हर्षं, सिंहनादो नाम सेनापितरेवमाह—वृत्त इति । अस्मिन् महाप्रलये महित नाशे, वृत संवृते । अधुना अद्य, घरणोधारणाय घरणो भूमि, घारियतुं पालियतुं त्वं शेषः त्वमेव शिष्यसे, इति प्रकृतोऽर्थः । ततः महाप्रलये चतुर्युगावसाने कल्पान्त इति यावत् । जाते सञ्जाते सित, सर्वभावध्वंसरूपे प्रलये शेषः अनन्त एवावशिष्यत इति अप्रकृतोऽर्थोऽपि प्रकाशते । तत्रश्च वाक्योरनयोरसम्बद्धा-र्थाभिषायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति राजानन्तयोरूपमा व्यज्यते । तज्ञानेकपदानां व्यञ्चकत्वेन वाक्यप्रकाशतां प्राप्नोतीत्यर्थः ।

एतद्धि वाक्यं वृत्तेऽस्मिन्निति हर्षचरितस्थं वाक्यम्। शब्दशक्तचा

अस्यैव कविश्रौढोक्तिमात्रनिष्पत्रशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता, यथा—हरिविक्ये

> चूअंकु शावअंसं छणप्पसरमहष्यण भणहरसुरामो अस् । असमप्पिअं वि गहिअं कुसुमशरेण महुपासलच्छिमुहम् ॥ [चूताङ्कुरावतंसं क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामो दस् । असम्पितमपि गृहीतं कुसुवशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम् ॥]

अत्र इःसम्पितनिष कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतिनित्यसमर्पित-मपोत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थशक्तचा कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति ।

उज्जीव्नी

अनुरणनरूपमर्थान्तरं, स्फुटमेव स्पष्टमेव प्रकाशयति ।

अस्यैव विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूगव्यङ्गधस्य कविश्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्नशरीरस्य, अर्थशक्तिमूले प्रभेदे पदप्रकाशतामुदाहरति—यथेति । हरिविजय इति । चूअंकुरेति ।

चुताङ्कुरावतंसं च्रताङ्कुरः च्रतमञ्जरी अवतंसः कर्णभूषण यिसम् तादशम्। महार्घेण, क्षणस्थीत्सवस्य प्रसरेणाविभविन मनोहरसुरस्य कामदेवस्य आमोदः प्रमोदः यिस्मस्तादशम्। मधुमासलक्ष्मीमुखं मधुमासलक्ष्मया वसन्तशोभाया मुखं प्रारम्भो वदनं च असम्पितमपि अदत्तमिष कुसुमशरेण मन्मथेन गृहीतं (बलात्) स्वीकृतम्। वसन्तारम्भः कामिजनमनः सु कामपृद्दीप-यतीति कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरोऽथौं व्यञ्जकः । मदनस्य बलःत्कारेण नायिकामुखग्रहण्डपोऽयौं व्यञ्जचः। स च असमिषतिमिति पदेन प्रकाशते। तदेव विवृणोति। अत्रेति। अत्र च्अंकुरेति पद्ये, कुसुमशरेण मदनेन मधुमास-लक्ष्मया वसन्तकान्त्या मुखं प्रारम्भो मुखं च, असमिषतमिष, स्वयमदत्तमिष गृहीतं स्वीकृतिमिति असमिषतमपीति एतदवस्थाया अभिधाय अभिधायकं पदं अर्थशक्तचा कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नस्यार्थस्य अर्थान्तरकोधजननसामध्येन कुसुम-शरस्य कामदेवस्य, बलात्कारं हठात्कारं प्रकाशयित प्रत्याययति।

१. 'महुरा मोश्रं' च

सत्रैव प्रभेदे वाक्षणप्रकाराता यथोदाहृतं प्राक् "सज्जेहि सुरुहिमासो" इत्यादि । अत्र सज्ज्ञयति सुरिभमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं वाक्यार्थः किवशौढिक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो मन्मथोन्माथकदनावस्थां वसन्त-समयस्य सूचयति ।

स्वतः सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्धवे प्रभेदे पदप्रकाशतः यथा— वाणिअत्र हत्थिदन्ता कुत्तो अह्याण वाघिकत्ती अ । जाव छुळिआळमुही घरम्मि परिसक्कण सुल्ला ॥ [वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च । यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥] अत्र लुळितालकमुखीत्येतत् पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितशरीरार्थ-

उज्जीवनी।

अस्यैवार्थस्य वाक्यप्रकाशतामाह—अत्रवेति । अत्रैव कविप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्नार्थशक्तस्युद्भवध्वनौ एव । वाक्यप्रकाशता वाक्यस्यार्थान्तरव्यञ्जकत्वं प्रागुदाहृतमित्याह—सज्जेहीति । अत्र सज्जेहोस्यत्र, सुरिभमासो वसन्तमासः, शरान् सज्जान् करोति, न तावदनङ्गाय अपयति ददाति इत्ययं वाक्यार्थः, कविप्रौढोक्तिमात्ननिष्पन्नशरीरः, वसन्तसमयस्य वसन्तकालस्य मन्मथोन्माय-कदनावस्यां मन्मथोन्मथनपीडाकरीमवस्थां सूचयति प्रकाशयतीति वाक्य-प्रकाशतास्येति बोद्धव्यम् ।

स्वतः सम्भविशरीरार्थशक्तयुद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशतामुदाहरति—यथेति । वाणिअअंति ।

हस्तिदन्तान् व्याध्यक्तिश्च क्रेतुमागतेन केनिचद् वाणिजकेन पृष्टस्य व्याधवृद्धस्य वचनमिदम् । हे वाणिजक यावद् अस्माकं गृहे लुलिता अलकाश्चूर्णकुन्नला यस्मिन् तादशं मुखं वदनं यस्यास्तादशी स्नुषा पुत्रवध्यः परिष्वक्कते सविलासं भ्रमित तावद् हस्तिदन्ताः मृगयार्थं वनं गस्वा हस्तिनो व्याध्यांश्च मारियत्वा मे पुत्रेणानोयमाना हस्तिदन्ता व्याध्यकृत्तयश्च कुतः कथं वा भवेयुः ।

अत्रास्मिन् यद्ये, लुलितालकमुखीत्येतत् पदं व्याधवध्वा नवोढायाः स्वतः-

शक्तचा सुरतक्रीडासिक्तं सूचयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयित । तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा—

सिहिपिञ्छकण्णऊरा बहुद्या वाहस्य गव्विरी भमइ।
मुत्ताफळरइअपसाहणाणं मज्के सवत्तीणम्।।
[शिखिपिञ्छकर्णपूरा वधूव्यविस्य गविता भ्रमति।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥

अतैनापि वाक्येन व्याधनव्याः शिखिपिञ्छकर्णंपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित् सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते । तत्सम्भोगेकरमो मयूरमात्रमारण-समर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् । तद्व्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफल-रचितप्रसाधनानां दौभाग्यातिशयः ख्याप्यते । तत्सम्भोगकाले स एव करिवरवधव्यापारसमर्थं असीदित्यर्थं गकाशनात् ।

उज्जीवनी

सम्भविनोऽर्थस्य शक्तचा सुरतक्रीडायामासिक सूचयन् व्यञ्जथन् तदीयस्य भर्तुः व्याधयूनः सततसम्भोगक्षामतां सततं सर्वघा सम्भोगेन क्षामतां क्षीणं प्रकाश-यति । एवमस्य ध्वनेः पदप्रकाशता ।

तस्यैवेति । तस्यैव स्वतःसमभिवशरीरार्थशक्त्युद्भवस्यैव प्रभेदस्य वाक्यप्रकाशतामुद हरति —यथेति । सिहीति ।

शिखिपिञ्छो मयूरिपञ्छ एव कर्णपूरः कर्णाभरणं यस्याः ताहशी, व्याधस्य वधः नवपरिणीता व्याधवधः, मुक्ताफखरिचतप्रसाधनानां मुक्ताफलैः मौक्तिकैः, रिचतानि प्रसाधनानि अलङ्करणानि यासां ताहशीनां सपत्नोनां मध्ये गविता सगर्षं भ्रमति परिभ्रमति ।

अत्र व्यङ्गचमथं तस्य वाक्यप्रकाशतां चोपपादयति अनेनेति । अनेनापि वाक्येन शिखिपिञ्छकणंपूराया व्याधवध्वाः, नवपरिणीताया नवोढायाः कस्याश्चित् प्रकरणप्रतिपाद्यायाः सौभाग्यातिशयः अतिशयितं सौभाग्यं प्रकाश्यते इदं वाक्यं प्रकाशयतीत्यर्थः । तत्सम्भोगेकरसः तस्याः नवपरिणीतायाः सम्भोग एव एकः रसः प्रीतिर्यस्य तादशः पितः, मयूरमात्रमारणसमर्थः गृहसमीपे स्थितानां मयूराणां मार्गेन कृतकृत्यो जात इत्ययमर्थः प्रकाश्यते । तत् तस्मात् चिरपरिणीतानां पूर्वं परिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां ननु ध्वितः कः व्यविशेष इत्युक्तं तत् कथं तस्य पदप्रकाशता । काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दभैविशेषः । तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते । पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात् ।

उच्यते —स्यादेष दोष: यदि दाच कत्वं प्रयोजकं घ्वतिव्यवहारे स्यात् । नत्वेवम्, तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात् । किं च काव्यानां शरीराणामिव संस्थानिवशेषाविद्यत्रसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतियन्वयव्यतिरेक्तभ्यां भागेषु कत्व्यत इति पदानाप्रपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो घ्यनिव्यवहारो न विरोधी ।

उज्जीवनी।

करियरान् हत्वा तस्माल्लब्धैः मुक्ताफलेः मौक्तिकैः रिवतानि प्रसाधनानि अलङ्करणानि यासां तादशीनां सपतनीनां दौर्भाग्यातिशयः अतिशयितं दौर्भाग्यं ख्याप्यते बोध्यते।

करीक्षु नीमूतवराहशङ्कमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणु नानि । मुक्ताकनानि प्रथितानि लोके, तेषां तु शुक्त्युद्भवमेन भूरि ॥

इति । गजशिरसि मुक्ताकनानि सन्तोति प्रसिद्धिः । तत्सम्भोगकाले तासां निरपरिणीतानां सात्नोनां सम्भोगकाले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थः करिवराणां वथव्यापारे वध कर्मणि सम्यगासक्तः, तासु प्रोतिमान् नासोदित्यर्थस्य व्यञ्जात् तासां दौर्भाग्यमित्यर्थः । अत्रापि वाक्यप्रकाशताः ।

घ्वितः पदेन प्रकाशत इत्युक्तम् । तत्राशङ्कते—निवितः । घ्वितः घ्वितिः पदार्थः। काव्यविशेषः काव्यविशेषः छत्यमकाव्यात्मकः इत्युक्तम् इत्यभिहितम्। तस्य पदप्र काशता पदेनैकेन प्रकाशः कथं स्यात्। तत्र हेतुमाह—काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपित्तहेतुः विशिष्टार्थात्मक्वाक्यार्थज्ञानहेतुः शब्दसन्दभविशेषः शब्दसमुदायल्प इत्यत इति हेतोः तस्य घ्वनेः, पदप्रकाशता पदेनैकेन प्रकाशः कथं भवतीति। तद्भावश्च उत्तमकाव्यत्वं च पदप्रकाशत्वे, शब्दसन्दर्भे ल्पकाव्यव्यवहारविषयत्वं नोपपद्यते न युज्यते। पदानां पृथक् स्मारकत्वेन अर्थस्मारणमात्रार्थत्वेन अवाचकत्वात् वाचकत्वाभावात् प्रत्येकं पदानि स्वं स्वमर्थं स्मारयन्ति। आकाङ्क्षायोग्यतादिभः वाक्यार्थवोधो

'अनिष्टस्य श्रुतिर्यहदापादयति दुष्टतःम् । श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तह्वदिष्टस्मृतिर्गुणम् ॥ पदानां स्मारकत्वेऽि पदमःश्रावभासिनः । तेन व्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेशस्ति रम्यता ॥ विच्छितिशोगिनकेन भूषऐक्ति कामिनी । पदद्योत्येन सुकवेव्वनिना भाति भारती ॥

इति परिकरश्लोकाः ॥

उज्जीवनी ।

भवतीत्येव नियमः । अतः पदाना वाचकत्वं नास्तीत्याशय इति । सम धत्त — स्यादिति । ध्वनिव्यवहारे ध्वनिरिति व्यवहारे, पदस्य वाचकत्वं अभिधयार्थं-बोधकत्वं यदि प्रयोजकं ति एष दोषः स्यादि । तु किन्तु, नैवं नैतदेवम् । व्यञ्जकत्वेन व्यञ्जय र्थं बोधकत्वेनै व, तस्य ध्वनिव्यवहारिवषयत्वस्य, व्यवस्थानात् व्यवस्थितत्वात् । संस्थानिवशेषाविष्ठश्रसमुदायसाध्यापि संस्थानिवशेषेरवयवसंयोगविशिष्टैः समुदायैः साध्यापि शारीराणां चारुत्वप्रतीतिः लावण्यप्रत्ययः यथाः तथा शब्दसभुदायात्मककाव्याना चारुत्वप्रतीतिरिष् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चारुत्वप्रतीतिः व्यञ्जकस्य पदस्य सत्वे चारुत्वं, पदस्याभ वे चारुत्वाभाव इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चारुत्वप्रतीतिः व्यञ्जकस्य पदस्य सत्वे चारुत्वं, पदस्याभ वे चारुत्वाभाव इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चारुत्वाभाव चारुत्वाभाव इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चारुत्वाभाव व्यवस्थ विषयो ध्वनिव्यवहारः व्यवस्थितो व्यवस्थ विषयो ध्वनिव्यवहारः व्यविरितिव्यवहारः न विरोधी न विरुध्यते ।

उक्तमेवार्थं विशदोकरोति—अनिष्टस्येति। श्रुतिदुष्टादिषु श्रुतिकद्व।दिषु काव्यदोषेषु, अनिष्टस्य दुःश्रवस्य शब्दस्य श्रुतिः श्रवणं, दुष्टतां दोषवत्त्वं, आपादयति प्रापयति। तद्वत् तथा, इष्टश्रुतिः इष्टस्य अभिमतस्य अर्थस्य स्मृतिः उपस्थितः, गुणं गुणवत्तां, व्यक्तं स्पष्टम्, आपादयति। पदानामिति। तेन हेतुना, पदानां सुप्तिङ्न्तानां स्मारकत्वेऽिष अर्थोपस्थिति (स्मृति) मात्रजनकत्वेऽिष, पदमात्रावभासिनः पदम।त्रेण अवभासिनः भासमानस्य प्रतीयमानस्येति यावत्। घवने: घ्विकाव्यस्य प्रभेदेषु भेदेषु, सर्वेषु रम्यता चमत्कृत्याधायकत्वं, अस्त्येव विद्यत एव। उपमानेन द्रवयति—विच्छत्तीति। विच्छित्तशोभिना विच्छित्या चमत्कारेण शोभनशीलेन एकेन भूषणेन अलङ्करणेन, कामिनीव प्रमदेव

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु । वाक्ये सङ्घटनायां च म प्रवन्धेऽपि दीप्यते ॥ २ ॥

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते-

श्यो सरेफसंयोगी ढकारश्यापि भ्रयसा ।

विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥ ३ ॥

त एव नु निवेशयन्ते बीभत्सादी रसे यदा । तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः ॥ ४ ॥

श्लोकद्वयेनान्वयव्यतिरेक भ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति ।

उज्जीवनी ।

सुकवे: भारती वाणी, पद द्योत्येन पदव्यङ्ग्येन, ध्वनिना प्रतीयमानेनार्थेन भाति शोभते।

एतावता व्यक्ष हमुखेन संलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्ह्वितः निर्ह्णितः । अथासंलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्ह्वतेरि भेदानाह—यस्तिवति । अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचः असलक्ष्यक्रमव्यङ्गचः भित्रः यो ह्विनः काव्यिविशेषः, सः वर्णपदादिषु वर्णे, पदे, आदिपदात्
पदावयवे च । वाक्ष्ये पदसमूहात्मके, सङ्घटनायां प्रबन्धेऽपि च दीप्यते प्रकाशत
हत्यर्थः । तत्रेति । वर्णानां पदावयवानां अनर्थकत्वात् अर्थशून्यात् । द्योतकत्यं
व्यङ्कत्वं, असंभवि न सम्भवति, इति एवं, आशङ्क्येदमुच्यते—शणाविति ।
भूयसा बाहुल्येन, (असकृत्) शकारपकारौ । सरेफसंयोगः रेफसंयोगेन सह
वर्तत इति तादशः । पूर्वमघ उभयत्र च रेफण सहितो वर्णः । एते शृङ्गारे शृङ्गाररसव्यञ्जनं विरोधिनः । तेन वर्णा एते रसच्युतः रसात् च्यवन्ते भ्रश्यन्ति इति तादशः, स्युभवेयुः । तु किन्तु, त एव वर्णाः पूर्वोक्ताः, बीभत्सादौ रसे बीभत्से, वीरे, रौद्रे च । यदा निवेश्यन्ते निबद्यन्ते तदा तं रसं दीपयन्त्येव प्रकाशयन्त्येव । तेन वर्णाः रसच्युतो रसासेचनका भवन्तीत्यर्थः । स्रोकद्वयेन एताभ्यां द्वाभ्यां पद्याभ्यां, अन्वयव्यितरेकाभ्यां अन्वयेन व्यतिरेकेण च सरेफसंयोगशषादिवर्णसमवधाने रसस्य द्योतनम् । यथा बोभत्सादौ इत्यन्वयः ।

पदे चालक्ष्यक्रमञ्यङ्गचस्य द्योतनं यथा—
उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिनं विधुरे क्षिपन्तो ।
कूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥

अत्र हि "ते' इत्येतत् गदं हुँरसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहदयानाम् ॥

उज्जीवनी।

ताद्शवर्णसमवधानाभावे रसस्य प्रकाशाभाव इति व्यतिरेकश्च । तथा तादश-शषादिवणसन्ते रसस्याप्रकाशः । यथा शृङ्गा रादौ इत्यन्वयः । तादशवणभावे शृङ्गारादेः प्रकाश इति व्यतिरेकः । एवं वर्णानां द्योतकत्वं व्यञ्जकत्वं दिशतं प्रदिशतं भवति । एवं च बीभत्सरसद्योतनं प्रति शषादिः कारणम् । शृङ्गारादि-रसद्योतनं प्रति शषाद्यभावः कारणमिति कार्यकारणभावद्वयं सिध्यति ।

पदे अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य द्योतकत्वं (व्यञ्जकत्वं) उदाहरति—यथेति । उत्कम्पिनीति । वासवदत्तां लावाणके दग्धां | सम्भाव्य शोकाविष्टस्योदयनस्यो-क्तिरयम् । हे प्रिये, उत्कम्पिनी कम्पयुक्ता, भयेन भीत्या परिस्खलितः गलितः, अंशुकान्त उत्तरीयवस्त्रप्रान्तः यस्यास्तादशी, विधुरे कातरे, लोचने नयने प्रतिदिशं दिशि दिशि, क्षिपन्ती (यः कोऽपि मां रक्षेदिति बुद्धचा) सञ्चारयन्ती, कूरेण अतिप्रवृद्धेन, दारुणतया निष्ठुरतया, दहनेन अग्निना, धूमान्धितेन धूमाकुलितेन सता न वीक्षितासि न द्यासि ।

अत्रेति । अत्र अस्मिन् काव्ये, ते इत्येतत् पदं शब्दस्वरूपं रसमयत्वेन असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचतया करुणरसतां प्राप्तेन, सहदयानां हृदये, स्फुटमेव स्पष्टतयेन, अवभासते भासते इति पदप्रकाशतास्य ध्वनेः ।

 ^{&#}x27;यथा वा, भगिति कनकचित्रे तत्रहष्टे कुरङ्गे
 रमसविकसितास्ते दृष्टिपाताः प्रियायाः ।
 पवनवित्रुलितानामुत्पलानां पलाश प्रकरिमव किरन्तः स्मर्यमाएग दहन्ति ॥' (इत्यधिकतया चपाठे
 हृदयते)

पदावयवेन द्योतनं यथा--

त्रीडायोगान्नतवदनया सन्निष्ठाने गुरूणां बद्धोत्कम्यं कुचकलशयोर्मन्युमन्तिनगृह्य । तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्सभृत्मुज्य बाष्पं मय्यासक्तश्चिकतहरिणीहारिनेत्रत्रिशागः॥

इत्यत त्रिभागः।

वानयक्ताश्चालक्ष्यक्रमञ्यक्ष्ययो त्वितिः शुद्धोऽलङ्कारसङ्कीर्णक्षेति दिधाः मतः।तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये—"कृतककुषितः" इत्यादिश्लोकः। एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।।

उज्जीवनी ।

अत्र 'ते' इति तच्छब्दोऽनुभूतार्थंकत्वात् यच्छब्दो गदानं नापेक्षते ।

पदावयवस्य द्योतकत्वमुदाहर्शत—पदेति । पदावयवेन पदस्यावयवेन एकदेशेन, द्योतनं रसप्रकाशनिम्त्यर्थः । यथेति—वीडायोगादिति । प्रवासं गतः कश्चित्रायकः गृहात् प्रस्थानसमये दियताया अवस्थां सुहृदं किञ्चत् ब्रवीति । युरूणां श्वश्चादीनां, सिन्नद्याने सिन्नद्यो, वीडायोगात् वीडाया लज्जाया योगात्, नतवदनया नतमवनतं वदनं यस्यास्तद्द्या, कुचकलशयोः कुचकुम्भयोः, बद्धोत्कम्पं बद्ध उत्कम्पः येन ताद्यां, मन्युं क्रोधम् । अन्तर्ह् दये, निरुद्धच निगृह्य, यत् यसमात् बाष्पं समुत्सृष्य निरुद्धप्रसरमश्च विधाय, चिकतहरिणी हारिनेत्रत्रभागः चिकताया भयसम्भ्रान्तायाः, हरिण्या मृग्या इव हारी मनोज्ञः नेत्रस्य त्रिभागः कटाक्षः, मिय आसक्तः निक्षिप्तः । तत् तस्मात् तिष्ठ मा गमः इति एवमादि । किमिव नोक्तम् अनक्षरमेष स्वेङ्गितं प्रकाशित-वतीत्यर्थः । अत्र नेत्रत्रिभागः इतिपदस्यैकदेशरूपः त्रिभागशब्दः कटाक्षपर्यायः प्रवासहेतुकविप्रलम्भशृङ्गारस्य व्यञ्जकः । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यास्य विव्रवम्भशृङ्गारस्य व्यञ्जकः । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यास्य विव्रवम्भशृङ्गारस्य व्यञ्जकः । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यास्य विव्रवम्भशृङ्गारस्य व्यञ्जकः । वास्यर्काशतां निरूपितुम् वाह—वास्येति । वास्यरूपः वास्येन व्यञ्जकेन प्रतीयमानः, अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो व्वितः शुद्धः, अलंकारसङ्क्रोणंश्चेति, द्विधा मतः द्विप्रकारोः

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णी यथा—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः'' इत्यादिश्लोकः । अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकलक्षणानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरःमभि-व्यज्यते ।।

उज्जीवनी।

ऽभिमतः। तत्रैति। तत्र शुद्धालङ्कारसङ्कीणंथीर्मध्ये, शुद्धस्यालङ्कारासङ्कीणंस्योः । दाहरणं दर्शयति । रामाभ्युदये तदाख्ये काव्ये कृतककुपितेरिति —

कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या घृतापि तथाम्बया। नवजलधरस्यामाः पश्यन् दिशो भवती विना कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये ॥ तव प्रियः।।

सीताविरहितस्य श्रीरामस्योक्तिरियम् । हे प्रिये, दिवते, यस्य प्रीत्या मद्गत्या प्रीत्या प्रेम्णा, अम्बया मात्रा कौसल्यया तथा तेन प्रकारेण, धृगणि निवारिताणि कृतककुपितैः कृत्रिमै रोषैः, बाष्पामभौभिः बाष्पजलधाराभिः, सदैन्यविलोकितैः विषादसहितैरीक्षणैः, वनमपि अरण्यमि गता मया सह गतवतीत्यर्थः । स तादशस्ते प्रियः, प्रेमास्पदभूतः रामः कठिनहृदयः कठोर-हृदयः, नवजलधरश्यामाः नवैः जलधरैर्मेथेः, श्यामाः, दिश आशाः, पश्यन् अवलोकयन् भवतीं विना जीवत्येव।

अत या त्वं मिय प्रेम्णा राजगृहे सुखेनावस्थानं उज्ज्ञित्वा मया सह वनं गतवती, तां त्वां विना प्राणत्यागोचितेऽि काले प्राणान् न परित्यजामि इत्यहो नैर्घृण्यं मम (रामस्य) इति वाक्यमिदं सोतारामयोनिरितशयां रित प्रकाशयद् विप्रलम्भशृङ्गारस्य व्यञ्जकं भवति । तदेवाह—एतद्धोति । एतिद्ध वाक्यं, कृतक कृपितैरित्यादि । परिपोषप्राप्तं विभावानुभावव्यभिचारिभावैः परिपोषं प्राप्तं परस्परानुरागं अन्योन्यालम्बनां रितं प्रदर्शयत् व्यञ्जयत्, सर्वत एव सर्वस्मादेव, परमुत्तमं रसतत्त्वं प्रकाशयित ।

द्वितीयमुदाहर्तुमाह—अलङ्कारसङ्कीर्णेति । यथेति । स्मरनवनदीपूरेणोढां इति ।

अलक्ष्यक्रमन्यङ्गचः सङ्घटनायां भासते व्यक्तिरित्युक्तं तत सङ्घटना-स्वरूपमेव ताविज्ञरूपते—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता। तथा दीर्घटमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥ ५ ॥

उज्जीवनी ।

स्मरनवतदीपूरेशोदः पुनर्गुहन्तु भि-यंदपि विधुशस्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः । तदपि लिखितप्रक्षैरङ्गैः पग्स्परमुन्मुखाः नयननलिनोनालानीतं पिबन्ति रसं विद्याः ॥

अमरुक्शतके षष्टितमं पद्यमिदम्। प्रियाः (पु) च प्रियाः (स्त्री) च प्रियाः इत्येक्शेषः। प्रेयांसः प्रेयस्यरुचेत्यर्थः। स्मरनवनदीपूरेण स्मर एव मदन एव यो नवो नदीपूरः रागाख्यो नदोप्रवाहस्तेन ऊढा नीताः। पुनर्गुरुसेतुभिः गुरुबनैरेव सेतुभिः ऊढा बलान्नीताः. यद् यस्मात् विधृता निवारिताश्च भवन्तीति शेषः। तस्मात् आराद् समीपे, अपूर्णमनोरथाः अपूर्णाः पूर्णनामप्राप्ताः मनोरथाः कामा येषां तादशा भवन्ति। तदिप तथापि, लिखित-प्रख्येः चित्रसद्शेः, अङ्गैः शरीरैः, परस्परमन्योन्यं, उन्मुखा अभिमुखाः नयननिवनीनालाकृष्टं नयनैनेंत्रैरेव, निवनीनालैः, आनीतं आहृतम्। रसं आभिलाषिकीं रितं पिवन्ति स्वदन्ते।

अत्र हि रूपकेण नयनयोर्नलिनीनालरूपणात्मकेन रूपकालङ्कारेण, यथोक्तव्यञ्जकलक्षणानुगतेन अलङ्कारस्य व्यञ्जकत्वे या व्यवस्था पूर्वपृक्ता तदनुसारेण, प्रसाधितः परिपोषं प्राप्तः, रसः विप्रलम्भशृङ्गारः, सुतरां सम्यगेव, अभिव्यज्यते । अत्र प्रेयोमिथुनेषु चक्रवाकिमिथुनत्वारोपं रूपकमिप द्योत्यते ।

सङ्घटनां निरूपितुमुपक्रमते — अलक्ष्यक्रमव्यङ्गयो ध्विनिः सङ्घानायां भासत इत्युक्तम्। तत्र सङ्घटनायाः स्वरूपमेव तावित्ररूप्यत इति। असमासेति। असमासा समासरहिता। मध्यमेन समासेन अल्पसमासेन भूषिता च अलङ्कृता च। तथा दीर्घसमासा चेति सङ्घटना त्रिविवा उदिता उक्ता कैश्चिदिति कर्तृं निर्देशः।

कैश्चित्—तां केवलमनूद्येदमुच्यते । गुणानाश्चित्य तिष्ठति माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । रसान—

सा सङ्घटना एसादोन् व्यनक्ति गुगानाश्चित्य तिष्ठन्तीति । अत्र च दिकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायारचैक्यं व्यतिरेको वा । व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः । गुणाश्चया रुङ्घटना, सङ्घटनाश्चया वा गुणा इति ।

तत्रैक्यपक्षे सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतानावेयभूतान् वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः ।

उज्जीवनी ।

पूर्वकारिकायां घ्विनियोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचः स वर्णे पदे पदावयवे, वाक्ये, प्रबन्धे, सङ्घटनायां च प्रकाशत इत्युक्तम् । शषी सरेफसंयोगाविति कारिका-द्वयेन, के के वर्णाः कस्य कस्य रसस्यानुक्रलाः कस्य कस्य प्रतिक्रला इति प्रदिशतम् । तत्र सङ्घटना नाम योजनेति मतम् । तत्तद्रसानुगुणानां वर्णानां योगे पदानि भवन्ति । तेषां पदानां समस्यमानतारूपा योजना सङ्घटनेत्युच्यते । सा च त्रिधा—समासं विना पृथक्पदत्वरूगाः दित्राणां पदानां योजना, बहूनां पदानां योजना चेति त्रिविधा सङ्घटना भवति । तां सङ्घटनां केवल गुर्गम्यः पृथग्भावेन अनुद्य इदमुच्यते सङ्घटनायाः स्वरूगमुच्यत इत्यर्थः ।

गुणानिति। माधुर्यादीन् माधुर्यौजः प्रसादाख्यां स्त्रीन् गुणाना श्रित्य, तिष्ठन्ती चर्तमाना, सा सङ्घटना, एसान् श्रुङ्गारादीन् व्यनक्ति व्यञ्जयति। शृङ्गारादि-रसानुगुणेषु वर्णेषु विद्यमानो माधुर्यादिर्गुणः, तादशवर्णसमुदायरूपेषु पदेषु व्यस्ततया समस्ततया वा तत्तद्रसानुगुण्येन तिष्ठन्ती योजना, सङ्घटनेत्युच्यते। तदेवोक्तं सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति।

अत्रेदं विचार्यते—अत्र चेति । अस्मिन् प्रकरणे गुणानां माधुर्यादीनां, सङ्घटनायाः पदघटनायाश्च, ऐक्यं अभेदः व्यतिरेकस्तदभावो भेदो वा इति विकल्प्यं, गुणानां सङ्घटनायाश्चाभेदो भेदो वेति विकल्प्यंत इत्यथः । व्यतिरेकेऽपि भेदपक्षेऽपि, द्वयी गतिः प्रकारद्वयमाशङ्कचते । गुणाश्रया गुण आश्रयो यस्या सा सङ्घटना । सङ्घटनाश्रयाः सङ्घटना आश्रयो येषां ते सङ्घटनाश्रया गुणाः ।

यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीः गुणागरतन्त्रस्त्रभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः । कि पुनरेत्रं विकल्पनस्य प्रयोजन-मिति ? अभिधीयते—यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्रं सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः ।

गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव । रौद्राद्भुतादिविषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषय-नियमो व्यवस्थितः, सङ्वटनायास्तु स विषटते । तथाहि श्ङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृथते, रौद्रादिष्वसमासा चेति ।

उज्जीवनी ।

गुणानाश्वित्य सङ्घटना तिष्ठति । अथवा सङ्घटनायां गुणास्तिष्ठस्तीति । तत्र, एवं पूर्वपक्षे सित्, ऐक्यपक्षे गुणसङ्घटनयोरे कत्वपक्षे, सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे सङ्घटनायां गुणो वर्तत इत्येवंरूपे भेदपक्षे च, आत्मभूतान् सङ्घटनायां आधारस्याधेयभूतान् वा गुणानाश्चित्य तिष्ठस्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्यर्थः कारिकाया वक्तव्यः ।

यदा तु नानात्वपक्षे गुणसङ्घटनयोभेंदेऽङ्गीक्रियमाणे सित, गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः सङ्घटना गुणमाश्रित्य तिष्ठतीति पक्षश्चाभिमतः, तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा गुणाघीना । तु किन्तु, गुणरूपैव गुणात्मिकैव न भवति । अस्मिन् पक्षे सङ्घटनाघीनान् आघारभूतानाश्रित्य तिष्ठन्तीति सङ्घटना रसान् अभिज्यनक्तीति कारिकार्थः ।

आशङ्कते—"कि पुनरेवं विकल्पनस्यप्र योजन"मिति। समाधते—अभि-धीयते इति। अभिधीयते कथ्यते। गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं यदि गुणपदवाच्यत्वं, सङ्घटनापदवाच्यत्वं च यद्येक वस्तु, वा अथवा सङ्घटनाश्रया गुणाः, सङ्घटनामाश्रित्येव गुणाः स्वरूपं लभन्ते। तदा सङ्घटनाया यथा अनियतविषयत्व तथा गुणानामपि तथात्वमापद्येत।

गुणानां माधुयौजःप्रसादानां नियतिवषयत्वमस्त्येव । तदेवाह—माधुर्येति । माधुर्यप्रसादप्रकर्षः माधुर्यप्रसादयोः प्रकर्षः, करुणविप्रलम्भशृङ्गारिवषय एव । माधुर्यं करुणादिषु द्रुतिकारणम् । प्रसादश्च सर्वरससाघारणो तत्र शुङ्गारे दीर्घसमासा यथा—"मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका' इति । यथा दा—

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते। करतलनिषण्णसबले वदनमिदं कं न तापयति ।। दत्यादौ।

तथा रौदादिष्वसमासा दृशते । तथा—'यो यः शस्त्रं बिभिति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ । तस्यात्र गुणाः सङ्घटनास्वरूणः, न च सङ्घटनाश्रया
गुणाः ॥

उज्जीवनी ।

गुणः करुणादिषु चित्तविकारहेतुः। रौद्राद्भुनादिविषयमोजः, रौद्राद्भुनादिषु ओजागुणः दीप्तिजनकः। माधुर्यं प्रसादश्च रसभावतदाभासविषयो प्रवर्ष-मनुपातौ माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासेषु च नियतविव । इति एवं स विषयनियमो विघटते नियतविषयत्वं सङ्घटनाया नास्तीत्यर्थः। तदेव दर्शयति—तथाहोति। अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा" इति। यद्यपि अलङ्कारशः क्षकाराः शृङ्काररसस्य असमासा, मध्यमसमासा वा सङ्घटनैवेति विषयनियमः अस्तीति मन्यन्ते, तथापि शृङ्कारे दीर्घसमासा सङ्घटना, रौद्रादिषु च रसेषु असमासा च सङ्घटना दश्यत इति स नियमो ग्रन्यकृता नाम्युपगम्यत इत्याशयः।

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासां सङ्घटनां प्रदर्शयति—दीर्घसमासे यथेति । मन्दारेति । मन्दारस्य कल्पद्रुमस्य कुसुमानां रेणुभिः परागैः, पिञ्जरिता पिङ्गलवर्णाः, अलका यस्यास्तादशी मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका इति दीर्घपमासा संघटनापि शृङ्गारसस्य आलम्बनविभावप्रतिपादनपरः प्रबन्धभागे यत दश्यते, ततः शृङ्गारे संघटनाया विषयनियमो नास्तीति भावः ।

समग्रमुदाहरण दर्शयति —यथा वेति । अनवरतेति । प्रणयकुपितां नायिकामनुनेतुं नायकस्योक्तिरियम् । अबले, अनवरतमनारतं, नयनजलस्य अश्रुणः, लवानां कणानां निपतनेन पतनेन, परिमुषिता प्रमृष्टा पत्रलेखा

१, 'लान्तम्।' च

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्चयस्तत् किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम् । जच्यते—प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम् ।

> तमर्थमवलम्बन्ते येऽिङ्गवं ते गुणाः स्मृताः । अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ इति ।

अथवा भवन्तु शब्दाशया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासतुल्यत्वं, यस्मादनु-प्रासादयोऽनपेक्षित। धैशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः ॥

उज्जीवनी

यस्मिस्तादशम् । करतलिषण्णं करतले निषण्णं व्यस्तम् । इदं ते वदनं अतिनं कं कं जनं न तापयति न पीडयति, इत्यादौ ईर्ष्याविप्रलम्भश्रुङ्गारे दीर्घसमासा सङ्घटना दश्यते ।

रौद्र। दिष्विप सङ्घटनाया अनियतिवषयस्वं दर्शयति — तथेति । रौद्रा-दिष्विप रौद्रवीरबीभत्सेषु अपि, उदाहरित — यथेति । यो य इति । द्वितोयोद्द्योते ओजोगुणनिरूपणावसरे उदाहृतिमदम् । फलितमाह — तस्मादिति । तस्मात्, गुणाः माधुयौजः प्रसादाख्याः सङ्घटनास्वरूपाः सङ्घटनात्मिका वा, सङ्घटनाश्रयाः सङ्घटनारूपे आश्रये अविकर्णो, आधे-यरूपा वा न भवन्तीत्यर्थः ।

गुणानां यथार्थमाश्रयं दशयति—नित्वति । सङ्घटना गुणानामाश्रयो न भवति यदि एते गुणाः, किमालम्बनाः किमाश्रित्य तिष्ठन्तोति प्रश्किल्प्यन्तामिति प्रश्लाः । समाधत्ते—उच्यत इति । एतेषां माध्यविनां गुणानामालम्बनं । प्रतिपादितमेव पूर्वं द्वितीयोद्द्योते उक्तमेव । उक्तमेवानुवदित —तमर्थमिति ।

पक्षान्तरमाह—अथवेति । गुणा माधुर्यादयः शब्दाश्रयाः शब्दाः रसानुगुणवर्णघटितं पदं आश्रयो येषां तादशा भवन्तु । यद्यपि ते पदाश्रयास्तथापि अनुप्रासादितुल्यत्वं अनुप्रासाद्यात्मकशब्दालङ्कारसाम्यम् । एषां गुणानां नेत्यर्थः । हेतुमाह—यस्मादिति । अनुप्रासादयः शब्दालङ्कारा अन्पेक्षितार्थशब्दधर्मा एव अन्पेक्षितः अर्थोऽभिधेयो यस्य तादशस्य अर्थानपेक्षस्य

१. 'थंविस्ताराः श०' च.

गुणास्तु व्यङ्गचविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव । शब्दधर्मस्य चैषामन्याश्रयस्वेऽपि शरीराश्रयस्विमव शौर्यादोनाम् ॥

ननु यदि शब्दाश्रया भुणास्तत्सङ्वटनारूपत्यं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव । न ह्यसङ्घटिताः शब्दाः सर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां भुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति । नैवम्, वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात् ।

उज्जीवनी

शब्दस्य धर्मा एवेति प्रतिपादिता उक्ताः । गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्य-प्रतिपादनसमर्थशब्दधर्माः व्यङ्ग्यार्थविशेषमवभासियतुं शील मस्येति तादशस्य वाच्यस्य वाच्यार्थस्य प्रतिपादने बोधने समर्थौ यः शब्दस्तद्वत्तिधर्मा एव ।

ननु गुणानामाश्रयो रस इत्युक्तम् । कथं तेषां शब्दनिष्ठत्वमुच्यमानं सङ्गच्छते । उच्यते—शौर्यादीनामात्मगुणानां अन्याश्रयत्वेऽपि, आत्माश्रय त्वेऽपि शरी राश्रयत्वं शरीरावच्छेदेनैव, अहं शूर इत्याद्यनुभवः तथा गुणानाम-न्याश्रयत्वेऽपि काव्यात्मभूतरसाश्रयत्वेऽपि, शब्दधर्मत्वं शब्दरूपं काव्यमाश्रित्यं व माधुर्यादयः प्रकाशन्ते ।

आशक्कते — निन्नति । गुणा रसधर्माः शब्दाश्रयाः यदि रसधर्मत्वेऽपि तदवच्छेदकं शब्दरूपं शरीरमाश्रित्येवावतिष्ठन्त इत्यङ्गीकारे, तेषां गुणानां, सङ्घटनारूपत्वं सङ्घटनात्म कत्वं, वा अथवा तदाश्रयत्वं सङ्घटनाश्रयत्वम् प्राप्तमेव । अत्र हेतुमाह — नहीति । हि यतः, असङ्घटताः सङ्घटनां विना पृथगवस्थिताः शब्दाः, अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां अर्थविशेषण तात्पर्याधितमेन प्रतिपाद्यं प्रतिपादनविषयीभूतं रसादि रसभावादिरूपं व्यङ्ग्यमर्थं माश्रित्य वर्तमानानां गुणानां माध्यदिनां, अवाचकत्वात् अभिधया प्रतिपाद्य-मानत्वाभावात् आश्रया न भवन्ति । असंघटितानां शब्दानां अर्थान्तरव्यञ्चक-त्वाभावात् सङ्घटिता एव ते अर्थविशेषं प्रकाशयन्तीति यावत् । समाधत्ते — नैवमिति । रसादीनां रसभावादीनां वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य केवलवर्णेः केवल-पदेश्चापि व्यञ्चनस्य प्रतिपादितत्वाद् उक्तत्वादित्यर्थः ।

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित् सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्य-विशेषानुगता आश्रयाः। जनु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते, तदुच्यताम्, ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वम्।

न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचि दो जस आश्रयतां प्रति । उच्यते — एदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषित चेतस्तदत्रापि न न बूम:। ओजस: कथमसमास-सङ्बटना नाश्रयः। यतो रौदादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राकृ प्रतिपादितम्॥

उज्जीवनी ।

अभ्युपगत इति । रसादीनां रसभावादीनां व्यङ्ग्यानामर्थानां, दाक्य-व्यङ्ग्यत्वे सङ्घटितैः शब्दैः वाक्यरूपत्वं प्राप्तैः व्यङ्ग्यभावे अभ्युपगते अङ्गीकृते सत्यित्, सङ्घटितानामे शब्दानां अर्थान्तरव्यञ्जकत्वेऽङ्गीक्रियमागोऽपि, नियता काचित् सङ्घटना सङ्घटना नियतरूपा, तेषां रसानां, आश्रयत्वं न प्रतिपद्यते आश्रयत्वं न प्राप्नोति इति हेतोः अनियतसङ्घटनाः सङ्घटना-नियमरहिताः शब्दा एव व्यङ्गचिविशेषानुगता व्यङ्गचिविशेषमनुगताः शब्दा एव । आश्रयाः गुणानां माधुर्यादीनां धर्माणामित्यर्थः ।

''अवृत्तिमंध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथे''ति 'वृत्तिदैध्यं गुम्भ उद्धत आजिस इति च अन्यैरलङ्कारशास्त्रकारै: सङ्घटनानियमेऽङ्गोक्रियमाणेऽिष लक्ष्येषु बहुशः नियमस्यास्य भेददर्शनात् ध्वन्य।लोककर्तुरयं नियमोऽनिभमत एवेति ज्ञायते ।

आशङ्कते—निन्नति । माधुर्ये माधुर्याख्ये गुणे, एवं सङ्घटनानियमो नाङ्गीक्रियत इति यदि नामोच्यते यदि कथ्यते, तदुच्यतां कथ्यताम् । बोजसः पुनः ओजोगुणस्य तु, अनियतसङ्घटनाश्रयत्वं कथम् ? अनियतायाः सङ्घटनायाः सङ्घटनानियमाभावस्य आश्रयत्वमाश्रयभावः आश्रयत्वेना गर्म्यानं कथं सङ्गच्छते । हेतुमाह—नहीति । असमासा समासरहिता सङ्घटना, कदाचिदिप ओजस आश्रयतां आश्रयत्वं न प्रतिपद्यते न प्राप्नोति । अत ओजसि, सङ्घटनानियम आवश्यक एव इति पूर्वपक्षः । समाधतो—उच्यत

तचीजो यससमासाय।मपि सङ्घटनायां स्यात् तत् को दोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहदयहदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न क।चित् क्षतिः। तेषां इ चक्षुरादीनामित यथास्वं विषयनियमितस्य स्वरूपस्य न कदाचिद् व्यभिचारः।

तस्मादन्ये गुणाः अन्या च सङ्घटना । न च मङ्घटना माश्रिता गुणा इत्येक दर्शनम् । अथवा सङ्घटनारूपा एय गुणाः । यत्त्वतं सङ्घटनावद् गुणानामपि

उजीवनी ।

इति । प्रसिद्धिमात्रदूषितं दीर्घसमासरूपा सङ्घटना ओजस आश्रय इति प्रसिद्धिमात्रेण चेतो यदि दूषितं दोषवत् कृतं ते चेतो यदि न भवति, अतापि ओजस्यपि न न बूमः सङ्घटनानियमो नास्तःति न वदामः ।

यद्ययं तथापि, ओजस बोजोगुणस्य, असमासा सङ्घटना, कथमाश्रयो न भवित । तदेवोपपादयित—यत इति । रौद्रादीन् रसान् प्रकाशयतो व्यञ्जयतः काव्यस्य शब्दसन्दर्भस्य दीप्तः ओज ओजोगुण इति प्राक् पूर्वं, प्रतिपः दितं प्रदिश्तिम् । तञ्चौजः तास्त्र ओजोगुण असमासायामिप सङ्घटनायां, यदि स्याद् यदि भवेत्, तत् को दोषो भवेत् कस्यापि दोषस्य नावसर इत्यर्थः । लक्ष्येषु ओजोव्यञ्जकवानयप्रयोगस्थलेषु, समासाभावेऽपि यदि सहृदयानां रसास्वादो भवित तिह् दोर्घसमाससङ्घटनाया नियतत्व कथं पदमुपगच्छित इति यावत् । तत्र तादशस्थलेषु सहृदयहृदयसंवेद्यं सहृदयानां हृदयैर्वेदनीयं अचारत्वं चारत्वाभावः, नास्ति नैवानुभूयते । तस्माद् गुणानां, अनियतसङ्घटनाश्रयत्वे सङ्घटनानियमानङ्गीकारे, न काचित् क्षतिः न कोऽपि दोषः । गुणानां नियतविषयत्वमाह—तेषां त्विति । तेषां तु गुणानां तु चक्षुरादोनामिव चक्षुरादोन्द्रियाणामिवः यथास्वं स्वस्वविषयानुमारेणः, विषयनियमितस्य स्वरूपस्यः । तस्मादः ये गुणाः, अन्या च सङ्घटना, गुणानां सङ्घटनायाश्रयः । तस्मादः ये गुणाः, अन्या च सङ्घटना, गुणानां सङ्घटनायाश्रयः । स्वतित्यर्थः । तस्मादः ये गुणाः, अन्या च सङ्घटना, गुणानां सङ्घटनायाश्रयः । भवतित्यर्थः । तस्मादः ये गुणाः, अन्या च सङ्घटना, गुणानां सङ्घटनायाश्रयः । भवतित्यर्थः ।

गुणाश्च सङ्घटनामाश्चिता न पदानां, सङ्घटनामाश्चित्य गुणा न वर्तन्त इत्येकं दर्शनं मतम् । मतान्तरमाह—अथवेति । अथवा मतान्तरे तु सङ्घटना- रूपा एव गुणा, गुणसङ्घटनयोरभेद इति यावत् ।

अनियतिवषयत्वं प्राप्नोति । लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनाद् इति । तत्राप्येतदुच्यते— यत्र लक्ष्ये परिकत्नित्तविषयव्यभिचारस्ति दिरूपमेवास्तु । कथभचारुत्वं तादशे भिषये सहदयानां नावभातीति चेत् ? कविशक्तितिरोहितत्वात् । द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च । तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्ति-तिरस्कृतत्वात् कदःचिन्न लक्ष्यते । यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झिटिति प्रतीयते परिकरश्चोकश्चात्र—

> अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तचा संविधते कवे:। यस्त्वशक्तिकृतस्य स झटित्येव भासते।।

तथाहि—महाकवीन।मप्युत्तमदैवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धना-चनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वाद् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते । यथा—कुमार-सम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्।

उज्जीवनी ।

गुणानामनियतविषयत्वमाशङ्कते—यत्तूक्तमिति । गुणानामपि माधुर्या-दीनामपि, सङ्घटनावत् सङ्घटनाया इव, अनियतविषयत्व व्यञ्जकवर्णविषयक नियमाभावः प्राप्नोति । हेत्माह – लक्ष्य इति । लक्ष्ये कचिद् व्यभिचारदर्शनाद् । तत्तद्रसाननुक्रञवर्णघटितत्वेऽपि कुत्रचिद् तत्तद्गुणवत्त्वदर्शनात् । समग्धते -तत्रापि एतदुच्यत इति । यत्र कचिदे कत्र लक्ष्ये, परिकल्पितविषयव्यभिचारः विषयस्य व्यभिचरितत्वं परिकल्पितं तत् तादशं लक्ष्यं विरूपमेवास्तु । तत्र वैरूप्यम् अस्तु नाम । ताइशे विषये यत्र वैरूप्य भासते तत्र सहदयाना अचारत्वं चमत्काराभावः. नावभासते न प्रतिभासत इति चेत्, कविशक्तितिरोहितत्वादिति समाधत्ते। तदेव विशदोकरोति—द्विविध इति । दोष: द्विविधः कवे अन्युत्पत्तिकृतः न्युत्रतिराहित्याज्ञात: । अन्नक्तिकृतश्च प्रतिभाशून्यतय-सञ्जातश्चेति । तत्र दोषयोर्मध्ये अव्युत्यत्तिकृतो दोषः कवेरव्यूत्पन्नत्वेन जाय-मानो दोषः। कदाचित् शक्तितरस्कृतत्वात् कवेः प्रतिभ।विशेषेण परिह्रिय-माणत्वात्, न लक्ष्यते न भासते । यस्तु अशक्तिकृतः प्रतिभाशून्यत्वकृतः दोषः, स तु झटिल्येव, प्रतीयते अवभासते । स एवार्थः परिकरश्लोकेन प्रदर्शते— अव्युत्रतीति । अव्युत्पत्तिकृतः व्युत्पत्तिशून्यतायाः सञ्जातः दाषः कवेः शक्तघा प्रतिभया, संवियते आच्छा चते, तू किन्तु, यः अशक्तिकृतः शक्तचभावात् एवमादी च विषये यथौचित्यात्यागस्तथा दिशतमेवाग्रे। शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां अवशीयते । तथाहि शक्तिरहितेन कविना एवविधे विषये शृङ्कार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते । नन्विसम्प् पक्षे 'यो यः शस्त्रं विभित्तं इत्यादौ किमचारुत्वम्? अप्रतीयमानमेवारोपयःमः । तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनायाः अन्यः कश्चिन्निययमहेतु-वंक्तव्य इत्युच्यते ।।

तित्रियमे हेतुगैचित्य वक्तवाच्ययोः ॥ ६ ॥

उज्जीवनी।

प्रतिभाराहित्येन कृत: स दोष: झटिति काव्यश्रवणसमय एव, अवभासते प्रतीयते । तदेवीपपादयति --तथाहीति । महाकवीनां उत्तमदेवताविषयकं प्रसिद्धं यत् सम्भोगश् ङ्वारवर्णनं तस्य निबन्धनःदेः अनौचित्यरूपमौचित्यरहि-तत्वं, शक्तितिरस्कृतत्वात् कविप्रतिभाविलासेनाच्छाद्यमानत्वात् ग्राम्ग्त्वेन काव्यदोषत्वेन न प्रतिभासने न प्रतीयते । तथा कुमारसम्भवे कालिदासमहा-कविविरचिते कुमारसम्भवाख्ये महाकाव्ये देवीसम्भोगवर्णनम्। विषये यथौचित्यात्यागः औचित्यस्य त्यागाभावः तथाग्रे आदौ दशितमेव उक्तमेत्र। शक्तितरस्कृतत्वं च पूर्वोक्तस्यानौचित्यस्य कविप्रतिभातिरोहि-तत्वं च, अन्वयव्यतिरे काभ्यां अवसीयते । कविप्रतिभातिरोहितत्वसत्वे अनौचित्यभानाभावः, तदभावेऽनौचित्यभानमिति, अन्वयेन व्यतिरेकेण च शक्तितिरत्कृतत्वस्य अचारुत्वाभावं प्रति कारणत्वमवसेयमिति यावत्। तथा-हि शक्तिरहितेन कविना प्रतिभाशून्येन काव्यकर्त्रा, एवंविधे विषये अनुचिते विषये, उपनिबध्यमानो वर्ण्यमानः, शृङ्गारः शृङ्गाराख्यो रसः, स्फुटमेव नियमेनैव, दोषत्वेन प्रतिभासते प्रतीयते । नन्विति अस्मिन् पक्षे गुणसङ्घ-टनयौरभेदपक्षे, सङ्घटनाया नियतत्वानभ्युपगमेऽपि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ती-त्यादी---

> यो यः शस्त्रं बिभित्तं स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरिषकवया गर्भशय्यां गतो वा । यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरित मिय रेण यश्च यश्च प्रतीपः क्रोबान्घरतस्य तस्य स्वयमिप जगमामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो आ रसभावरिहतो रसभावसमन्वितो वाः, रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्धिपक्षाश्रयो वाः, कथानायकश्च घीरोदात्तादिभेद-भिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः।

वाच्यं च घ्वन्यात्मरसाङ्गं दाः अभिनेय थेमनभिनेयार्थं वा, उत्तम-प्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम् । तत्र यदा कविरणगत्तरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः । यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहित-स्तदा स एव ।

उज्जीवनी ।

इत्यत्र रौद्रस्य व्यङ्गयत्वेन प्रधानतायामसमासायां सङ्घटनायां चाचारुतं किमस्तीति प्रश्ने जायमाने 'अप्रतीयमानसेत्रारोपयामः, इति वचनेन अचारुतं नैत प्रतीयत इति समाधानं प्रदर्शितम् । तस्माद् हेतोः गुगव्यतिरिक्तत्वे सङ्घटनाया गुणाद् भेदे गुणाष्ट्रपत्वे वा अभेदे वा, नियमहेतुः नियमस्य हेतुः अन्यः कश्चिद् वक्तव्य इत्युच्यते । रसस्तु पूर्वोक्तरोत्या नियमहेतुत्वं नाहंती-त्याशयः ।

नियमे हेतुमाह—तन्नियम इति । तन्नियमे तस्याः संघटनाया नियमे वक्तृवाच्ययोः वक्तुवच्यिस्य च औचित्यं हेतुः कारणमित्यर्थः ॥

वक्तुर्भेदानाह— तत्रेति । वक्ता किवः, किविनिबद्धो नायकादिः इति द्वैविष्यम् । किविनिबद्धश्च वक्ता, रसभावरहितः रसभावश्च्यः, रसभावन्समिन्वत्रचेति द्विविधः । रसोऽपि शृङ्गारादिरिप नायकाश्रयः, किविनिबद्धन्वन्त्राध्ययः, तिद्वपक्षाश्रयः तस्य नायकस्य विपक्षं शत्रुमाश्रित्य वर्तमानः इति द्वेधा । कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदिभिन्नः, घोरोदात्त, धोरोद्धत, घोरलित, घोरशान्तादिभेदेन भिन्नः पूर्वः कथानायकः तदनन्तरः प्रतिनायक, उपनायको वा इति विकल्पा भेदाः सम्भवन्ति । वाच्यस्य भेदानाह—गाच्यं चेति । व्वन्यात्मरसाङ्गं घ्वन्यात्मनो व्यङ्गचरुपार्थस्य प्राधान्येन घ्विनिख्यस्य रसस्य शृङ्गारादेः अङ्ग, व्यञ्ज क्तवेन।विभित्रतं, रसाभासाङ्ग, रसाभासस्याङ्गं, अभिनेयार्थं नाटक।दिख्प, अनिभेयार्थं काव्यात्मकं वा, उत्तमश्चरत्याश्रयं उत्तमप्रकृतिरुत्तमनायकादिः आश्रयः यस्य तादशम् । तदितराश्रयं तिद्धन्ननायकाश्रयं वेति बहुप्रकारम् । बहुवः अनेके प्रकारा भेदा यस्य तादशं

यदा तु किवः किविनिबद्धो ता वक्ता, रसभावसमिन्वतो रसश्च प्रधाना-श्चितत्वात् ध्वन्यात्मभूतः तदा नियमेनैव तत्रासमासामध्यमसमासे एव स बटने। करुणविष्ठसभश्चाङ्गारयोस्त्वसमासैव सङ्घटना। कथमिति /चेद्; उच्यते— रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतोतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः। एवं च दीर्धसमासा सङ्घटना समामानामने कप्रकार-सम्भावनया कदाचिद्रसप्रतोति व्यवद्धातीति तस्यां नात्य तम्मिनिवेशः योभते।

विशेषतोऽभिनेयार्थे कान्ये, ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविष्ठलम्भशृङ्गार-योः । तयोहि सुकुमारत्वात् स्वल्पायामप्यस्त्रच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरी

उज्जीवनी ।

वाच्यमिति यावत् । तत्रेति । यस्मिन् काव्ये, कविः अपगतरसभावः अपगतः रसः भावश्च यस्य तादशः, कवयिता वक्ता, प्रबन्धा यदा भवति तदा । रचनायाः सङ्घटनायाः कामचारः यथेष्टराचरणम् । नियमो नास्तीत्यर्थः, कविनिबद्धो वक्ता वा नायकादिः वक्तानि व स्तृत्वेन कल्पितः कविना । यदा रसभाव।दिरहितः रसभाव।दिशुन्यः, तदापि स एव कामचार एव सङ्घटनायाः । यदा तु कविः कवितिबद्धो वा वक्ता वा रसभावसमन्वितः रसभावादियुक्तः, प्रधानाश्चित्तत्वात् व्यङ्गचत्वेन प्रधानमर्थमाश्चित्य वर्तमानत्वाद्, ध्वन्यात्मभूतः ध्वनिरूपतां प्राप्तः, तदा तत्र, असमासामध्यमसमासे एव सङ्घटने नियमेनैव आश्रयणीये इति नियमोऽस्त्येवेत्यर्थः। अयं च शृङ्गाररसविषय एव नियम: । करुणविप्रलम्भयोस्त् करुणस्य विप्रलम्भशुङ्कारस्य च, असमासैव सङ्घटना। तदेवोपपादयति—कथमिति। उच्यत इति। रसः शृङ्गारादिः यदा प्राधान्येन प्रधानतया प्रतिपाद्यः प्रतिपादनविषयीभूतः, तदा तस्याम-वस्यायां, तत्प्रतीतौ व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रत्यायने, व्यवधायकाः प्रतिबन्धकाः विरोधि १ श्र रसाननुगुण श्र, सर्वात्मनैव सर्वथैव, परिहार्याः परिहरणोयाः । एवं च दोर्घसमासासङ्घटनायां दीर्घसमासाश्रितानां सङ्घटनानां अनेक-प्रकारसम्भावनया, समाद्यानां वैविध्यसन्देहात्. कदाचिद् रसप्रतीतिः रसाव-बोषनं व्यवदधः ति प्रतिबद्धाति, इति हेतोः, तस्यां दोर्घसमासायां सङ्घटनायां अत्यन्तमभिनिवेशः कवेर्नैर्भर्यं न शोभते नैवाह्मादकमित्यर्थः। अभिनेयार्थे काव्ये दश्यकाव्ये नाटकादौ, विशेषतः सङ्घटनानियमे अभिनिवेशः सुतरा-

भवति । रसान्तरे पुनः प्रतिपासे रौद्राद्वौ मध्यममपासा सङ्घटना कदाचिद् धीरोद्धतनायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण दोर्घतमःसापि वा तदक्षेपाविनाभावि-रसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्यो ।

सर्वायु च सङ्घटनासु प्रसाद। ख्यो गुणो वयः वी । स हि सर्व रससाधारणः सर्व सङ्घटनास। धारणक्चेत्युक्तम् । प्रसादातिक्रमे हासमासापि सङ्घटनाः करुगविष्ठमभशृङ्गारौ न व्यनस्ति । तदपरित्यागे च मध्यमसमास।पि न न प्रकाशयति ।

उज्जीवनी

मनुचितः । ततोऽन्यत्र करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः मधुरतरस्य करुणस्य, मधुरतमस्य वित्रलम्भगृङ्गारस्य च वाङ्गयभ वेन प्राधान्यं यच काव्ये प्रतीयते, तत्र विशेषतः अत्यन्तमनुचित एव नियम इति भाव:। हि यतः तयोः करुण-विजलम्भशृङ्गारयोः सुकुमारतरत्वाद् अत्यन्तं सौकुमार्यात्, अस्वच्छनायां स्वलायामपि अल्पेऽपि मालिन्ये, शब्दार्थंपाः शब्दस्यार्थस्य च, प्रतोतिमन्यरो भवति रसप्रतीतिः मन्थरीभवति मान्द्यमुपैति । रसान्तरेपु गः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ रौद्रादिषु रसेषु प्रतिपाद्यमानेषु मध्यमसमासा सङ्घटनापि न दोषावहा । कदाचित् धोरोद्धतनायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण वर्ण तविषयत्वं धीरोद्धतस्य नायकस्य सम्बन्धः यस्मिस्तादशस्य व्यापारस्याश्रयेण, ताहशे कविव्यापारे, दोर्घसमासापि वा सङ्घटना, तदा-क्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया तस्या दीर्घसमासायाः सङ्बटनायाः अविनाभावी तन्नियतः यो रसः रौद्रादिः, तदुचितो यो वाच्यस्तदपेक्षया विगुणा होनगुणा न भवतीति हेतो: सानि अत्यन्तं न परिहार्या अत्यन्तपरिहारो नावस्यकर्तव्य इत्यर्थः । प्रसादास्यो यो गुण स सर्वासु सङ्घटनासु व्यापो व्याप्यावितिष्ठत इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—स होति । स हि प्रसादस्तु सर्वरस-साधारणः सर्वेषु मधुरेषु अोजस्विषु तदितरेषु च रसेषु साधारण्येन वर्तमानः सर्वसङ्घटना शाधारणश्च सर्वासु च सङ्घटनासु असमासामध्यमसमासादीर्घ समासासु च सङ्घटनासु समान इति पूर्वमेवोक्तम्। प्रसादगुगनिकाणावसरे प्रदिशतिमत्यर्थः । माधुवौजोभ्यां प्रसादस्य विशेषमाह-प्रसादेति । प्रसादाति-क्रमे प्रसादगुणस्य परित्यागे यद्यप्यसमासा सङ्घटना करुणविष्रजनभयो रौचित्यं

तस्मात् सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः । अत एव च 'यो यः शस्त्र बिभिति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते तत् प्रसादस्यैव गुणो न माधुर्यम् । न चारुत्वं; अभिप्रेतरसप्रकाशनात् । तस्माद् गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा संघटनाया यथोक्तादौचित्याद् विषयिनयमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जक-वम् ॥

तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव भुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम् ॥

विषयाश्रयम्प्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति । काव्यत्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥ ७ ॥

उज्जीवनी ।

न जहाति । तथापि प्रसादगुणहानौ करुणविप्रलम्भौ न व्यनक्ति । अन्वयसाह— तदिति । तदपरित्यागे तस्य प्रसादस्य परित्यागाभावे प्रसादगुणपरिग्रहे । मध्यमसमासापि सङ्घटना न प्रकाशयतीति न वक्तव्यम्। प्रसादगुणसत्त्वे मध्यमसमासापि सङ्घटना रसन्यश्चिका इत्यन्वयः। प्रसादगुणाभावे असमासापि सङ्घटना न रसव्यिञ्जिकेति व्यतिरेकः। एवं प्रसादगुणस्य सर्वरससाधारण्य सिध्यतीत्यर्थः । पर्यवितिनाह—तस्मादिति । तस्माद् उक्ताद्धेतोः, प्रसादः प्रसादाख्यो गुणः, सर्वत्रानु पर्तव्यः अनुसरणीयः । अत एवेति । अत एव प्रसादस्य सर्वरससाधारण्यादेव 'यो यः शस्त्रं बिभित्' इत्यत्र ओजस्विति काव्ये यद्यपि सङ्घटनानियममञ्जीकुर्वाणैरलङ्कारशास्त्रकारैः, ओजस ओजोगुणस्य, स्थितिर-वस्थानं, नैष्यते तत् तथापि, तत्र प्रसादाख्य एव गुणाः प्रसादगुण एव काव्य-चारुत्वहेतुः, न माधुर्यं माधुर्याख्यो गुणस्तत्र नाभ्युपगम्यते । तेन यत्र अचारुत्वं च नास्ति । अभिप्रेतस्याभिमतस्य रसस्य प्रकाशनात् प्रसादेन सर्वरससाधा ररोनैव रसव्यञ्जकत्वनिविहित्। तस्मात् सङ्घटन।या गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणाभेदे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा गुणभिन्नत्वे वा, ययोक्त दीचित्याद् वनतुविच्यस्य वा अीचित्यानुसारेण विषयनियमोऽस्त्येव । इति हेतोः, तस्या अपि सङ्घटनाया अपि रसव्यञ्जकत्वं रसप्रकाशकत्वम् । रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया रसाभि-व्यक्तेः व्यञ्जनस्य कारणभूतायाः, तस्याश्च संघटनायाश्च योऽयमनन्तरोक्तो

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति । यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकः संस्कृतप्राकृतापश्चं शनिबद्धम् । सान्दानितकविशेषककलापककुलकानि । पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकया— सक्तकथेः सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका—कथे इःयेवमादयः । तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति । तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशितः कवे-स्तदाश्रयमौनित्यम् । तच्च दिश्वतेषव ॥ अन्यत्र कामचारः ।

उज्जीवनी ।

नियमहेतुः वक्तृवाच्याद्योचित्यरूपो विषयनियमस्य कारणं स एव औचित्यात्मक एव गुणानां माधुर्यादीनां नियतो विषयः नियतहेतुर्विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानं, संघटनाया गुणात्मनैव अवस्थानमि अविरुद्धम्। सङ्घटनाया गुणाश्रितत्वेन।वस्थानं न विरुध्यत इत्यर्थः।

औवित्यान्तरमाह—विषयेति । विषयः शब्दसन्दर्भाःमकः आश्रयः यस्य ताद्यम् । अन्यद्वि औवित्यं औचित्यं तरमित तां सङ्घटनां नियच्छति नियमयित । हि यतः सा सङ्घटना काव्यप्रभेदाश्रयतः काव्यस्य प्रभेदानाश्रित्य भेदवती स्थिता भिन्नैवावित्छत इत्यर्थः । वक्तृवाच्यगतौचित्ये वक्तुः वाच्यस्य चानुरोधेन यदौचित्यं तस्मिन् सत्यिति विद्यमानेऽपि विषयःश्रयं काव्यप्रभेदाना-श्रित्य विद्यमानमौचित्यमित सङ्घटनां नियच्छति सङ्घटनाया नियमे कारणं भवतीत्यर्थः । काव्यप्रभेदानाह—यत इति । मुक्तकं मुक्तमेव मुक्तकं संज्ञायां कन् । पद्यान्तरनिरपेक्षेण एकेन पद्येन समाप्तिबोधकक्रियान्वये वावयार्थस्य पूर्णतायां मुक्तकमित्युच्यते । तदुक्तं साहित्यदर्पेणे— (P. 458)

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् । द्वाभ्यां तु युग्मकं सान्दानितकं विभिरिष्यते ॥ कलापकं चतुर्भिश्च पश्चभिः कुत्रकं मतम् ॥

तत्र मुक्तकं संस्कृत (भाषा) मयं प्राकृत (भाषा) मयं, अपभ्रंशमयं च

द्वाभ्यां पद्याभ्याम् एकविशिष्टार्थबोधकं कान्यं युग्मकम्। तथा त्रिभिः पद्यैः सान्दानितकं, चतुर्भिः कलापकं, पञ्चभिः पद्यैः कुलकं चेति कान्यभेदा

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसवन्धःभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा हि अमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रसिद्धा एव । सान्दान्तिकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्य त् मध्यमसमासादीर्धसमासे एव रचने । प्रबन्धःश्रयेषु यथोक्तप्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम् ।

पर्यायबन्धे पुनरसम्।सामध्यमसमासे एव सङ्घटने । कदाचि दशौँ च या-श्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटन यां पह्या ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या । परिकथायां कामचारः । तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नःत्यन्तं रसान्धाभिनि-वेशात्।।

उज्जीवनी ।

वर्तन्ते। एवं पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथाः सग्बन्धः, अभिनेयार्थम्, आख्यापिका, कथा इत्येवमादयश्च भेदाः सन्ति । तदाश्रयेणापि काव्यविशेषाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भिन्ना भवति । तत्रेति । मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः रसस्य निबन्धने अभिनिवेशिनः तत्परस्य कवेः, तदाश्रयं वक्त्राखाश्रयमौचित्यमेव सङ्घटनायां नियाम कम् । तञ्च दिशतमेव अनुपदमेव प्रदिशतमित्यर्थः । अन्यत्र कवे रसबन्धाभिनिवेशो यत्र नास्ति तत्र कामचार, नियमो नानुसरणीयः ।

मुक्तकेषु प्रसिद्धं विशेषमाह—मुक्तके िवति । प्रबन्धे िवव, यथा कवीनां प्रबन्धेषु रसबन्धे ऽभिन्दिशः, तथा मुक्तके व्विप ववीनां दृश्यत एव ः उदाहरित—यथेति । अमरुकस्य कवेः मुक्तकाः प्रश्नकाः। प्रश्नुक्षार रसस्य न्यञ्चकाः, प्रबन्धायमानाः प्रबन्धवद् भासमानाः प्रसिद्धा एव प्रख्याता एव । सान्दानितकादिषु, कलापकेषु कुलकेषु च काव्यभेदेषु विकटनिबन्धनौचित्यात् विकटनिबन्धनस्य उद्धतरचनाया उचि । स्वन्ध भेदेषु विकटनिबन्धनौचित्यात् विकटनिबन्धनस्य उद्धतरचनाया उचि । स्वन्ध श्रयेषु प्रबन्धान्तगंतेषु तु, तेषु सन्दानितकादिषु यथोक्तप्रबन्धस्य यदौचित्यं तदेवानु-सर्तव्यम् । पर्यायबन्धे पुनः एकवर्णनीयोहेशेन प्रवृत्ते खण्डकाव्ये तु, असमासा मध्यमसमासा च सङ्घटना । तत्र प्रायेण शृङ्गार रसस्य प्राधान्येन प्रतीयमानत्वादित्यर्थः । तथापि कदाचिदर्थस्य प्रतिपाद्यमानस्य औचित्याश्रयेण औचित्यमाश्रित्य दीर्घसमासायां सङ्घटनायां अङ्गिक्रियमाणायामित्, ५६षा

खण्डकथासकनकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः, कुलकादिनिनम्धनभूयस्त्वात् दीर्घसमासायामपि न विरोधः । वृत्त्यौचित्यं तु यथारसमनुप्रतं व्यम् । सर्ग- बन्धे तु रसतात्वर्ये यथारसमौचित्यं अन्यया तु कामचारः । द्वयोरि मार्गयोः सगेबन्धिविधायिनां दर्शनाद् रसतात्पर्यं साधीयः । अभिनेयार्थे तु सर्वया रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः । आख्यायिकाकथयोस्तु शद्यनिबन्धनबाहुल्यात् गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिहं नियमे हेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते ।

उज्जीवनी।

ग्राम्या च वृत्तिः शृङ्गाररसाननुकूलवणेरचना परिहर्तेव्या न स्वीकर्त्तव्या। परिकथायां धर्मादिपुरुवार्थमे हमुद्दिश्य प्रकारवैचित्रयेणानन्तवृत्तान्तवर्णनपरायां कामचारः । सङ्घटनानियमो नास्तीत्यर्थः । हेतुमाह—तत्रेति । तत्र परिकथायां, इतिवृत्तपालो गन्यासेन इति गृत्तम त्राणीनेन भात्यन्तम गत्वेनैन, रससम्बन्धः विनिवेशात् र तसम्बन्धे रसाति ॥ बतायां अभिनिवे गात् तात्त-यत्। खण्डकथा एकदेशवर्णनात्मिका, सक्लकथा सक्लेतिवृत्तवर्णनारूपा, तयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः, प्राकृतभाषामय्योः, कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वात् भूयसांशेन कुलकारीनां निबन्धनात्, दीघंसमासायामपि सङ्घटनायां न विरोधः। वृत्तेरौचित्यं तु यथारसमनुपर्तव्यं रसविरोधिवृतरनुवितःवादिः त्यर्थः। सर्गवन्थे महाकाव्ये तु, रसतात्पर्ये यत्र रसनिबन्धने तात्पर्यं कवेः, तत्र, यथारसमौचित्यं रसोबितमौचित्यम्। अन्यथा रसतात्रयभावे, तुर कामच रः सङ्घटनायाम् । सर्गवन्धविधायिनां महाकाव्यक णां, द्वयोरपि मार्गयोः रसतात्वर्यस्य तदभावस्य च दर्शनान्, रसतात्वर्यमेव साधीयः युक्त-तरम्। अधिनैयार्थे तु दश्यकाव्ये तु, रसबन्ये रसनिबन्धने कवेरिभनिवेशः कार्यः । तत्ररत्त्रमावश्यकमित्यर्थः । आख्यायिकाकथयोस्तु, कथायामाख्या-धिकायां च

> कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् । कचिदत्र भवेदार्यो कचिद् वक्त्रापवक्त्रके । आदौ पद्यैनमस्कारः खलादेर्वृ तकीर्तनम् ॥

एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् । सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥ = ॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्ययतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियमवितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः॥

तथा ह्यतानि यदा कविः कविनिबद्धो तः वक्ता रसभावरहितः, तदा कामचारः । रसभावसमन्विते तु वक्तिर पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम् । तत्रापि च विषयौचित्यमेव । आख्यायिकायां तु भूमना मध्यमसमासःदीर्घसमासे एव सङ्घटने । गद्यस्य विकटबन्धश्रयेण छायावत्त्वात् । तत्र च तस्य प्रकृष्यमाण त्वत् । कथायां तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्त-व्यम् ॥

्उज्जोवनी ।

यथा कादम्बर्यादिः॥

आख्यायिका कथावत् स्यात् कवेवैशानुकीर्तनम् । अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं कचित् कचित् ॥ कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते । आर्यावक्तापवक्ताणां छन्दसा येन केनचित् ॥ अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ॥

यथा हर्षचिरतादिः । आख्यायिकायां कथायां च गद्यनिबन्धनबाहुल्यात् तयोगंद्यकाव्यत्वात् । गद्ये च छन्दोभिन्नप्रस्थानत्वात् वृत्तनिबन्धनविरहात् । इह अस्मिन् ग्रन्थे, नियमे हेतुः सङ्घटनानियमकारणम् । अकृतपूर्वोऽपि पूर्वमकृतोऽपि, मनागल्पतया, क्रियते विधीयत इति यावत् ।

एतदिति । तस्याः सङ्घटनायाः, यथोनतं यथा इदानीमुनतं, औचित्यमेव, छन्दोनियमविति वृत्तनियमशून्ये, सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि गद्यकाव्ये सर्वत्रापि, नियामकं नियमहेतुः । तदेवाह—यदिति । यदेतत् पूर्वोनतं, वनतृवाच्यगतं, औचित्यमनौचित्यभावः, संघटनायाः समस्यमानपदात्मिकायाः, नियामकं नियमे कारणम् । उक्तमभिहितम् । एतदेवौचित्यं विषयापेक्षं, छन्दोनियम-वितिऽपि, गद्ये गद्यप्रबन्धे, नियमहेतुः सङ्घटनानियम-कारणम् । उपपादयति —तथाहोति । अत्रापि गद्यप्रबन्धेऽपि, कविः कविनिबद्धो

रसबन्धोक्तमौचित्यं माति सर्वत्र संश्रिता। रचना विषयापेक्षं तत्तु किश्चिद्विमेदवत् ॥ ६ .।

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसग्नधोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भाति । तत्तु विषयापेक्षं कि चिद्र विशेषवद् भवति । न तु सर्वाकारम् । तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना विष्ठलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकाया-मिप शोभते । नाटकादावप्यसमासंव न ौद्रवीरादिवर्णने ।

उज्जीवनी ।

वक्ता, वा, यदा रसभावरहितः रसभावादिश्नयः तदा कामवारः सङ्घटनायाः । वक्ति किवरूपे, किविनबद्धवक्तृरूपे वा, रसभावसमन्विते तु रसभावादिसहिते तु, पूर्वोक्तमेव नियामकत्वं, अनुसर्तव्यमनुसरणीयम् । तत्रापि औचित्यविषये, विषयोचित्यमेव प्रतिपाद्यस्योचित्यमेवः मुख्यतयाङ्गोकत्तव्यमित्यर्थः । अख्या-यिकायां तु आख्यायिकारूपे गद्यप्रबन्धे तु, भूम्ना बाहुल्येन, मध्यमसमासा, दीर्घसमासा च संघटना एव स्वीक्रियते । गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण विकटं बन्धं रचनामाश्रित्येव, छायावत्त्वाद् कान्तिमत्त्वात् । तत्र च गद्ये च तस्य, विकटबन्धस्य, प्रकृष्यमाणत्वाद् उत्कृष्टत्वात् । कथाया भेदमाह कथायामिति । कथायां गद्यकाव्ये तु, गद्यस्य विकटबन्धप्रावृर्येऽपि विकटबन्धस्य प्रचुरतायामित, परसबन्धोक्तं रसबन्धे यदौचित्यमुक्तं तदेवानुसर्त्तव्यम् ।

रसबन्धेति। रसबन्धोक्तमौचित्यं, सर्वत्र गद्यप्रबन्धे संश्रिता आश्रिता, रचना संघटना, भाति प्रकाशते। तत्तु विषयापेक्षं विषयाश्रितमौचित्यं तु किन्धिद् विभेदवत् अल्पीयान् भेदो वर्त्तत इत्यर्थः। तदेवाह—अथवेति। सर्वत्र गद्यप्रबन्धेऽपि आख्यायिकादाविष, पद्यवत् पद्यप्रबन्ध इव, औचित्यमुचिततां, संश्रिता आश्रित्य तिष्ठन्ती रचना, संघटना भवित। तत्तु औचित्यं तु, विषय पेक्षं किन्धिद्विभेदवत्। न तु सर्वाकारं महान् भेदो नास्तीत्यर्थः। तदेव विशदी-करोति—तथाहीति। गद्यबन्धे गद्यप्रबन्धेऽपि, आख्यायिकायां आख्यायिकारूपे, विप्रलम्भशृङ्गारे करुगो च अतिदोर्धसमासा रचना संघटना न शोभते। तथा नाटकादाविष दश्यकाव्यादाविष, चौद्रवीरादिवर्णने रौद्रस्य वीरादेवी रसस्य वणने, असमासैव संघटना न नियता, विषयापेक्षं तु

विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपक्वष्यते प्रकृष्यते च । तथा ह्याख्यायि-कायां नात्यन्तमसमासा, स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति संघटनाया दिगनुसर्तव्या ॥ ९ ॥

*इदानीमलक्ष्यक्रमन्यङ्गचो घ्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव । तस्य तु यथाप्रकाशनं तत् प्रतिपाद्यते—

विभावभावानुभावसञ्चायौँचित्यचारुणः । विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्येक्षितस्य च ॥ १० ॥

उज्जीवनी।

औचित्यं, रसबन्धे यदौचित्यं तस्मात् प्रमाणात् कचिदुन्कृष्टं कचिदपकृष्टं वा भवतीति कत्पो भेद:। तथाहि आख्यायिकायाम् अत्यन्तमसमासा अत्यन्तं समासरहिता, नाटकादौ तु दश्यकाव्ये तु, स्वविषयेऽपि तस्मिन्नेव विषये, नातिदोर्घसमासा अत्यन्तं दोर्घसमासप्रचुरा न शोभते, इति संवटनायाः संघट-नाविषयिणो दिग् अनुसरणीया, तदेवमेषा दिक् प्रदर्शितेति यावत्।

एतावता प्रबन्धेन असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य ध्वनेः पदवाक्यतादिप्रकाशता प्रस्तावे, गुणानां संघटनायाश्च स्वरूपं भेदांश्च प्रतिपाद्य प्रबन्धप्रकाशतां प्रकाशियतुं उपक्रममाण आह—इदानीमिति । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्गचो ध्विनिः पदादिषु प्रकाशमान उक्तः स ध्विनः, तदनन्तरं प्रबन्धातमा प्रबन्धगतत्वेन प्रकाशमानः स ध्विनः रामायणमहाभारतादौ प्रबन्धे प्रकाशत इति प्रतिद्धः प्रख्यात एव । तु किन्तु, तस्य ध्वनेः तद् यथाप्रकाशनं प्रकाशनस्य प्रकारः भेदात्मकं, प्रतिपाद्यते निरूप्यत इत्यर्थः ।

प्रकाशनस्य प्रकाशनेवाह—विभावेति । प्रबन्धस्य प्रबन्धात्मकस्यः, किवव्यापारस्य, रसादीनां व्यञ्जकत्वे, रसाद्यभिव्यञ्जकतायां, निबन्धनं निदानिमित्यर्थः । क्रमेणाह्—विभावानुभावेति । (१) विभावस्य आलम्बनो-हीपात्मकस्यः भावस्य देव।दिविषयाया रतेः, विभावानुभावाभिव्यक्तस्य

 ^{&#}x27;ऋति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी ।
 सूरिभिरनुसृतसारेरस्मदुपक्को न विस्मार्थः ॥'' (इत्यधिकतया च पाठे दृश्यते)

इतिश्वत्तवद्यायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥ ११ ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं, रसाभिव्यक्तव्येश्वया ।
न तु केवलया द्यास्त्रस्थितिसम्पादनेव्छया ॥ १२ ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारव्धविश्वान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥ १३ ॥
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूपेण योजनम् ।
प्रयन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ १४ ॥
प्रवन्धोऽपि रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥ १४ ॥

उज्जीवनी ।

व्यभिचारिणः। अनुभावस्य कटाक्षविक्षेपादेः, सञ्चारिणः व्यभिचारिभावस्य च, श्रोचित्येन उचितत्या योजनेन, चारुणः सहृदयहृदयाह्नादकस्य, वृत्तस्य स्वतः सम्भविनः, उत्प्रेक्षितस्य कविकत्पितस्य वा, कथाशरीरस्य कथावस्तुनः, विधिः एकं निबन्धनम्। (२) इतिवृत्तवशायातां इतिवृत्तवशेन इतिवृत्ताधीनः तया, आयातामुपस्थिताम्। अननुगुणां आनुगुण्यरिहतां, स्थितिमवस्थानम्। त्यक्त्वा विहाय, उत्प्रेक्ष्यापि कत्त्वित्तापि अन्तरा मध्ये, अभीष्टरसोचित-कथोन्नयः अभीष्टस्याभिमतस्य, रसस्योचितायाः कथायाः उन्नयः द्वितीयं निबन्धनम्। (३) सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं सन्धीनां सन्ध्यङ्गानां चायोजनम् रसाभिव्यक्तयपेक्षया रसानामभिव्यक्तरानुगुण्येन कर्तव्यम्। तु किन्तु। केवलया शास्त्रस्थितसपादनेच्छया शास्त्रमर्यादायाः सम्पादनाभिलाषमात्रेण न वर्तव्यमित्यथः। (४) अन्तरा मध्ये, यमावसरं अवसरोचितत्या, उद्दीपनप्रशमने उद्दीपनं प्रशमनं व विवेयम्। (५) आरब्धविश्वान्तेः आरब्धस्य प्रबन्धस्य विश्वान्तिपर्यन्तं, अङ्गिनः प्रधानस्य रसस्य अनुसन्धान अनुवृत्तता। (६) शक्ताविप शक्तिसत्वेऽपिः अलङ्कृतीनां अलङ्काराणां आनुरूप्येण औचित्येन योजनमायोजनम्। एतानि निबन्धनानीत्यः।

प्रथमं तावद् विभावभावानुभावसञ्चायौचित्यचारुणः कथासरी उस्य विधियंथायथं प्रतिपिपादियिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽ-नुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाद्यारी रस्य विधिव्यं ख्रकत्वे निबन्धन-मेकस्। तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धं; भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यं त्।

प्रकृतिहि उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिश्वित च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासङ्कोणंः स्थायोभाव उपनिवध्यमान औचित्यभाग् भवति। अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवलदिव्याश्रयेण दा केवलमानुषस्योः त्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। यथा च केवलमानुषस्य राजादेवंणंने सप्ताणंवलङ्घनादिलक्षणा व्यापाराः उपनिबध्यमानाः सौष्ठव-भृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति । तत्र त्वनौचित्यमेव हेतु:।

उज्जीवनी

प्रबन्धोऽपीति । पदपदैकदेशवर्णरचनाप्रबन्धादीनामपि रसव्यञ्जकत्व-मूक्तम्। तत्र रसादीनां रसभावादीनां व्यञ्जकः प्रबन्धोऽपि इति यद्वतं तत्र तन्निष्ठं तद्वचञ्ज करवं प्रसिद्धिनत्यतो विशेषतो वर्णनं नापेक्ष्यते । अतो व्यञ्जनायाः प्रकारभेदानाह - व्यञ्जकत्वे निबन्धनिमिति । प्रथममिति । प्रथमं तावत् विभावानां, भावानां, अनुभावानां सञ्चारिणां चौचित्येन चारुणः सुन्दरस्य कथाशरीरस्य कथावस्तुनः, विधिः विधानं, यथायथं यथान्यायं, प्रतिपिणदयि-षितान् प्रतिपादियतुमिष्टान् रसभावादीननुसृत्य य उचितो विभावः आलम्बनो-हीपनात्मा, भावः, अनुभावः, सञ्चारीः व्यभिचारिभावो वा, तदीनित्येन सहदयहृदयः ह्लादकस्य कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमाद्यम् । तत्र विभावीचित्यं विभावानामीचित्यं तावत् प्रसिद्धम् । सकलसहृदयविदितमेत्र । भावौचित्यं तु भावानामौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतेरौचित्यात् । प्रकृतिः केत्याह-प्रकृतिहीति उत्तममध्यमाधमभावेन उत्तमत्वमध्यमत्वाधमत्वरूप-विभाजकधर्मानुसारेण उत्तमा, मध्यमा, अधमेति, दिव्यमानुषादिभावेन दिव्यत्वमानुषत्वादिधर्मपुरस्कारेण, दिव्या, मानुषी, इत्यादिरूपेण च प्रकृति-विभेदवती भिन्नेत्यर्थः । तां प्रकृति यथायथं यथोचितमनुसृत्य, असङ्कीर्णः अननुकूलेभिवैरसंसृष्टः स्थायीभावो रत्यादिः, उपनिबध्यमानः निबन्धनिवषयी-भूतः औचित्यभाग् भवति औचित्यं भजते । अन्यया तु तादशनिबन्धनाभावे ननु नाकजोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां भूयन्ते । तदलोकसामान्य प्रभावातिशयवर्णने किमनौचित्यं सर्वोत्रीकरणक्षमाणां क्षमाभुजाभिति । नैतदस्तिः न वयं भूमो, यत् प्रभावातिशयदर्णनं राज्ञाम्ः किन्तु केवलमानुषा- श्रयेण योत्राद्यवस्तुकथा क्रियते तत्यां दिव्यं क्षौचित्यं न योजनीयम् । दिव्यमानुषायां तु कथायां उभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव । यथा पाण्डवादिकथायाम् ।

उज्जीवनी ।

तु, दिव्यस्य नायकस्य, केत्रलमानुषाश्रयेण केत्रणमानुषप्रकृतिगतःतेन उपनिबध्यमाना उत्साहादयः, एवं केत्रलमानुषस्य नायकस्य केत्रलदिव्याश्रयेण केत्रलदिव्यायकगतःत्वेन उपनिबध्यमाना उत्साहादयो भावाश्च, अनुचिता औवित्यरहिता भवन्ति । तथा च केत्रलमानुषस्य राजादेः नायकस्य वर्णने वर्णनावसरे सप्ताणंत्रलङ्घना दिलक्षणाः सप्तसमुद्रलङ्घना दिख्याः व्यापाराः, उपनिबध्यमाना वर्ण्यमानाः, सौष्ठतभुनोऽपि सौष्ठवं विभ्रनोऽपि नियमेन नीरसा एव रसञ्ज्या एव भवन्तीति नियतमिदम् । तत्र रसञ्ज्यतायां हेतुः कारणम् अनौचित्यमेव औचित्यञ्चर्यत्वमेव ।

आशक्ति—निवित । सातवाहनप्रभृतीनां सातवाहनादीनां राज्ञां, नाकलोकगमनादयः पाताललोकगमनादयः व्यापाराः श्रूयन्ते तान् कविभिष्प-वर्णितान् शृगुम इत्यर्थः । तत् तस्मात्, सर्वोवीभरणक्षमाणां सर्वस्या अप्युव्याः भूमेभंरणे समर्थानां क्षमाभुजां राज्ञां, अलोवसामान्यप्रभावातिशयवर्णने अनितरसाधारणस्य प्रभावातिशयस्य वर्णने क्रियमाणे, किमनौचित्यं कीदश-मनौचित्यमिति । समाधते—नैतदस्ति । नैतदस्ति एतन्नोचितम् । यद् यतः, राज्ञां भूपतीनां, प्रभावातिशयवर्णनं अतिशायितप्रभावस्य वर्णनमुपनिबन्धनं अनुचितमिति न वयं बूमः वदामः । किन्तु केवलमानुषाश्रयेण केवलं मानुषं नायकत्वेताङ्गीकृत्य या, उत्पाद्यवस्तुकथा उत्पाद्यस्येतिवृत्तस्य कथनात्मकः कविव्यापारः क्रियते, तस्यां कथायां, दिव्यमौचित्यं दिव्यनायकविषयकमौचित्यं न योजनीयम् ।

दिव्यमानुषायां गु कथायां दिव्यत्वं मानुषत्वं च येषां नायकानामस्ति, तत्र उभयीचित्ययोजनं उभयविधस्यापि औचित्यस्य निबन्धनं अविरुद्धमेव।

सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं श्रूयते. तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमान-मनुगुणत्वेन प्रतिभासते । व्यतिरिक्तं तु तेषामुपनिबध्यमानमनुचितम् । तदयमत्र परमार्थः —

> अनौचित्यादते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं, प्रख्योदात्तनायक्तवं, नाटकस्यावश्यकर्त्तव्यतयोपन्यस्तम् । ते हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविनं व्यामुद्धाति । यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात् तस्याप्रसिद्धानुचित-नायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ॥

उज्जीवनी ।

तिन्नवन्धने विरोधो नास्तीत्यर्थः। पाण्डवादिकथायां यथा दिव्यमानुष्योभया-श्रितमौचित्यं न विरुद्धमिति दृष्टान्तत्वेनोपन्यासः कृतः। सातवाहनादिषु सातवाहनप्रभृतिषु राजसु यावदपदानं वृत्तं कर्म यावत् श्रूयते श्रवणविषयो भवति. तेषु नायकेषु त.वन्मात्रमनुगम्यमानं उपनिबध्यमानं, अनुगुणत्वेन आनुरूप्येण प्रतिभासते भासते । व्यतिरिक्तं तु तिद्धन्नं तु, तेषामेव सातवाहनप्रभृतोनामेव उपनिबध्यमानननुचि । मित्यर्थः । तत् तस्मात्, अत्रास्मिन् विषये, अयं, परमार्थः इदं तत्त्वम् अनौचित्यादते इति । रसभङ्गस्य रसस्य श्रुङ्गारादेः भङ्गस्य, अनौचित्यादते अनौचित्यभिन्नं, अन्यत् कारणं नास्ति । अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य कारणमिति यावत् ।

नतु यद्युत्साहादि भाववर्णने कथि दिव्यमानुष्याद्यौचिःयपशिक्षा क्रियते तत् क्रियताम्; रत्यादौ तु कि तया प्रयोजनम् ? रतिहि भारतवर्षो-चितेनैव व्यवहारेण, दिव्यानामिष वर्णनीयेति स्थितिः । नैवम् ? तत्रौचित्याति-क्रमेण सुकरां दोषः । तथा ह्य यमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्कारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता ।

ेत्रिविषं प्रकृत्यौदित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम् । यत्तु विवयमौचित्यं तत्रानुषकारकमेवेति चेत् — न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषय-

उज्जीवनी ।

अनुचितस्य चानौचित्यवतः नायकस्य स्वभाववर्णने, महान् प्रमादः महतो अनवधानता ।

अौचित्यमेत्र पुनरप्याह --निवति । उत्साहादिभाववर्णने उत्साहादीनां भावानां, बीररसस्यायोभावादीनां वर्णने प्रस्तुते, सति, दिव्यमानुष्याद्यौचित्य-परीक्षा देवताविषयकं मनुष्यविषयकं च यदौचित्यं तस्य परीक्षणं, कथिचदिव यदि क्रियते, तत् क्रियतां तत् कथि बदि अनुमन्यत इत्यर्थः। रत्यादी तु शृङ्गारस्थायीभावादौ तु, तया दिव्यमानुषाद्यौचित्यपरीक्षया कि प्रयोजनम् ? न किमपि प्रयोजनिमिति यावत् । तस्य हेतुमाह —रतिरिति । हि यतः, रितः नायिकानायकयो रन्योन्यालम्बनः प्रेमाल्यश्चित्तवृत्तिविशेषः। दिव्यनायकानामपि, भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण भारतभूमौ य उचितो व्यवहारस्तेनैव वर्णनीया वर्णयितुमुचिता इति स्थितिवर्तते । एवमाशङ्कायां समाधत्ते—नैव मिति । देवावां मनुष्याणां च शृङ्गारविषये औचित्यभेदी नाङ्गीकर्तव्य इति यदुक्तं त नेत्पर्थः । तत्र शृङ्गारे, भौचित्यातिक्रमेण औचित्य अङ्घनैन, सुतरामत्यन्तं दोषो भवतीत्यर्थः तदेवोपपादयति— तथाहीति। उत्तमप्रकृतेरुत्तमनायकस्य, अधमप्रकृतेर्यद्चित तेन प्रकारेणः शङ्गारस्य रते:, उपनिबन्धने वर्णने का उपहास्यता परिहासविषयता की हशी न भवेत्। सर्वप्रकारेणापि परिहास्यतैव भवेदित्यर्थः। भारते वर्षेऽपि भारतभू लण्डेऽपि, शृङ्गारविषयं रतेरास्वाद्यतायां त्रिविधमौचित्यमस्ति ।

१. 'वि॰' च

२. 'तु भ्रन्यद् दि॰' च

मन्यत् किञ्चिद् ब्रूमः । कि तिह ? भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते । न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्य- शृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तयैव देवेषु तत्परिहर्त्तव्यम् ।

नाटकादेरभिनेयार्थत्वादिशिनयस्य च सम्भोगशृङ्गारिविश्वयस्यासम्य-त्वात्तत्र परिहारः इति चेत्—नः यद्यभिनयैविषयस्यासम्यव्ता तत्काव्यस्यवैवं-विषयस्य सा केन निवार्यते ? तस्माद् अभिनेयार्थेऽविभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरत्मप्रकृतिभिनीयिकाभिः (सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तित्पत्रोः सम्भोगवर्णनमिन सुतरामसभ्यम् । तथैवोत्तमदेवतादिविषयम् ॥

न च सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, याददन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते ?

उज्जीवनी

तु किन्तु, दिव्यं देवतागतं यदौचित्यं तत् तत्र मनुष्येषु अनुकारकमेव निष्कलमेवेति चेत् आशङ्कचते, तदा समावत्ते—नेति । शृङ्गारविषयं शृङ्गाररसविषयं दिव्यमौचित्यं अन्यत् किन्चित् वयं न ब्रूमः न कथयाम:। एवं यदि न, तर्हि किमुच्यत इति चेत्. इदमुच्यत इत्यर्थः। भारतवषविषये भारते वर्षे, उत्तमनायकेषु राजादिषु मनुष्याकृतिषु, प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारो-पनिबन्धनं प्रसिद्धस्य ग्राम्यराङ्गारस्य वर्णनं नाटकादौ दश्यकाव्ये न च प्रसिद्धं न शोभत इत्यर्थः । तथैव तद् ग्राम्यशृङ्गारवर्णनं देवेषु दिव्यनायकेषु परिहर्तव्यं त्याज्यम् । नाटकादेरिति । दश्यकाव्यस्य अभिनेयाथेत्वात् अभिनयविषयता. अभिनयस्य च सम्भोगशुङ्गारविषयस्य असभ्यतया ग्राम्यत्वेन तत्र नाटकादिषु परिहार इति चेत् इति शङ्कते चेत् आह—नेति। एवं विषयस्य सम्भोगशृङ्गारस्य अभिनयात्मकस्य असम्यता यदि, ग्राम्यत्वं चेत्, तत् तिह, एवंविषयस्य सम्भोगशृङ्गारविषयस्य काव्यस्य अभिनेयस्य सा असम्यता केन वार्यते केनापि वारियतुं न शक्यते। तस्मात् कारणात्, अभिनेयार्थे दृश्ये नाटकादी, अनिभनेयार्थे च श्रव्ये च काव्ये उत्तमप्रकृतेः राजादेः -राजादेरतमनायकस्य, उत्तमप्रकृतिभिः नायिकाभिः सह उत्तम-नायिकामिः साकं यत् ग्राम्यसम्भोगवर्णतं तत् वित्रोः मातावित्रोः सम्भोग-

१. 'राविषयत्वात्' च २. 'ह्य' च े३. 'ह्य०, च

त्सादुरसाह्वद्रताविष प्रकृत्यौत्रित्यमनुसर्तव्यम्। तथैव विस्मयादिषु। यत्त्वैवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दश्यते म दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेत्र। अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव।

इयत्च्यते—भरतादि विरचितां रिथति चानुवर्तमानेन, महाकवि-प्रबन्धांश्च वर्षा दोचयता, स्वप्रतिभां चानुसरता, कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यीवित्यभ्रं शपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः। औचित्यवतः कथाशरी-रस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्यनेनैतत् प्रतिपादयिति—

उज्जीवनी ।

वर्णनिमव सुतरामत्यन्तं असभ्यमेव । उत्तमदेवतादिविषयमि ताद्यं सम्भोगवर्णनम्पि तथैवासभ्यमेव । न चेति । सम्भोगशृङ्गारस्य सुरतलक्षण एक एव प्रकार इति नियमो नास्ति । अन्येऽपि परस्परप्रेमदर्शनादयः प्रभेदाः प्रकाराः सम्भवन्ति । ते च प्रभेदाः उत्तमप्रकृतिविषये उत्तमनायकविषये कस्मान्न वर्ण्यन्ते ? वर्णयितुमुचिता एवेत्याशयः । तस्मात् उत्साहवद् वीररसस्थायिभावे, इव रत्यादाविप श्रृङ्गाचरसस्थायिन्यपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम् । तथैव तेनैव प्रकारेण विस्मयादिष्विप अद्भुतरसस्थायिभावेऽपि औचित्यमनुप्तव्यम् । त किन्तु । एवविषे विषये प्रकृत्याद्यौचित्यविषये, लक्ष्ये महाकविप्रबन्धेषु, महाकवीनामसमीक्ष्यकारिता अविमृश्यकारित्व दश्यत इति यत् स दोष एव । स तु दोषोऽपि, तेषां महाकवीनां, शक्तितरस्कृतत्वात् शक्तिया भावनाविशेषमहिन्ना आवृतत्वात्, न लक्ष्यते न ज्ञायत इत्युक्तमेव पूर्वम् । अनुभावगतमौचित्यं तु भरतादौ न।ट्यशास्त्रादौ प्रसिद्धमेव प्रख्यातमेव ।

एतावता फिलितमाह—इयदिति । इयत्तु एतावत्, उच्यते कथ्यते । भरतादिविरिचतां भरतादिभिः भरतमुनिना अन्यरिपि नाटचशास्त्रकर्तृ -भिः, विरिचतां निर्मितां स्थिति मर्यादां चानुवर्तमानेन अनुसरता, महाकवि-प्रबन्धांश्च महाकवीनां कालिदासप्रभृतीनां प्रबन्धान् पर्यालोचयता परिशीलयता च, स्वप्रतिभां स्वकीयां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रज्ञां चानुसरता कविना काव्य-

१. 'दिस्थि०' च

यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्विप यत्तत्र विभावा-द्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत् । वृत्तादिष च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम् । तत्र हचनवधानात् स्खलतः कवेः अव्युत्पत्ति-सम्भावना महती भवति ।

परिकरश्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं यथा तथा। यथा रसमयं सर्वेमेव तत्प्रतिभासते !।

तत्र च।भ्युपायः सम्यग् विभावाद्यौचित्यानुरणनम् । तञ्च दक्षितमेत्र । किञ्च—

सन्ति सिद्धरसप्रस्था ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्थोज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या ॥

उजीवनी।

कर्ता, अवहितचेतसा अवहित चेतो यस्य ताद्दशेत भूत्वा, विभावादीनां च य अीचित्यभ्रं शः औचित्यभङ्गः, तत्परित्यागे त्यागे, पर उत्कृष्टः प्रयत्नो यत्तः कर्तव्यो विधातव्यः । वृत्तस्य सम्भवतः, उत्प्रेक्षितस्य कविकल्पितस्य वा, कथाशरोरस्य कथावस्तुनः, औचित्यवतः अनौचित्यरहितस्य, ग्रहः स्वीकारः, व्यञ्जकः रसव्यञ्जकः इत्येतेन पद्येन, एतत् प्रतिपादयित इदं प्रतिपादितं भवती-त्यथः । यद् इतिहासादिषु शामायणादिषु, रसवतोषु, विविधासु नानारूपासु कथासु सतीष्वपि विद्यमानासु अपि, तत्र इतिहासादिषु, विभाव।द्योचित्यवत् विभावभावादिविषयौचित्ययुवतं यत् कथाशरीरं कथावस्तु तदेव ग्राह्यं स्वीकार्यम् । अन्यत् न स्वीकार्यमित्यर्थः । वृत्तात् प्रवृत्तात् कथा—शरीरात् कथावस्तुनः, उत्प्रेक्षिते कविकल्पिते, विशेषतः अत्यन्तं प्रयत्नवता भवितव्यम् । कविनेति शेषः । तत्र हि उत्प्रेक्षिते कथाशरीरे अनवधानात् अवधानशून्यतया, स्खलतः भ्रश्यतः, कवेः म हती अव्युत्पत्तिसम्भावना कविरयमव्युत्पन्नः इति प्रत्यय एव सहृदयानां जायते ॥

यदुक्तम्—"कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः।'' स्वेच्छ।पि यदि योज्या तद्रस्विरोधिनी न योज्या।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाधिव्यक्तकत्वे निबन्धनम् इतिवृत्तवशायाताः कथिवद्रसाननुगुणां स्थिति त्यवत्वा पुत्रक्तप्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथो नेयो विधेयः । यथा कालिदासप्रबन्धेषु । यथा च सर्वसेनिवरचिते हरिविजये ।

उज्जीवनी ।

अत्रायं परिकरश्लोकः — कथेति । उत्पाद्यवस्तु उत्पाद्यं कविकित्पतं वरतु इतिवृत्तं यस्य ताइशं कथाशरीरं तथा तथा तेन तेन प्रकारेण, कार्यं कर्तव्यम् । यथा येन प्रकारेण, सर्वं तत् कथाशरीरं रसमयं रसात्मकं प्रतिभ सते प्रकाशते । तत्र च तस्मिन् विषये, सम्यक् समीचीनेन प्रकारेण, विभावादीनां यदौचित्यां तस्यानुसरणं विभावादीनां यदौचित्यं तस्यानुसरणमेवाभ्यु । य उपायः, तच्च पूर्वं दिशतमेव प्रतिपादितमेव ।

किञ्चेति । सिद्धाः ५ रिपुष्टा रसा येषु तादशाः, अत एव प्रख्याः प्रख्याताश्च, ये राम।यणादयः, कथाश्रयाः कथामान्नाश्रयभूताः, इतिहासाः, तैः सह रसिवरोधिनी रसानां परस्परिवरोधापाद्धित्री, क्ष्वेच्छा न योज्या नयोजनीया । तदेवाह—तेष्विति । कथाश्रयेषु तेषु रामायण।दिषु प्रबन्धेषु हि स्वेच्छा तावन्न योज्या । उक्तार्थे प्रमाणमाह—यदुक्तमिति । राम।भ्युद्यनाटके यशोवमंगोति शेषः । कथामार्गे कथायां अल्पोऽपि अतिक्रमः क्रमोल्लङ्घनं न कार्यमित्यर्थः । यदि तु स्वेच्छापि योज्या योजनीया मन्यते कविना, तद्रसिव-रोधिनी तस्यां मूलकथायां यो रसस्तिद्वरोधिनी स्वेच्छा न योज्येत्यर्थः ।

द्वितीयं निबन्धनमाह्य—इदिमिति। प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे रसव्यञ्जकन्तायां, इदमपरं अन्यन्निबन्धनम्। इतिवृत्तवशायातां इतिवृत्तवशेनायातां सञ्जाताम्। कथित्वद् रसाननुगुणां रसानुगुण्य रहितां, स्थितं मर्यादां, त्यक्तवा पुनः पुनरिष, अन्तरा मध्ये, उत्प्रेक्ष्यापि स्वकत्तिपतत्वेनापि, अभीष्टरसोचित कथोन्नयः अभीष्टस्य रसस्य उचितायाः कथाया उन्नयः विधेयः कार्य इत्यर्थः, उदाहरित—यथेति। कालिदासप्रबन्धेष्विति कालिदासीये रघुवशमहाकाव्ये राज्ञामजादीना-मुद्वाहवर्णनिमितिहासे नोपनिबद्धमिप रसः विरोधित्वेन निक्षितम्। उदाहर-

यथा च भदीय एवार्जुनचरिते महाकान्ये । कविना कान्यमुपिनबघ्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितन्यम् । तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थिति पश्येत् तदेमां भङ्कत्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् । न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहरोन किन्धित् प्रयोजनमितिहासादेव तिस्सद्धेः ।

रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं यत् सन्धीनां, मुखप्रतिमुखगभीवमर्शनिर्देहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभि-व्यक्त्यपेक्षया, यथा रतनावल्यां; न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥

उज्जीवनी।

णान्तरमाह—यथा चेति । सर्वसेनविरचिते हरिविजये कान्तां सत्यभामामनुनेतुं पारिजातहरणादिकमितिहासेष्वविद्यमानमपि निबद्धम् ।

पुनरप्युदाहरति—यथा चेति। मदीय आनन्द वर्धनाचारं विर्विते अर्जुनचरिताख्ये महाकाव्ये, अर्जुनस्य पाताललोकविजयादिक मितिहासा-प्रसिद्ध मुपनिबद्ध । अत्रश्च काव्य मुपनिबद्ध । किनापि प्रकारेण रसपरतन्त्रेण रसपरविश्वेन भवितव्यम्। केनापि प्रकारेण रसविवयम् । केनापि प्रकारेण रसविवयम् । केनापि प्रकारेण रसविवयम् । केनापि प्रकारेण रसविवयम् । त्रितिवृत्ते कथाश्वरीरे रसाननुगुण रसप्रतिकृतां स्थिति पश्येत् कविः, तदा इमां स्थिति भङ्बत्वापि उल्लङ्घापि, स्वतन्त्रतया स्वेच्छ्या, रसानुगुणं रसानुकृतं कथान्तरमुत्यादयेत् कल्पयेत् । तत्र हेनुमाह—नहीति । कवेः काव्यकर्तुः इतिवृत्तमात्रनिर्वहरोन कथाश्वरीरस्य तेनेव रूपेण अनुसररोन हि न किन्धित् प्रयोजनम् । इतिहासादेव तस्येतिवृत्तस्य सिद्धेः ।

तृतीयं निबन्धनमाह—रसादिव्यञ्जकत्व इति । प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे च, इदमन्यत् तृतोयं निबन्धनं मुख्यं प्रधानम् । यत्, मुख्पप्रतिमुख,गर्भान्वमर्शनिवंहणा,ख्यानां पञ्चानां सन्धीनां, उपक्षेपादीनां च सन्ध्यङ्कानां, घटनमायोजनमपि, रसाभिव्यक्त्यपेक्षया रसाभिव्यक्तिरूपकलोद्देशेनैव कर्तव्य-मिति शेषः ।

यथेति । यथा रत्नावत्यां नाटिकायां सन्धीनां सन्ध्यङ्गानां च रसानुगुण्येनायोजनं कृतम् । नित्वति । तु किन्तु, केवलं शास्त्रस्थितेः शास्त्र- यथा वेगीसंहारे विलासाक्यस्य प्रतिमुखसन्धाङ्गग्य प्रकृतरसनिवन्धाननु-गुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया धटनम् ।

इदं चापरं प्रबन्धस्य रसन्यञ्जकत्वे निमित्तं, यदुद्दीपनप्रशमनै यथावसर-मन्तरा रसस्य, यथारत्नावत्यामेव ! पुनरार्ब्यविद्यान्ते रसस्याङ्किनोऽनु-सन्धिश्च यथा तापसवत्सराजे ।

उज्जीवनी ।

भयदियाः सम्यादनेच्छया परं सन्धोनां सन्ध्यङ्गानां च योजनं न कार्यम् । यथेति । सन्ध्यङ्गानामायोजनस्य प्रयोजनं तूक्तं भरतमुनिना—

> इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यातपक्षयः । रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानां चैव गूहनम् ॥ अग्र्य्ययवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् । अङ्गानां षड्विधं ह्येतद् इष्टं शास्त्रे प्रयोजनम् ॥

यथेति । वेणीसंहारे वीररसप्रधाने नाटके विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्धे-रङ्गस्य "समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते" इति लक्षणलक्षितस्य, द्वितोयेऽङ्के भानुमतीदुर्योधनयोगार्थोजनं केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया कृतमिति नेदंरसानुगुणमिति ज्ञेयम् ।

चतुर्थं निबन्धनमाह —इदमिति । प्रवन्धस्य रसव्यक्षकत्वे निमित्तं, इदमपरमन्यत् । यद् रसस्य, अन्तरा मध्ये, यथावसरं अवसरमनितक्रम्य, उद्दीपनप्रशनने उद्दीपनं प्रशमनं च कार्यम् । उदाहरिति—यथा रत्नावत्यामिति । प्रथमाङ्के. राजानं अनङ्गपूजावसरे दष्टवत्याः सागिरिकायाः (रत्नावत्याः) 'कहं अअं स राआ उदअणो, जस्स अहं तादेण दिण्णा' इति व वनेन, उचित एवावसरे पूर्वरतेष्ष्द्दीपनं कृतम् । तत्रश्च वासवदत्ताया भीत्या तस्मात् प्रदेशात् सागरिकाया निष्क्रमणोपन्यासमुखेन उचितेऽत्रसरे रतेः प्रशमनमि कृतम् । एवमुद्दीपनप्रशमने रसानुकूले एवेति भावः । पुनरिति । आरब्धविश्वान्तेः आरब्धा विश्वान्तिः उपशमः यस्य तादशस्य, अङ्गिनः प्रधानभूतस्य रसस्य पुनरनुमन्धः अनुसन्धानं, च, रसाभिव्यञ्जव्ये निमित्तं भवति । उदाहरिति—

प्रवन्यविशेषस्य नाटहादै रसव्यक्तिनिमित्तमिर्द चापरमवगन्तव्यं यदलङ्कृतीनां शक्तावि आनुरूप्येण योजनम् । शक्तो हि कविः कदःचिद-लङ्कारनिबन्धने तदाक्षिप्त स्यैवानपेक्षितरसदन्धः प्रवन्धमारभते, तदुपदेशार्थ-मिदमुक्तम् । दश्यन्ते च कवयोऽतङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसः प्रवन्धेषु । किञ्च—

अनुस्वानोपमातमापि प्रभेदो य उदाहतः । ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ १४ ॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य घ्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्बोऽपि यः प्रभेद उदाहृगो हिप्रकारः सोऽपि प्रवन्बेषु केषुचिद्द्योत्यते । तद्यथा—मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु ॥

उज्जीवनी।

यथेति । तारसवत्सराज इति । वत्सराजस्योदयनस्य वासवदत्तालम्बना रतिः अन्तरा विश्रलम्भादिना शान्तेव प्रतीयमानापि, अन्ते सम्यगनुसंहिता ह्वयते ।

पश्चमं निबन्धनमाह—प्रबन्धेति । नाटकादेः प्रबन्धिवशेषस्य दृश्यकाव्यविशेषस्य, रसव्यक्तिनिम्तं रसादीनां अभिव्यक्तौ निबन्धनं इदमपरं चावगन्तव्यम् । यदलङ्कृतीनामुपमादीनामलङ्काराणां, शक्ताविप कवेस्तिन्निक्पणे शक्तिमत्त्वेऽि आनुरूप्येण रसानुगुण्येन योजनमेवोचितिमत्यर्थः । किमर्थमिदमुच्यत इत्याह—शक्त इति । शक्तः भावनाविशेषसम्पन्नः कविहि कविस्तु, कदाचिद्, अलङ्कारनिबन्धने अलङ्काराणां प्रयोगे प्रस्तुते सति, तदाक्षिप्तायेव तैरलङ्कारेः आकृष्टतयेव, अनपेक्षितरसबन्धः रसबन्धम गपेक्ष्येव, प्रबन्धं काव्यविशेषं कर्तुमारभते, तदुपदेशार्थं इदमभिहितमिति यावत्। प्रबन्धेषु अलङ्कारनिबन्धने करसः अलङ्काराणां निबन्धने एको मुख्यः रसः प्रीतियेषां तादशाः । अनपेक्षितरसाः अनपेक्षितो रसो रत्यादिर्येस्तादशाः, कवयः काव्यक्तिर्यः इस्यन्ते, यत एवंभूताः कवयो दृश्यन्ते । तत एव एवं वक्तव्यम।पतितिमित्यर्थः ।

एतावता असंलक्ष्यक्रमन्थङ्ग्यध्वने: प्रबन्धद्योत्यत्वं प्रदर्श्यं, संलक्ष्यक्रम-न्यङ्ग्येऽपि तद् दर्शयितुमाह—िकञ्चेति। अनुस्वानेति। अनुस्वानोपमात्मापि यथा मा ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विषमबाणलीलावाम् । यथा च गुध्यगोमायुसंवादादौ महाभारते ॥ १५ ॥

उज्जीवनी ।

अनुरण्यध्वितिरूपः अस्य ध्वनै: विवक्षितान्यपरवाच्यध्वने:, यः प्रभेरः शब्दशक्तयुद्भवत्वेन, अर्थशक्तयुद्भवत्वेन च द्विप्रकारः य उदाहृतः, सोऽपि अनुरणवध्वितिरूपः संलक्ष्यक्रमोऽपि केषुचित् प्रबन्धेषु, न तु सर्वेषु भासते प्रकाशते ।

तदेवाह—अस्येति । विवक्षितान्यपरवाच्यष्टवनेः अनुरणन्क व्यङ्ग्योऽि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यातमः यः प्रभेदः द्विप्रकारः द्विरूप उदाहृतः सोऽि केषुचित् प्रवन्धेषु द्योतते प्रकाशते । उदाहरित—यथेति । मधुमथनविजये इति । पाञ्चजन्योक्तिष्विति । मधुमथनविजयाष्ट्यस्य ग्रन्थस्यः नुपलम्भात् लोचनोद्धृतस्य प्राकृतपद्यस्य बालिप्रयाकारोक्तप्रकारेण पाठमाद्दयोच्यते—

लीलादाढग्गुढरिअ सञ्जलमहीमण्डलस्य गिअअस्स । कीसमुणालहरणं वि तुज्झ गुरु आइ अंगम्मि ॥

छाया— लीलादंष्ट्राग्रोद्धृतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य । कस्मान्मृणालाभरणमि तव गुरु भवत्यङ्गे ।।

मधुमथनविजयाख्ये प्रबन्धे रुक्मिणीविरहितस्य वासुदेवस्य अवस्थां वर्णयन्ती पाञ्च जन्योक्तिरियम् । लीलया दंष्ट्राग्रेण दंष्ट्रयोग्ग्रभागेन उद्धृतं सक्लं महीमण्डलं यस्य तादशस्यैव तव (वासुदेवस्य) अङ्गे अवयवेषु, मृणालाभरण-मित मृणाले रिचतं भूषणमित कस्मात् कारणात् गुरु भवति ।

अनया पाञ्चजन्यस्योक्त्या, रुक्मिण्या विरहितस्य वासुदेवस्य रुक्मिण्या-मभिछाष आविष्क्रियते । स चाभिव्यक्तोऽभिलाषः प्रकृतरसस्वरूपे पर्यवस्यति ।

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । ममैव (ग्रन्थकतुः) विषमबाणलीलायां, कामदेवस्य मदनस्य, सहचरसमागमे सहचरैः सह वसन्तयौवनमलयानिलैः सह समागमे ।

अत्रापि लोचनोद्धुतस्य पद्यस्यास्फुटत्वात् बालप्रियोक्तपाठ आद्तः ।

उज्जीवनी।

हुम्मि अवहत्यिअरे हो णिरंकुसो अह विवेअरहिनो वि। सविगो वि तुमम्मि पुणो भत्ति ण पसुमरामि ॥

छाया— भवाम्यपहस्तितरे तो निरङ्कुशोऽध विवेकरहितोऽपि स्वप्नेऽपि तव पूनर्भक्ति न प्रस्मरामि ॥

कामदेवं प्रति तत्सहच रस्य भौवनस्येदं वचनम्। अपहस्तितरेखः अपहस्तिताः अतिक्राग्ता रेखा मर्यादा येन ताइगोऽपि यौवनकाः कामसहच रः, निरङ्कुशः अप्रतिरुद्धगतिः। अयु किञ्च, विवेकरिह्तोऽपि विवेकशून्योऽपि (यद्यपि) भवामि। (तथापि) स्वप्नेऽपि तव भक्ति त्वद्विषयिणीं भक्ति रत्याख्यं भावं (देवविषया रतिभवि इत्युच्यते) न प्रस्मरामि न विस्मरामीत्यर्थः। इत्यादयो यौवनस्य सहचरोक्तयः तत्तत्स्वभावव्यञ्जिकाः। स च स्वभावः प्रकृतरसपर्यवसायी।

अन्यदप्पुराहरणमाह—यथा चेति । गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारत इति । अलं स्थित्वा रमशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले । कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे । न चेह जीविन: कश्चित् कालधर्ममुपागतः । प्रियो वा यदि वा देष्यः प्राणिनी गतिरोदशी ॥

महाभारते शान्तिपर्वणि—आपद्धर्मणि ति गञ्चाशदिधकशततमे अध्याये मृतं बार्लं सन्ध्यासमये श्मशाने समानीतं स्ष्ट्वा रात्नावन्धतया दिवस एव मृतमास-भक्षणसमर्थस्य गृध्रस्य तद्धन्धुजनविसर्जनपरमिदं वचनम्—हे जनाः ।

गृद्यगोमायुसङ्कुले गृद्यैः मांसादनैः पक्षिधिः गोमायुभिः शृगालैश्च सङ्कुले व्याप्ते, कङ्कालबहुले कङ्काला बहुला यस्मिस्तादशे, घोरे भयानके, सर्वप्राणिभयङ्करे सर्वेषां प्राणिनां भयजनके, अस्मिन् श्मशाने स्थित्वा अलं अत्रेदानीमवस्थानं नोचितमित्यर्थः। इहं ससारे, कालधर्ममुपागतो मृतः, प्रियः स्निग्धः, यदि वा द्वेष्यः शत्रः, वा अन्यो वा कश्चिदपि न जीवितः। प्राणिनां जन्तूनां, ईदेशी परावृतिरहिता गतिः स्वभावः। इदं शान्तरसप्येवसायि। तथा तत्रैव—

सुप्तिङ्वचनसम्बन्धेस्तथा कारकशक्तिमः । कृत्तिद्वितसमासैश्च घोत्योऽलक्ष्यक्रमः कवित् ॥ १६ ॥

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तङ्विशेषैः, वचनविशेषैः, सम्बन्धविशेषैः कारकशक्तिभः, कृद्विशेषैः, तद्धितविशेषैः समासैश्वेति, च शब्दान्निपातीपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दश्यते !!

उज्जीवनी ।

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् । बहुविष्नो मृहूर्तोऽयं जीवेदि कदाचन । अमुं कनकवणीमं बालमप्र प्रथीवनम् । गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशिङ्कताः ॥

रात्रौ मृतमांसभक्षणसमर्थस्य गोमायोः, मृतबालस्य बन्धुजनान् इमजानान्नि-वर्तयितुमभिलषतः सृगालस्य वचनमिदम् । हे मूढाः । अयमादित्यः स्थितः सूर्यो नास्तं गतः । अतो रात्रिचरेभ्यो भयमधुना नास्ति इति भावः । साम्प्रतं स्नेहं कुरुत, मृते बालक इति शेषः । अयं मुहूर्तः सन्ध्यासमयात्म कः बहुतिध्नः बहुः विध्नो यत्र ताद्यः । कदाचन कदाचिद् अयं बालो जीवेशि । अविशिङ्किताः शङ्कारहिताः यूयं, कनकवर्णामं सुवर्णस्थाभेत्राभा यस्य तादशम् । अप्राप्तयौवनं अप्राप्तं न प्राप्तं यौवनं यूनो भावः येन तादशः, बालं कुमारम् । अमुं एनं, गुध्रवाक्याद् गुध्रवाक्यमाद्य्य, कथं त्यजध्वः, अयं प्रवन्धोऽिप शान्तरसप्रकाशकः।

पुनरिष असंलक्ष्यक्रमन्यङ्गच्वनेन्यंञ्चकानाह —सुनिति । किन्त् स्थलिविषेषु सुप्तिङ् वचनसम्बन्धः, सुनः स्वीजसादयः, तिङः तिप्तसादयः, विभवतयः, वचनानि एकवचनादयः, सम्बन्धः षष्ठचर्याः, स्वत्वादयः, तैः, तथा कारकशिनतिभः कर्तृं कर्मकरणाधिकरणसम्प्रदानापादानत्वरूपाभिः कृत्तद्धितसमासेश्च कृद्धः धातुम्गो निष्यन्नैः, तद्धितैः नामभ्यो निष्यन्नैश्च प्रत्ययः, समासेश्च । अलक्ष्यक्रमः अलक्ष्यक्रमन्यङ्गचो घ्वनिः चोत्यः प्रकाशं नीयते । तदेवाह —अलक्ष्येति । घ्वनेः घ्वनिकाव्यस्य, अलक्ष्यक्रमः, रसादिरात्मा रसभावादिक् गोऽयः, सुन्विवेषेः, तिङ्वियेषैः, वचनविशेषेः, सम्बन्धविशेषैः, यथः--

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसी तापस:। सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः। धिक्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता कि कुम्भ⊬र्णेन वा स्वर्गग्रामटिकःविलुण्डनवृथोच्छूदैः किमेभिभीुं गैः॥

वात्र हि रलोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव ब्यञ्जकत्वं दश्यते । तत्र 'मे यदरयः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धानामभिव्यञ्जकत्वम् । 'तत्राप्यसौ ताएस' इत्यत तिद्धतिनिपातयोः । 'सोऽप्यतेव निहन्ति राक्षसकुलम्, जीवत्यह रावणः,' इत्यत्र तिङ्कारकशवतीनाम् । धिक् धिक् शक्रजितं इत्यादौ रलोकार्धे कृत्तद्धित-

उज्जीवनी

कारकशिवतिभः, कृद्विशेषेः, तिद्धतिविशेषैः, समासैश्च द्योत्य इति सम्बन्धः । च शब्दात् प्रयुक्तैः काव्योपात्तैः, निपातैः उपसर्गैः, कालादिभिश्च अभिव्यज्यमायोः व्यज्यमानश्च अलक्ष्यक्रमो दृश्यत इत्यर्थः ।

उदाहरति—न्यक्कार इति । हनुमन्नाटके, चतुर्वशेऽङ्के रामेण राक्षस वधे क्रियमाणे रावणस्य स्वात्मानं प्रत्युक्तिरियम् । अस्यः शत्रवः सन्तीति यद् अयमेव मे मम, न्यक्कारः निन्दा, तत्रापि अरिषु असौ तापसः तपस्वी रामः । सोऽपि अत्रैव (रुङ्कायां) मत्समीप एव राक्षसानां कुलं वंशमेव सर्वं निहन्ति नितरां मारयति । रावणः अयं जनश्च जीवति । अहो ! आश्चर्यम् ! शक्कितं इन्द्रजितं धिग्, धिग्, इन्द्रजिन्निन्द्य इत्यर्थः ! प्रोधितवता कुम्भकर्णेन वीरस्य कुम्भकर्णस्य प्रबोधनेन वा किं, न िमपि फलं सङ्घातिमत्यर्थः । स्वर्गग्राम-टिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः स्वर्गस्य ग्रामटिकायाः अल्पग्रामस्य विलुण्ठनेन नाशनेन, वृथाच्छूनैः वृथापुष्टैः एभिः विश्वतिसङ्ख्याकैः भुजैरिव किं किं फलमिति यावत् ।

उपपादयति — अत्रेति । अत्रश्लोके हि 'न्यक्कार' इत्यत्र पद्ये एषां सर्वेषामि सुप्तिङादीनां व्यञ्जकानां व्यञ्जकत्वं भूयसा बाहुल्येन दश्यते । तथा हि—तत्र 'मे यदरय' इत्यत्र मे इति इस् विभक्तिः (सुप्) वध्यघातकरूप-सम्बन्धार्थिका । अरय इति बहुवचनम् । तत्राप्यसौ तानस इत्यत

सम सो । सर्गाणास् । एवं विधस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वाति-शायि ने बन्धच्छ या समुन्मोलति । यत्र हि व्यञ्जधावभासिनः पदस्यै कस्यैव तावद। विभावस्तत्र। पि काव्ये कापि वन्धच्छाया किमृत यत्र तेषां बहूनां समवायः ।

यथात्रानन्तरोदित श्लोके । अत्र हि रावण इत्यस्मिन् पदेऽयांन्तरसङ्क्र-मितवाच्येन घ्वितिभोदेनालङ् कृतेऽपि पुन्रनन्तरोक्तानां व्यञ्जप्रकाराणामुद्भा-सनम् । दश्यन्ते च महात्मनां प्रिणाविशेषभाजां बाहुत्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः । यथा महर्षेव्यसिस्य—

उज्जीवनी

त्तिवितप्रत्ययस्य तापसशब्दगतस्य. अपि शब्दस्य निपातस्य । 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकूलं. जोवत्यहो! रावणः इत्यत्र निहन्ति, जीवति अत्रेतिस्थलविशेषात्मकाधिकरणशक्तेः, राक्षसकुलिति कर्मत्वस्य च, धिग्वि भछक्रजितिमिति इलोकार्घे शक्रजितिमिति क्तप्रदायस्य, प्रबोधितवतेति क्तवतुप्रत्ययस्य च, ग्रामटिकेति स्वायिकतद्वितस्य, स्वर्गन ग्रामटिकाविलुण्ठनवृयोच्यूनैरिति समासस्य, प्रदोधितवतेत्यत्र, विलुण्ठतेत्यत्र च प्रव्योह्यसग्योश्च व्यञ्जकत्वं वर्तते । एवविधस्यैतादशस्य काव्यस्य कविकर्मणः, व्यञ्जकभूयस्त्वे व्यञ्जकानां बाहुल्ये घटमाने सति, सर्वातिशाविनी अन्यसर्वप्रबन्धातिशायिनी बन्धच्छाया प्रबन्धशोभा समून्मीलिन उल्लसित । यत्र हि काव्ये, व्यङ्गचावभासिनः व्यङ्गचमर्थं व्रकाशयतः एकस्यैव तावत् पदस्य आविभवि: व्यञ्जकत्वेनावस्थिति: तत्रापि तस्मिन्नपि काव्ये प्रबन्धे, कापि अनिर्वचनीया बन्धच्छाया बन्धस्य शोभा वर्तते तहि यत्र काव्ये तेषां व्यञ्ज कानां बहूनां समवायो योगः तत्र किमुत किमु वक्तव्यमित्यर्थः। यथात्रानन्तरोदिते न्यक्कार इति श्लोके। अत्र हि अस्मिन् पद्ये, रावण इत्यस्मिन् पदे, अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्येन व्यनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनः पुनर्पि, अनन्तरोक्तानां अनन्तरमुक्तानां, व्यञ्जकप्रकाराणां व्यञ्जकानां बहुनां प्रकाराणां उद्भासनं प्रकाशनं कृतम् । प्रतिभाविशेषभाजां प्रतिभाविशेषशालिनां, महात्मनां महाकवोनां, एवविधा एतादशा बन्धप्रकारा प्रबन्धविशेषा दश्यन्ते बाहुल्येन।

अतिक्रान्तसु**खाः कालाः** प्रत्युवस्थितदारुणाः । श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ।।

अत हि कुत्तद्धितवचनै रलक्ष्यक्रमव्यङ्गचः, 'पृथिवी गत्यौवना' इत्यनेन चात्यन्तितरस्कृतवाच्यो ध्वनि: प्रकाशितः।

एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्ज हत्वं मह कवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण द्रयते॥

सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा--

तालैः शिञ्जद्वलयसुधगैः कान्तया नित्तो मे यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सृहद्वः॥

उज्जीवनी।

उदाहरणान्तरमाह—यथेति । महर्षेव्यांसस्येनि । अतिक्रान्तेति । अतिक्रान्तेति । अतिक्रान्तेस्य जातं, सुखं येषु तादशाः, प्रत्युपस्थितदारुणाः प्र युप्स्थितानि अन्तिके वर्तमान।नि दारुणानि दुःखानि येषु तादशाः कालाः, अतीते काले, सुखं नासीद्, वर्तमानेऽपि सुखं नास्तीत्यर्थः । श्वः श्वः पापीय-दिवसा श्वः श्वः भाविनि दिने, दिने, पापसम्बन्धिनः दिवसा यस्यां तादशी पृथिवी भूमिः, गतयौवना गतं यौवनं यस्याः तादशी भवित । अत्र कालत्रयेऽपि सुखाभाववर्णनेन निर्वेदस्थायिश्वावः शान्तो रसोऽभिव्यज्यते । गतयौवनित्यनेन पृथिव्यामचेतनायां चेतनधर्मस्य यौवनस्यासम्भवेन उपभोगाक्षमत्वं लक्ष्यते । तत्श्र हेयत्वं व्यज्यत इति अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यघ्वनिः । अत्र अतिक्रान्तः, प्रत्युपस्थितः, गतः इति च क्तप्रत्ययैः, पापीयेति छप्रत्ययैन, काला इति बहुवचनेन च अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचो घ्वनिः प्रकाशितः । पृथिवी गतयौवनेत्यनेन च अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यो घ्वनिश्च प्रकाशितः ।।

स्फुटतरप्रतिपत्त्यर्थं पुनरिष सुबादीनां एकैकशः पृथवत्वेन समुदितानां समुदायानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यत इति वदन् सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं प्राहु—यथेति । तालैरिति । महाकविश्रीकालिदासकृते मेघसन्देशे स्थितिमदं पद्यम् ।

तिङन्तस्य यथा---

अवसर रो चित्र णिम्मि आईं मा पुंस मे हत्रच्छीई। दंसणमेत्तुम्भत्तिहि जिहि हिअअं तुह ण णाअम्।।

यथा वा--

मां पत्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ सहोसि अहिरोओ। अम्हे अ भिरिच्छाओ सुण्णघरं रिक्बद्वं णो।।

उज्जीवनी ।

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-र्मू ने बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ॥

इति पूर्वार्धमस्य पद्यस्य । अत्र तालैशिति भिसन्तस्य पदस्य बहुवचनेन तालेषु नानाविधं वैदग्ध्यं प्रकाशमानं यक्षस्य तत्पत्न्यालम्बना विरहहेतुका विप्रलम्भरतिरुद्दीप्यते ।

तिङन्तस्य व्यञ्जकत्वमाह-यथेति ।

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मां पुंसय मे हते अक्षिणी। दर्शनमात्रीन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम्।।

इति संस्कृतम्। कुपिता काचिन्नायिका नायकं वक्ति—हे धूर्त ! रोदितुमेव रोदनायैव निर्मिते धात्रा सृष्टे मे ममः हते अक्षिणी नेत्रे, मां पुंमय मा उच्छूने कुरु, पुंस अभिवर्धने चुरादिः। दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां दर्शनमात्रेण उन्मादं प्राप्तवद्भ्यां याभ्यां मम नेत्राभ्यां, एवं रूपमेताहरां, तव तेः हृदयं न ज्ञातम् अतोऽपसर मम समीपं नोपसर इत्यर्थः। अत्र अपसर इति तिङन्तेन नायकविषयस्य नायिकाया रोषस्य अमर्षणीयता, दैवस्य दुर्लङ्घ्यता व्यज्यते।

तिङन्तस्योदाहरणान्तरमाह—यथावेति। मेति।

मा पन्थानं रुघोऽपेहि बालक अप्रोढ सहो असि अहीक:। वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते॥ सम्बन्धस्य यथा--

अण्णत्त बच्च बालअ! ह्लाअन्ति कि मं पुलोएसिएअम्।। भो जायाभीरुआणं तडं विअ णहोई।।

कृतकप्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितिष्ये व्यक्त कत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिसये कः । समासानां च वृत्यौचित्येन विश्वियोजने । निपःतानां व्यक्तकत्वं यथाः—

अयमेकपदे तया वियोगः, त्रियया चोपनतः सृदुःसहो मे । नववःरिषशेदयादहोभिभेतितव्यं च निरातपत्ररम्यैः ॥

इत्यत्र चशब्दः ॥

चज्जीवनी ।

इति छ या। पत्थानं रुन्धन्तं किञ्चत् पान्थं प्रति काचिद्वक्ति त्व तावदनिभ-ज्ञोऽसि, सज्जनसङ्कुले मार्गे स्वकीयमाशयं प्रकाशयसि, अस्ति मे गृहं ज शून्यं सङ्केतस्थानं, तत्रैवागच्छेति अपेहि इति तिङन्तेन व्यज्यते।

सम्बन्धस्य व्यञ्जकत्वमाह-यथेति । अण्णत्तेति ।

अन्यत्र व्रज बालक ! स्नान्ती कि मां प्रलोकयस्येतत्।। भो जायाभी एकाणां तटमेव न भवति ॥ इति च च्छाया ॥

वार्यां स्नान्तीं काश्वित् सानुरागमालोकयन्तं कश्वित् युवानं प्रति तस्याः अनुरक्ताया उक्तिरियम् । बालक ! स्नान्तीं मां किमर्थं पश्यसि । अन्यत्र व्रज गच्छ । इदं च तटं जायाभीरुकाणां जायाभ्यो विभ्यतां अवस्थानाय नोचितम् । अत्र जायाभीरुकाणामिति षष्टचर्थसम्बन्धस्य प्रच्छन्नकामिनी- गातेष्प्रतिशयः व्यज्यते । कप्रत्ययेन, अवज्ञातिशयश्च ।

तदेवाह—कृतकेति । कृतकप्रयोगेषु कृतः कस्य (कप्रत्ययस्य) प्रयोगः येषु ताद्योषु प्राकृतेषु, तद्धितविषये व्यञ्जकत्वं, आवेद्यत एव ज्ञाप्यत एव । अवज्ञातिशयद्योतकोऽत्र क प्रत्ययः । वृत्त्यौज्तियेन उपनागरिकेत्यादि-वृत्तेरौचित्यानुसारेण समासानां नियोजने समासानामिष व्यञ्जकत्वमस्तीत्यर्थः ।

निपातानां व्यञ्जकत्वमाह—यथेति । अयमिति । विक्रमोर्वशीये चतुर्थेऽङ्के पुरूरवस उक्तिरियम् । तया त्रियया उर्वश्या सह, मे मम एकपदे तृतीय उद्शोत:

यथा वा---

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेघाक्षरविक्लबाभिरामम्। मुखमसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः, कथमप्युन्नमितं न चुन्बितं तु॥

अत्र तु शब्दः। निपातानां प्रसिद्धमाहि द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्ति दिष्टव्यम्।।

उपसर्गागां व्यञ्जकत्वं यथा-

नीवाराः शुक्रगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः प्रस्निग्धाः कचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त ्वोपछाः ॥

उज्जीवनी।

अकस्मात्, अयं दुःसहः सोढुमशक्यः, विरह उपनतः प्राप्तश्च । अहोभिर्दिवसैः, नववारिधरोदयाद् नवानां नवीनानां, वारिधराणां मेघानां, उदयादावि-भीवाद् निरातपत्वरम्यैः निर्गत आतपो येभ्यस्तादशस्य भावो निरातपत्वं, तेन रम्यैः रमणीयैः भवितव्यं च । अत्र प्रियाविरहसमय एव वर्षाकालः सम्प्राप्त इति क्रियायीगपद्यं चकारेण निपातेन व्यज्यते ।

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति। मुहुरिति। अभिज्ञानशाकुन्तले तृतीयाङ्के दुष्यन्तस्योक्तिरियम्। मुहुः पुनः पुनः, अङ्गुलिसंवृगाधरोष्ठं अङ्गुल्या संवृत आवृत अधरोष्ठः यस्मिस्तादृशम्। प्रतिषेघाक्षरिविक्तवाभिरामं प्रतिषेघाक्षरेण निषेचवन्तेन विक्लबं वैक्रुव्ययुक्तं अभिरामं मनोज्ञं, अंप्रविवक्ति असे विवक्तितं शिलमस्येति तादृशम्। पश्मलाध्या। पश्मले अक्षिणो यस्यास्तादृश्याः, मुखं वदनम्। कथमपि महता प्रयासेन, उन्नमितं ऊर्व्वं कृतम्। तु किन्तु। न चुम्बितं; तु शब्दोऽत्र पश्चात्तापातिशयद्योतकः; चुम्बनलाभो यद्यभविष्यत्तिः कृतार्थोऽभविष्यमिति व्यङ्गचस्य प्रकाशकः। अत्रेति। अत्रास्मिन् पद्ये। तु शब्दः वयञ्जक इत्यर्थः। शब्दशास्त्रकारा निपातानां वाचकत्वं नैच्छन्ति। सर्वया तेषां द्योतकत्वमेव। एवं नियतं निपातानां द्योतकत्वं प्रसिद्धम्। तथापि अत्र निपातानां द्योतकत्वं प्रसिद्धम्। तथापि अत्र निपातानां द्योतकत्वं प्रतिद्वम्। तथापि अत्र निपातानां द्योतकत्वं प्रतिद्वम्। तथापि अत्र निपातानां द्योतकत्वं प्रतिद्वम्। उक्तमिति द्वष्टव्यम्।।

विश्वासौषगनादिशिक्षणतयः शब्दं सहन्ते पृगाः-स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

इत्यादौ । इत्राणां चोपसर्गाणां एकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसञ्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोष:। यथा

उज्जीवनी ।

उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं आह—यथेति । नीवारा इति । अभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमाङ्के दुष्यन्तकृतं आश्रमवर्णनपरं पद्यमिदम् । तरूणां वृक्षाणां, अघोऽध-स्तात्, शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः शुका गर्भे येषां ताहशा ये, कोटराणि विवराणि तेषां मुखेम्यो भ्रष्टाः पतिताः नीवाराः सन्तोति शेषः । कचित् आश्रमस्य कस्मिश्चित् प्रदेशे, उपला दबदः प्रश्निम्धाः प्रकर्षेग स्निग्धा मसुणाः। इङ्गुदोफलभिदः इङ्गुदोफलानि भिन्दन्तीति तादशानि शूच्यन्त एव । विश्वा-सोपगमाद् विश्वासस्य उपगमाद् प्राप्ते:, अभिन्नगत्यः अभिन्ना अस्वलिता गतिः सञ्चारः येषां तादशाः । मृगाः हरिणाः, शब्दं सहन्ते रथशब्दं श्रुत्वापि न बिभ्यति । तोयाधारपथाश्च तोयाधारस्य जलाशयस्य पन्थानश्च । वलकल-शिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः वलकलानां शिखाभयः अग्रेभयः, प्रसुमराभिः निष्य-न्दानां रेखाभिः अङ्किताः चिह्निताः, दश्यन्त इत्यर्थः । अत्रप्रेत्युपसर्गः प्रस्निग्धा इत्यत्र इङ्गुदीफलानामत्यन्तसारस्य, तेन आश्रमस्य सौन्दर्यातिशयं च प्रकाशयति । उपसर्गाणां 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इति शास्त्रानुसारेण, धातोः पूर्वं प्रयुक्तानां प्रादीनां द्वित्राणां द्वयोस्त्रयाणां वा एकत्र पदे एकस्मिन् पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनूगूणतयैवः निर्दोषः दोषशहितो भवति । प्रभाषयदिति ।

 [&]quot;मदमुखरकपोलमुन्मयूर'
 प्रविरलवामनवृक्षसन्त्रवेशम् ।
 वनमिदमवगाहमानभोमं

[्]र व्यसनमिवोवरि दारुगत्वमेति ॥ इत्यादौ प्रशब्दस्यौपच्छन्दसिकस्थ व्यक्षकत्वमधिकं द्योत्यते" (इत्यधिकतया हृश्यते) । ■

'प्रश्नश्यत्युत्तरोयित्विषि तमिस समुद्रीक्ष्य वीतावृतीन् द्राग् जन्तून्' इत्यादौ । यथा वा -मनुष्यवृत्या समुपाचरन्तं इत्यादौ *निपातानामिषि तथैद, यथा- अहो ! बतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादौ यथा वा-

ये जोवन्ति न मान्ति ये स्ववपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति च प्रस्यन्दि प्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूजिते !

उज्जीवनी।

त्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषे तमिस समुद्वीक्ष्य वोतावृतीन् द्वाग् जन्तूंस्तन्तून् यथा यानतनु वितनुते निग्मरोचिमेरीचीन् ! ते सान्द्रीभूय सद्यः क्रमविशददशाशादशालीविशालं शश्वत् सम्पादयन्तोऽम्बरममलमलं मङ्गलं वो दिशन्तु ॥

मयूरकि विकृते सूर्यशतके चतुर्थिमिदं पद्यम् । अत्र समुद्रीक्ष्येति सम्, उद् वीत्येतेषामुपसर्गाणामेकत्र पदे प्रयोगः सूर्यस्य जन्तुविषयकमनुकम्पातिकायं द्योतयित । ते जन्तूनां सूर्यविषयकरित मिवोऽभिव्यज्यते । तदानुगुण्येनात्र त्रयाणामुपसर्गाणां योगो न दोषाय ।

यथावेति । मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तमित्यत्र ।

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं, स्वबुद्धिसामान्यकृताभिमानाः । योगीश्वरैरप्यमुबोधमीश त्वां बोद्धिमिच्छन्यबुधाः स्वतर्केः ॥ ष्रतापि समुपाचरन्तिमितिः सम्, उप, आ इत्येतेषामुपसर्गाणां योगः, ईश्वरस्य लोकानुग्रहतात्पर्यातिशयो व्यज्यते । निपातानामि द्वयोस्त्रयाणां वा एकत्रपदे यो । रसभाव।दिव्यञ्जनानुगुगतया न दोषमावहति —यथेति । अहो इति ।

सुराः समभ्यर्थयितार एते, कार्यं त्रयाणामिष विष्टपानाम् । चापेन ते कमं न चातिहिस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ।। कुमारसम्भवे तृतीयसगस्थिमिदं पद्यम् । अत्र 'अहो' 'बत' निपातयोर्द्धयोर्योगः, मदनस्य सकललोकविस्मयजनक वोरत्वं प्रकाशयति । अतो न दोषाय ।

उदाहरणान्तरमाह—यथावेति । य इति । ऊर्जिते गुणिनि, पूर्णगुण-शानिनि, जने इष्टे, अवलोकिते सति, ये जना जीवन्ति, सुखेन प्राणधारणं

^{* &#}x27;'यः स्वप्ने समुपानतस्य इत्यादौ च'' च. (इत्यधिकतया हश्यते)

हा धिक्कष्टमहो ! क यामि शरणं तेषां जनानां कृते नीतानां प्रलयं शठेन दिधिना साधुद्विष: पुष्यता ॥

इत्यादी

पदभौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित् प्रयुज्यमानं शोभामावहति । यथा---

> यद्वाहितमितिर्बहुचाटुगर्भं कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति । तःसाधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु कर्तुं वृथाप्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

इत्यादी

उज्जीवनी।

कुर्वन्ति, स्ववपुषि स्वदेहे, न मान्ति अपरिमितप्रमोदभाजः भवन्ति, प्रीत्या मोदेन, प्रनृत्यन्ति प्रकर्षेण नृत्यन्ति । प्रस्यन्दि प्रमादाश्रवः प्रकर्षेण स्यन्दोनि स्यन्दमानानि प्रमदाश्रूणि हर्षाश्रूणि येषां तादशाः । पुलकिताः सञ्जातपुलकाश्र्य भवन्ति । साधुद्विषः साधून् सज्जनान्, द्विषतः, पुष्यता पोषयता, शठेन कूरेण विधिना दैवेन, प्रलयं नाशं, नीतानां प्रापितानां, तेषां जनानां कृते सज्जनानां तेषामर्थे कं शरणं यामि रक्षितारं कं प्रयामि । अहा । हा धिक् कष्टं दशेदशी महते क्लेशाय भवति । अत्र हा, धिगिति, निपातद्वयं निर्वेदं वयनक्तीति अतो न दोषावहम् ।

पदस्य भौन हक्त्यं पुनहक्तिरिष कदाचित् प्रयुज्यते चेत् तदिष व्यञ्जकत्वस्य व्यञ्जनाया आनुगुण्येन शोभामावहित शोभाधायकं भवति । अन्यथा दोष एव । उदाहरित—यदिति । वन्धनाहितमितः वन्धनायामाहिता मितर्येन तादशः, खलजनः दुष्टो जनः कार्योन्मुखः कार्ये स्वकीये औन्मुख्यं वहत् सन् बहुचादुगभं बहूनि चादूनि प्रियवचनानि गर्भे यस्य तादशं कृतकं कृतिमं ब्रवीति कथ्यति इति यत् तत् साधवः सज्जनाः न विदन्ति इति न न जानन्तीति वक्तं न शक्यते तथापि विदन्ति जानन्ति । किन्तु अस्य खलजनस्य, प्रणयं कृतकां प्रीति, वृथा कत् वयर्थं विघातुं, न पादयन्ति न शक्नुवन्ति । द्वौ नत्रौ अत्र न न

कालस्य व्यञ्जनत्वं यथा-

सपविसमणिविवसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा। अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुस्रङ्का ॥

[समविषयनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः । अचिराद्धविष्यन्तिपन्थानो मनोरथानामपि दुर्लड्घ्याः । इति छाया]

अत्र ह्यविराद्भिविष्यन्ति पन्यान इत्यत्र भविष्यन्तोत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिष्यायी रसपरिपोष्हेतुः प्रकाशते । अयं हि गायार्थः प्रवासविप्रलम्भश्रङ्कारविभावतया विभाव्यमानो रसवान् ।

ययात्र प्रत्ययांशी व्यञ्जकस्त्या किचत् प्रकृत्यंशोऽपि दश्यते । यथा-

तद्गेहं नतिभित्ति मन्दिरिमदं लब्धावगाहं विवः सा धेतुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः। स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलिमदं सङ्गीतकं योषिताम् आश्चर्यं दिवसैद्धिजोऽयमियतीं भूमि समारोपितः॥

उज्जीवनी।

विदन्तीति प्रकृतमर्थं वेदनं द्रढयतः । तथापि विदन्तीति पुनक्किः वेदनस्य प्रकृष्टदाढयीतिशयव्यञ्जनात् कामपि कामनीयकमावहति ।

कालस्य व्यञ्जकत्वमाह—यथेति । समेति । समाश्व विषमाश्व (मार्गा?) निविशेषाः तुल्या येषु तादशाः । समन्ततः मन्दमन्दशञ्चाराः मन्दमन्दोऽत्यन्तं मन्दः सञ्चारो येषु तादशाः पन्यानः मार्गाः, अविरादिवरेगः मनोरयानामपि दुर्ल्ङ्घ्याः लङ्घनयोग्यताशून्या भविष्यन्ति ।

अत्र हि अस्मिन् पद्ये, अचिराद् भिवष्यन्ति पनयानः इत्यत्र भिवष्यन्तोति अस्मिन्लृङात्मकतिङन्ते पदे कालविशेषबोषकः प्रत्ययस्तिङ्ग्रत्ययः रसप्रि-पोषस्य प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारपरिपोषस्य हेतुः कारणं प्रकाशते । अयं गाथार्थः गाथाया अर्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारस्य, विभावत्वेन कारणत्त्रेन, विभाव्यमानः सह्ययेरास्वाद्यमानः रसवान् काव्यमिदं रसविदित्यर्थः । तस्य च विप्रलम्भ-शृङ्गारस्य प्रत्ययः व्यञ्जक इत्यर्थः । नायकस्य प्रवासारम्भे नायिका तं वदित ॥

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः । सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते श्लोके ।

अत्र च सर्वनाम्नाभेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यःदिशब्द-प्रयोगो नकृतः। अनया दिशा सहृदये ८ येऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एतञ्च सर्वं पदवात्रयरचनाद्योतनोक्त्येव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्तत्त्रये पुनक्ताम्।।

उज्जीवनी

अत्र प्रकृत्यांशो यथा व्यञ्ज कस्तथा प्रकृत्यंशस्यापि किचिद् व्यञ्जात्वं स्थयत इत्याह—यथेति । तद्गेहिमिति । द्वारकातः प्रतिनिवृत्तस्य सुदामनो मन्दिरमवलोवयं कस्यचिदिदं व वनिमिति सुधासागर उक्तम् । तत् पूर्वदृष्टं गेहं गृहं, नतिभित्ति नता अवनता भित्तिर्यस्य तादशम् । इद तु पुरो दृश्यमः न दिवः स्वर्गात्, लब्धावगाह लब्धः अवगाहो यस्य तादशं, जानिमत्यर्थः । सा पूर्वदृष्टा जरती जरठा घेनुगौः । एताः इदानीं तु धनाभाः मेधिनभाः, किणां राजानां घटाः श्रेणयः, चरन्ति । सः पूर्वश्रुतः, क्षुद्रः अल्पः मुसलध्विनः मुसलस्य धान्यावहननशब्दाः । इदं तु इदानीं तु कलं मधुरस्वरं, योषितां अङ्गनानां, सङ्गीतकं गीतध्वितः, आश्चर्यमिदम् । अयं द्विजः सुदामाख्यः, श्रीकृष्णसुहृद्दिवसं कित्ययः दिवसरेव, न तु मासंवर्षवर्ते, इयतीं भूमि, एतःवतीं सम्यन्तिमां समारोपितः प्रापितः ॥

अत्रेति । अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि तृतीया प्रकृति भूतदिवसशब्दोऽपि द्योतकः । अत्यल्पेनैव समयेन महत् पश्चितंनं जातमिति तस्यासम्भाव्यतां दिवसशब्दः प्रकाशयति । अनन्तरोवते श्लोके यथा 'तद् गेहं नतभित्ति' इति श्लोके इव सर्वनाम्नां च तदिदमित्यादि सर्वनामशब्दानां, विभक्तिप्रकृतीनां च सम्भूय व्यञ्जकत्वं दृश्यत इत्यर्थः । तदिति च सर्वनामपदं, नतभित्तीति प्रकृतेः साह य्येन गेहस्यामङ्गनाधारतां, दौर्भाग्याश्रयतां च व्यनक्ति । अत्र च अस्मिन् पद्ये, सर्वनाम्नां तदादीनां वक्तृबुद्धिविषयता-वच्छेदकोपलक्षितवर्माविच्छन्नादौ शक्तिमतामेव व्यञ्जकत्वं, पूर्वानुभूतस्य वस्तुनः स्मरणहृषो योऽर्थस्तस्य द्योतकत्वमस्ति । अत 'क सूर्यप्रभवो वंशः, क चाल्पविषया मतिः' अत्यन्तवषम्यद्योतनाय क शब्दो न प्रयुक्तः । अनया

ननु चार्थसामध्यक्षिण्या रसादय इत्युक्तम् । तथा च सुवादीनां व्यञ्जकत्व वैनिव्यक्तयनमनन्वित मे । उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वोक्तचवसरे । किञ्चार्थन्विशेषाक्षेष्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद् यथा —प्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिकानं विभज्योपगुज्यत एव ॥

उज्जीवनी ।

दिशा अनेनैव मार्गेण, सह्दयैः व्यञ्जकविशेषाः पूर्वोक्ताः प्रकृतिप्रत्ययादयः स्वयमुत्प्रेक्षण याः ॥

ननु पदस्य वाक्यस्य रचनायाश्च अर्थान्तरप्रकाशकत्वे कथिते तदन्तर्गता-नामेवैषां प्रत्ययादीनां व्यञ्जकतायाः पृथम् वचनमनुचितमिति चेत् तेषां वचनेनैव गतार्थत्वेऽपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये वैचित्र्यज्ञानाय पुनर्प उक्तमिति ज्ञेयम् ॥

निवित । रसादयः रसभावादयः असंलक्ष्यक्रमच्यङ्गचाः अर्थसामध्यक्षिणा अर्थस्य यत् सामध्यं अर्थान्तर बोधानुकूलत्व तेन आक्षेण्याः प्रत्येया इति उक्तम-भिहितम् । एवं स्थिते सुदादीनां प्रत्ययानां प्रकृत्यादीनां च व्यञ्जकत्वे व्यञ्ज-न्यार्थान्तर बोधकत्वे यद् वैचित्र्यं तस्य कथनमनन्वित मेवानुपपन्न मेव । पदानां व्यञ्जकत्वकथनावसरे चेदमुक्तम् । वाक्यमेव वाचकिमिति येषां मतं तन्मते पदानामर्थस्मारकत्वेनैवोपयोगात् अवाचकत्वादर्थान्तरव्यञ्जकत्वं कथिनत्या-राङ्कायां, पदानां व्वनिव्यवहारप्रयोजकं न तिन्नष्ठं वाचकत्वं अतो वाच कत्या-भावेऽपि पदानां व्यञ्जकत्वमव्या इतिमिति पूर्वमुक्तमित्यर्थः । तथैव प्रत्यया-दीनामपि व्यञ्जकत्वमभ्युपेयत एव । किञ्चेति । रसादीनामर्थविशेषेणाक्षेप्य-त्वेऽिविश्तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकत्वमभ्युपेयत एव । किञ्चेति । रसादीनामर्थविशेषेणाक्षेप्य-त्वेऽिविश्तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकत्वद्यावनाभावित्वाद् व्यञ्जकत्ववः निय त्वात् (व्यापकत्वाद्) व्यञ्जकशब्देविना व्यञ्जकस्यार्थस्यानुपस्थिते: यथापूर्वं प्रदिशतं व्यञ्जकस्वरूपितानं व्यञ्जकत्वां स्वरूप्य विज्ञानं विभज्य पृथग् उपयुज्यत एवापेक्ष्यत एव ।।

अन्यत्र भामहिववरणे, शब्दिविशेषाणां चारुत्वं चमस्कृतिजनकस्व यद् विभागेनोपदिशितं विभाज्य प्रदर्शितं, तदि चारुत्वं च तेषां शब्दादीनां व्यञ्जकत्वेतैव व्यञ्जकत्वद्वारेणैव, अवस्थितं स्थितनिस्यवगन्तव्यं वेदितव्यम्।। शब्दिविशेषाणां तत चान्यत्र च चारुत्वं यद् विभागेनोपदिशितं तदिप तेषां व्यञ्जकत्वेनेवावस्थितमित्यवगन्तव्यम्।

यत्रापि तत् सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठत्रं तेषां प्रवाहपतितानां तदेवाभ्यासादपोद्धतानामप्यवभासत इत्यवसात-त्यम् । कोऽन्यया तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्याद् ।

अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम ? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयावशेषाभिज्ञत्वं, उतः, रसभावादिमय हाव्यस्वं-रूपपरिज्ञाननेपुण्यम् । पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविषसहृदयव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्विनयमो न स्यात् । पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्था-पनसम्भवात् । द्वितोयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति । तथाविषैः

उज्जीवनी

यत्रेति । यत्र यस्मिन् काव्येऽपि, तद् व्यञ्जकत्वं, समप्रति वाच कत्वावस्थायां, न प्रतिभासते न प्रकाशते, तत्रापि तस्मिन् काव्येऽपि व्यञ्जके रचनान्तरे यत्र रचना अर्थान्तरव्यञ्जिका, तत्र यत् सौष्ठवं चारुत्वं, दृष्टं तेषां शब्दानां, प्रवाह-पतितानां अन्यत प्रयुक्तानां रसव्यञ्जनावसरे तदेव चारुत्वं, अभ्यासात् पूर्वपरिचयाद्, अपोद्धृतानां अपि पृथगवस्थितानामपि, अवभासते भासते, इत्यव शातव्यम् । अन्यया नैवं चेत् शब्दानां वाच हत्वे अर्थबोध हत्वे तुल्ये सति, चारुत्वविषय: चारुत्वं निमित्तीकृत्य विशेष: भेदः कः स्यात् की दशो भवेत् । असौ चारुत्वविषयो विशेषः अन्य एव भवद्क्तादन्य एव सहृदयसंवेद्यः सहृदयैः परं विज्ञेयः इति उच्यते चेत् तदा इदं सहृदयत्वं कि नामेति विचारणीयम् रसभावादीननपेक्ष्यं स्थितं यत् काव्यं तदाश्रितानां तदाश्चित्यावस्थितानां समयविशेषाणां सङ्केतविशेषाणामनभिज्ञत्व मजातृत्वं सहदयत्विमत्येकः पक्षः । अथवा रसभावादिमयानां काव्यानां परिज्ञाने नैपुण्यं निपुणता महृदयस्विमित्य गरः । पूर्वस्मिन् पक्षे प्रथमे पक्षे तथाविघेन सहृदयेन रसभावादिविज्ञानशून्येन व्यवस्थाितानां कृतव्यवस्थानां शब्दिविशे-षाणां चारुत्वनियमो न स्यात् चारुत्वस्य व्यवस्था न भवेत् । पुनः समयान्तरेण, अन्येन सङ्केतेन, अन्यथा प्रकारान्तरेणापि, व्यवस्थापनस्य समभवात् । द्वितीयस्मिस्तु पक्षे सहृदयत्वस्य द्वितीयनिर्वचन।ङ्गीकारपक्षे, रक्षज्ञतेव रसाद्य-

सह्दयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम् । वाचकत्वाश्रयाणां तु प्रसाद एवा- थिभायां तेषां विशेषः । अर्थानपेशायां तु अनुप्रासादिरेव ॥

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूःं लक्षयितु-मिदमुपक्रम्यते —

> प्रवन्धे मुक्तके वावि रसादीन् बन्धुमिच्छता । यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनःम् ॥ १७ ॥

प्रबन्धके मुक्तके वापि रसभावित्वन्धनं प्रत्याहतमनाः कविः विरोधि-परिहारे परं यत्नमादधीतः । अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ् न सम्पद्यते ॥

कानि पुनस्तानि विरोधीनि, यानि यत्नतः कवेः परिहर्तन्यानीत्युच्यते—

भिज्ञत्वमेव सह्दयत्विनित्युक्त भवित तथाविषैः रसाद्यभिज्ञैः सह्दयैः, संवेद्यः सवेदनागोचरः शब्दानां विशेषः सीष्ठवं नैसिंगिकं स्वाभाविकं, रसादिसमप्ण सामर्थ्यमेव रसादीनां समप्णे अभिव्यञ्जने यत् सामर्थ्यं तदेव इति तेषां शब्दानां मुख्यं प्रधानं, चारुत्वं सीष्ठवम् । व्यञ्जकत्वाश्रय्येव व्यञ्जकत्व-माश्रित्यावितिष्ठमानमेव, वाचकत्वाश्रयाणां तु वाचकत्वेनाविस्थितानां तु, तेषां शब्दानां, अर्थापेक्षायां वाच्यार्थापेक्षत्वे, प्रसाद एव प्रसादगुण एव विशेषः । अर्थानपेक्षायां अर्थापेक्षाविरहे तु, अनुप्रासादिरेव अनुप्रासादिशब्दालङ्का (वत्व-मेव।

एविमिति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, रसादीनां, व्यञ्जकस्वरूपं य ि पदादीनि व्यञ्जकानि तेषां स्वरूपं अभिधाय उक्तवा, तेषामेव रसादीनां, विरोधिक्षं ये विरोधिनस्तेषां रूपं स्वरूपं, लक्षयितुं निरूपितुं, इदं वक्ष्यमाणं उपक्रम्यते आरम्यते। प्रबन्ध इति। प्रबन्धे मुक्तके वाि रसादीन् रसभावादीन्, बन्धुं निबन्धुमिच्छता अभिलषता, कविना, सुमतिना सहदयेन, विरोधिनां मिथो विरोधवतां परिहारे अपनयने, यत्नः प्रयत्नः, कार्यः विधेयः, तदेवाह—प्रबन्धके मुक्तके वाि रसानां भावादीनां च निबन्धन प्रति आदतमादरवद् मनो यस्य ताद्यः कविः, विरोधिनां रसानां, सामानाविकरण्येन निरूपणं

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः । विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥ १८ ॥ अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनस् । परियोषं गतस्यापि पौनःपुत्रयेन दीपनम् । रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥ १६ ॥

प्रश्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुरेकः सम्भावनीयः। तत्र विरोधि रसविभावपरिग्रहो यथा—शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूक्तिदेख्वनन्तरमेव शृङ्गारादि, विभाववर्णने। विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा—प्रियं प्रति प्रणयकलहकुनितासु

उज्जीवनी।

परिहर्तुं परं महान्तं यत्नमादधीत कुर्वीत । अन्यथा ताइशयत्नानादरे तु । अस्य कवेः एकोऽपि श्लोकः, सम्यग् रसमयः न सम्बद्धते तत् काव्यं रसदन्न भवेदित्यर्थः ।।

परिहरणोयत्वेनाभिमतानां रसिवरोधिनां निरूपणायाह—कानीति । कवेः कान्यकर्तुः, यानि यत्नतः प्रयतात् परिहर्तन्यानि परिहरणोयानि, तानि पुनः विरोधीनि रसिवरोधीनि निबन्धनानि कानि इत्युच्यते, परिहर्तन्यानि मिथो रसिवरोधीनि निबन्धनानि निरूप्यत्त इत्यर्थः । विरोधीति । विभावभावानुभावेत्यादिना प्रबन्धस्य रसादीनां न्यञ्चकत्वे निबन्धनानि यःग्युक्तानितिद्वरुद्धानि परिहर्तन्यानीति इदानीं प्रतिपाद्यते । विरोधिरससम्बन्धिनां विभावःदीनां परिग्रहः वर्णनं अन्वितस्यापि अन्यस्य वस्तुनः इतिवृत्तस्य विस्तरेण दीपनं प्रकाशनम् । अकाण्डे अस्थान एव रसस्य विच्छित्तः विच्छेदः; अकाण्डे अस्थाने प्रकाशनम् च । परिपोषं पृष्टि गतस्य प्राप्तस्यःपि रसस्य पौन पुत्येन मुहुर्मुद्धः दीपनं प्रकाशनं, वृत्त्यनौचित्यं च वृत्तोनामनौचित्यं च रसस्य विरोधाय स्यात् । तदेवाह—प्रस्तुतं रसमपेक्ष्य प्रस्तुतस्य रसस्यिति यावत् । विरोधी विरुद्धः यो रसः रसभावादिः, तस्य सम्बन्धिनां विभावानां, भावानामनुभावानां च परिग्रहः वर्णनीयत्वेनाङ्को हारः, रसि।रोधस्य एको हेतुः सम्भावनीयः,

वृतीय उद्घोत:

कामितीषु वैराग्यकथाभिरनुतये। विरोधिरसानुभाव।रिग्रही यथा— प्रणयकुषितायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोषावेशविवशस्य रोदानुभाववर्णने॥

जयं चान्या रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथि चिदिनितस्यापि विस्तरेण कथनम् । यथा विप्रलम्भगृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वणितुमुरक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कारिनिवन्धतरिक्षकत्या महता प्रवन्धेन पर्वतादिवर्णने । अयं रसभङ्गहेतुरवणन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्तिः रसस्याक्षण्ड एव प्रकाणनम् । तज्ञानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्, स्मृहणीयसमाणमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे, विदिते च परस्परानुरागे समाणमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्मृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने ।

उज्जीवनी ।

विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा—शान्तरसस्य विभावेषु शान्तरसविभावत्वेनैव निरूपितेषु सत्सु, अनन्तरमेव शृङ्गारादिविभावानां वर्णनं रसिवरोधहेतु-रित्ययः। तथा बिरोधिरसभावपरिग्रहो यथा—कामिनीषु प्रणियनीषु प्रियं प्रति प्रणयकलहेन कुनितासु वैराग्यकथाभिस्तासां अनुनयवर्णनमिप रसिवरोधि ! विरोधिरसानां येऽनुभावास्तेषां परिग्रहो यथा—प्रणयकुपितायां प्रियायां प्रणियन्यामप्रसीदन्त्यां प्रसादरहितायां कोपावेशेन परवशस्य नायकस्य रौद्ररस स्य येऽनुभावास्तेषां वर्णनमिप रसभङ्गहेतुः ॥

प्रस्तुतरसापेक्षया अन्यस्य वस्तुनः इतिवृत्तस्य कयन्विदिन्वतस्याप्यनुगत-स्यापि विस्तरेण कथनमिति यद् अयं चान्यो रसभङ्गहेतुः। यथा—कस्यचिद् नायकस्य विप्रलम्भशृङ्गारे वर्णयितुमुक्तान्ते सित यमकाद्यलङ्काराणां काव्या-न्तर्गडुभूतानां निबन्धनरितकस्य कवेमहिता प्रबन्धेन पर्वतादोनां वर्णनम्।

अयं चापरा रसविरोधहेतुः अवगन्तव्यो ज्ञातव्यः।

यद् रसस्य अकाण्डे विच्छित्तिरकाण्डे दीपनं च। अनवसरे रसस्य विशामो यथा—कस्यचिन्नायकस्य स्पृहणीयः समागमो यस्यास्तादृश्या कयाचिद् नायिकया पशं परिपोषपदवीं प्राप्तेशृङ्गारे, तयोः परस्परानुशागे च विदिते सनि,

१. 'ण्डेच प्रथनमृ।' च

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यया प्रवृत्ते प्रवृत्ति विविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकले सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानु न कान्तिविधनम्भ-शृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथाया मवतारवर्णने । न चैवं विधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहासो यतो रस बन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिबन्धनं मुक्तम् । इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः" इत्यादिना ।।

अत एव चे िवृत्तमात्रवर्णन्यावान्गेऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभाविध्यन्त्रेन च कवीनामेवंविधानि स्खलितानि भवन्तोति उसादिकाव्यङ्गयतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिराच्ब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन । पुनश्चाय-मन्यो रसभङ्गहेतुरवधाचणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन

उज्जीवनी।

समागमाय तयोः सङ्गमनाय, उचितस्योपायस्य परिचिन्तनातमकं कर्म विहाय, स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरस्य वर्णनम् । रसस्यानवसरे प्रकाशनं; यथा— प्रवृत्तो विविधानां वीराणां संक्षयो यस्मिस्ताद्द्योः कल्पान्तसद्द्यो सङ्गरे प्रवृत्तो सितः श्रीरामसद्द्यापि नायकस्य अनुपक्रान्तः विप्रलम्भशृङ्गारो यस्य तादशस्य, उचितं निमित्तं कारणं विनेव शृङ्गारकथायामवतारस्य वर्णनम् । यतः कवेः, रसानुगतशब्दविन्यास एव प्राधान्येन काव्यनिर्माणे प्रवृत्तस्य प्रवृत्तिविषयतामहंति, तत एवंविधे विषये, अकाण्डे विरोधिरसस्य दीपने, कथापुरुषस्य दैवव्यामोहितत्वं न परिहाराय कल्पते । इतिवृत्तस्य वर्णनं तु रसादेरुपाय एव । तदेवोक्तं पूर्वम्—'आलोकार्थी यथा दी शिखायां यत्नवान् जनः' इति ।

अत एवेति—यत एव रसबन्ध एव मुख्य: कवेव्यीनारविष गः अत एव च इतिवृत्तमात्र प्राधान्येन वर्ण्यमाने अङ्गाङ्गिभाव रहितानां परस्परबन्ध शून्यानां रसभावादीनां निबन्धनेन कवीनामेवं विधानि स्वलितानि भवन्तोति हेतोः, एषां रसादिरूपव्यङ्ग्यतत्प रत्वमेव उचितिमिति तदर्थमस्माभिः यत्न आरब्धः न तु ध्वनिप्रतिपादनमात्रेऽभिनिवेशेन। पुनश्चान्योऽयं रसभ ङ्गहेतुः, अवधारणोयः

१. 'द्ध°ंच २. 'मेदे°ंच

दोवनम् । उपभुक्तो हि रसः स्वतामग्रोलब्यनिशोषः पुतः पुतः परामृश्यमानः परिम्तानकुमुमकल्पः कल्पते । तथा वृत्तेवर्धवहारस्य यदनौचित्यं तदिप रस-भङ्गहेतुरेव । यथा-नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण स्वय सम्भोगाभिलाषकथने ।

यदि वा भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धाना-मुगनागरिकाद्यानां दा यदनौचित्यमिवषये निवन्धनं तदिप रसभङ्कहेतुः । एव-मेषां रसिवरोधिनामन्येषां चात्या दिशास्त्रयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्क-विभिरवहितैभैतित्व्यम् । परिकरश्लोकश्चात्र—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽस्शब्दो महान् कवेः।
तिनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥

उज्जीवनी ।

अवगन्तव्यः, यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पुनःपुनरुद्दीपनम् । उपभुक्तो हि आस्वादिविषयोभूतस्तु रत्यादिः स्वक्षामग्रीभिः परिपोषं प्राप्तः पुनःपुनरिष् स्पृह्यमानः परिम्लानकुषुनवदरमणीयो भवति । तथा वृत्तेव्यंवहारस्य यदनौचित्यं सोऽपि रसभङ्गस्य हेतुरेव, यथा—नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां भङ्गिमन्तरेण नायकं प्रति स्वयमेव सम्भोगाभिलाषस्य कथनम् । अथवा वृत्तयः भरतनाटचशास्त्रप्रसिद्धाः कैशिक्यादयः तासां काव्यालङ्कारग्रन्थान्तरे प्रसिद्धानापुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं, अविषये निवन्वनं तदिष रसभङ्गाय कल्पते । एवमेषां पूर्वोक्तानां रसिवशोधनां अन्येषां च अनेनैव मार्गेण स्वयमुत्प्रेक्षितानां च परिहारे सत्कविभिष्वधानवद्भिभवितव्यम् । परिकरश्लोकमाह—मुख्या इति । सुकवोनां सत्कवोनां व्यापारिविषयाः वर्णनविषयाः मुख्या ये रसादयः रसभावादयः तेषां निवन्धने तै; कविभिः सदेव सर्वदेव, अप्रमादिभिः अनवधानतारिहतेः भाव्यम् । तु किन्तु, यो नीरस रसञ्चन्यः प्रबन्धः प्रबन्धः प्रबन्धः प्रबन्धः प्रवन्धः प्रवन्

पूर्वे विशृह्धलिक्तरः कवयः प्राप्तकीर्तयः तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीसिरेषा मनीषिणा॥ वात्मीकिव्यासमुख्यादच ये प्रख्याताः कवीष्ठवणः॥ तदिभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्देशितो नयः॥

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् । बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥ २०॥

स्वशामग्रधा लब्धपरिपोषे तु विवक्तिते रसे विरोधितां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरेषा । बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्या-भिभवत्वे सति नान्यथा ।

तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते । अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते । अङ्गभावप्राप्तिहि तेषां स्वाभाविकी

उज्जीवनी।

पूर्वे प्राचीनाः कालिदासादयः कवयः विशृह्वलगिरः विशृह्वला गीर्येषां तादशाः कचित् स्खालित्यसम्भवेऽिष प्राप्तकीर्तयः प्राप्ता कीतिर्येषां तादशाः प्रविक्ततः । तथापि तान् समाश्रित्य तान् प्रमाणीकृत्य, मनीषिणा घीमताः एषा नीतिः रसित्रोधिपरिहारात्मिका, न त्याज्या नीपेक्षणोया । कि चास्माभिः प्रदिश्तितोऽयं नयः, वाल्मीकिव्यासमुखाः वाल्मीकिव्यासदयः प्रख्याताः प्रसिद्धाः, ये कविश्वराः तदिभप्रायबाद्धाः अयं तदिभप्रायाविषयः नयः नः तेष मिष कविश्वराणां अभिमतोऽयं न्याय एवास्माभिरिष स्वीकृत इत्यथः ।। विरोधिनां रसानां कचिददोषत्वं दर्शयति विवक्षित इति । तु किन्तु, विवक्षिते वक्तृतात्पर्यविषयीभूते रसे लब्धप्रतिष्ठे प्रतिष्ठां प्राप्ते सित्, बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां विरोधिनां रसानामुक्तिर्वर्णनम् । अच्छला न दोषमावहति ।।

स्वसामग्रयेति । विवक्षिते रसे स्वसामग्रया स्वविभावादिश्वः, लब्ध-परिपोषे विरोधिरसानां यान्यङ्गानि विभावादीनि तेषां बाध्यानां, अङ्गभाव-मङ्गत्वं वा प्राप्तानां सतां, उक्तिनिरूपणात्मिका अदोषा । विरोधिरसानां बाध्यत्वं हि शक्याभिभवत्वे शक्यः अभिभवः न्यग्भावो यस्य ताद्वस्य भावस्तत्वं, तस्मिन् सति भवति । अन्यया बाध्यत्वं न स्यात् । तथा च तेषां बाध्यानां समारोपकृता वा । तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्ताविरोध एव । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनां, तेषां व तदङ्गानावेवादोषो नात-दङ्गानाम् । तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न १ ज्यायान् ।

आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः । करुणस्य तु तथाविधे विचये परिपोषो भविष्यतीति चेत् नः तस्याप्रस्तुतस्यात् । प्रस्तुतस्य च विच्छेदात् । यत्र तु करुणरसस्य काष्यार्थेत्वं तत्राविरोधः । शृङ्गारे दा मरणस्यादीर्ध-कालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी । दीर्घका नप्रत्यापतौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसवन्धप्रधानेन कविना परिहर्तक्यम् ।।

उज्जीवनी ।

रसाङ्गानां उक्तिः प्रकृतरसं परिपोषयेदेव । अङ्गभावमङ्गत्वं प्राप्तानां तु रसानामुक्तौ तेषां विरोधित्वं विरोधो निवर्तत एव । उदाहरति—यथेति । विप्रलम्भशृङ्गारे विवक्षिते लब्बप्रतिष्ठे च सति व्याध्यादीनां विरोधिरमा-ङ्गानां, तदङ्गानामेव प्रकृतरसाङ्गभावं प्राप्तुमुचितानाम् एव, अधीयो दोषराहित्यम् । नातदङ्गानां प्रकृतरसाङ्गानां प्राप्तुमनहाणाम् तु नेपामुकौ दोष एव । तदङ्गत्वे विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गत्वे सम्भवत्यपि मरणोपन्यासो न ज्यायान् नोचितः ।

आश्रयस्यालम्बनस्य विच्छेदे नाशे सित, रसस्य अध्यन्तमेव विच्छेदो भवेदेव। तथाबिधे विषये मरणवर्णने क्रियमारो शृङ्गारस्य विच्छेदेऽपि शोकस्थायिभावाभिव्यक्तस्य करणस्य परिपोषो भविष्यतीति वक्तुमपि न युक्तम्। करुणस्याप्रकृतत्वात् शृङ्गारस्य च विच्छेदात्। यत्र तुं काव्ये करुणसस्य काव्यार्थत्वेन प्राधान्यं, तत्र मरणवर्णने दोषो नास्ति। शृङ्गारेऽपि वर्णितस्य मरणस्य अचिरेणैव केनाष्यदृष्टेन पुनरुज्जीवनं सम्भवति, त दशस्थले कदाचिदुपनिबन्धनं तस्य नात्यन्तिवरोधाय कल्पते। पुनरुज्जीवनं दाध काल-व्यवहित यदि भवित तदा तस्य शृङ्गाररसस्य यः प्रव हस्तस्य मध्ये विच्छेद

[🔐] १. 'न्याय्यः।' च

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाव्यत्वेनोकताद-दोषो यथा—

> काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलं भ्योऽपि दश्येत सा दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहा ! कोपेऽपि कान्तं मुखम् । कि वक्ष्यन्त्यपकलम्षाः कृतिध्यः स्दप्नेऽपि सा दुर्लभा चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥

यथा वा—पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने । स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्ती अदीषो यथा—

उज्जीवनी।

एव भवेदिति रसनिबन्धनमेव प्रधानं मन्यमानेन काव्यकर्त्रा एवं विधस्येतिवृत्तस्य उपनिबन्धनं परिहर्तव्यमेव परिहरणीयमेव ॥

वक्तृतात्पर्यविषयीभूते रसे पिरपोषं प्राप्ते सित तत्र विरोधिरसानां यान्यङ्गानि तेषां बाध्यत्वेन सन्निवेशे दोषाभावमुदाहरति—यथेति । क्वेति । विक्रमोर्वशीये चतुर्थेऽङ्के उर्वशीं द्या पुरूरवस इदं वचनम्। अकार्यं मुनि-कन्यायां आसक्तिरूपं क, शशलक्ष्मणश्चन्द्रस्य कुलं च 🖷 ? अत शान्तरस-व्यभिचारिणो वितर्कस्य प्रतीतिः । सा अतिशयितरूपलावण्या उर्वश्वी, भूयोऽि पुनरिष, इश्येत दृष्टिगोच रा भवेत् । अत्र शृङ्गारसञ्चारिणा औत्सुक्येन वितर्को बाध्यते । नः अस्माकं श्रुतं शास्त्रलक्षणं, दोषाणां प्रमादादीनां, प्रशमायोपश-मनाय । अत्र शान्तसञ्चारिणा मत्या शृङ्गारसञ्चायौत्सुक्यं बाध्यते । अहो! अ। अर्यं ! तस्या उर्वश्या मूखं वदनं, कोपेऽनि कान्तमनोज्ञम् । स्मरगोनात्र मतेबधिनम् । अपनत्मषाः अपगतं कल्मषं पापकमं येभ्यस्तादशाः, कृतिधयः पण्डिताः कि वक्ष्यन्ति । अत्र शङ्कपा शान्तव्यभिचारिण्या स्मृतिर्बाघ्यते । सा उर्वशी स्वप्नेऽपि दुरुभा दुष्प्रापा। दैन्येन शङ्काया बाध:। हे चेतः। स्वास्थ्यं स्वस्थतां, उपैहि प्राप्नुहि । अत्र धृत्या दैन्यस्य बाधः । कः खलु धन्यो युवा तरुणः पास्यति । अत्र शृङ्गारसञ्चारिण्या चिन्तया, शान्तरससञ्चारिण्या धृतेबिधः । अत्र, उत्तरोत्तरसञ्चारिणा पूर्वपूर्वस्य बाध्यत्वेनोपवर्णनात् विरुद्धरसाङ्गानामुक्तिनं दोषमावहति।

उदाहरणान्तरमाह - यथावेति । वादम्बर्यां पुण्डरीकस्य महाक्वेतां प्रति

भ्रमिमरितमलसहद्वयतां प्रलयं मूच्छी तमः शरीरसादय्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसद्ध कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥ इस्यादौ।
समारोपितायानप्यविरोधो यथा—पाण्डुक्षःमिनत्यादौ।
यथा दा—"कोपात् कोमललोलबाहलतिकापाशेन" इस्यादौ।

उज्जीवनी ।

प्रवृत्ती निर्भरो गाढीऽनुरागः, द्वितीयमुनिकुमारकस्य किषक्षलस्यो ग्देशः, तस्य वर्णने किषक्षलकर्नृ केनोपदेशवचनेन प्रतीतानाः शृङ्गाररसिवरोधिशास्तरस-स्याङ्गभूतानां निर्वेदादीनां बाध्यत्वेनोपवर्णनाद् अनुरागस्य दार्ढ यमेवेति न दोषः।

स्वाभाविक्यां स्वभावत एवं विरोधिरसाङ्गानां प्रकृतरसाङ्गभावो यत्र भवति, तादशमुदाहरति—भ्रमिमिति । द्वितोयोदद्योते व्याख्यातिमदं पद्यम् । अत्र विप्रलम्भशृङ्गारस्मविरोधिनः कष्णस्याङ्गानां भ्रम्यादीनां स्त्रभावतो विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गभावं प्राप्तानामुक्तिरिप न दोषाय ।

अङ्गभावप्राप्तावारोपितायामपि विरोधिरसाङ्गानां विरोधाभावपुराक् हरित—यथेति । पाण्डुक्षामिति ।

पाण्डु क्षामं वदनं, हृदयं सरसं, तवालसं च वपुः। आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सिखः! हृदन्तः ॥

नायिकां प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे सिख! तव वदनं मुखं पाण्डु शुभ्रं, क्षामं कृशं च, हृदयं सरसं सानुरागं, अन्नरसमिहितं च, वपुश्च शरोर, च, अनसं आनस्ययुक्तं, पाण्डु वदनं, सरसं हृदयं, अनसं शरोरं च, (कर्तृ) हृदन्तः हृदयमध्ये क्षेत्रियरोगं क्षेत्रान्तरे देहान्तरे चिकित्स्यं देहपर्यन्तस्थायोशि यावत् । नितान्तमावेदयित सूचयित । अत्र राजयक्ष्मादिरोगाणां करुणरसानु-भावत्वेन विरुद्धत्वेऽपि विप्रलम्भशृङ्गारे समारोपात् अङ्गभावप्राष्ट्या तेषामुक्तिनं दोषाय ॥

वस्तुतस्तु पाण्डुत्वादीनां करुणविप्रलम्भोभयरससाधारणतया विरोधाः भावेन अङ्गभावारोपो न सम्भवतीति, उदाहरणान्तरमाह—कोपादिति। च्याख्यातमिदं प्राग् द्वितीयोद्द्योते। अत्र प्रकृतस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य विरोधी इनं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या, यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोभवियोर्वा परस्परिवरोधिनोर्द्धयोरङ्गभावगमनं तस्यामिप न दोषः।

यशोक्तं 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादौ । कथं तत्राविरोध इति चेत्, द्वयोरपि तयोरन्योन्यपरत्वेन व्यवस्थानात् ।

अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधितवृत्तिरिति चेत्, उच्यते—विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं नानुवादे ! यथा—

उज्जीवनी।

यो रौद्ररसस्तस्याङ्गानां कोपादीनां विश्वलम्बाङ्गत्वसमारोपादङ्गभाव-प्राप्त्या निर्दोषत्वम् । अङ्गभावश्राप्तेरन्यां विधामाह—इयमिति । अधिकारित्वात् प्रकृतत्वात्, वाक्यार्थे, वाक्यतात्पर्यविषयीभूते एकस्मिन् प्रधानेऽर्थे, परस्परविरोधिनोः रसयो गीवयोवी, द्वयोरप्यङगत्वोक्तिस्तस्यामपि अङ्गभावप्राप्ताविप न दोषः इति इयं चान्या अङ्गभावप्राप्तिस्तृतीया भवति । उदाहरति—ययोक्तमिति । क्षिप्त इति ।

> क्षिप्तो हस्नावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तं गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नैक्षितः सम्भ्रमेण । आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्चनेत्रोत्पलाभिः कामीवाद्रीपराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

अमरुकशतकस्य मिद पद्यम् । य आद्रीपराधः आद्रैः तत्कालकृतः अपराधः यस्य तादशः कश्चित् कामीव कामुक इव हस्तावलग्नः हस्ते लग्नः । साश्चनेत्रोत्पलाभिः अश्रुणा सिहते नैत्रोत्पले यासां तादगीभिः त्रिपुराणां कामिनीभिः क्षिप्तः तिरस्कृतः (प्रक्षिप्तः) प्रसभं बलाद् अंशुकान्तं अशुकस्य वस्त्रस्य प्रान्तं, आददानः गृह्णत् अभिहतस्ताडितः । तथा केशेषु गृह्णत् अपास्तः दूरोकृतः चरणिनपतितः चरणयोनिपतितः सम्भ्रमेण भयेन, नेक्षितः नावलोकितः, आलिङ्गन् अवधूतो, निराकृतश्च सित्रपुरदाहकालभवः, शाम्भवः शम्भुसम्बन्धो, शराग्नः बाणाग्नः वा युष्माकं दुरितं पापं, दहतु भस्मी-करोतु । अत्र त्रिपुरसिपुप्रभावातिशयस्य प्रवानवात्र्यार्थस्य परस्परविरोधिनौ

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर । एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रोडन्ति धनिनोऽथिभिः । इत्यादौ ।

अत्र हि निधिप्रतिषेथयोरत्यमानत्वेन समावेशे न विरोधः तथेहापि अविष्यति । श्लोके ह्यस्मिन् ईर्ष्याविष्रसम्भशृङ्गारकरुणवस्तुनोनं विधीयमान-स्वम् । त्रिपुरिपुप्रभावातिशयस्य वानयार्थत्वात् तदङ्गत्वेन च सयोर्ध्यदस्थाः नात् ।

न च रतेषु विष्यनुवादव्यवहारी नास्तीति शक्यं वक्तुम्; तेषां वाक्यार्थ-त्वेनाभ्युपगमात् । वाक्याथस्य वाच्यस्य च यो विष्यनुवादौ तौ, तदाक्षितानां रसानां केन वार्थेते । यैर्वा साक्षात् काव्यार्थताः रतादीनां नाभ्युपगम्यते, तैस्तेषां तिन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या । तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः—

उज्जीवनी।

शृङ्गारक रुणावङ्गभावं प्राप्ताविति न दोषाय भवतः । तत्राविरोधः विरोधरहितत्वं कथमिति चेत् द्वयोरित तयोः शृङ्गारक रुणयोः अन्यपरत्वे न प्रधानवाक्य। यीङ्गात्वेन व्यवस्थानात् व्यवस्थितत्वात् । अन्यपरत्वेऽित कथं विरोधिनोस्तयोविरोधो निवतत इति चेदुच्यते—विरुद्धसमावेशस्य विरुद्धयो रसयोरेकत्रोपनिवन्धनस्य, विधौ विधिविषये दुष्टत्वं दोषः । अनुवादे तु उद्देश्यतायां तु न
दोषः । उदाहरति—यथेति । एहीति । पञ्चतन्त्रे पद्यमिदं दश्यते । धनिनो
धनिका नराः, एहि आगच्छ, गच्छ, पत्, उत्तिष्ठ, वद, मौनं समाचर, इति
आशाग्रहग्रस्तैः आशारूपेण ग्रहेण, ग्रस्तैः आकान्तैः, अतिथिभिः याचकैः सह
क्रीडन्ति ।

अत्र क्रीडाङ्गत्वेनोगात्तयोः विरुद्धस्वभावयोरिष आगमनगमनयोः, पतनोत्थानयोः, वचनमौनाचरणयोश्च क्रीडातिशयकारित्वात् विरोधोः नास्त्येव।

अत्रास्मिन् पद्ये विधिप्रतिषेषयोः 'एहि, गच्छे त्यादिपदप्रतिपाद्ययोरर्थं-योरागमनगमनयोरनूद्यमानत्वेन विधेयतया, प्रधानभूतायाः क्रीडाया उद्देश्यत्वेन समावेशे यथा दोषो नास्ति तथा, इहापि क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यत्रापि भविष्यति । अस्मिन् पद्ये हि ईष्याविष्ठलम्भशुङ्गारस्य करुणस्य च वस्तुनः, यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तुसहनारिणो विधोयमानांशाष्ट्र भावविशेषप्रतीतिरुत्यदे ततश्च न कश्चिद्विरोधः । दश्यते हि विक्छोभयमह-कारिणः कारणात् कार्यविशेषोत्मित्तः ॥ विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेशस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहक।रित्वम् । एवंतिधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत्, अनुद्यमानैवंविधवाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति । एवं विष्यनुवादनयाश्रयेणात श्लोके परिहृतस्यावद्वि-रोधः !

उज्जीवनी

विधीयमानत्वं विधेयत्वं नास्ति । त्रिपुरिष्पोः शिवस्य यः प्रभावातिशयस्तस्य वान्यार्थत्वात् तदङ्गत्वेन, ईर्ध्याविष्ठलम्भक्रहणयोव्यंवस्थानात् व्यवस्थितेः । विश्वदेयोर्द्ययेर्पुगपद् विधीयमानताया एव अनुपपद्यमानत्वात् ।

ननु विधायमानत्वानुद्यमानत्वव्यवहारो वाच्य एव भवति, न तु व्यङ्ग्ये इत्याशङ्काया अयुक्ततामाह--न चेति । रसेषु प्रतीयमानेषु रत्यादिषु विध्यनु-बादव्यवहार: उद्देश्यविधेयभावः, नास्तीति वक्तुं न शक्यम् । तत्र हेतुमाह — तेषामिति । तेषां रसादीनामपि वाक्यार्थत्वेन वाक्यजन्यबोधविषयार्थत्वेना-भ्युपगमादङ्गीकारात्। वाक्यार्थस्य वाक्यजन्यप्रतीतिविषयस्य, वाच्यस्य वाक्यार्थस्य च वाक्यालङ्कारे। यो विध्यनुवादी विधिरनुवादश्च तावेव, तदाक्षिप्तानां वाक्यार्थाक्षिप्तानां रसानां, निवारियतुं न शक्येते । ये तु रसादीनां रसभावादीनां काव्यार्थत्वं साक्षादव्यवधानेन वा नाम्युपगम्यते न स्वीक्रियते, तैः, तेषां रसभावादीनां तिम्निमित्तता वाच्यार्थभूतविभाव।दिसहकःरित्वं तावदवश्यमङ्गीकरणीयमेव । तथापि निमित्तत्वाङ्गीकारेऽपि, अत्र क्षिप्तो हस्तावलग्न' इति श्लोके विरोघो नास्ति । कुत इति चेदुच्यते यस्मादिति । यस्मात् यतः, अनुद्यमानानि उद्देश्यत्वेन विषयीभूतानि यान्यङ्गानि निमित्तानि कारणानि विभावादीनि यस्य तादशम् । यदुभयरसवस्तु करुणवित्रलम्भोभय रसवत्वात्मकं वस्तु सहकारिकारणं यस्यतादशात्, विधीयमानाशाद्श ाम्भव-शरविद्वकृतद्रितदाहरूपात् भावविशेषप्रतीतिः ईश्वरविषयकरित्ररूपस्य भावस्य प्रतीतिर्जायते, तत्रश्च कश्चिदपि विरोधो नास्ति । विरुद्धोभयसह-कारिणः विरुद्धं उभयं सहकारि यस्य तादशात् कारणात् कार्यविशेषस्योत्पत्ति- किश्व नायकस्याभिनन्दनोदयस्य कस्यचि प्रभावातिशयवणंने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लब्यमादधाति, प्रत्युत प्रीत्यतिशयिनिम्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्टशक्तिकत्वात्तिहरोधविधायिनो न कश्चिद्दोषः । तस्माद् वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधो यो रसः स रस्विरोधीति वक्तुं ज्याय्यः, न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित्।

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य ताद्धोन शृङ्कार-वस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते । यतः प्रकृति-

उज्जीवनी ।

र्षे स्यत एव । शीतस्पर्शवज्ञानं, उष्णस्पर्शवने मुख्य, एरस्परिविहद्धं तथापि तयोरमयोः सहकारेण, तण्डुलादौ विक्लेदादिः कायंविशेशो जायत इत्यर्थः। वस्तुतस्तु इदमेव विरुद्धम् । यदेकस्य कारणस्य युगपदे हस्मिन्नेव क्षणो विरुद्धा-नेककार्योत्पादनहेतुत्वम् । न तु विरुद्धयारुभयोः सहकारित्वम् । नन्वस्तु विरुद्धाभ्यामुभाभ्यां कारणाभ्यां कार्यस्यैकस्योत्पत्तिः, तथापि विरुद्धपदार्थः विषयोऽभिनयः कथं प्रयोक्तुं शक्यते इति चेत्, अनुद्यमानस्यवंविधस्य "एहि, गच्छे" त्यादि वाक्यजन्यबोधविषयस्यागमनगमनरूपस्य वाज्यस्य विषये या वार्ता प्रवृत्तिः सा अत्रापि 'क्षिप्त' इत्यत्रापि भविष्यति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, विष्यनुवादनयमाश्चित्य, अत्र श्लोके "क्षिप्तो हस्तावलग्न" इत्यत्र विरोधः परिहृतो भवति ।

प्रकारान्तरेणापि रसिवरोधगरिहारं प्रदर्शियतुमाह — किञ्चेति । अभिनन्द नियोदयस्य अभिनन्दनीयः अनुमोदनीयः उदय उत्कर्षो यस्य तादशस्य कस्यिचन्नायकस्य, प्रभावातिशयवर्णनं वीररसानुभावादोनां वर्णने प्रस्तुते सित तत्प्रतिपञ्चाणां तिद्दिरोधिनां प्रतिनायकानां यः वर्ण्यमानः करुणो रस आस्वाद-विषयः शोकाख्यः स्थायी स परीक्षकाणां विवेकवतां सहृदयानां वैक्रुब्यमरुचि न आदधाति न करोति । प्रत्युत तिद्वपरीतत्या प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रीत्यतिश्यस्यानन्दातिरेकस्य, निमित्ततां कारणव्यं प्रतिपद्यते प्राप्नोति । इत्यतः इति हेतोः कुण्ठशक्तिकत्वात् कुण्ठा प्रतिरद्धा शक्तिर्यस्य तादशस्य भावात् । तस्य करुगस्य, तिद्दरोधविधायिनः तस्य प्रधानभूतस्य वीरस्य विरोधं कुर्वतः, किश्चिदपि दोषो नास्ति । पर्यवसितमाह—तस्मादिति । तस्मात् उक्ताद् हेतोः

मधुराः पदार्थाः शोचतीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः स्मर्यमाणैः विलासै-रिकतरं शोकावेगमुपजनयन्ति । यथा—

> अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविश्वर्दनः । नाभ्यूरुजधनस्पर्शी नीवीविस्नंसनः करः ।। इत्यादी ।

तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्तिराद्रीपराधः कामी यशाव्यवहरति सम तथा व्याहतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निविरोधत्वम् । तस्याद् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः ।

उज्जीवनी।

वाक्यार्थीभूतस्य प्रधानतया वःकाजन्यबोधविषयस्य रसस्य भावस्य वा यो विरोधी स रसविरोधीति वक्तुमुचितम्। अङ्गभूतस्य कस्यचिद् यो विरोधी स तु विरोधीति वक्तुं न युक्तम्।।

'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यत्र प्रकारान्तरेणापि विरोधपरिहारमाह-वाक्यार्थीभूतस्य।पि प्रधानवाक्यार्थस्यापि करुणरपविषयस्य कस्यचिद् वस्तुनः, ताद्दशेन वाक्यार्थीभूतेनैव शृङ्गारवस्तुना सह भङ्गि-विशेषाश्रयेण विच्छित्तिविशेषमाश्रित्य संयोजन वर्णनं रसस्य परिपोषायैव जायते, रसपोषं जनयत्येवेति यावत्। तत्र कारणम् प्रदर्शयति --- यत इति। यतः यस्मात् कारणात् प्रकृतिमधुराः प्रकृत्या स्वत एवा ह्लादकाश्चितद्रुतिहेतवः पदार्थाः, शोचनीयतां शोच्यतां प्राप्ताः, प्रागवस्थानाविभिः पूर्वानुभूतैः, स्मर्यमाणैः स्मृतिविषयीभवद्भिश्च विलासैः सहकारिभिः, अधिकतरमत्यन्त-मधिकं शोकावेशं उपजनयन्ति । उदाहरति—यथेति । अयमिति । महाभारते चत्रविशेऽध्याये रणभूमिपतितं भूरिश्रवसिछःनं हस्तमादाय तद्वधूप्रलापोक्तिरियम् । अयं इदानीं पुरो भूमौ निपतितो दश्यमान एतादशीं दूर-वस्थां प्राप्तः स पूर्वान्भूतरशनोत्कर्षणादिस्मृतिविषयः करः हस्तः रशनोत्कर्षी रशनायाः काञ्चचा आकर्षकः पीनयोः स्तनयोः विमर्दकारी, नाभि ऊरु, जघनं च स्प्रब्टुं शीलमस्येति ताइशो भवति । अत्र नायिकाविषयः नायकाश्रयः शृङ्गारः स्मृतिविषयः वाक्यार्थस्यैव करुणरसस्य पोषक एव भवति । तत् तस्मात् अत्र 'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इत्यादौ त्रिपुरस्त्रीणां शाम्भवः शराग्निः बाणाग्निः आद्रीपराधः सद्य एव कृतापराधः, कामी कामूको यथा व्यवहरति इत्यं च -

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः पादैः पातितयावकैरिव गलद्वाष्पाग्बुधौताननाः ॥ भौता भर्तृ करावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना दादाग्नि परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहाइव ॥

इत्येवसादोनां सर्वेषामेव निविदोधत्वभवगन्तव्यम्।!

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभि: समावेशासमावेशयोविषयविशागौ दशित:।

इदानीं तेषामेकप्रबन्धनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते —

उज्जीवनी।

स्म प्रावर्तत, तथा तेन प्रकारेण व्यवहृतवानिति अनेनापि प्रकारेण भङ्गचा प्रतिपादनेन निर्विरोधत्वं अस्त्येव शुङ्गारक्रहणयोविरोधो नास्त्येवेत्नर्थः। तस्मात् यथा यथा निरूप्यते निरूपे भङ्गिभेदा आश्रीयन्ते तथा तथा अत्र दोषाभाव उपपादयितं शक्यते । इत्थं चेति । क्रामन्त्य इति । राजानं प्रति व वेरुक्ति स्यम् । राजन् ! अधुना इदानीं त्वद्वैरिनार्यः तव शत्रुख्यियः अत-कोमलाङ्गुलिगलद्रक्तः क्षताभ्यो विद्धाभ्यः, कोमलाङ्गुलिभ्यः गलद्रक्तं येषु तास्शै:, पातितयावकै: इव पातितः दत्तः यावकः येषु तास्शैरिव, पादेश्चरणै: सदर्भाः सदर्भाङ्कुराः स्थलीः प्रदेशान्, क्रामन्त्यः अतिक्रामन्त्यः, गलद्बाष्पाम्बु धीतानना: गलता बाष्पाम्ब्रना अश्रुणा घीतं क्षालितं आननं यासां तादशाः भीता भययुक्ताः, भर्तृ करावलम्बितकराः भर्तुः पत्युः, करेण हस्तैन, अव-लिम्बतः करो यासां ताहरयः । अत एव पुनरिष भूयोऽिष, उद्यद्विवाहाः उद्यन् जायमानः विवाहः यासां ताद्यय इव । दावारिन वनविह्न विवाहारिन च परित: भ्रमन्ति परिक्रामन्ति । अत राजविषयरतिभाव: प्रधानम् । करुणविप्रसम्भयोस्तु तदञ्जभावेन विरोधपरिहारः । एवमुक्तप्रकारेण, रसादीनां रसभावादोनां, विरोधिरसादिविरुद्धै रसैभविवा समावेशासमावेशयोः यत्र समावेशो युक्तः, यत्रानुचित इति विषयविभागः दिशितः प्रदर्शितः ॥

प्रसिद्धेऽपि प्रवन्थानां नानारसिनवन्धने । एको रसोऽङ्गीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥ २१ ॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु विप्रकीणंतयाङ्ग ङ्गिभावेन बहवी रसा उपनिवध्यन्त इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामिष थः प्रवन्यानां छाणाति गययोग-मिच्छित तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद्धिविक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशिय-तव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः।

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमे कस्याङ्गिता न विरुध्यतः इत्याशङ्क्येदमुच्यते—

उज्जीवनी

विरोधिनां रसादीनां एकस्थिन् प्रबन्धे निवेशनस्य क्रममाह—इदानीमिति। इदानीं रसादीनां मिथो विरोधस्य तत्परिह।रक्रमस्य च निरूपणानन्तरं
तेषां रसभावादीनां एकस्मिन् प्रबन्धे निवेशने न्याय्य उचितः यः क्रमस्तं
प्रतिपाद्ययितुं उच्यते—प्रसिद्धेऽपीति । प्रबन्धानां काव्यनाटकादीनां
नानारसिन्बन्धने नानारसानां बहूनां रसादीनां समावेशने प्रसिद्धेऽपिन्
तेषां काव्यनाटकादीनां उत्कर्षं प्रकर्षं, इच्छताभिरूषता कविना
एको रसोऽङ्गीवर्तव्यः अङ्गिदवेनैको रसः कल्पनीयः तदेवाह —प्रबन्धेष्विति ।
प्रबन्धेषु महाकाव्येषु, नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतया परितो विकीर्णत्वेन, बहवः
अनेके रसाः शृङ्गारादयः । अङ्गाङ्गिभावेन उपनिबच्यन्त इति प्रसिद्धौ
सत्यामपि प्रसिद्धे, यः कविः प्रबन्धानां काव्यनाटकादीनां छायः तिशययोगं
शोभातिशयस्य योगं, इच्छित अभिन्षपति । तेन कविना तेषां रसानां
शृङ्गारादीनाम् । अन्यतमो बहुष्वेकः, विविक्षितः वक्तृतात्पर्यविषयः,
कश्चिदेको रसः अङ्गित्वेन प्रधानत्वेन, निवेशियतव्यः विधातव्य इत्ययं मार्गं
एवात्यन्तं युक्तः।

सत्सु बहुषु रसेषु एकस्याङ्कित्वे विशेषमाशङ्क्र्य परिहरित निविति। बहुषु रसान्तरेषु अत्येषु रसेषु प्राप्तपरियोषेषु परियोषं प्राप्तवत्सु, एकस्य रसस्य। अङ्गित्वं प्राधान्यं कथं न विरुध्यत इत्यशाङ्क्र्य तत्परिहाराय इदमुच्यत रतान्तरसमादेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः । नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावसासितः ॥ २२ ॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तृतः सन् पुनरनुसन्धीयमानत्वेत स्थायी यो **पस**स्तस्य सकलप्रबन्धव्यापिनो रपान्तरंगन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स**ा**ङ्गितामुप-हन्ति ।

एतदेवोपपादयितुमुच्यते -

कार्य मेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते । तथा रसस्यापि विधी विरोधी नैव विद्यते ॥ २३ ॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धगरीरस्य यथा कार्यमे कमनुवायि व्यापकं कल्प्यते, न च कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्यान्येवस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित्। प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते।

उज्जीवनी ।

इत्याह - रसान्तरेति । प्रस्तुतस्य प्राधान्येन विवर्णयिषितस्यरसस्य श्रुङ्गारादेः रसान्तरसमावेशः रसान्तराणामन्येषां रसानां समावेशः निबन्धनम् । ण समावेशःस्थायित्वेनावभासिनःभासमानस्य अस्य प्रस्तुतरसस्य,अङ्गितामङ्गित्वं नोपहन्ति न निरुणि । तदेवाह प्रबन्धेष्विति । प्रबन्धेषु महाकाव्यनाटका दिषु प्रथमतरमादावेव, प्रस्तुतः सन् वर्णनविषयीभूतः सन्, पुनःपुनरनुसन्धीयमानन्वेन मुहुर्मुहुरनुसन्धीयमानविषयत्वेन, स्थायी स्थिरतशे यो रसस्तस्य सकत्र-बन्धव्यापिनः समस्तमपि प्रबन्धं व्याप्यावतिष्ठमानस्य, अन्तराखवितिभः मध्यवितिभः, रसान्तरैर्यः समावेशः, स प्रस्तुतरसस्याङ्गित्वं नोपहन्ति । एतदिति । एतदिति । एतदिति । पतदिवित । उपपादियतुं विशदीकर्नुं उच्यते कथ्यते । कार्यमिति । प्रबन्धस्य काव्यनाटकादेः, व्यापि सर्वप्रवन्धव्यापनशीलं, एकं कार्यं, कथावस्तु, विधीयते क्रियते । तथा रसस्यापि, व्यापकस्य विधी, विरोधो न विद्यते नास्तीत्यर्थः । सन्ध्यादीति । सन्ध्यादिमयस्य, मुखादिपञ्चसन्धिसमन्वितस्य, प्रबन्ध शरीरस्य प्रबन्धारमकशरीरस्य, कार्यमेकम् । व्यापकं व्याप्यावस्थितं

नतु येषां रक्षानां परस्परितरोधः, यथा—वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गार-हास्ययोः, षीद्रशृङ्गारयोः, वीराद्भुनयोः, वीररौद्रयोः, रौद्रकरुणयोः, शृङ्गाराद्भुतयोवीं तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः। तेषां तु स कथं भवेद् येगां परस्परं बाध्यबाधकभावः। यथा—शृङ्गारबीभत्सयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तगृङ्गारयोः वा इत्याशङ्कभेदमुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे । परिपोषं न नेतव्यस्तया स्यादविरोधिता ॥ २४ ॥

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सित अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः । तत्राविरोधिनो रसस्याङ्गिरसापेअयात्यन्त-माधिवयं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः । उत्कर्षसाम्येऽपि तयोविरोधासम्भवात्।

उज्जीवनी ।

यथा कल्प्यते, तच्च कार्यान्तरैः, अन्यैः कार्यैः, न सङ्कीर्यते न सङ्कीर्णो भवित, तैः कार्यान्तरैः सङ्कीयमाणस्यापि तस्य कार्यस्य प्रस्तुतस्य, प्राधान्यं नापचीयते न क्षीयते, तथैव तत्सादृश्येनैव, एकस्य रसस्य, रसान्तरैः सङ्कीर्यमाणस्यापि, सन्निवेशे क्रियमाणे न कश्चिद् विशेषः । प्रत्युत, प्रत्युदित-विवेकानां विवेकशालिनां, अनुसन्धानवतां स्मृतिमतां, सचेतसां सहृदयानाम् । तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयो लोकोत्तरचमत्कारातिशयः, प्रवर्तते सहृदयानाम्। नामानन्दातिशयो जायत इति यावत् ।

विरुद्धयोरिप रसयोः परस्परिवरोधेन सिन्नवेशप्रकारं प्रदर्शयितुमाह— निवित । वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गारहास्ययोः श्रोद्रशृङ्गारयोः, वीराद्भुतयोः, वीरशेद्रयोः, रोद्रकरुणयोः, शृङ्गाराद्भुतयोर्वा परस्परं विरोधरिहतयोः समावेशे अङ्गाङ्गिभावो यद्यपि सुवचस्तथापि येषां परस्परं बाध्यबाधक-रूपोऽत्यन्तविरोधस्तेषां तु रसानां कथमितरोधः सम्पादियतुं शक्यते । यथा— श्रुङ्गारबीभत्सयोः, वीरभवानकयोः, शान्तरोद्धयोः, शान्तशृङ्गारयोवि इत्याशङ्कायां समाधोयते—अविरोधीति । रसान्तरे अन्यस्मिन् रसे अङ्गिनि प्रधाने सित, अविरोधी मिथो विरोधशून्यः, विरोधो वा रसः, परिपोषं पृष्टि, वृतीय उद्द्योत:

थथा—एवकंती रुझइ पिआ अण्णन्ती समरतूरणिश्घोसी। रोहेण रणरसेण अभडस्स दोलाइअं हिअअम्॥

यथा वा-

कण्ठा चिछ्त्वाक्षमालावलयमिह करे हारमावर्तयन्ती कृत्वा पर्यञ्कवन्धं विषधरवितन मेखलाया गुरोन । मिध्यामन्त्राक्षिजापस्फुरदधरपुटव्यक्षिताव्यक्तहासा देवी सन्ध्याम्यसूयाहसितपशुपितस्तत्र दष्टा तु वोऽव्यात् ॥

इत्यत्र ॥

उज्जीवनी।

न नेतब्यः न प्रापणीयः, तथा चेत् अविरोधिता विरोधितिहारः स्यादेव। तदेवाह—अङ्गिनि रसान्तरे, शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सित, अविरोधी विरोधी वा रसः, परिवोषं न नेतव्यः इति। तत्र परिवोषप्रकारेषु, अविरुद्धस्य रसस्य, अङ्गिरसापेक्षयाः अत्यन्तमाधिक्यं न करणोयिनत्ययं परिवोषस्य पित्रारः प्रथमः। एवं कृते तयोह्तक्षंस्य समानत्वेऽपि विरोधो न सम्भवति। यथेति। एककंतो इति।

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरत्यं निर्घोषः । स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥

अत्र प्रिया रोदितीत्यनेन रतेरुत्कर्षः । अन्यतः समरतूर्यनिघोषश्रविगने भटस्य उत्साहोत्कर्षः अत्राविरुद्धयोः शृङ्गारवीरयोः अन्यतरस्याधिक्या-करणात् तयोः उत्कर्षस्य समत्वात् विरोधो न सम्भवति ।

उदाहरणान्तरमाह—कण्ठादिति । पार्वतीस्तुतिपरिमदं पद्यम् । कण्ठात् गलात्, हारं मालां, छित्वा करे, अक्षमालावलयिमव, जपमालावलयिमव, आवर्तयन्ती चालयन्ती, मेखलायाः काञ्चचा गुरोत रज्ज्वाः एव विषधरपितना सर्पराजेनः पर्यञ्कवन्धं आसनबन्धविशेषं कृत्वा, मिथ्या व्याजेनः मन्तस्याभि-जापेन जपेन, स्फुरन् चलन्, योऽधरपुटः तेन व्यञ्जितः प्रकाशितः, अव्यक्तः हासः यस्यास्तादशो, सन्ध्यायां सपत्न्यां अभ्यसूयया हसितः परिहसितः पशु- अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्रश्चिर्येणानिवेशनं, निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरसव्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः ।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः । अनया दिशान्येऽपि उत्प्रेक्षणोयाः । विरोधिनस्तु रसस्या-ङ्गिरसापेक्षया कस्यचित् न्यूनता सम्पादनीया । परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्विमिति चेद्—उक्तमत्राङ्गाङ्गिरसापे अयेति । अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषः तावांस्तस्य न कर्तव्यः, स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते ।

उज्जीवनी।

पति:शिवः यया ताहशी, देवी पार्वती, तत्र, यत्र शिवः सन्ध्यामुपास्त तस्मिन् देशे, दृष्टा अवलोकिता, वो यूष्मान्, अव्यात् पालयत् ॥

अत्राविरुद्धयोहिस्यश्रुङ्गारयोः, उत्कर्षस्य साम्येनैकत्र वर्णनेऽपि विरोधो न सम्भवति ।

अङ्गिरसविरुद्धानां अङ्गिनो रसस्य ये विरोधिनस्तेषां व्यभिचारिणां सञ्चारिभावानां, प्राचुर्येण बाहुत्येन, अनिवेशनं निवेशाभावः, कार्यः । निवेशनेऽपि वा, क्षिप्रमेव शीद्ययेत्र, अङ्गिनो रसस्य व्यभिचारिणां भावाना-मनुवृत्तिः अनुवर्तनमिति द्वितीयः परिपोषपरिहारः ॥

परिपोषं पृष्टि, नीयमानस्यापि प्राप्यमाणस्यापि अङ्गभूतस्य रसस्यः अङ्गत्वेन पृनः पृनः मुहुर्मुं हुः प्रत्यवेक्षा परीक्षणं कर्तव्यमिति तृतीयः परिपोष-परिहारः । अनया दिशा अनेन मार्गेणः अन्येऽपि परिपोषपरिहारप्रकाराः उत्प्रेक्षणीया अवगन्तन्याः । एतावता अविरोधिनो रसयोरेकत्र समावेशेऽपि प्रधानेतरस्य रसस्य परिपोषपरिहारेणाविरोधमुपपाद्यः, विरोधिनो रसयोरेकत निबन्धने विरोधपरिहारप्रकारमाह—विरोधिनस्तिवति । यो विरोधी रसस्तस्य कस्यचिद् अङ्गिरसापेक्षया न्यूनता सम्पादनीया । यथा शान्ते रसेऽङ्गिनि सति शृङ्गारस्य न्यूनता, शृङ्गारे रसेऽङ्गिनि शान्तस्य वा न्यूनता सम्पादनीया । विराधी पर्यसमावेशस्थले, अङ्गिरसापेक्षयान्यस्य रसस्य परिपोषपरिहार एव।भिलिषतः । अङ्गिनः प्रधानस्य हि रसस्य यावान् यादशः परिपोषः

एत क्षेत्रिकं प्रकर्ष गोतित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसाना-मङ्गाङ्गिभावसम्युरगच्छताष्यशतयप्रतिपक्षमित्यतेत प्रकारेणाविरोधिनां च रसानामञ्जाङ्गिभावेत समावेशे प्रबन्धेषु स्यादिवरोधः । एतज्ञ सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यक्तिचारो भवति इति दर्शनं तन्मते गोच्यते । मतान्तरेऽपि रसानां स्थायनो भावा उपचाराद् रक्षशब्देनोक्तास्तेयामङ्गत्वं निविरोधमेत ॥

एवमिवरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनः ङ्गिता रसेन समावेशे साधारण-मविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव तं प्रतिपादिषतुनिदमुच्यते—

विरुद्धैकाश्रयां यस्तु विरोधी स्थायनो भवेत् । स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥ २५ ॥

ऐकाधिकरण्यविरोधो, नैरन्तर्यविरोधो चेनि द्विविधो विरोधी, तत्र प्रबन्धस्थे। स्थायिना अङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो

उज्जीवनी ।

तावान् तादशः परिपोषः अङ्गस्य रसस्य न कर्तव्यः । स्वतः सम्भवो परिपोषस्तु केन व यंते ? वारियतुं न शक्यमित्यर्थः । बहुरसेषु अनेकरसेषु प्रबन्धेषु, रसानामङ्गाङ्गिभाव यो नाभ्युपगच्छित तेनापि अङ्गरसापेक्षया एकस्य प्रकर्षयोगित्वं प्रकर्षवत्त्वं प्रतिक्षेष्तुं न शक्यमित्यतः अनेन प्रकारेण, अविरोधिनां विरोधिनां वा रसानामङ्गाङ्गिभावेत प्रबन्धेषु समावेशे निबन्धके विरोधो न भवेत् । एतत् पूर्वमुक्तं सर्वं च सर्वमिष, येषां मते नानारससमवधाने कश्चिद् रसो रसान्तरस्य व्यभिचारिभावो भवतीति दर्शनं तन्मतानुसारेणेणति ज्ञातव्यम् । मतान्तरेतु अङ्गरसानां व्यभिचारित्वाभ्युपग्निन्ते तु, रसानामङ्गभूतानां स्थायिनो ये भावास्त एव रसशब्देन लक्ष्यन्त इति तेषां स्थायिभावत्वं प्राप्तानाम् अङ्गत्वं निविरोधमेव, अङ्गत्वे विरोधो नास्त्येवेति यावत् ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण प्रवन्धस्थे । एकप्रवन्धसन्तिवेशितेन अङ्गिना प्रधानेन रसेन सह, अविरोधिनां विरोधिनां च रसानां समावेशे विरोध्यविरोध्युभय-रससाधारणो विरोधपरिहारोपायः प्रतिपादितः । इदानीं विरोधिनासेव रसानामविरोधो ॥यप्रतिपादनायेदमुच्यते—विरुद्धेति ।

विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्थः । तस्य वीरस्य यः आश्रयः कथानायकः, तद्विपक्षविषये सन्निवेशियतव्यः ।

तथा सित च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः सः निर्दोषः । विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतितः भवति । एतञ्च मदीथेऽर्जु नचितिऽर्जु नस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशदोन प्रदिशतम् ।

उज्जीवनी।

यस्तु आस्वाद्यमानः स्थायी विरुद्धैकाश्रयः विरुद्ध एक आश्रयो यस्य तादराः स स्थायी विशिन्नाश्रयः विभिन्नः आश्रयः यस्य तथाविधः कार्यः करणीयः । अतस्तस्य स्थायिनः पोषेऽपि परिपोषवणंनेऽपि, अदोषता स्यात् दोषः परिहृतो भवति । विश्वदीकरोतिविरुद्ध इति । विरोधो द्विविवः --ऐक धिकरण्यविरोधः, एकाधिकरणवृत्तित्वविरोध। एक:, नैरन्तर्थस्य अव्यवधानतायाः विरोधो द्वितीयः । प्रबन्धस्थेन प्रबन्धस्थितेन, स्थायिना स्थिरतरेण, अङ्गिना प्रधानेन, रसेनास्वाद्यमानेन रत्यादिना, औचित्यापेक्षया, विरुद्धैकाश्रयः विरुद्ध एकस्मि-न्नाश्रये स्थातूमन्चितत्वात् यो विरोधी विरोधवान्, स आश्रयभेदेन सन्तिवेश-यितव्यः । यथा-वीरेण रसेन विरोधो भयानको रसः, स विभिन्नाश्रयः कर्तव्य इत्यर्थः । तस्य वोरस्य य आश्रयः कथानायकः तद्विपक्षविषये भयानकः सन्निवेशयितव्यः । तथा सति भयानकस्य प्रतिनायके निवेशने सति वीर-रसविरोधिनोऽपि तस्य भयानकस्य यः परिगोषः । निर्दोषः, हि यस्मात् विपक्षविषये भयातिशयस्य वर्णनेक्रियमाणे, नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत्, सुतरामत्यन्तमुद्द्योतिता प्रकटीकृता भवति । अस्योदाहरणं तु आनन्दवर्ध-नाचार्यविरचिते अर्जुनचरिते, अर्जुनस्य पातालावतरणवर्णनावसरे वैशद्येन प्रदर्शितम् ।

> समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिनो महानुपष्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विषाम्॥

अत्र वीररसस्थायिन उत्साहस्य अर्जुन आश्रयः। भयानकरसस्यायिनो भयस्य तु तिहरोधिनोऽसुराश्चाश्रयतां गता इति विरोधपरिहारः। एवमैकाधिकरण्यविरोधितः प्रबन्धस्थेत स्थायिना रसेनाङ्गभावगमने निविरोधत्वं यथा तथा प्रदिशतम् । द्वितीयस्य तु तत् प्रतिपादयितुमुच्यते—

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् । रसान्तरव्यवधिना रसो व्यब्ज्यः सुमेधसा ॥ २६ ॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निविरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधो स रसान्तरव्यव-धानेन प्रबन्धे निवेशयिदव्यः । यथा शान्तगृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ ॥

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव । तथा चोक्तम् ।

उज्जीवनी

एवं प्रबन्धस्थितेन स्थायिना रसेनाङ्गिना रसेन ऐकाधिकरण्यविरोधिन एकाधिकरणवृत्तित्वरूपविरोधवतः अङ्गभावगमने अङ्गत्वप्रायसे निर्विरोधत्वं विरोधाभावो यथा भवेत् तथा प्रदिशतम् । द्वितीयस्य तु नैरन्तर्यविरोधिनस्तु तद् विरोधराहित्यं प्रतिपादयितुमाह—एकाश्रयत्व इति । एकाधिकरणवृत्तित्वे दैशिकसामानाधिकरण्य इति यावत् । निर्दोषः दोषरहितः, नैरन्तर्ये कालिकसामानाधिकरण्ये, विरोधवान् अव्यवधानेन एककालवृत्तित्व-रूपविरोधमापन्नः व्यञ्ज्ञचः प्रतीयमानो रसो रत्यादिः सूमेधसा सृहदयेन रसान्तरव्यविधना अन्यस्य रसस्य व्यवधानेन कलप्रयितव्यः । तदेवाह-य इति । यः पुतः एकाधिकरणत्वे सामानाधिकरण्ये निविरोधः विरोधरहितः, नैरन्तर्ये तु अव्यवधानेन निवेशने तु विरोधी, सः प्रबन्धे रसान्तरव्यवधानेन रसान्तरमन्तराकृत्य निवेशियतव्यः । उदाहरति—यथेति। एकस्मिन् प्रबन्धे शान्तस्य शृङ्गारस्य चान्तरा रसान्तरयोजनेन विरोधः परि-हतो वेदितव्यः। नागानन्दे स्वशरीरमपि परार्थे प्रददद् जीमूतव।हनो नायको धीरशान्तः तस्मिन् शान्तश्च मुख्यो रसः । तद्गतः मलयवत्यालम्बनः शृङ्गारश्च तत्र प्रतीयते । विद्याघरचक्रवर्तिन पतिमवाप्तुकामाया मलयवत्या देवतायतने भगवतीमुपवीणयन्त्याः मधुरां गीतिमाकण्ये जीमूतवाहनस्य विस्मयः सञ्जायते। वदति च-'अहो ! गीतमहो ! वादित्रमि'ति । एवं विस्मयस्थायि भावस्य अद्भुतरसस्य अन्तरानिवेशनेन शान्तशृङ्गारयोः विरोधः परिहृतो भवति ।

यच कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्येते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैत वता सार्वजोकं सामान्यमहानुभावित्तवृत्तिविशेषः प्रतिक्षेप्तुं शवधः । न च वीरे,तस्यान्तभिवः कर्तुं सवयः । तस्याधिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात् । अस्य चाहङ्कारप्रशमैक-रूपतया स्थितेः । तपोश्चैवंविधविशेषसद्भवेऽणि यद्यैवयं परिकल्प्यते तद्वी ररीद्रयोरि तथा प्रसङ्गः । दथावीरावीनां च चित्तवृत्तिविशेषःणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वे । शान्तरप्रप्रभेदत्वम् ;—

उज्जीवनी।

तृष्णाक्षयमुखस्य तृष्णायाः क्षयेण यत् मुखं तस्य यः परिपोषः तल्लक्षणस्तद्रपः शान्तो रसश्च प्रतीयत एव व्यज्यत एव । तथा चोक्तम् —यच्चेति । लोके कामसुखं कामरू । स्वयं यच्च सुखं, दिव्यं दिवि स्वर्गे भवं, अनिन्होत्रादिकर्मानुष्ठानेन लभ्यं महत् यच्च सुखं ऐहिक आमुष्टिमकं च सुखम् । एते द्वे अपि सुखे तृष्णाक्षयमुखस्य तृष्णाया रागस्य क्षयेण नाशेन यत् परम सुखं तस्य षोडशीमित कलां षोडशभागमित नाहेतः । कमंचितं कामसुखं पुण्यचितं स्वर्गसुखं च निर्वेदचितात् मोक्षादिषकं न भवतीत्यर्थः । स एव काव्ये नाट्ये चोपनिबध्यमानः शान्तरस इति कथ्यते ।

राङ्कते—यदि नामेति । तस्य शान्तरसस्य सर्वजनानुभवगोचरता सर्वेषामपि जनानां अनुभविषयत्वं यदि नाम नास्ति, यद्या शान्तस्य रसत्वं केचिन्नाम्युपगच्छन्तीति यावत् । समाधत्त—नेति । एतावता केषाञ्चिदनम्यु-पगममानेण, अलोकसामान्यः लोकोत्तरः महानुभ वश्च, चित्तवृत्तिविशेषः निर्वेदाख्यः, प्रतिक्षेष्तुं निषेद्धुं न शक्यः। ननु उत्साहस्थायिभावे वीररसः एव, तस्य शान्तस्यान्तर्भावोऽस्तु इति चेन्नः, तस्य वीरस्य, अभिमानमयत्वेन अहङ्कारात्मकत्वेन व्यवस्थापनात् । अस्य च शान्तस्य च अहङ्कारप्रशमकत्वया तच्छान्तिकपत्वे स्थितेः च्व्यवस्थितत्वात् । तयाश्च वीरशान्तयोः, एवविध-विशेषसद्भवेऽपि, अभिमानमयत्वेन शमप्रधानत्वेन च यो विशेषः भेदः तस्य सद्भावेऽपि सत्त्वेऽपि यदि एकत्वं परिकल्प्यते, तत् तर्हि वीररौद्रयोरि। तथा

इतरथा तु वीरप्रभेदत्वमिति व्यवस्थाणमाने न कश्चिद्विरोधः । तदेवमस्ति गान्तो रसः । तस्य चाविरुद्धरसव्यवधानेन प्रवन्धे विरोधिरससम।वेशे सत्यिपि निविरोधत्वम् । यथा प्रदक्षिते विषये ।

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकबाङयस्थयोरपि । निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥ २७ ॥

रसान्तरव्यवहितयोरे प्रजन्धयोविरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद्-भ्रान्तिः। यसम देशवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्यः विरुद्धता निवर्तते ।

उज्जीवनी

प्रसङ्गः एकत्वप्रसङ्गः । त्रिवर्गसाधनोपायत्वेन तयोः साम्यात् । एवं चेत् दयःवीगदीनां, अदिपदेन दानवीरस्य ग्रहणम् । चित्तवृत्तिविशेषाणां, सर्वाकारं सर्वप्रकारेण नि अहङ्कः ररहि त्वेन अहङ्कारशून्यत्वेन शान्तप्रभेदत्वं शान्तरसः त्मकत्वं, इताया अन्यथा अहङ्कारमयत्वे तु वीररसात्मकत्वं इति एवं व्यवस्थाप्यमाने व्यवस्थाकरणे कश्चिदपि विरोधो नास्तीत्यर्थः । तदेवं उक्तव्यवस्थाकरणेन शान्तौ रसोऽस्ति सिध्यति । तस्य च शान्तरसस्य विरोधि-रससमावेशे सत्यि, प्रबन्धे, अविरोधिरसव्यवधानेन अविरुद्धस्य कस्यचिद् रसस्य सन्धिकर्तुरिव नतराचे व्यवस्थापनेन निर्विरोधत्वं विरोधपरिहारो भवतीत्यर्थः । यथा—प्रदर्शिते विषये नागानन्दादौ ।।

एतदेव स्थिरो न्तुं स्थिरीकरणाय इदमुच्यते — रसान्तरेति। एकवाक्यस्य योरिप एकस्मिन् वाक्ये स्थितयोरिप रसयोः विरुद्धयोद्धयो रसयोः, रसान्तरित्योः रसान्तरेण अन्येन केनिवदिवरोधिना रसेन अन्तरितयोः समावेशे निबन्धने विरोधिता विरोधो निवर्तते पिहृतो भवति। तदेवाह रमेति। एकप्रबन्धस्थयोरिप एकस्मिन् प्रबन्धे स्थितयोरिप, रसान्तरव्यवहितयोः रसान्तरेण व्यवधानवतोः विरोधिता निवर्तत इत्यत्न न काचिद् भ्रान्तिः नायं भ्रमः किन्तु प्रमैव। हेतुमाह—यस्मादिति। यस्मात् कारणात्, एकवावय-

यथा---

भूरैगुदिग्धान् नवपारिजात, मालारजोवासितबाहुमध्याः । गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्, सुराङ्गनाश्चिष्टभुजान्तरालाः सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः, पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कत्पलतादुक्कलैः ॥ विमानपर्यञ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् । निर्दिश्यमानां स्रुलनाङ्गुलीभिवीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

इत्यादी । अत्र हि शुङ्कारदीभत्सयोस्तदङ्गयोवी वीररसव्यववानेन समावेशी न विरोधी ।

उज्जीवनी ।

स्ययोरपि रसयो:, उक्तया नीत्या पूर्वोपदिशतनयेन विरुद्धता विरोधो निवर्तते । उदाहरात - यथेति । भूरेगुदिग्धानिति । वीरा युधि पश्चत्वं गताः शूराः । विमानपयञ्जतले विमानमध्यस्थितस्य पर्यञ्जस्य तले निषण्णा आसीनाः तद नीं ब्योमन्यवस्थानसमये, ललनाङ्गुलीभिः ललनानां स्वर्वेश्यानां अङ्गुलीभिः निदिश्यमान!न् प्रदर्श्यमानान्, पतितान् रणभूमौ निपतितान्, स्वदेहःन् स्वशरीराणि, कुतूहलाविष्टतया कौतुकावेशेन, अपस्यन् अद्राक्षुः । भूरेगुदिग्धा-नित्यादिपद्यद्वये द्वितीयान्तानि पदानि स्वदेहिविशेषणानि । प्रथमान्तानि च वीरिव शेषणित । भूरैस्पुदिग्धान् भुवो रेस्पुभिः घूलिभिः, दिग्धान् लुप्तान्, निजान् देहान्, नवानां नूतनानां पारिजातमालानां, रजोभिः परागैः, वासितं सुरभीकृतं बाहुमध्यं उरः येषां तादशाः वीरा अपरयन् । ततः सुराङ्गनाश्लिष्ट-भुजान्तरालाः सुराङ्गनाभिर्देवस्त्रीभिः आश्लिष्टं भुजयोरम्तरालं वक्षः स्थलं वैषां तादशाः सन्तस्ते वीराः भुवि शिवाभिः फेहनारीभिः, परिरभ्यमाणान् आस्टिङ्यमानान् निजान् देहानपत्रयन्नित्यन्वयः । तत्रश्च सशोणितैः सरुधिरैः, क्रव्यभुजां मांसाशिनां, खगानां गृधादिपक्षिणां स्फुरद्भिश्चलद्भिः दक्षैः पतत्रैः, उपवीज्यमानान् देहान्, चन्दनवारिसेकैः चन्दनवारीणां सेको येषु तास्त्रैः सुगन्धिभः शोभनगन्धयुक्तैः, कल्यलतादुक्कलैः कल्पलतारूपैः पट्टवस्त्रैः, संवीजिताः देवनारीभिः परिचर्यमागाः वीसा अपस्यन्तित्यन्वयः ।

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् । विशेषतस्तु शृङ्गारे सुङ्गारतमा ह्यसौ ॥ २८ ॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्वेऽन्यत्र च निरूपयेत् सहृदयः । विशेषतस्तु श्रुङ्गारे । सिंह रतिपरियोषातमकत्वात् रतेश्व स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात् सुकुमारतमः सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेश न सहते ।

अवधानातिश्वयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ! अवेत्तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥ २६ ॥

उज्जीवनी।

अत भूरेगुदिग्धानित्यनेन जुगुष्यास्यायिभावको बीभत्सः, नवपारिजा-तेत्यनेन शृङ्गारश्च नैरन्तर्ये विरोधिनावित्यतो मध्ये वीररससमावेशेन विरोधरहितौ सञ्जातौ । अत्र अस्मिन् पद्यसमुदाये शृङ्गारसीभत्सयोः शृङ्गा-रस्य बीभत्सस्य च तदङ्गयोः शृङ्गारस्य बीभत्सस्य च अङ्गभूतौ यौ व्यभिचारिभावौ तयोवी वीररसव्यवधानेन वीररसेन व्यवहितयोः समावेशः न विरोधी न विरुद्धः ।

विरोधिमिति । इत्यं पूर्वोक्तप्रकारेण । सर्वत्र रप ग्रेवि गेध, अविरोधं, तत्परिहारं च निरूपयेत् । तु किन्तु, शृङ्गारे रपे, विशेषाः विशेषेगः विरोध-परिहारो निरूपणीयः । हि यतः, असौ शृङ्गारः सुकृ गारतमः सौकुपार्यगान् ।

तदेवाह-ययोक्तेति । ययोक्तलक्षणानुसारेण पूर्वोक्तप्रकारेण, सर्वेषु रसेषु, शृङ्गारबीभत्सादिषु, विरोधाविरोधौ विरोधमितिरोधं च प्रवन्धे, अन्यत वाक्ये च सह्दयो निरूपयेत् लक्षयेत् । शृङ्गारे तु विशेषतः । स हि शृङ्गारो हि रति।रिपोषात्म कत्वात् रतेः परिपोषरू वत्वात्, रतेश्च स्वल्पेनापि अल्पेनापि निमित्तेन कारएोन, भङ्गसम्भवात् भङ्गस्य हानेः सम्भवात् सर्वेभ्यो रसेम्यः सुकुमारतमः अतिशयितसौ हुमार्यः शृङ्गारो रसः विरोधिसमावेशं विरोधिरसस्याक्रमणं मनागपि अल्पमिष न सहते ।

ततः कि कर्तव्यमित्याह-अवधानेति । अतः सत्किवः तत्रैव रसे शृङ्गारे, एव रसे, अवधानातिशयवान् भवेत् अतिशयितमवधानं कुर्यात्। हि यतः, तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिति कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात् । तत्र हि प्रयाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति । श्रृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः ।

एवं च सति--

विनेपानुनमुखीकतु काव्यशोभार्थमेव वा । विद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्पति ॥ ३०॥

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां यः सन केवलमविरोधलक्षणयोगे सित न दुष्यति, याविद्वनेयानुनमुखीकतुँ काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति—

उज्जीवनी ।

तस्मिन् अतिशयितसौकुमार्यविति शृङ्गारे रसे, प्रमादः अनवधानता, झटित्येव शीघ्रमेव उपलक्ष्यते प्रकटीभवति ।

तदेवाह—तत्रैवेति । सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि
अतिशयितसौकुमार्यविति तत्रैव च रसे शृङ्गारे किवः अवधानवान् प्रमादराहित्ये प्रयत्नवान् भवेत् । तत्र हि शृङ्गारे रसे हि क्षिप्रमेत्र अवज्ञानित्रप्यता
भवित । । हि किवः अवज्ञानित्रपयो भवित । निन्दापात्रं भवितित्यर्थः ।
तस्य प्राधा ये हेतुमाह—शृङ्गारेति । शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानु
भविषयत्वात् सार्वलौकिकानुभववेद्यत्या सर्वरसेभ्यः सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः
कमनीयत्या लोकोत्तरानन्दजनकत्वेन प्रधानभूतः । एवं च सित शृङ्गारस्य
सर्वरसश्चेष्ठत्या । विनेयानिति । विनेयान् उन्मुखीकर्तुं शिष्याणाम्
आभिमुख्यसम्पादनार्थं, काव्यशोभार्थमेव वा काव्यस्य शोभातिशयमाघातुं वा,
तदङ्गानां शृङ्गारस्याङ्गभूतानां, तद्विरुद्धरस्यशंः तस्य शृङ्गारस्य विरुद्धो यो
रसः आस्वाद्यमानः स्थायी तस्य स्पर्शः सम्बन्धः न दुष्यित न दोषमावहित ।

तदेवोपपादयति—शृङ्गारेति । शृङ्गाराङ्गानां शृङ्गारसस्य यान्यङ्गानि तेषाम् । शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गारसस्विरुद्धस्य रसस्य संस्पर्शः यः सः तृतीय उद्द्योत:

शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनैयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णिन्त । सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनेयजनहितार्थमेव मुनि-भिरवतारिता ।

कि च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काब्धे शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेन।पि प्रकारेण विरोधिति रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी । ततश्च—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतः । किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जोवितम् ॥ इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः

उर्जावनी

अविरोधलक्षणयोगे सित केवलं सामानाधि करण्यविरोधस्य नैरन्तर्यविरोधस्य यः परिहारमार्थो निर्दिष्टस्तदनुसरणमात्रेणैव न दुष्यति विरोधपरिहारो भवतीति न वक्तव्यम् । किन्तु विनेयानामौन्मुख्य समादनाय काव्यशोभा-धानाय च क्रियमाणो विरोधिरसस्पर्शोऽपि न दुष्यति । विनेयाः सुकुमारमत-यङ्खात्राः, शृङ्गाररसस्य यान्यङ्गानि तैष्टसुखीकृताः सन्तः । विनयोपदेशान् तेषां विनयनाय क्रियमाणानुपदेशान्, सुखं सुखेनः गृह्णन्ति स्वीकुर्वन्ति । मुनिभिः भरतादिभिः, सदाचारोपदेशक्ष्पा सतां शिष्टेराचिरतानां आचाराणां उपदेशात्मिका हि नाटकादिगोष्ठो, विनेयजनहितार्थमेत्र विनेयानां विनेतव्यानां, जनानां हितायैव आभिमुख्यसम्पादनायैव अवतारिता ।

प्रकाशन्तरमाह—किञ्चेति । शृङ्गाररसस्य सक्तजनानां मनोहरत्वात् मनोहारितया अभिरामत्वात् सुन्दरत्वाच्च काव्ये तदङ्गानां समावेशो निबन्धनं, शोभातिशयं शोभाया आधिवयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाररसाङ्गानां समावेशो न विरोधी । उदाहरित—ततश्चेति । सत्यमिति । रामा रमण्यः, मनोरमा रम्या इति सत्यम् । विभूतयः ऐश्वर्याण्यपि रम्या इति सत्यम् । किन्तु परन्तु, जीवितं हि मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं मत्ताङ्गनायाः तरुण्याः, अपाङ्गभङ्गवत् कटाक्षवत् लोलं चञ्चलम्, अस्यरमिति यावत् । अत्र शामा विभूतयश्च पुरुषनिष्ठस्य शृङ्गारस्य विभावः ।

विज्ञायेत्थं रसादीनाम्बिरोधित्रिशेधयोः । विषयं सुक्रिः कान्यं कुर्वन् मुहाति न क्वचित् ॥३१ ॥

4

इत्यमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादोनां रसभावतदाशासानां परस्परं विरोधस्याविरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकवि: काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन् न कचित् मुहाति ।

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरुपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जक-वाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत् प्रतिपाद्यते —

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् । रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ३२ ॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादिविषयेणौचित्येन यद् योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म। अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो

उज्जीवनी।

जीवितस्य लोलत्वं शान्तरसस्य विभाव:। एवं शान्ते शृङगाररससमावेशः शोभामाधत्त इति एवमादिषु रसविरोधदोषो नास्त्येव।

विज्ञायेति । इत्थं एवं प्रकारेण, रसादीनां रसभावादीनां अविरोध-विरोधयोः अविरोधस्य विरोधस्य च विषयं विज्ञाय सम्यग् ज्ञात्वा काव्यं कुवंन् कविः कचिदि कुत्रापि न मुद्यति । उपपादयति—इत्यमिति । इत्यं अनन्तरोक्तेनानेन प्रकारेण रसादीनां रसभावादोनां च परस्परं विरोधस्य अविरोधस्य च विषयं ज्ञात्वा काव्यनिर्माणे उद्युक्तः प्रतिभातिशयवान् सुकविः, काव्यं यदि करोति तस्य कचिदिप मोहो न भवति ।

काव्यं कतुँ प्रवृत्तस्य सुकवेः रसादिषु विरोधाविरोधयोः विज्ञानमावश्य-कम्। तच्व तिल्लक्षणाधीनिविति एतावता प्रबन्धेन तिल्लक्ष्पितम्। ततः व्यञ्ज-कस्य व्यञ्जनयाधीन्तरप्रत्यायकस्य वाच्यस्यार्थस्य विभावादेः, वाचकस्य शब्दस्य सुप्तिङादेश्च, रसादिविषयकस्य यिल्लक्षणं तदिष तदुपयोगीति प्रतिपादयति— वाच्यानामिति। वाच्यानामिभिधेयानां, वाचकानां शब्दानां च रसादिविषये-णौचित्येन यद् योजनं, एतद् योजनात्मकं कर्म, महाकाव्यकर्तुर्मुख्यं भवति। यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्यीकृत्य तद्वचक्तचनुगुणत्वे । शब्दानामथीनां चोपनिबन्धनम् ॥

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादाविष सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादि तिमाह—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।

औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥ ३३ ॥

व्यवहारो हि वृतिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एता कैशिवधाद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण संनिवेशिताः कामिप नाटचस्य काव्यस्य च च्छाया-मावहन्ति ।

उज्जीवनी ।

तदेवाह—वाच्यानां प्रतिपाद्यानामितिवृत्तिविशेषाणां, वाचकानां चेतिवृत्त-विशेषप्रतिपादकानां, रपादिविषयं रपाद्यानुगुण्याधायकं, यदौचित्यमुचितता तदनुसारेण यद् योजनं निजन्धनं तदेत्रमहाकवेर्मुख्यं कर्म करणीयम् । पर्यवितिमाह—अयमेवेति । रसादीनेव रसभावादीनैव, मुख्यतया प्राधान्येन काव्यार्थीकृत्य काव्यस्यार्थं कृत्वा, तद्वचक्तचनुगुणत्वेन तस्य रसादेः या व्यक्तिः व्यञ्जनं तदानुगुण्येन शब्दानां वाचकानां, अर्थानां वाच्यानां चोपनिबन्धनमिति यद् अयमेव महाकवेर्मुख्यो व्यापारः।

एतच्चेति । एतद् यदिदानीमुक्तं रसादितात्पर्येण रसभावादिप्रतीतीच्छया, काव्यनिबन्धनं काव्यकरणं , तद् भरतादाविष भरतमुनिप्रणीते नाटचशास्त्रे, अलङ्कारशास्त्रग्रन्थेषु च सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादियतुमाह—

रसादीति । अर्थशब्दयोः अर्थस्य वाच्यस्य, शब्दस्य वाचकस्य च, रुपाद्यनुगुणत्वेन रसभावाद्यानुगुण्येन, औचित्यवान् यो व्यवहारः निबन्धनं काव्ये, ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः उपपादयित—व्यवहार इति । व्यवहारो हि रसाद्यानुगुण्येन अर्थानां शब्दानां च सन्निवेशे हि वृत्तिरिति

१. 'स्मृ०' च

रसादयो हि द्वयौरिप तयौजींवभूताः ! इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

अत्र केचिदाहु:—"गुणगुणिक्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तः, न तु जीवशरीरव्यवहारः । रसादिसयं हि वाच्यं प्रतिभासते, न तु रसादिभिः पृथम्भूतम्" इति । अत्रोच्यते—यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वपर्य शरीरस् । एवं सित यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य, तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽिव सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन् । न चैवम्; तथा चैतत् प्रतिपादितमेव प्रथमोद्योते ।।

उज्जीवनी ।

अलङ्कारशास्त्रकारें रुच्यते । तत्र रसानुगुण उचितः, वाच्याश्रयो वाच्यम श्रित्य स्थितः यो व्यवहारः ता एता कैशिवयाद्याः कैशिकी आरभटो, सात्त्वती, भारती इत्याद्याः कथ्यन्ते । वाचकाश्र्याः वाचकं शब्दमाश्रित्य स्थिताश्र्य उपनागरिकाद्याः उपनागरिका, परुषा, प्राम्याख्याः, वृत्तय उच्यन्ते । वृत्तयः, उपनागरिकाद्याः, कैशिवयाद्याश्र्य । रसादिशातपर्येण रसादिप्रतीतीच्छ्या सन्निवेशिताः, नाटचस्य दृश्यकाव्यस्य, काव्यस्य श्रव्यकाव्यस्य च छायां शोभामावहन्ति । द्वयोरपि तयोर्वृत्योः रसादयो जीवभूता हि भवन्ति । इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव आश्रयभूतमेव ।

अत्र केषा चिन्मतमाह—अत्रेति । गुणेति । रसादीनां, इतिवृत्तादिभिः सह गुणगुणिव्यवहारः इतिवृत्तरूपे वाच्यार्थात्मके गुणिनि रसादीनां गुणत्वेना-वस्थितः युज्यते । न तु रसस्यात्मत्वं, वाच्यस्येतिवृत्तस्य शरीरत्वं च । वाच्यं च रसादिमयमेव रसाद्यात्मकमेव प्रतिभासते प्रकाशते । रसादिभिः रसभावा-दिभिः पृथग्भूतं तु न भासते । अयुत्तिसद्धयोर्गुणगुणिनौरिव रसादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थस्य च पृथगवस्थानं नानुभूयते, इत्याशयः । तत्परि-हारायाह—अत्रोच्यत इति । गौरत्वमयं शरीरिमिति व्यवहारे सति गौरत्वस्य गुणत्वं, शरीरस्य गुणित्वं च भासते । शरीरे प्रतिभासमाने गुणिनि भासमाने, गौरत्वं गुणोऽपि नियमेन प्रतिभासते । तथा रसादिमयं वाच्यमिति व्यवहारानुरोधेन वाच्यव्यङ्गचयोरिप गुणगुणिभावेऽङ्गीक्रियमाणे, वाच्ये गुणिनि प्रतिभासमाने वाच्येन सहैव रसादयो गुणा अपि सहृदयस्य।सहृदयस्य च

स्यान्मतम्; रत्नानासित्र जात्यत्त्रं प्रतिपत्तृविशेषतः संवेद्यं वाच्यानां रसादिरूपत्विमिति । नैवम्; यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने, रत्नस्वरूपानिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते, तथा रसादीनामपि विभावानुभावादि रू वाच्याव्यति कित्वमेन लक्ष्येत ॥ न चैवम्;

हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात् कभोऽवश्यंभावी । स तु लाधवान्न प्रकाश्यत 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्गचा रसादयः' इत्युक्तम्।

उज्जीवनी।

काव्यवासनापरिपक्कबुद्धरतथाभूतस्यापि प्रतिभासेरन् । न चैवं तयोः सहभावेन प्रतीतेः अभावाभ तयोग्णगुणिभावो युक्त इति भावः । एतञ्च प्रथमोद्द्योते—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते । वेद्यते गतु काव्यार्थतस्वज्ञेरेव केवलम् ॥

इति कारिकया प्रतिपादितम्।

आशक्ति—स्याम्मतिमिति। रत्नानां मणीनां जायमानं उत्कृष्टं यथा प्रतिपत्तिशेषतः प्रमातृविशेषणैव ज्ञायते। न तु तदनिभज्ञैः, तथा वाच्यानां रसाद्यात्मकत्वं च सहृदयमात्रसंदेद्यमिति मतमस्तु। समाधत्ते— नैविमिति। जात्यत्वेन उत्कृष्टत्वेन प्रतिभासमाने ज्ञायमाने रत्ने, रत्नस्वरूपानितिरक्तत्व रत्नाभिन्नत्वमेव तस्य प्रतिपत्तृविशेषस्य लक्ष्यते दश्यते। तथा रत्यादीनामिपि विभावानुभाव।दिरूपं यद्वाच्यं तदनतिरिक्तत्व तदभेद एव लक्ष्यते। एवं न लक्ष्यते च। कारणमाह—नहीति। विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति। विभावानुभावादिरूपवाच्याभिन्नत्वं रसादीनामिति कस्यचिदिप अनुभवो नास्ति, तत एव, रसादीनां प्रतीतिरवणमरूपा, विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी विभावादिप्रतीतिसमनन्तरं नियमेन जायमानाः तत्प्रतीत्योः वाच्यव्यङ्गच-प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन भौविप्यक्रमसिद्धकार्यकारणभावेन, व्यवस्थानात् कमः पूर्वापरभावः अवद्यंभावी। स तु क्रमः लाघवात् शैष्यात् न प्रकाश्यते न लक्ष्यते। अत एव रसादयः अलक्ष्यक्रमा एव सन्तः अलक्ष्यः क्रमः येषां तादशा एव भवन्तः व्यङ्गचा इति चोक्तम्।

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यविच्छन्नो वाच्यव्यङ्गचयोः सममेव प्रतीतिमुगजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामशं एव
व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न
च तेषामन्तरा वाच्यपरामशंः। अत्रागि बूमः—प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं,
शब्दानामित्यनुमतमेवतदस्माकम् । किन्तु, तब्द्यञ्जकत्वं, तेषां कदाचिद्
स्वरूपविशेषनिबन्धनं, कदाचिद् वाचकशक्तिनिश्रन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न
तिह वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तिन्नबन्धन तिन्यमेनैव वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्गचप्रतीतेः प्राप्तमेव।।

स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत् किं क्रियते । यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यविच्छिन्नशब्दमात्रसाघ्या रसादिप्रतीतिः स्यात् तदनवधारितप्रकरणानां वाच्यवाच≁भावे च स्वयमग्युत्पन्नानां प्रतिपत्तृणां

उज्जीवनी।

पुनरप्याशङ्कते—निवति । शब्दः काव्यात्मकः शब्द एव, प्रकरणाद्य-विख्यः प्रकरणस्य ववतृवोद्धव्यादेश्च वैशिष्ट्यात्, वाच्यव्यङ्गचयोः वाच्यस्य व्यङ्गचस्य चार्थस्य प्रतीतिमवगमनं, सममेव समकालमेव, उपजनयतीति, तत्र तस्मिन् स्थले, क्रमकल्पनया कि क्रमकल्पनमनुचितिमत्यर्थः । तत्रयुक्तिमाह—नहीति, शब्दस्य वाचकस्य, यो वाच्यप्रतीतिपरामर्शः, वाच्यस्यार्थस्य प्रतीतेः संस्पर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनमिति नियमो नास्ति ।
स्थान्तमाह—तथाहीति । गीतादिशब्दम्योऽपि अर्थप्रतीतिपरामर्शं विनापि
रसाभिव्यक्तिर्श्यते । तेषां च गीतादिशब्दानां रसादेश्चान्तरा मध्ये
वाच्यपरामर्शो नास्ति । अतो वाच्यव्यङ्गचयोः समकालत्वमिति पूर्वपक्षः ।
समाधत्ते—अतापीति । प्रकरणाद्यवच्छेदेन प्रकरणादिवैशिष्ट्येन, शब्दानां
व्यञ्जकत्वमिति यत् तदनुमतमेवास्माकम् । किन्तु तत् शब्दगतं व्यञ्जकत्वं
कदाचित्, तेषां शब्दानां स्वरूपविशेषनिबन्धनं स्वरूपविशेषमाश्चित्य अर्थान्तरं
व्यनक्ति । कदाचिञ्च वाचकशक्तिनिबन्धनं वाचकस्य शब्दस्य व्यङ्गचार्थान्तरवोधन्ने या शक्तः (नानार्थस्थले) तदधीनं भवति तस्य शब्दस्य व्यङ्गकत्वमित्यर्थः । तत्र येषां शब्दानां व्यञ्जकत्वं वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां वाच्यप्रतीर्ति

काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत् । सहभावे च वाचाप्रतीतेरनुपयोगः; उपयोगे वा न सहभावः —

येषामपि स्वरूपिकोषप्रतीतिनिमत्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीताविशव्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेः व्यञ्जयप्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः। तत्तु शब्दस्य क्रिया पौर्वापर्यमनव्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिच्येयान्तः विश्वक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

उज्जीवनी

वाच्यार्थं बोधमन्तरेण विनैव स्वरूपप्रतीत्था शब्दस्वरूपशानेन (श्रावणप्रत्यक्षेण)
निष्पत्नं तद् व्यञ्ज हत्व यदि भवेत् तर्षि तन्न व्यञ्ज हत्वं वाच हशक्तिनवन्धनम् ।
अथ यदि तन्निबन्धनं वाच हशक्तिनिवन्धनं तद् व्यञ्ज हत्वम् । नियमेनेव
निश्चितमेवः वाच्यवाच हप्रतीत्युत्तरहालत्वं वाच्यार्थप्रतीत्युत्तरहालत्वं
व्यञ्जचप्रतीतेः प्राप्तमेव । तयोः पौर्वापर्यस्यानुभूयमानत्वात् ।

तिह कुतो न प्रतीयते पूर्वाररभाव इत्याशङ्कायामाह -स इति। क्रमःतु लाघवात् शैन्नचात्, न लक्ष्यते न ज्ञायते । एवं चेत् किमस्माभिः कर्तुं शक्यम्। ननु वाच्यत्रतीति वितेत शब्दमात्रेगैव प्रकरणादिवैशिष्ट्रयात् रसादिप्रतीतिभंवतु इत्याशङ्कायामाह --तदिति । तत् तहि, प्रकरणादिज्ञान-शून्यानां, तस्य श्रूयमाणस्य शब्दस्य वाच्यवाचकभावे स्वयं व्युत्यत्ति रिहतानां च प्रतिपत्तूणां शब्दविषयकथावणप्रत्यक्षवतां काव्यमावस्य शब्दमात्रस्य श्रवणादेव असौ रसभावादिप्रतोतिः स्यात् । एवं वाच्यव्य ङ्गचयोरपि समकाल-मुत्रत्तौ वाच्यप्रतीतिरनुपयोगिनी । यद्युपयोगो वाच्यप्रतीतेरभ्रुपंगम्यते तहि सहभावो न भवत्येव। किंच गीतादिशब्दानां वाच्यपरामशं विना व्यञ्ज ह-त्ववतामपि यथा गीतशब्ध्वरूपविशेषप्रतीतिरेव व्यञ्जहत्वे निबन्धनं, तथा स्वरूपविशेषश्रवणमात्रेग व्यञ्जकानामपि शब्दानां स्वरूपज्ञानस्य शब्दश्रवणस्य व्यङ्गचप्रतोतेश्च, नियमभावी नियतः क्रमः पूर्वापरभावः अस्त्येव । तु किन्तु, शब्दस्य अर्थबोधकस्य तत् क्रियापौर्वार्यं क्रियायाः अर्थबोधनव्यापारस्य, अनन्यसाघ्यतत्फलघटनासु न विद्यतेऽन्यत् साध्यं रसादित्रतीतिभिन्नं यासां तादशीषु तत्फलामु, तदेव इसादिप्रतीतिजननमेव फलं यासां तादशीषु च घटनासु सङ्घटनासुः आञुभाविनीषु शोघ्रभाविनीषु सतीषुः वाच्येन

कित्त लक्ष्यत एव । यथानुरणनरूपव्यक्षधप्रतीतिषु । तत्रापि कथमिति चेदुच्यते—अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ तावदिश्वियस्य तत्सामध्यि-िक्षप्तस्य चार्थस्याभिधेयान्तरिवलक्षणतयात्यन्तिवलक्षणो ये प्रतीती तयोरशक्य-िन्हवो निमित्तिविधित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम् । यथा प्रथमोद्द्योते प्रतीयमानार्थसिद्धचर्थमुदाहृतासु गाधासु ॥

तयाविधे व विषये वाच्यव्यङ्गचयोरस्यन्तविलक्षणत्वाद् यैवैकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये तु व्वनौ।

उज्जीवनी।

अभिधेयेन, अविरोधिनि विरोधशून्ये अभिधेयान्तरविलक्षणे अभिधया-प्रतिपाद्यमानादन्यस्माद् अर्थाद् व्यतिरिक्ते रसादौ रसभावादौ न प्रतीयते न लक्ष्यते । विद्यमानोऽपि वाच्यव्यङ्गचबोधनक्रियायाः क्रमो लाघवान्न लक्ष्यत इति यावत्।

कचिदिति । कचित्तु स्थलिविशेषे तु स क्रमः लक्ष्यत एव । यथा अनुरणनरूपव्यङ्गचप्रतीतिषु अनुस्वानाभ (संलक्ष्यक्रम) व्यङ्गचप्रतीतिषु । तदेवाह—तत्रापीति । अर्थशक्तिमूलानुरणनव्यङ्गचो यो ध्विनः तत्र तावत् अभिधेयस्य वाच्यस्यार्थस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य तस्य वाच्यार्थस्य यत् सामर्थ्यं अर्थान्तरप्रतीतिजनकत्वरूपं तदाक्षिप्तस्य तदुपस्थितस्य चार्थस्य, अभिधेयान्तर-विलक्षणतया अन्यस्मादभिधेयात् भेदेन प्रतीयमानतया, अत्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती वाच्यस्य व्यङ्गचस्य चेति द्वे प्रतीती, तयोः वाच्यव्यङ्गचप्रतीत्योः निमत्तिनिमित्तभावः कार्यकारणभावः अशक्यिनह्नवः न शक्यो निह्नवः यस्य तादशः निह्नोतुमशक्य इत्यर्थः । इति तत्र अर्थशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्ये पौर्वापर्यं क्रमात्मकं स्फुटं स्पष्टमेव । उदाहरणं दर्शयित—यथेति । प्रथमोद्द्योते प्रतीयमानस्य व्यङ्गचस्यार्थस्य सिद्धये उदाहृतगाथासु स्पष्टं प्रतिपादितमित्यर्थः । तथाविधे तादशे विषये वाच्यस्य व्यङ्गचस्य चार्थयोः, अत्यन्तविलक्षणत्वात् अत्यन्तं भिन्नत्वात् या एव एकस्य अर्थस्य प्रतीतिः सैवेतरस्यार्थस्य प्रतीतिरिति

गांवो वः पावनानां परमपरिनितां प्रीतिमृत्पादयन्तुं हत्यादावर्ध-द्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीतिरूपमावाचकपदिवरहे सत्यर्थसामध्यदिक्षिप्तेति तत्रापि सुपक्षमभिवेयव्यङ्गचालङ्कारप्रतीत्योः भौविषिर्यम् ॥

पदप्रकाशशब्दशक्तिम्लानुरणनक्ष्पव्यङ्ग्येऽपि व्वनौ निशेषणपदस्थो भयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकंपदमन्तरेण योजनमशब्दमप्यर्थादवस्थितमित्य-त्रापि पूर्ववदिष्टधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वार्यम् !—

वक्तुं न शक्यते । शब्दशक्तिमूलानुरणनध्वनौ यो विशेषस्तमाह— शब्दशक्तीति—गाव इति ।

> दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभि: पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशिदिशि विरमत्यिह्न संहारभाजः । दीप्तांशोर्दीर्षदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो गावो वः पावनानां परमगरिमितां प्रीतिमृत्पादयन्तु ।।

मयूरकिकृते सूर्यशतके नवमिनदं पद्यम् । व्याख्यातिमदं द्वितीयोद्बोते ॥

इत्यादौ नानार्थंशब्दप्रयोगस्थले । शाब्द्यां शब्दादिभिधयेव प्रतिपादाः मानायाम् । अर्थद्वयप्रतीतावर्थाव । तो वावयभेदाद् असम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा भूदिति तयोः गोपदार्थभूतयोः घेनुकिरणयोः उपमानोगमेयभावप्रतीतिः साद्यज्ञानम् । उपमानाचकपदिवरहे सित उपमावाचकानामिबादीनां अन्यतमस्याप्यभावे सिति, अर्थसामध्यक्तिप्तः अर्थसामध्यति नानार्थस्य शब्दस्य, अभिधयवार्थान्तरबोधजननशक्तिमत्वात् शक्षिप्त उपमालङ्कारो व्यव्यत्त इत्यर्थः । ताद्यस्थले अभिधयाऽलङ्कारः श्लेषः व्यङ्गच्छापमिति तयौरुभयोः प्रतीतौ पौर्वार्यं सुलक्षमेवेति ।

पदप्रकाशशब्दशक्तिन्त्वानुरणनव्यङ्ग्ये च हतनी 'क्र्रोडयवा कि न जडः क्रुतोडहम्' इत्यत्न विशेषणपदस्य आत्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तस्य जडुपदस्य, उभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य शीतस्यश्वंवज्ञलसामानाधिकरण्येनावि प्रयोगयोग्यस्य, योजकं उभयार्थसम्बन्धद्योतकं इवादिपदं विना यद् योजनं तद् अशाब्दं शब्द-

आर्थित च प्रतिपत्तिस्तयाविधे विषये उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थं-प्रसावितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते । अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्व समेवार्थान्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः । तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्गचस्य क्रमप्रतीतिविचाशो न कृतः।

तस्मादिश्वधानः सिधेयप्रतोत्योरिव वाच्यव्यङ्गद्यप्रतीत्योः निभित्तनिमित्ति भावाश्वियम् अवि क्रभः । सं तुक्तयुक्तया कविल्लक्ष्यते कवित्र लक्ष्यते ।

उज्जीवनी।

जन्यप्रतीत्यविषयमिष, अर्थादविश्वतं अर्थसिद्धमिति हेनोः, अत्रापि वननौः पूर्ववद् वाक्यप्रकाशे व्वनाविव, अभिधेयेनार्थेन तत्नामर्थ्येन अर्थसामर्थ्येन च आक्षिप्तयोरिशव्यक्तयोरेव प्रतीत्योः पौर्वाग्यं सुस्यितमेव सम्पण् लक्ष्यत एव । तथाविधे विषये 'कूपोऽथवा कि न जडः कृतोऽहुम्' इत्यादौ आर्थ्यप अर्थसि-द्धापि, प्रतिपत्तिः अन्यस्यार्थस्य प्रतीतिः उभयोरप्यर्थयोः यः सम्बन्धः, तद्योग्यस्य शब्दस्य सामर्थ्येन अर्थान्तरप्रकाशनसमर्थतया प्रसाविता उद्भाविति हेतोः शब्दशक्तिमूलेति कल्प्यते । तु किन्तु अविवक्षितवाच्यस्य व्वनैः लक्षणामूल-व्वनेः, 'निःश्वाक्षान्ध इवादश्चात्रद्भान प्रकाशते' इति पूर्वोदाहते अन्धशब्द-मुख्यार्थस्य उपहतचक्षुष्कत्वस्य आदर्शेऽन्वयानुपपत्त्या प्रकिद्धौ यः स्वविषयः स्ववाच्यार्थः, तस्य या वै मुख्यप्रतीतिः पदार्थान्तरेण साकमन्वयस्यानुपपद्य-मानताक्ष्पवाधप्रतीतिः तत्पूर्वकमेव तदनन्तरमेवार्थान्तरप्रकाशनं भवतीति क्रमो नियमभावी नियत एव । अत्र व्यङ्गचस्य वाच्येनार्थेन सह प्रतीतिविषय-तायां क्रमः पौर्वापर्यं अस्ति न वेति विद्यारो न कृतस्तत्रहेनुस्तु अविवक्षितवाच्ये व्वनौ वाच्यस्य अविवक्षितत्वमेवेति भावः।

तस्मादिश्वधानस्य शब्दस्य, अभिधेयस्यार्थस्य च यथा क्रमो वर्तते, तथा वाच्यस्य व्यङ्गचस्य ये प्रतीती तयोरिप नियमभावी क्रमः अस्त्येव । स तु क्रमस्तु उक्तयुक्तचा एतावता प्रतिपादितया युक्तचा किवद् लक्ष्यते किच्च न सक्ष्यते ।

प्रथमोद्द्योते यथार्थः शब्दो वेत्यनेन सहृदयहृदयाह्नादजनकस्य शब्द-स्यार्थस्य व्यञ्जकत्वं, तस्यार्थान्तरस्य व्यङ्गचत्वं चोक्तम् । द्वितीये च व्यङ्ग्यमुखेन ध्वमैभँदश्च प्रतिपादितः । तृतीये चेयता प्रबन्धेन तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिष्ठकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात्किमिदं व्यञ्जकत्वं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिष्ठकारानम्; नहि व्यञ्जकत्वं व्यञ्जघत्वं चार्थस्य, व्यञ्जकतिद्वं व्यञ्जचत्वं व्यञ्जचत्वं चार्थस्य, व्यञ्जकतिद्वं चिद्धं च्यञ्जचत्वम्; व्यञ्जचापेक्षया च व्यञ्जकत्विद्धिरन्योन्य सक्षयादव्यवस्थानम् । ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यञ्जचस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिताः, तत्तिसद्धचधीना च व्यञ्जकतिद्विरित्तं कः पर्यनुयोगावस्यः । सत्यमेवततः;

प्रागुक्तयुक्तिभिः वाच्यव्यतिरिक्तरण वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थी व्यङ्गचतयैव कस्माद्वचपदिश्यते, यत्र च प्राधान्यैनादस्थानं तत्र वाच्यत्यैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः, तत्परत्वाद् वाक्यौस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्थ

उज्जीवनी ।

व्यञ्ज हम्खेन व्वने भेंदश्च प्रतिपादिनः। तृतीये चेयता प्रबन्धेन व्यञ्जकम्खेन भेदश्चाख्यातः । तत्र विमतनिराकरणपूर्वकं व्यञ्ज हत्वं निर्वक्तुमुपक्रमते— तदेवमिति । एवमेतावतोक्तप्रकारेण व्यञ्जकमुखेन ध्वने: प्रकारेषु निरूपितेषु प्रतिपादितेषु सत्सु कश्चित् प्रतिवादो ब्रूयात्। किमिदं व्यञ्जर्गमिति प्रश्नः। व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रकाशनात्मकं व्यञ्जकत्वमिति यदुच्यते तत् किमिति प्रष्ट्राशयः । अर्थस्य व्यञ्जकत्वं व्यञ्जचत्वं च नहि सम्भवति । हेतुमाह-व्यञ्जकेति । अर्थस्य व्यञ्जचत्वं तावत् तदा ज्ञायेत यदा तद्वोधकस्य व्यञ्ज हत्वं ज्ञातं भवति । तथा तस्य व्यञ्ज हत्वज्ञानमपि तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य व्यङ्गचत्वे ज्ञाते सत्येव भवतीति अन्योन्याश्रयात् व्यङ्गचत्वस्य व्यञ्जकत्वस्य च सिद्धौ अन्यवस्थितिरेव। अस्मिन् विषये प्रश्रस्यैवावकाशो नास्तीत्याह-नन्विति । प्रागेव पूर्वमेव । व्यन्यभाववादिमतिनराकरणेन वाच्यव्यति रिक्तस्य वाच्याद्भिन्नस्य व्यङ्गचस्य सिद्धिः प्रतिपादिता। ततस्तस्य यः प्रकाशकः तस्य व्यञ्जकत्वं यतः सिद्धचित ततः पर्यंनुयोगस्य प्रश्नस्य अवसरः क इति प्रश्नः, प्रश्न एव न प्रसरतीत्यथेः। पुनरपि शङ्कते—सत्यमिति। पूर्वप्रकरियोन वाच्यारितिक्तः कश्चित् पदार्थः अस्तीत्येत सिद्धम् । तदङ्गोकुर्मः किन्तु स वाच्यातिरिक्तः अर्थः, व्यङ्गचतयैव व्यङ्गचः इति नामधेयेनैव कुतो

१. 'चकत्व॰' च

वाचकत्वमेव व्यापारः । कि तस्य व्याप। रान्तरकल्पनया ? तस्मात् ताल्पर्य-विषयो योऽर्थः स तावनमुख्यतया वाच्यः । या त्वन्तरः तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेष्पायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यायप्रतीतेः ।

कत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिद्धानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं, यञ्च तद्धन्तिक्ष्वगमहेतुत्वं तयोषिक्षेथो विशेषो वा । न तावदिविशेषः यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविष्यौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव।—

उज्जीवनी।

व्यविद्यते। तस्य व्यङ्गचपदव्यपदेश्यत्वं कथं वक्तुं शक्यमित्यर्थः। यत्र यस्मिन्
स्थले तस्य द्वितीयस्यार्थस्य प्राधान्येनावस्थानं स्थितिः, ततोऽसौ द्वितीयोऽथौं
वाच्यतयैव व्यवदेष्टं वाच्य इत्येव द्ववतुं युक्तः। वाक्यस्य वाक्यप्रयोगस्यः
तत्परत्वात् तदर्थबोधजननतात्पर्येणैव क्रियमाणत्वात्। क्षतश्च, तत्प्रकाशिनः
तमर्थं प्रकाशयतः, वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापार इति बूमः। तस्य
तदर्थबोधनस्य व्यापारान्तरकत्पनया कि? व्यापारान्तरकत्पनं नावद्यकमिति
यावत्। तस्मादुक्तयुक्त्या तात्पर्यविषयो योऽथंः, वक्तृविवक्षाधीनो योऽथंः
स तावत् मुख्यतया प्राधान्येन वाच्यः। तधाविधे विषये, अन्तरा मध्ये।
या वाच्यान्तरप्रतीतिः साक्षात् सङ्केदितस्यार्थस्य प्रतीतिः सा, तत्प्रतीतिः
तात्पर्यविषयीभूतस्य मुख्यस्यार्थस्य प्रतीतेः उपायमात्रं द्वारमेव। यथा
वाक्यार्थप्रतीतेः पदार्थप्रतीतिरुपायो भवति तथेत्यर्थः।

समाधत्ते—अत्रोच्यत इति । यत्रेति । यत्र स्थलविशेषे । स्वार्थं स्वाभिधेयं सङ्केतितमर्थम् । अभिद्धानः अभिद्धत् अर्थान्तरमन्यमर्थं, अवगमयित बोघयति । तत्र स्थलविशेषे, तस्य शब्दस्य यत् स्वार्थभिधायित्वं [स्वार्थभि-धायकत्वं], यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं, तस्य शब्दस्य यद् अर्थान्तरं अन्योऽर्थः अर्थान्तरावगमकत्वं चेति शब्दरूपे एकस्मिन् धर्मिण धर्मद्वयमस्तीत्युच्यते तयोर्धमयोः अविशेषः अभेदः, विशेषो वा भेदो वा इति प्रशः । तत्राद्यः अभेदपक्षो न भवति । यस्माद् यतः ठौ द्वौ व्यागारौ अभिधायकत्वगमकत्वात्मकौ भिन्नविषयो भिन्नः विषयः ययाः तौ भिन्नस्वपै

तथा हि वाचकत्त्रलक्षणो व्यापारः शब्दस्य स्वार्थितिषयः गम करवस्थण-स्त्वर्थान्तरविषयः । त च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्गचयोरपह्नीतुं शक्यः। एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीते । प्रस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन च । वाच्यो हार्थः साक्षाच्छव्दस्य सम्बन्धी, तदितरस्त्विभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धि सम्बन्धी।—

यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात् तस्य स्यात् तदार्थान्तरत्वव्यवहार एव न स्यात्। तस्माद्विषयभेदः तावत् तयोव्शीपारयोः सुप्रसिद्धः, रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव। न हि यैवाभिषानशक्तिः सैवागमनशक्तिः। अवाचकस्यापि

उज्जीवनी ।

भिन्नं रूपं ययोः तादशी च प्रतीयेते एव । विषयभेदात् रूपभेदाच्द तयोः व्यापारयोरीवयं नास्त्येत । तदेत्र समर्थयति—तथाहीति । शब्दस्य वाचकत्वलक्षणः वाचकत्वात्मकः अभिधायकत्वरूपः व्यापारः यः सः स्वार्थविषयः स्वस्य अर्थौ विषयो यस्य त दशः शब्दनिष्ठस्य।भिघायकत्व-व्यापारस्य साक्षात् सङ्केतितो योऽर्थः (स्वार्थः) स एव विषयः। गम रत्व-लक्षणस्तु व्यापारः अर्थान्तरविषयः गमकत्वव्यापारस्य न स्वार्थो विषयः किन्तु अर्थान्तरमन्योऽर्थ एव विषय इति विषयभेदात् तयोरभेदो नैत्यर्थः। वाच्य-व्यङ्गचयोः वाच्यस्य व्यङ्गचस्य चः स्वपरव्यवहारः स्वः पर इति च व्यवहारः। अपह्नोतुं न शक्यः। वाच्यस्य स्वत्वं, व्यङ्गचस्य परत्वं च न निह्नोतुं शवयमित्यर्थः । कि च एकस्य स्वार्थस्य सम्बन्धित्वे न प्रतीतिः, अपरस्य बङ्गचस्य त् सम्बन्धिसम्बधित्वेत च प्रतीतिः । हि यतः वाच्योऽर्थः, शब्दस्य साक्षात् सम्बन्धी, अव्यवधानेन शब्दश्रवणसमनन्तरकालिकबोधविषय:। तृ दित्रः द्वितीय ड्यंस्तू, अभिधेय पामर्थ्या क्षिप्तः अभिधेयस्य शक्यार्थस्य, सामर्थ्येन अर्थान्तरबोधजनद त्वशक्तचा आक्षितः सन् सम्बन्धिसम्बन्धी परस्परसम्बन्धवान् भवति । तस्य द्वितीयस्यार्थस्य, साक्षादेव स्वसम्बन्धित्वं शब्देन साक्षात् सम्बन्धः यदि स्यात् यदि भवेत् तहि तस्य द्वितीयस्यार्थस्य अयन्तिरव्यवहार एव न स्यात्। तस्मात् तयोः व्यापारयोः वाचकत्वग्रमकत्वयोः, विषयभेदः तावत् सुप्रसिद्धः । एवं तयोव्यापारयोः रूपभेदः स्वरूपभेदोऽि प्रसिद्ध एव । अभिधानशक्तिः अभिधायकत्वव्यापारः अवगमनशक्तिः अवगमकत्वव्यापादः

गीतशब्दादेः, रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्। अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेष-प्रकाशनप्रसिद्धेः। तथा हि 'त्रीडायोगान्नतवदन्या' इत्यादिश्लोके चेष्टः विशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव ।—

तस्माद्भिन्तिषयस्वाद्भिन्नरूपत्वाच्च स्वाथिभिधायित्वं, अर्थान्तरावग-महेतुत्वं च शब्दस्य यत् तयोः स्पष्ट एव भेदः । विशेषश्येन्त तहींदानीमवग-मनस्याभिधेयसामध्यीक्षिष्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेश्यता । शब्दव्यापार-गोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्गचत्वेनेव न वाच्यत्वेन । प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तः स्य प्रतेतेः शब्दान्तरेण् स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता ।।

उज्जीवनी ।

तयोरिप अभेरो न सम्भवति । गीतशब्दादेः अभिधानशक्तिरहितस्य रसादि-रूपार्थावगमकत्वदर्शनात् । तथा चेष्टादेःशब्दिभन्नस्यापि अर्थविशेषस्य प्रकाशनं दृश्यत एव । उदाहरणेन समर्थयित—तथाहीति ।

> वीडायोगाञ्चतवदनया सन्निधाने गुरूणां बद्धोत्कस्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तिनगृह्य । तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य बाष्पं मय्यासक्तश्चिकतहरिणोहारिनेत्रत्रिभागः ॥

इति श्लोके चेष्टाविशेषः वदननमनादिः अर्थप्रकाशनहेतुः शृङ्कार समप्रकाशनस्य हेतुत्वेन मुकविना प्रकाशित एव ।। तस्माद् यद् शब्दस्य स्वार्थाभिधायित्वं सर्थान्तरावगितहेतुत्व चेति व्यापारद्वयं, तयोव्यागरयोभिन्नः विषयत्वात् विषय-भेदात्। भिन्नरू व्यापारद्वयं, तयोव्यागरयोभिन्नः विषयत्वात् विषय-भेदात्। भिन्नरू विद्यापारद्वयं, तयोव्यागरयोगिन्नरू विशेष स्वाप्त यो विशेषस्तमः ह — विशेष इति । विशेषश्चेत् व्यापारयोगिन्नेषो भेदश्चेत् । इदानीमस्यामवस्यायां, अवगमनस्यावगमनात्मकव्यागाय-विषयस्य, सभिधेयसामध्याक्षिप्तस्य सम्याधिन्तरस्य दितीयस्याथस्य, वाच्यत्वव्यपदेश्यतः वाच्यव्यपदेशिष्तस्यार्थान्तरस्य दितीयस्याथस्य, वाच्यत्वव्यपदेश्यतः वाच्यव्यपदेशविषयत्वं न हि सम्भवतीति योजना । तस्यापि दितीयस्यार्थस्य प्रथमार्थ-बोधको यः शब्दः तद्व्यापारविषयत्व तु यद्यप्यस्माकमभिमतं, तथापि तद्,

न च गदार्थवाक्यार्थत्यायो वाच्यव्यङ्गचयोः; यः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्विद्विद्विद्वास्थतम् । यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते, तैर्वाक्यार्थयदार्थ-योर्थटतदुपादानकारणस्यायोऽभ्यु (गन्तव्यः । यथा हि एटे निष्पन्ने तदुगादान-कारणानाम्,

उज्जीवनी ।

व्यङ्गचत्वेनैव ग तु वाच्यत्वे । अयित्य स्मा व्यङ्गचत्वे मेदाभ्यु । गच्छाम इत्यर्थः । तत्र युक्ति गह —प्रसिद्धति । प्रसिद्धं वाचक्रत्वेत प्रसिद्धं यदिभि-घानान्तरं, शब्दान्तरं तस्य सम्बन्धः, वाचकस्य शब्दस्य, वाच्यस्य र्थस्य च यः साक्षात् सम्बन्धो वाच्यवाचक्षभावरू । स्तद्योग्यत्वे । तस्यार्थान्तरस्य द्वितीयस्य र्थस्य प्रताते रनुभवात् ।।

इद ।त्र वधयम् वाचकत्व व्यञ्ज करवात्मकयो रुपयोः व्यापारयोः विषयभेरेत स्वरूपमेदे । च मिथोऽभेदो न भवितुमहृति । भेदेऽप्यङ्गिकियनाऐ यत्त
राब्दः स्वाथं त्रोधनानन्तरमर्थान्तरमि बोधयित तत्र द्वितीयस्यार्थस्य तच्छव्दव्यापारगोच एत्वेऽि व्यङ्गधत्वेतेव व्यपरेशः न वाच्यत्वे । यतः व्यङ्गधः
त्वेनाभिमतस्य तस्यार्थस्य अभिधायकमिधातान्तरं प्रसिद्धम् । यथा 'गङ्गायां
घोष' इत्यादौ, गङ्गाशब्दः स्रोतमा वाचकः, शैर्यमावत्वादेव्यञ्जकश्च ।
शैर्यपावत्वादिक् रोऽर्थश्च यदा शैर्यावनत्वादिशब्देन बोध्यते तदा सोऽर्थे,
वाच्यः । वाच कश्च शैर्यावनत्वादिशब्दः । एवं च स्वार्थाभिधायिना स्वस्य
गङ्गाशब्दस्य योऽर्थः स्रोतोक्त्यः तस्याभिधावमा गरेण बोधको यो गङ्गाशब्दस्तेन शब्दान्तरेण शैर्यपावनत्वादेः यद् विषयो करणं तत्र प्रकाशनोक्तिः,
व्यञ्जकत्वोक्तिरेव युक्ता । तथा च शैर्यावनत्वादिशब्देन बोध्यमानः शैःयपावनत्वादिक्षपोऽर्थो व च्यः । 'गङ्गायां घाष' इत्यादौ गङ्गाशब्देन बोध्यमानः शैःयपावनत्वादिः अर्थो वयङ्गच इति विवे कः ।

व्यक्तचत्वेताभिमतस्यार्थस्य तातायां ह्यंव वृत्त्या बोधो भवत्वित्या-राक्तचाह — तचेति । वाषयस्यितानि पदानि स्वस्वमर्थं पृथगभिद्यते । तत आकाङ्क्षायोग्यतासानिष्यादिवशात् तातायां हपया वृत्त्या [तत्रतीतीच्छयो-च्चारितत्वं तात्पयम्] वाष्यर्थशोषा भवति । तत्र तात्पर्यं व्यापारः । वाष्यं वाचकम् । वाष्यार्थस्तात्पर्यायं इति च सिद्धचित । एवं पदार्थं बोधानन्तरं न पृथगुपलम्भस्तथैव वावरे तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानां तेषा तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोन्यायः, न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने, वाच्यबुद्धिर्द्रीभवति, वाच्यावभागाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्। तस्मात् वटप्रदीपन्यायस्तयोः—

उज्जीवनी

तात्पर्यंवृत्त्या यथा वावयाथं बोधो भवति, तथा वाच्यार्थं बोधानन्तरं व्यङ्गचार्थं-बोधप्रतिविपादयिषारूपेग तात्पर्येण व्यापारेण व्यङ्गचार्थंप्रतीतिभवतु, किं व्यञ्जनयेति पूर्वंपक्षः समाधत्ते—यत इति । यदार्थप्रतीतिः पदानामर्थवाचकता असत्येवेति केश्चिद् विद्वद्भिः वैयाकरणेः आस्थितमिति प्रतिज्ञातम् । पदानामर्थं समारकत्वमेव, न तु वाचकत्वं, किन्तु वाक्यं वाचकं; तस्यैव प्रवृत्तिनिवृत्तियो-ग्यत्वात् इति तन्मतम् । मतान्तरेणाह्—यैरपीति । येरिय मोमांसकैरिष, अस्याः पदार्थप्रतीतेः असत्यत्वं नाम्युपेयते नाङ्गीश्चियते, तैः तन्मतानुयायिभिः वाक्यार्थपदार्थयोः, घटतदुपादानकारणन्यायः कार्यकारणभावः अम्युपगन्तव्यः अङ्गीकरणीयः ।

तदेवोपपादयति—यथेति । घटे अवयिनि निष्पन्ने उत्पन्ने, तदुपादानकारणानां तदवयवानाम् । पृथगुपलम्भः पृयक्तया भानं नास्ति, तथेव वाक्ये
पदसमूहात्मके, तदर्थे वा, वाक्यार्थे वा, प्रतीते प्रतीतिविषयीभूते सित
पदतदर्थानां पदार्थानां च, तेषां वाक्यवाक्यार्थावयवानां तदा वाक्यवाक्यार्थबोधानन्तरं विभक्ततया पार्थक्येन, उपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव
वाक्यार्थकानमेव, दूरीभवेत् न स्यादित्यर्थः । वाच्यव्यङ्ग्ययोस्तु वाच्यार्थस्य
व्यङ्ग्यार्थक्ष च, एष न्यायो न भवति, कार्यकारणभावात्मको नास्तीत्यर्थः ।
हेतुमाह—नहीति । व्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यार्थे, प्रतीयमाने व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिकाले,
वाच्यबुद्धिः वाच्यस्यार्थस्य बोधो न दूरीभवित न नश्यति । किन्तु वाच्यावभासाविनाभावेन वाच्यस्यार्थस्य बोधो न दूरीभवित न तश्यति । किन्तु वाच्यावभासाविनाभावेन वाच्यस्यार्थस्य योऽवभासः प्रतीतिः तद्या प्रत्वेन तस्य व्यङ्ग्यार्थस्य
प्रकाशनात् । स्वमतमाह्च—तस्मादिति । तस्माद् यसमाद् वाक्यार्थगदार्थयोः
घटतदुपादानकारणन्यायो न युक्तः, तस्मात् तयोः पदार्थवाक्यार्थयोः
घटत्रदीपन्यायः अभ्युपमन्तव्यः । उपपादयति—यथैवेति । प्रदीपद्वारेण प्रदीपप्रकाशदारा घटप्रतीतौ उत्पन्नायां घटप्रत्यक्षे जाते, प्रदीपप्रकाशः यथा न निवर्तते

यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटपतीतावुत्पन्न यां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते, तद्वद्वयङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। यत्तु प्रथमोद्द्योते 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्त तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया नन्वेव युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते, तस्या ऐकाथ्ये वक्षणात्; नैष दोष:।

गुणप्रधानभावेन तयोव्यंवस्थानात् व्यङ्गचस्य हि कवित् प्राधान्यं, बाच्यस्योपसर्जनभावः ; कचित् वाच्यस्य प्राधान्यं, अपरस्य गुणभावः । तत्र व्यङ्गचप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेवः, वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं

उजीवनी ।

न दूरीभवति, तद्वत् तथैव व्यङ्ग्यप्रतोतौ व्यङ्ग्यार्थशोधे, समुत्यन्ने वाच्याव-भासः वःच्यस्य प्रतीतिर्धाप न दूरीभवतीत्यर्थः । तु किन्तु, प्रथमोद्द्योते यदुक्तं "यथा पद र्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते । वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत् तस्य वस्तुनः ।" इति । तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया यथा वाक्यार्थशोधे पदार्थबोव उपायो सवति, तथा व्यङ्ग्यार्थशोधे वाच्यार्थगोशोऽपि इति तयोहपायत्वे । साम्यं विवक्षितमित्यर्थः ॥

वाच्यव्यङ्ग्ययोरवभासे घटप्रदोपन्यायाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—
निन्वति । एवं वाच्यव्यङ्ग्यावभासे घटप्रदोपन्याये स्वीक्रियमाणे, वाक्यस्य
युगपद् एकदा, अर्थद्वययोगित्वं अर्थद्वयबोध हत्व प्राप्तं । तद्भावे युगपदर्यद्वयवाचकत्वे च तस्य तत्प्रतिपादकशब्दसमूहात्मकस्य, वावयतेव विघटते वाक्यत्वमेव न घटते । तस्या वाक्यताथाः, ऐ हार्थ्यवक्षणत्वात् ऐकार्थ्यं एकविशिष्ठार्थबोधकत्वं लक्षणं स्वरूप यस्याः तादशत्वरू । एवमर्थभेदे वाक्यभेदरूपदोषापत्तः युगपदर्थद्वयबोधकत्वमनुपपन्नमिति यावत् । समाधत्ते —नैति ।
एष दोषः वाक्यभेदरूगो दोषः नास्ति न विद्यते । तयोर्द्वयोरप्ययं योः
गुणप्रधानभावेन गुणत्वेन प्रधानत्वेन च व्यवस्थानात् व्यवस्थितत्वात् ।
व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्य।र्थस्य, कचित् प्रधानत्वेन च व्यवस्थानात् व्यवस्थितत्वात् ।
व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्य।र्थस्य, कचित् प्रधान्यं घवितस्यस्य, वाच्यस्य तु तन्न उपसर्वन्यः
आवाः, गुणोभावः । तथा कचित् गुणीभूतव्यङ्ग्ये वाच्यस्य प्रधान्यं,
अपरस्य व्यङ्ग्यस्य गुणभावः अप्रवानता । तत्र यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं,
तत्र घवितिरत्युक्तमेव । तत्र तस्य घवित्वपदेशः । वाच्यप्रधान्ये तु वाच्य-

निर्देश्यते । तस्मात्—स्थितमेतत् व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य, न व्यङ्ग्यस्या-भिधेयत्वमपि तु व्यङ्ग्यत्वमेव ॥

किन्त व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद् भवद्भिः ताभ्यु-पगन्तव्यमतत्परत्वाच्छब्दस्य । तदस्ति तावद् व्यङ्ग्यः, शब्दानां कश्चिद्विषय इति । यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नुयते । एवं तावद् वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वम्; इतश्च वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्याग्यत्वं, यद्वाचकत्वं शब्देकाश्चयत्वम् इतरत्तु शब्दाश्चयमधिश्चयं च शब्दार्थयोः द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ।

उज्जीवनी।

स्यार्थस्य प्रधानतायां तु प्रकारान्तरं निर्देक्ष्यते प्रकारान्तरत्वनिर्देशः करिष्यते इति । तस्मात् स्थितमेनत्, एतत् सिद्धमित्यर्थः । काव्यस्य कविप्रयुक्तशब्द-सन्दर्भस्य, व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि व्यङ्ग्यार्थतात्पर्येण प्रयुक्ततायामपि, व्यङ्ग्य-स्यार्थस्याभिधेयत्वमभिधाव्यापारविषयत्वं नास्त्येव । किन्तु व्यञ्जनाव्यापार-विषयत्वमेव ।

किञ्चेति। व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधाग्येनाविवक्षायां प्राधान्येन विवक्षा यत्र नास्ति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये, भवद्भिः वाच्यत्वं तावन्नाभ्युगगन्तव्यं, अतत्परत्वाच्छब्दस्य, यदयविषयक्षवोधजनकत्वतात्पर्येण शब्दः प्रयुज्यते स एव तस्य वंच्योऽर्थं इति नियमात्, प्रधानत्वेन तात्पर्याविषयस्य व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यत्वं भवद्भिनाङ्गीकतुँ शव्यत इति यावत्। तावता किमःयातमित्याह— तदिति। तत् तस्मात्, शब्दानां व्यङ्ग्याख्यः कश्चिद् विषयः नास्तीत्यायातम्। तस्य व्यङ्ग्यस्य यत्र।पि प्राधान्यं तत्र।पि तस्य व्यङ्ग्यस्य स्वरूपं किमिति अपह्नूयते किमर्थं व्यङ्ग्यस्य निह्नवः क्रियते। एवमुक्तप्रकारेण व्यञ्चकत्वं वाचकत्वादन्यदेव भिन्नमेव। इतश्च प्रकारान्तरेणापि वाचकत्वाद्, व्यञ्चकत्वं वाचकत्वादन्यदेव भिन्नमेव। इतश्च प्रकारान्तरेणापि वाचकत्वाद्, व्यञ्चकत्वं स्यान्यत्वं भेदः। यदिति। वाचकत्वं शब्दैकाश्चयं शब्दमेकमेवाश्चित्य वर्तते। इतर्त्तु व्यञ्चकत्वं तु, शब्दाश्चयमर्थाश्चयं च। यत्रार्थः शब्दो वेत्यनेन शब्दार्थ-योर्द्यशेरिप व्यञ्चकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्। एवं वाचकत्वं व्यञ्चकत्वं च मिथो भिन्नमेवेति व्यवस्थितम् ।। गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रय। विभवति । किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयत्र भिद्यते । रूपभेदस्तावदयम् । यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा । व्यञ्जहत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः । न ह्यर्थाद् व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या वाच्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते ॥

अयं चान्यः स्वरूपभेदः - यद् गुणवृत्ति "म्रूष्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्व-मेवोच्यते । व्यञ्ज न्त्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विशिष्णभेवः । एतच्च प्रतिपादितम् ।

उज्जीवनी।

अथ गुणवृत्तेर्वेञ्जनाय। भेदं प्रतिपादियतुमाह—गुणवृत्ति श्ति। उपचारेण साहश्यास्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिरुपचारस्तेन साहश्यसम्बन्धिनबन्धनतया। लक्षणया निद्वतर (कार्यकारणभावादि) सम्बन्धिनबन्धनतया च द्विविधा गुणवृत्ति-लंक णाव्यापारः। शुद्धा गौणी चेति द्विविधाया लक्षणाया अमुख्यव्यापारात्म-कत्वात् गुणवृत्तिरिति व्यवहारः। सा च उभगश्रयाप लक्षणायि शब्दमर्थं चेति उभयमाश्रित्येव वर्तते। किन्तु ततोऽपि लक्षणायः अपि, व्यञ्च त्वं व्यञ्चनाव्यापारः, स्वरूपतः स्वरूपभेदेन विषयतो विषयभेदेन च भिद्यते भिन्नेव भवति । रूपभेदं प्रदर्शयति—रूपेति । अयं वक्ष्यमाणप्रकारः रूपभेदः स्वरूपभेदः, गुणवृत्तिर्लक्षणा, अमुख्यतया मुख्यार्थवाधे सित मुख्यार्थसम्बद्धस्याः थस्य अप्रधानतया प्रवर्तमानो व्यापारः। तु किन्तु, व्यञ्च कत्वं व्यञ्चनां, मुख्यतया प्राधान्येन प्रवर्तमानः, शब्दस्य व्यापारः। अर्थात् वाच्याद् या व्यङ्ग्यत्वयप्रतीतिः वस्त्वलङ्काररसादिरूपाणां त्रयाणामर्थानां प्रतीतिः, तस्याः अर्थत्वयप्रतीतिः वस्त्वलङ्काररसादिरूपाणां त्रयाणामर्थानां प्रतीतिः, तस्याः अर्थत्वयप्रतीतेः मनागपि अत्यल्पमिप अमुख्यत्वं लक्ष्यते दृश्यते ।।

प्रकारान्तरेणापि स्वरूपभेदमाह— अयं मित । अयं वक्ष्यमाणोऽन्यः स्वरू । भेदः स्वरूपभेदप्रकाष इत्यर्थः । यद् यतः, गुणवृत्तः रूक्षणा, अमुख्यत्वेन व्यवस्थित वाचकत्वमेव । शब्दो यदा मुख्यत्या सक्षात् मङ्केतितमर्थं, बोधयति तदा तद् वाचकत्वं शब्दिनिष्ठं मुख्यम् । यदा तु अपुष्ट तया वाच्यार्थ-सम्बद्धमर्थान्तरं बोधयति तदा तद् वाचकत्वं अपुष्ट्यम् इति चोच्यते । ततो मुख्यामुख्ययोक्षयोरप्यययोम्बुख्यत्वामुख्यत्वरूपं वाचकत्वमेव व्यापारः । व्यक्ष कत्वं तु व्यक्षताव्यापारस्तु, वाचकत्वादिभषाव्यापाराद् अत्यन्त विभिन्न-मेव अत्यन्तं भिद्यत एवेत्यथः । एतदिष पूर्वं प्रतिपादितम् । अन्यभिष भेदमाह—अयं चापरो रूपभेद इति । गुणवृत्रौ बक्षणायाम् । यदा अर्थो वाच्यः अर्थान्तरं

अयं चापरो रूपभेदो यद्गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीया-र्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते । यथा "गङ्गायां घोष" इत्यःदौ ।—

व्यक्षकत्। मार्गे तु यथार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा रवरूपं प्रकाशयन्तैवासा-वन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत् । यथा— 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ । यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः क्रियते । तदेवं सति कक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम् । यस्मात् प्रायेण वाक्यानां वाक्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषय र्थावभासित्वम् ॥

उज्जीवनी !

तत्सम्बद्धमन्यमर्थं उपलक्षयति अधिकतया बोधयति, तदासौ वाच्योऽर्थः, उपलक्षणीयात्मना अधिकतया बोधितस्यार्थस्य स्वरूपेण परिजतः सम्पद्यते । यदा 'गङगायां घोष' इत्यादौ प्रवाहरूपो वाच्योऽथैः, शीररूपेण परिणत एव वाक्यार्थबोधविषयो भवति । इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते । व्यञ्जकत्वमार्गे तु व्यञ्जनायां यदा अर्थो वाच्यः अन्यस्य।र्थान्तरस्य प्रकाशको व्यञ्जकः, प्रतीयते प्रकाशते । यथा दीप: स्वात्मानं प्रशाशयन्तेव पदार्थान्तरं प्रकःशयति तथेत्यर्थः । उदाहरति-यथेति । छीलेति । तत्र लीजापत्रगणनादिरूपोऽर्थः स्वयं प्रकाशमान एव बीडादिरूपमर्थान्तरं प्रकाशयति । ननु 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ वाच्यस्याविवक्षितत्वेन तत्तिरस्कारपूर्वकमर्थान्तरस्य **लक्षण**लक्षणास्थ**ले** प्रतीतिर्रुक्षण्या भवतीति मते, तया व्यञ्जनाया गतार्थंत्वं यद्यपि न सम्भवति तथापि उपाद्धानसक्षणास्थले वाच्यार्थपरित्यागेनार्थान्तरस्य तत्रत्यथा लक्षणया व्यञ्जनायाश्चरितार्थत्वं भवत् इत्याशङ्कते - यत्रेति । स्थल-विशेषे 'कून्ताः प्रविश्वन्ति' इत्यादौ अतिरस्कृतस्वप्रतीतिः अतिरस्कृता स्वस्य (वाच्यार्थस्य) प्रतीतिर्येन तादशो वाच्यार्थः अर्थान्तरं अन्यमर्थं, लक्षयति प्रतिपादयति, तत्र लक्षणाव्यवहार एव खलु क्रियते, न व्यञ्जनाव्यवहारः। यद्येवं तर्हि मुख्यः शब्दव्यापारः, एव बक्षणेति प्राप्तम्। तत्र हेतुमाह — यस्मादिति । यस्माद् यतः, प्रायेण भूम्ना, वाक्यानां शब्दसमूहात्मकानां, वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वं वाच्यादर्थाद् व्यतिरिक्तस्य भिन्नस्य तात्पर्यविषयस्य वक्तृविवक्षाधीनस्य अर्थस्यावशासनं प्रकाशनं नियमेन दृश्यते ।

ननु त्वत्पक्षेऽि पदार्थों व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयित, तदा शब्दस्य की हशो ब्यापारः । उच्यते —प्रकरणाद्यविष्ठित्रशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविध व्यञ्जक-स्विमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः कथमपह्नूयते । विषयभेदोऽिप गुणवृत्ति-ब्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव ।

यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारिवशेषाः, व्यङ्ग्यरूपाविच्छन्तं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनिचदुव्यते, न च शवयते वक्तुस्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरिप तथैत्र। वस्तुसारुत्वप्रतीतये

उज्जीवनी ।

कि च स्वत्पक्षेऽिष सिद्धान्तितमतेऽिष, अर्थोगाच्यः, यदा व्यङ्ग्यत्रयं वस्त्वलङ्काररसात्मकं, प्रकाशयित द्योतयित, तहा शब्दस्य कीदशो व्यापारः, अर्थस्यैवार्थान्तरप्रकाशकत्वादिति पूर्वपक्षाशयः। समाधत्ते—उच्यत इति । लक्ष्यार्थतात्पर्यग्राहकं प्रमाणं मुख्यार्थवाधकादि कम्। व्यङ्ग्यार्थतात्पर्यग्राहकं तु प्रकरणादिकमिति लक्षकत्वव्यञ्च कत्वयोभेदः। तत्रापि व्यञ्जकत्वं शब्दार्थान्भयाश्रितमित्युक्तम्। तया च यदा शब्दोऽर्थान्तरं व्यवक्ति तदा तस्यार्थस्य सहकारित्वं, यदार्थोऽर्थान्तरं बोधयित तदा शब्द्यस्य सहकारित्वं च निश्चितम्। अर्थस्य वाच्यार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वं प्रकरणाद्यवच्छित्रशब्द अशेनैव शब्दार्थस्यानन्यलभ्यत्वात् शब्दस्य तत्नोपयोगः अर्थान्तरव्यञ्जने उपयोगः, कथमपह नुयते अपह्नोतुं न शक्यत इत्यर्थः। एतेन लक्षकत्वव्यञ्जकत्वयोः स्वरूपभेदः प्रदिशितः।

विषयभेदमाह—विषयेति । गुणवृत्तिव्यञ्जकत्त्रयोः गुणवृत्तेर्रुक्षणायाः व्यञ्जकत्त्रस्य व्यञ्जनायाश्च विषयभेदोऽपि स्पष्ट एव । स्पष्टतामेवाह—यत इति । यतः यसमाद् व्यञ्जकत्त्रस्य व्यञ्जनाव्यापारस्य, रसादयो रसभावा-दयः, अलङ्कारविशेषाः, व्यङ्ग्यरू । त्रिष्ठःनं व्यङ्ग्येन स्वरूपेण विशिष्टं वस्तु चेति त्रयं विषयः । तेषु एकै कस्यापि गुणवृत्तिविषयत्वं नास्ति । रसादि-प्रतः तिः रसभावादीनामभिव्यक्तिः गुणवृत्तिरिति सक्षणा बोध्येति केनचिदिष

१. यत्र ग्रस्खलद्गतित्वं, समयानुपयोगित्वं पृथमचभासित्वं चेति त्रयं तत्र' च

स्वशब्दानिभिधेयत्वेत अत् प्रतिशिषादयितुमिष्यते तद् व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं गुणवृत्तेविषयः प्रसिद्धचतुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात्।

तथोक्तं प्राक् । यदिष च गुणवृत्ते : विषयस्तदिष च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन । तस्माद् गुणवृत्ते रिष व्यञ्जव त्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम् । वाचकरवगुणवृति-विलक्षणस्यापि च तस्य तद्भयाश्रयत्वेन व्यवस्थानम् ।

व्यञ्जकत्वं हि कविद्वाचकाश्रयेण व्यविष्ठिते। यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये इवनौ । कचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण । यथा —अविवक्षितान्यपरवाच्यो इवनौ । तदुभयाश्रयत्यप्रतिपादनायैव व्यनेः प्रथमतरं द्वौ प्रभेदावुपन्यस्तौ । तदुभया-

उज्जीवनी ।

नोच्यते तथा वक्तुं न शक्यते च । व्यङ्खालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव, लक्षणा-जन्यप्रतीतिविषया न भवत्येव । वस्तुचा इत्वप्रतीतये वस्तुनः चारु वावनसन य स्वशब्दानभिधेयत्वेन स्वशब्दे । वाचकशब्दे । अभिधानं विना यत् प्रतिगाद-यितुमिष्यते तद् वस्तु च व्यङ्ग्यमित्येव चोच्यते । तत् सर्वं च वस्तु गुणवृत्तेः लक्षणाया विषयो न भवति । एतेन किवलक्षणाबोध्यत्वमिप दृश्यत इति सिद्धं भवति । यथा---नि:श्वासान्ध इवादर्श इत्यादिस्थले अन्धशब्दस्य मालिन्ये लक्षणा । यतः प्रसिद्धानुरोधाभ्यामपि प्रसिद्धेः रूढितः, अनुरोधात् प्रयोजनानु-सारतः, गौणशब्दाः प्रयुज्यमाना दश्यन्ते । यथा लावण्यादयः, 'वदति बिसि-नीपत्रशयन'मित्यादयः। इदं पूर्वमेत्राक्तं द्वितीयोद्योते । अपि च गुणवृत्तेविषय इति यदुच्यते तदिप व्यञ्जकत्वस्य व्यञ्जनयानुप्रवेशेनैव । प्रयोजनवत्या लक्षणायाः शैत्यपावनत्व।दिकं तु व्यञ्जनाम।त्रव्यापारगम्यमेव [प्रयोजना-त्म कव्यङ्ग्यार्थप्रतिपिपादयिषयैव ल क्षणिकशब्दप्रयोगे नैर्भर्यं कवीनाम्] यस्मादेवं विषयभेदस्तस्मात्, गुणवृत्तेर्लक्षणाया अपि, व्यञ्जकत्वस्य व्यञ्जनायाः, अत्यन्तविलक्षणस्वं अत्यन्तभेदः । तथापि तस्य व्यञ्जवत्वस्य वाचकत्वगुणवृत्ति-विलक्षणस्यापि वाचकत्वादिश्वाया, गुणवृत्तेर्लक्षणाया अपि वैलक्षण्यसत्वेऽि तदुभयाश्रयत्वेन वाचकत्वलक्षकत्वात्मकपुभयमाश्रित्यैत व्यवस्थिति ई इयत इत्यर्थः ।

तदेवोपपादयति—न्यञ्जकत्विमिति । एवं न्यञ्जकत्वस्य सिद्धौ तत् किचिद्वाचकत्वं शब्दिनिष्ठमभिषायकत्वरूपमाश्चित्य व्यवतिष्ठते । यथा— विवक्षितान्यपरे वाच्ये व्वनौ । तत्र वाच्यस्य विवक्षितत्वात् । किचित्तु श्चितत्वाच तदेकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम् । यस्मान्न तद्वाचकत्वेनैकरूपमेव, कचिल्ल प्रणाश्चयेण वृत्तेः । न च लक्षणंकरूपमेवान्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात् ।

त चोभयधर्मस्वेनैव तदेकरूपं न भवति । यातद्वाचकत्वलक्षणादिरूप-रिह्तशब्दधर्मस्वेनापि : तथाहि—गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकस्वमस्ति रसादिविषयम् । ग च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथिच्छक्ष्यते । शब्दादन्य-चापि विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शताद् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम् । यदि च याचकत्वलक्षणादोनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षण-स्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकृष्ट्यते । तच्छब्दस्यैत प्रकारत्वेन कस्मान्न

उज्जीवनी ।

गुणवृत्तिमाश्रित्यावतिष्ठते व्यञ्जकत्वम् । यथा अविव्धितवाच्ये ध्वनौ । एवं घ्वने: तद्भयाश्रयत्वप्रतिपादनाय ०यत्र्जकत्वस्य, वाचकत्वलक्षकत्वरूपो÷ भयाश्रयत्वप्रदर्शनायैव च प्रथमतरभादावेव दी भेदी विवक्षितान्यपरवाच्यान विवक्षितान्यवाच्याख्यौ भेदौ उपन्यस्तौ। तदुभयाश्रितत्वाच्च व्यञ्ज हत्वं यतो वाचकरवं, गुणवृत्ति चाश्रित्य वर्तते । तस्मात् तदेकरूपत्व वाचकत्वैक-रूपत्वं, लक्षकत्वेकरूपत्वं वा वक्तुं न शक्यते हेतुमाह—यस्मादिनि । यस्माद् यतः, तद् व्यञ्जकत्वं, न वाचकत्वेकरूपमेव, क्वचिद् स्थलान्तरे लक्षणाश्रयेण वृत्तेः लक्षणामाश्रित्य वर्तनात् । न च लक्षणै रुक्तामेव गुणवृत्ये रुक्तामेव, अन्यत्र स्थलान्तरे वाचकत्वमाश्रित्य व्यवस्थानात् एवं च स्थलभेदेन शब्दस्य बाचकत्वलक्षकत्वरूपधर्मद्वयसम्भवादेव तदेकैकरूपं वाचकत्वैकरूपं लक्षकत्वैकरूपं वान भवति इत्यपि वक्तुं न युक्तम्। वाचकत्वलाक्षणि ह-त्वादि यदूषं धर्मः, तद्रहितो यः शब्दो ध्वन्यात्म कः, तद्धर्मत्वेनापि तदाश्रयत्वे-नापि व्यञ्जकत्वस्य व्यवस्थितेः व्यवस्थानात् । तदेवोपपादयति—तथाहीति । गोतध्वनीनामपि रसादिविषयं रसभावादिविषयं व्यञ्जकत्वं रसभावादि-॰यज्जकत्विमिति यावत् । तेषां गोतध्वनीनां वाचकत्वमिधायकत्वं, स्रक्षणा लक्षकत्वं वा कथि चिदिप न लक्ष्यते न द्रयते । किञ्च शब्दादन्यत्रापि ध्वन्यात्मकात् वर्णात्मकाच्च शब्दादन्यत्रः चेष्टादाविप विषये व्यञ्जकत्वस्य व्यङ्गचार्थबोधनस्य दर्शनात् वाचकत्वलक्षकत्वरूपधर्मवैशिष्ट्यं वनतुमयुक्तं न परिकल्प्यते। तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाश—वाचकत्वं गुणवृत्तिव्यंत्र्ज-कत्वं च। तत्र व्यत्र्जकत्वे यदा प्राधान्यं तदा घ्वनिः, तस्य चाविवक्षित-वाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।।

अन्यो ब्र्यात्—ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये घ्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद् युक्तण् । यस्माद् वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र कथं गुणवृत्तिव्यत्रहारः, न हि गुणवृत्ती यदा निभित्तेन केनचिद् विषयान्तरे

उज्जीवनी ।

वन्तं युक्तमित्यर्थः । प्रसिद्धप्रकारिवलक्षणत्वेऽपि प्रसिद्धो यः प्रकारः शब्दधर्मत्वरूपः, तस्माद् विलक्षणत्वेऽपि भिन्नत्वेऽपि अवाचकध्विसधर्मत्वसम्भवेऽपि,
वाचकत्वलक्षणादीनां वाचकत्वलाक्षणिकत्वव्यम् जकत्वादीनां शब्दप्रकाराणां
शब्दधर्माणां मध्ये, व्यम् जकत्वमपि । यदि प्रकारत्वेन परिकल्पते तर्षि तद्
व्यञ्जकत्वमपि । शब्दस्येव प्रकारत्वेन शब्दधर्मत्वेन, कस्मान्न परिकल्पते
तस्यापि शब्दव्यापारत्वेन परिकल्पनं युक्तमेवेत्यर्थः । उपसंहरित—
तदिति । तत् तस्मान्, छवं पूर्वोपदिशिष्रकारेणः शब्दे व्यवहारे शब्दव्यवहारविषये । त्यः प्रकाराः—वाचकत्वं गुणवृत्तः (लक्षकत्वम्) व्यञ्जकत्वं
चेति । तत्र तेषां मध्ये, व्यम्जकत्वे व्यम्जनाव्यःपारविषये, यदा ध्यङ्गधस्यार्थस्य व्यम्जनाव्यापारगम्यस्यार्थस्य प्राधान्यं तदा ध्विनः, तस्य च ध्वनेः,
खिवविक्षत्वाच्यो (लक्षणामूलः) विवक्षितान्यपरवाच्यः (अभिधामूलः) इति
द्वी प्रभेदौ प्रथममनुकान्तौ, प्रथमतरमादावेव, तौ प्रभेदौ सविस्तरं निर्णीतौ
समिथित।वित्यर्थः ।

एतावता प्रबन्धेन वाचकत्वव्यञ्जकत्वयोः, गुणवृत्ति (लक्षकत्वं) व्यञ्जक-त्वयोश्च भेदे प्रतिपादितेऽभि, तत्रापितुष्यतः अन्यस्य कस्यचिन्मतं तिन्नवार-णायोपन्यस्यति । अन्यो ब्रूयादिति । निन्वति । विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ, गुणवृत्तिता लाक्षणिकत्वं नास्तीति यदुच्यते तद् युक्तमेव । नानार्थस्थले अभिधेयस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्, तस्य वाचको यः शब्दः, तस्यावृत्त्या प्रतीति-पूर्वकं (पदज्ञानपूर्वकं) यत्नार्थान्तरस्य ज्ञानं तत्र गुणवृत्तिव्यवहारस्य प्रसक्ते । शब्द आहोष्यते अत्यन्ति तिरस्कृतस्वार्थः यथा 'अग्तिमणिवकहत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशं परित्यजं,स्तरसम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामितं यथा "गङ्गायां घोष" इत्यादौ। तदाविवक्षितवाच्यत्वभुपण्द्यते। अत एव बिवक्षितान्यगरो वाच्ये ध्वनौत्राच्यवाचकयोर्द्धयोरिप स्वरूपप्रतीतिरर्थावणमनं दश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी। स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक दृत्युच्यते, तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्विमिति गुणवृत्तिव्यवहार- वियमेनेव न शक्यते कर्तुम्।

उज्जीवनी ।

भावात्। तद्युक्तमिति पूर्वेणान्वयः। गुणवृत्तौ लक्षणायाः, गुरोत केनचिद् साद्यादिना निमित्तेन, यदा शब्दस्यार्थान्तरे वृत्तिः, तदा विषयान्तरे अर्थान्तरे शब्द आरोप्यते, वाच्यस्यार्थस्यात्यन्तं ति रस्कारश्च भवति । स चाविवक्षितः वाच्यध्वनिरित्युच्यते 👂 यथेति — अग्निर्माणवकः इत्यादौ । तच्च अग्निशब्द-मुख्यार्थस्य माणवकषदार्थेनान्वयस्य बाधितत्वात्, ते जस्विरूपेऽधन्तिरे लक्षणाङ्गीक्रियते । [माणवकेतेजोऽतिशयस्य प्रतोतिः प्रयोजनम्] एवं वावास्ति गुणवृत्तिः । वाच्यार्थस्यात्यन्तं तिरस्कारेण तन्निक्ष्यितं वाचकत्त्रमप्यपेतम् । अतः तत्र वाच्यस्य विवक्षितत्वं न हि उपगद्येत । तथा अर्थान्त रसंक्रमितेऽपि स्व।थं स्वस्य शब्दस्य वाच्यमथं अंशेन भागेन परित्यजन् तत्सम्बन्धद्वारेण मुख्यार्थसम्बन्धेन विषयान्तरं अर्थान्तसमाक्रामित, यथा-'गङ्गायां घोष' इत्यादी । अत्र गङ्गाशब्दमुख्यार्थी गङ्गास्रोतः, तत्र च पदार्थान्तरान्वयस्य बाधितत्वात् गङ्गाशब्दः प्रवाहरू । मंशं पित्यज्य गङ्गासम्बन्धविशिष्टे तीररूपेऽयन्तिरे सङ्क्रमितः । अत्रापि गुणवृत्तिरस्त्येव । गुरोत सामोप्यादिना गङ्गाशब्दस्य गङ्गातीरे वर्तनात् । अत्र च गङ्गाशब्दम्ख्यो योऽर्थः यः प्रवाह-रूपस्तस्य घोषपदार्थोन्वयो न सम्भवतीति वाच्यस्य मुख्यस्यार्थस्य पदार्थान्तरा-न्वयविवक्षा नास्ति । अत एवेति । अत एव च अविवक्षितवाच्ये व्वनी, वाच्य-वाचकयोर्द्धयोः वाच्यस्यार्थस्य, वाचकस्य शब्दस्य चेत्यभयोरपि, स्वरूपप्रतीतिः स्वरूपज्ञानं अर्थावगमः ऽथीन्तरज्ञानं च दश्यत इति तस्य शब्दस्य व्यञ्ज ६त्वव्यव-हारो युक्तचनुरोधी युक्तिमनुसूत्येव व्यञ्ज ह इति व्यवहारो वर्तत इति यावत्।

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्माणवृतिः कथं भिद्यते । तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः । अयमपि न दोषः । यस्मादिविविक्षितवाच्योध्वनिर्माणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति, न तु गुणवृत्तिक्ष्यः एव । गुणवृतिहि
व्यक्षकत्वशून्यापि दश्यते । व्यक्षकत्वं च यथोक्तवारु वहेतुं व्यक्ष्यं विदा न व्यवतिष्ठते । गुणवृत्तिस्तु वाच्यवमिश्रयेणव व्यक्षयमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति यथा -तीक्ष्णत्वादिगिर्माणव हः, आह्लादकत्वाच वद

उज्जीवनी।

तथा च घटप्रदीपन्यायेन स्वरूपं स्वरूपं वाच्यमर्थं प्रकाशयन्नेव, परावभास हः परस्य व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रकाशकः यः स एव व्यञ्जक इत्युच्यते । तथाविधे तादशे विषये वाच हत्वस्येव व्यञ्जकत्विमिति वाच्यार्थं बोधनदशायां तादश वाच्यार्थं निरूपितं शब्दि विषये यत् वाच कृत्वं तदेवार्थान्तरबोधादशायां ति किरूपितं तादश शब्दि विष्ये विषये विष

यतो यस्मात् अविवक्षितवाच्यो ध्वितस्तु, तस्य ध्वने: प्रभेदद्वये अत्यन्तितिरस्कृतवाच्यार्थान्त इसङ्क्रमित्वाच्याख्ये, गुणवृत्तिप्रभेदद्वयक्ष्पता गुणवृत्तः लक्षणायाः यद् प्रभेदद्वयं गौगत्वलाक्षणिकत्वादिकं तद्रपत्वं लक्ष्यते ततः अयं ध्वितः गुणवृत्तः कथं भिधत इत्याशङ्का । समाधत्ते—अयमि न दोषः इति ।
हेतुमाह—यस्मादिति । अविविज्ञितवाच्यो ध्वितः, गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽि गुणवृत्तेर्मार्गमाश्रित्यापि वर्तत इत्येव ब्रमः । न तु गुणवृत्तिकप एव गुणवृत्तिमात्राश्रयः । हि यतः गुणवृत्तिः व्यञ्जकत्वश्रूत्यापि द्वयते । निरूढलक्षणस्थले शब्दस्य व्यञ्जकत्वं नास्ति । व्यञ्जकत्वं च यथोक्तवाद्यत्वहेतुं सहदयाङ्कादकारि यच्चाद्त्वं तस्य हेतुं व्यङ्गचमर्थं विना, न व्यवति श्रते न व्यवस्थितं
भवति । गुणवृत्तिस्तु गौणी लक्षणा तु वाच्यधमिश्रयेणेव वाच्यविषयो
वाच्यार्थबोघजनकः, शब्दिनष्ठो यो व्यापारो वाचकत्वमभिष्ठारूपं तदाश्रयेण
प्रवर्तते, तादशी अव्यङ्गचा व्यङ्गचमात्राश्रयेण व्यङ्गचमात्रमात्रित्य च
प्रवर्तमाना सव्यङ्गच।चेति, अभेदोपचारक्षा तादात्म्यारोपात्मिका सम्भवति ।
उदाहरति—ययेति । तीक्ष्णत्वादिति । अग्निमाणवकयोस्तीक्षणत्वेन,

एवास्या मुखमित्यादौ । यथा च 'त्रिये जने नास्ति पुनक्कम्' इत्यादौ । यापि लक्षणारूमा गुणवृत्तिः, सापि उपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चाक्रूपव्यङ्गचत्रतीति विनापि सम्भवत्येव । यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ती'त्यादौ विषये ॥

यत तु सा चारुकाव्यङ्गचारते तिहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्। असम्भविना चार्येन यत्र व्यवशारः यथा—'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं, इत्यादौ तत्र चारुकपव्यङ्गचप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनिव्यवहार एव युक्तचनुरोधी । तस्मादविवक्षित्वाच्येध्वनौ

उज्जीवनी

मुखचन्द्रयोगाह्लादकत्वेत च साद्द्रशेन तादः तम्यं व्यज्यत इति सव्यङ्ग्येयम्। यथा चेति । प्रिये जन इति । रूढिपूर्विकाया अव्यङ्गचाया गुगवृत्तेरदाहरणम्।

> चुम्बिजाइ असद्धृतं अवरुन्धिजाइ सहस्महुत्तम्मि । विदमि अपुणो रिमजाइ पिअ जणो णास्थि पुनरुत्यम् ॥

प्रथमोद्द्योते प्रदक्षितम् । वत्र पुनक्किमित्यने न अनुगदेयता खध्यते । उक्तं च प्रथमोद्द्योते—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादिप । लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ इति ।

यापि लक्षणारूपा गुणवृत्तिः या शुद्धा लक्षणोत्युच्यते, सापि उपलक्षणोयार्थं सम्बन्धमात्राश्रयेण उपलक्षणीयस्य उपलक्षणिवधया लक्षणया बोधविषयस्यार्थस्य लक्ष्यार्थंस्य सम्बन्धम लमाश्रित्य, चारुरूपव्यञ्ज्ञघप्रतीिं चारु सुन्दरं, रूपं यस्य तः दशस्य व्यङ्गचस्य प्रतीिं विनापि सम्भवत्येव । अत्र मञ्चशब्दमुख्या-र्थस्य क्रोशनिक्रयया अन्वयस्यानुपपत्त्या रूढचा प्रसिद्धचनुरोधेन मञ्चस्थपुरुषे लक्षणा कल्प्यते । न ह्यत्र चारुरूपं किमपि व्यङ्ग्य वतते ।

यत्रेति। यत्र तु सा लक्षणा, चारुरूपव्यक्त्रचप्रतं तिहेतुः, चारुरूपस्य महदयहः वाह्माद रस्य व्यक्त्रचार्यं रस्य प्रतीतिहेतुर्भवित तत्रापि व्यक्षकत्त्रानु-प्रवेशनैव व्यक्ष रत्वस्य व्यक्ष गाव्यापारस्य अनुप्रवेशादेव । वाचकत्ववत् यदा वाचकत्वमिधाव्यापारः चारुरूपमर्थान्तरं व्यक्षनाया अनुप्रवेशेन बोधयित,

द्वयोरिप प्रभेदयोर्ग्ञ्जकस्विविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिनं तु तदेगक्या सह्दयहृदय।ह्लादिनो प्रतीयमाना प्रतीतिहेनुत्वात् विषयान्तरे तदूपश्न्याया दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक् स्चितमिप स्फुटतरप्रतीतये पुनक्तम्॥

अपि च व्यञ्ज हत्व अक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधो न कस्यचिद् दिगतिविषयतामहंति ।

जजीवनी।

तथा लक्षणापि चारुरूपं व्यङ्गचमर्थं व्यञ्जनाया: सःहाय्येनेव बोधयतोति शेयम्। असम्भविता अनुपपद्यमानतया बोधितेन, अर्थेन, यत्र व्यवहारः शब्दत्रयोगः, यथा "सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः । कुतिवद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।। ' इत्यादौ । इदं पद्यं प्रथमोद्योते, अविव-क्षितवःच्यध्वने हदाहरणःचेन प्रदर्शितम् । अत्र शूरादयस्त्रयः सुवणपुष्पां पृथिवी चिन्वन्ति इति वाक्येनाभिधया बोध्यमानस्यार्थस्यासम्भव त् शूरादीनां सर्वत्र सुलभा विभूतय इत्यर्थो व्यञ्जनाव्यापारजन्यश्चमत्कारकारीति गुणवृत्ती सत्या-मपि ध्वनिव्यवहार एव युक्तचनुरोधीति युक्त इत्यर्थः । एवं च यथा वाच कत्व-व्यञ्ज हत्वयो भेंदस्त्रथा लक्षकव्यञ्जकत्वयो एपि भेदः सम्यक् प्रदिशतः । उपसह-रन्नाह—तस्मादिति । तस्मादेतावतोक्तेन कारऐन, अविवक्षितवाच्ये घ्वनौ. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूपयोद्वेयोरपि प्रभेदयो: लक्षणा-मूलध्वने रवान्तरभेदयोः । व्यञ्जनत्वविशेषाविशिष्टा व्यञ्जनत्वातमको यो विशेषः (गुणवृत्तौ) तेन यद् वैशिष्ट्यं तद्रहिता गुणवृत्तिरेव व्यापारः। तु किन्तु, सा गुणवृत्ति: तदेक रूग तद् व्यञ्जकत्वमेव एकं रूपं (धर्मः) यस्याः तास्त्री न भवति, यतः सा गुणवृत्तिः प्रतीयमाना व्यञ्जनागम्या सहदयहदया-ह्लादकारिणी च न वतेते। तत्र च हेतुः, प्रतीतिहेतुत्वादित । लक्षणायाः प्रयोजनवत्त्याः व्यञ्जनाव्यापारेण या चारुत्वप्रतीतिः तद्धेतुत्व।दित्यर्थः। विषयान्तरे निरूढलक्षणायां, तद्रूपशून्यायाः चारुत्वहेतुत्वरूपं यत् प्रयोजनं तद्रहिताया दर्शनादनुभवात्। सर्वमेतच्च प्राक् सूचितम्। तथापि स्फुटतर-प्रतीत्यर्थं पृथगुक्त वेदितव्यम् ।

अथ वाचकत्ववयञ्जकत्वयोषि प्रकाशन्तरेण भेदं प्रदर्शयतुमाह—अपि चेति । अपि च किन्द, शब्द।र्थयोः शब्दस्य।र्थस्य च व्यञ्जकत्वलक्षणः व्यञ्जकत्व- शब्दार्थयोहि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवावकभावाख्यस्तमनुसन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्रचन्तरसम्बन्धायौगिष्टिकः प्रवर्तते। अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदिवनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः। औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रशीतेरित्रश्यात्वप्रतीतेः।

नतु यद्यनियतस्तत् कि तस्य स्व इयपरीक्षया ः नैष दोषः, यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वात् । न तु स्वे विषये व्यङ्गचनश्चरो । लिङ्गत्वन्यायश्चास्य। व्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्वभाश्चरेष्वनियतावभासं, इच्छाधीनत्वात् स्वविषयाव्यभिचारि च । तथैवेदं दिशतं व्यञ्जकत्वम् । शब्दात्म-

उज्जीवनी ।

रूपो यो धर्मः व्यङ्गच्य्यत्र जकभावरूपः सम्बन्धः, सः प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधो शब्दार्थयोः प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाच कभावास्यः (वाचकत्वातमकः) तदनुरोधी तदनुसारेण प्रवर्तमान इति कस्यचिदपि विमतिविषयतां नार्हेति कस्यचिदपि विमतिविषयतां नार्हेति कस्यचिदपि विमतिविषयो न भवतीत्यर्थः।

तदेवाह—शब्दार्थयोरिति। हि यतः शब्दार्थयोः शब्दस्यार्थस्य च
प्रसिद्धः वाच्यवाचकभावाख्यः यः सम्बन्धः, तमनुष्ठन्धान एव तदनुसारेणैव,
व्यञ्जकत्वलक्षणः व्यञ्जनारूपो व्यागारः सामग्रचन्तरसम्बन्धात् प्रकरणादिसामग्रचन्तरवैशिष्टचरूपात् सम्बन्धात्। औपाधिकः उपाधिभेदिनबन्धनः
प्रवर्तते व्यञ्जचमर्थं बोधयति। अत एव औगाधिकत्वादेव तस्य व्यञ्जकत्वस्य,
वाचकत्वाद् भेदः। वावकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियतं आत्मा नियतं स्वरूपम्।
व्युत्पत्तिकालादाच्यः शब्दस्य सङ्केतितो योऽषः तज्ज्ञानसमयादाद्यः
तदविनाभावेन तत्महचरितत्वेनः तस्य शब्दविशेषस्य प्रसिद्धःवात् प्रयोगप्रसिद्धः, सतु व्यञ्जकत्वह्वरत्त्वेनः, तस्य शब्दविशेषस्य प्रसिद्धःवात् प्रयोगप्रसिद्धः, सतु व्यञ्जकत्वह्वरत्त्वेनः, तस्य शब्दविशेषस्य प्रसिद्धःवात् प्रयोगप्रसिद्धः, सतु व्यञ्जकत्वह्वरस्तु अनियनः, न नियत्नसाहचर्गवान् औगाधिकत्वात्
उपाधिनिवन्धनत्वात्। तस्य शब्दनिष्ठ यद् व्यञ्जकत्वं तस्य प्रकरणाद्यवच्छेदेन
प्रकरणवैशिष्ट्ये सनि प्रतोतेबाधात्। इत्रत्था प्रकरणाद्यवच्छेदेन
प्रकरतितेः प्रतीत्यभावात्। व्यञ्जकत्वस्य स्वरूपं परिचिक्षिषुराह्य—नन्विति।
व्यञ्जकत्वरूपं धर्मा यद्यनियतः, तत् तिह तस्य व्यञ्जकत्वस्य स्वरूपपरीक्षया
किम्, स्वरूपं न परीक्षणीयमित्याशङ्का। नेष दाषः अपशिक्षणीयतादोषो

न्यनियतत्वादेव च तस्य वाचकत्वप्र शारता न शक्या कल्पयितुम् । यदि हि वाचकत्वप्र शारता तस्य भवेत् तच्छब्दात्मिन नियत्ततापि स्याद्, वाच शत्ववत् । च च तथाविध औपाधि हो धर्मः शब्दानामौत्यतिकशब्दार्थसम्बन्धवादि श वाक्यतत्त्वविदा पौरुषापौरुषेययोवी स्ययोविशेषमभिवधता नियमे गम्यु-

उज्जीवनी।

नास्तीत्यर्थः। हेतुमा ह-यत इति । यतः यस्मात् शब्दात्मनि शब्दस्वरूपे तस्य व्यञ्जकत्वस्य, अनियतत्वं प्रकरणादिभेदेन भिन्नभिन्नार्थव्यञ्जनान्नियतत्वा-भाव: । व्यञ्जयलक्षरो व्यञ्जयहरे, स्वे विषये तत्तरसामग्रीजन्यप्रतीतिविषये तत्तदर्थे तु नःनियतत्वम् । एवं चास्य व्यञ्जकभावस्य व्यञ्जकत्वस्य ॥ लिङ्गत्वन्य।यः भिङ्गत्वतुल्यता, लक्ष्यते दश्यते 🗊 यथा लिङ्गे लिङ्गत्वम्; अनुमि हितुत्वम् । तथा व्यञ्जके व्यञ्जकत्वः व्यञ्ज्वार्थप्रतीतिहेतुत्विभित व्यञ्जकत्वस्य लिङ्गत्वसाम्यम् । समर्थयति —यथेति । लिङ्गत्वं हेतुस्वं; आश्रयेषु धूमत्वाद्यःश्रयेषु धूमादिषु, इच्छाघीनत्वादनुमितनाधीन वात् । पर्वते बह्ने रिप दर्शने सिद्धौ सत्यां साध्यसन्देहरूपपक्षतावि रहात् सिषाघयिषायां विह्निमनुमिनुयाभित्याकारिकायां सत्यामनुमितिभंवति, अन्यथा न भवतीति धूमत्वस्य लिङ्गत्वं नियमेन न भासते, तस्य धूमत्वस्य (लिङ्गत्वस्य) यो विषय: विद्विनिष्ठा साध्यता तत्नाव्यिभिचारि नियतं व्याप्तिमच्चेत्यर्थ:। इदं व्यञ्ज कत्वमपि तथैव । शब्दात्मिन शब्दरूपे, तस्य व्यञ्जकत्वस्य, अनियत-त्वादेव सर्वेषामपि वाच कशब्दानां व्यञ्जकत्वस्याभावादेव वाच कत्वप्रकारता. व्यञ्जनाया अभिवाविशेषस्यं कल्पयितुं न शक्यते। तस्य व्यञ्जकत्वस्य वाचकर गप्रकारता अभिधाविशेषत्वं यदि भवेत् यदि स्यात्, तदा शब्दात्मनि वाचकशब्दे वाचकत्वं यया नियतं तथा व्यञ्जकत्वस्यापि नियतता नियतत्वं स्यात् ॥

अथ मीमांसकसम्मितमाह—स चेति । स च व्यञ्जकत्वरूपः, तथाविधः पूर्वाभिहितरूपः, शब्दानामौपाधिकः उपाधिनिबन्धनो धर्मः अस्य नियमेना-म्युपगन्तव्यः इत्यनेन सम्बन्धः । औत्पत्तिकशब्दार्थंसम्बन्धव।दिना—"औत्पत्ति-कस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इति जैमिनिसूत्रम् । तन्मते औत्यत्तिकत्वं

परान्तव्यः; तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यःवे सत्यपौरुषेय पौरुषेययोविक्ययोर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्।

तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौ-

उज्जीननी ।

नित्यवं; उत्पत्तिक्षण।दारम्य वस्तुनि विद्यमानत्वात् । यथा—गोत्वं गोव्यक्तेन रुत्पत्तिकालादारभ्य वर्तते, न नु गांरुत्पत्त्यनन्तरं तेन सम्बद्ध्यते, तथा शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽपि तत्र सर्वदा विद्यमानत्वान्नित्यः। जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणम्ते, अपक्षीयते, नश्यति इति षड भावविकाराः। औत्पत्ति कत्वस्य उत्पत्तिमत्त्वरूपानित्यत्वार्थेकत्वे तस्य सम्बन्धशब्दार्थेनान्वयस्य तन्मते शब्दार्थं सम्बन्बस्य निःयत्वेत बाधितत्वात् तदनुरोवेन उत्पत्तिशब्देन द्वितोयो भावाख्यः सामीप्येन लक्ष्यते । नश्यत एव खलु वस्तुन उत्पत्ति रस्ति । अयं च शब्दार्यसम्बन्धः शब्दे चार्थे च सर्वदा वर्तत एव । यतोऽयं नोताद्यते, अतो नाशाःऽपि नास्तीति नित्यत्वं ते मन्यन्ते । अथवा, उत्यक्तिशब्दस्यानुत्यादै विपरीतनक्षणा। एवं शब्दस्य। र्थेन सह सम्बन्धः नित्य इति सूत्रार्थस्तदः भिमतः। तथा मीमांसकः, वाक्यस्यैव वाचकत्वं वदति। तच्च वाक्यं द्विविधं - पौरुषेयमपौरुषेयं च। पौरुषेयं लौकिकं वाक्यम्। अभौरुषेयं तु, वैदिकं वाक्यम् । तयोश्च मियो भेदो वर्तत एव । पौरुषेयस्य वाक्यस्य प्रयोकतु-पुरुषाधीनतया तद्धटकानां शब्दानां नित्यत्वेऽङ्गीक्रियमारोऽपि तत्समुदः यरूपस्य वानगस्य।नित्यत्वं संबीकृतवान् । एवं शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वं वदता र्मामांसकेनापि शब्दस्थौ । धिको व्यञ्ज हत्वरूपो धर्मो नियमेनाभ्युपगन्तव्यः अवश्यमञ्जोकरणीय इत्यर्थः।

तदनम्युवनमे हि तस्य व्यञ्जकत्वाख्यस्य धर्मस्यानङ्गीकारे तु,
तस्य मीमांसवस्य, शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे शब्दस्यार्थेन यः सम्बन्धस्तस्य
नित्यत्वे सत्यिष्, अपौरुषेयन्नी छ्षेयवाक्ययोः अपौरुषेयस्य वेदस्य,
पौरुषेयस्य च वाक्यस्यार्थप्रतिपादने अर्थबोधने निर्विशेषस्वं स्याद्
भेदो न । तदभ्युवनमे तु तस्य धर्मस्य व्यञ्जकत्वस्य, अभ्युननमे
अङ्गीक्रियमाणतायां तु पुरुषेच्छानुविधानसमारोषितौगिधिकव्यापारान्तराणां
शब्दप्रयोक्तुः पुरुषस्य, इन्हें नुविधानेन इच्छानुसारेण समारोषितानि

पाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।

द्श्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वस्वभावानामपि सामग्रचन्तरसम्पादितौ-पाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियात्वम् ॥

तयाहि—हिमम्यूलप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शोतलत्वमुद्धहृतानेव प्रियःविरहदहनदह्यमानमानसँजैनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव । तस्मात् पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नेसिंगकेऽथसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किन्धिद्रपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधान्नीयम् । तञ्च व्यञ्जकत्वादते नान्यत् ।

उज्जीवनी।

औपाधिकानि उपाधिभेदानुविहितानि व्यापारान्तराणि येषां तादकानां पौरुषेयाणां लौकिकानां वावयानां स्वाभिधेयसम्बन्धापिरत्यागे सत्यपि स्वस्य शब्दस्य योऽभिधेयोऽर्थस्तत्सम्बन्धापिरत्यागेऽपि परित्यागाभावेऽपि, मिथ्यार्थता असत्यभूतार्थत्वमपि भवेत् ॥

लौकिकवानयस्य मिथ्यार्थतां प्रदर्शयति—ह्रयत इति । अपरित्यक्तस्व-स्वभावानां न परित्यक्तः स्वस्थात्मनः स्वभावः, येषां ताहशानामिष्, भावानां पदार्थातां सामग्रचन्तरसम्पात्सम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां सामग्रचन्तरसम्पात्सम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां सामग्रचन्तरसम्पात्तराणि येषां ताहशानां सताम् । विरुद्धक्रियात्वं विरुद्धव्यापारवत्त्वं ह्रयत इति पूर्वेण संबन्धः । तदेवोपपादयति—तथाहोति । निर्वापितसकल-जीवलोकं निर्वाणं परमं सुखं प्राप्ति जीवलोको येत ताहशम् । शीतलत्वं शैत्यम्, उद्धहतां एव वहतामेव, हिममयूखप्रभृतीनां चन्द्रादीनां प्रियाविरहदहन-दह्मानमानसैः प्रियाविरहरूषेण प्रियावियागरूपेण दृहनेनाग्निना दह्मानानि दाहं प्राप्तुवन्ति मानसानि मनांशि येषां ताहशैर्जनैः, आलोक्यमानानां दश्यमानानां दर्शनविषयीभूतानां सतां, सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव । इत्थं च यथा चन्द्रमाः स्वं शीतिकरणत्वस्वभावमपरित्यजनेव विरहिजनानां सन्तापं करोति तथा पौरुषेयं वाक्यं स्वकीयं वाचकत्वस्वभावमिवहाय वाच्यादित-रिक्तम्थं बोधयतीति विरुद्धक्रियावत्वं विरुद्धार्थबोधवत्वं अनुभवसिद्धमित्यर्थः । व्यङ्गचप्रकाशनं हि व्यञ्ज स्त्वम् । पौरुषेयाणि च दावयानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति । स च व्यङ्गच एव न त्वभिवेयः । तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसंबन्धाभावात् । नन्दनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वावयानां व्यनिव्यवहारः प्रसक्तः । सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्ज स्त्वात् । सत्यमेवैतत्; वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन यद् व्यञ्जकत्वं तत् सर्वेषामेव । लौकिकानां वाक्यानाम् अविशिष्टम् । तत्तु वाचकत्वान्न भिद्यते, व्यङ्गांदि तत्र नान्तरीयकत्या व्यवस्थितम् । नतु विविक्षतमेव । यस्य तु विविक्षितत्वेन व्यङ्गचस्य स्थितः तद्वचञ्जकत्वं व्यनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ।

उज्जीवनी ।

तस्मात् ततः, पौरुषेयाणां वाक्यानां नैसर्गिके स्वाभाविके अर्थसम्बन्धे अर्थेन संबन्धे सत्यपि, निथ्यार्थत्वं मिथ्याभूतार्थान्तरबोधकत्वं सपर्थयितुं स्थापयितु-मिच्छता मीमांसकेन वात्रकत्वव्यतिरिक्तं वाचकःवाद् भिन्नं औपाधिकं किञ्चिद्र्यं व्यक्तमेवा विधानीयं वक्तव्यमेव। तच्व रूपं धर्मः, वः आकत्वास्ते, नान्यद्, व्यञ्जकत्वमेव भवितुमहेति, नान्यत् व्यञ्ज कत्वं नाम व्यञ्जधप्रकाशनं-व्यङ्गचस्यार्थान्तरबोधनात्मको व्यापारः । पौरुषेयाणि पुरुषप्रयुक्तानि वाक्यानि प्राधान्येन मुख्यतया पुरुषस्य प्रयोक्तः अभिप्रायमाशयमेव प्रकाशयन्ति प्रतिपादयन्ति । स चाभिप्रायरूपः व्यञ्जच एव । तु किन्तु नाभिधेयः, तेनाभि-प्रायेण सह, अभिधानस्य शब्दस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसंबन्धाभावाद् वाच्य-वाचकभावलक्षणः वाचकत्वरूपो यः संबन्धः, तदभावात्। नन्विति। अनेन न्यायेन वाक्यप्रतिपाद्यस्य प्रयोक्तृपुरुषाभिप्रायरूपस्यार्थस्य व्य ङ्गचत्वाङ्गो का रा-नुसारेण, सर्वेषां लोकिकानां पौरुषेयाणां वाक्यानां ध्वतिव्यवहारः प्रसक्तो भवति । तस्यार्थस्याशयरूपस्य व्यङ्गचस्वे तद्वोधकस्य वाक्यस्य व्यञ्जकत्वं नानुपपन्नम् । सत्यमेवैतत् । युक्तमिदमभ्युपेयत एव । किन्तु वक्त्रभिपायप्रका-शनेन वन्तुरिभप्रायस्य प्रकाशनेन वाक्यस्य यद् व्यञ्जकत्वं तादशं सर्वेषामि वानयानाम् । अविशिष्ट तुल्यमेव । तच्च व्यञ्जन वं वाचकत्वात्मकमेव, अतो वाचकत्वान्नास्य भेदः । हि व्यङ्ग्यं तत्र वाक्ये नान्तरीयकतया अविनाभावेन व्यवस्थितम्। न तु विवक्षितत्वेन । यस्य तु व्यङ्गचस्य व्यङ्गचार्थस्य यत्त्वभिश्रायिवशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद् भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत् । किन्तु तदेव केवलमपरिमितविषयस्य ध्विनि-व्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात् । तथा दिवतभेदत्रयरूपं तन्त्रयर्णेण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वनेव ध्वितिभदत्रयरूपं तक्ष्माद् वाक्ष्यः प्रयोजकिमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे ध्विनिलक्षरो नातिव्याप्तिन नाव्य तिः । तहमाद् वाक्ष्यः तत्त्वविदां मतेन तावद् व्यञ्जकत्वस्थाः शाव्दा व्यापारो न विशेषो, प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते । परिनिश्चितिनरपभ्रं श्वबद्वब्रह्मणां विपश्चितां मतः माश्चित्येव प्रवृत्तोऽयं ध्विनिव्यवहार इति तैः सह कि विरोधा-विरोधी चिन्त्येते

उज्जीवनी ।

स्यितरवस्थानम् । विवक्षितत्वेन तत्परत्वेन विवक्षया प्राधान्येनः तद्वचञ्जकत्वं वाक्यस्य यत् तदेव ध्वनिव्यवहारे प्रयोजकम् ॥

विवक्षितत्वनिवंचनपुरःसरं वक्त्रभिप्रायविशेषरूपस्य वस्त्वलङ्कार-रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य च भेदं प्रदर्शयितुमाह—यत् त्विति । तु िन्तु यत् शब्दार्थाभ्यां शब्देनार्थेन वा अभिप्रायिवशेषरूपं शब्दप्रयोकतृपृह्ष-स्याभिप्रायविशेषात्मकं व्यङ्ग्यं प्रकाशते, तत् तात्पर्येण तत्प्रतीती-च्छयोच्चारितःवेन प्रकाश्यमानं सद् विवक्षितं भवति। किन्त् तदेव व्यङ्गचस्य घ्वनिव्यवहारे घ्वनिव्यपदेशे पुरुषाभि प्रायविशेषात्म र र मेव प्रयोजकं न भवति । ध्वनेमंह।विषयत्वाद् वस्त्वलङ्काररुनादिरूपे व्यङ्ग्ये अव्याप्तिः । तथा दिशतभेदत्रयरूपं वसः व रङ्काररसादिरूपेण यद् व्यङ्गचस्य भेदत्रयं प्रतिपादितं तत् तात्पर्येण तत्प्रतीतीच्छया द्योत्यमानं प्रमाश्यमानम् । अभि गायरूपं व कृ विवक्षा घीनम् । अनिभन्नायरूपं विवक्षानधीनम् च सर्वमेव व्यङ्ग्यं व्वितिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति हेतोः, यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे तदात्मके व्विनलक्षरोः यत्रार्थः शब्दो वा इति लक्षरोः, अतिव्याप्तिरव्यापिश्च न स्त: । तस्मात् वाक्यतत्त्विदां वाक्यस्यैव वाक्यार्थबोधकत्वं वदतां मोमांस-कानां मतेन मतानुसारेण, तावद् व्यञ्जकत्वलक्षण: वक्त्रभिप्रायरूपस्यार्थस्य। व्यञ्जचत्वे तद्वोधकस्य शब्दस्य व्यञ्जकत्वस्याः, व्यञ्जकत्वरूपः, शाब्दो क्रितिमशब्द र्थं सम्यन्धव। दिनां तु युक्तिविदामगुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दान मर्थान्तराणाभिवाविकोधक्वेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति ।

वाचकत्वे हि ताकिकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताः, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहास्वित् सम्मयिकमित्याद्याः । व्यज्ञ्चकत्वे तु तत्पृष्ठभाविनि भावान्तरक्षाधः रहे जो व्यक्षिद्धः एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः ।

उज्जीवनी

व्यापारः शब्दिनिष्ठो व्यापारः, त विरोधो न विरुद्धचते। एवं च शब्दस्य व्यञ्जकत्वविषये मी गंसकानां विप्रतिपत्तिनस्तिःति सिद्धम् ॥

यय वैया हरणानां मतानुसारेणापि शब्दस्य व्यञ्जकत्वं दर्शयति—
परिनिश्चितेति । परिनिश्चितं प्रमाणैनिर्णयविषयीकृतं शब्दाःसमकं ब्रह्म यैस्तादशानां विपश्चितां विदुषां वैया करणानां मनपाश्चित्येव वैयाकरणमतमवलम्ब्येव
अयं व्वनिव्यवहारः प्रवृत्तः । वैया करणमते प्रधानभूतस्फोटरूपस्य व्यङ्गचस्य
प्रकाशको यः शब्दः तस्य व्यञ्जकत्वमङ्गोकृतम् । तस्य ध्वनिव्यवदेशश्च कृतः ।
तनस्तन्मतानुसारिभिरस्माभिरिप चमत्कृतिजनकार्थ (व्यङ्गचार्थ) प्रतिपाद रग्य शब्दस्य व्यञ्जकत्वेन ध्वनिव्यवहारो विहित इति हेतोः यैवैयाकरणैः
सह विरोधाविरोधौ विरोधोऽविरोधौ वा कि चिन्त्येते चिन्ताविषयौ न भवत
इत्यर्थः ।

ताकिकमतं प्रदर्शयति—कृतिमेति । युक्ति विदतां कृतिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां कृतिमं किन्तं शब्दस्यार्थस्य च सम्बन्धं वदतां
ताकिकाणां मते तु अयन्तिराणामिव अन्धकारस्थितपदार्थाभिव्यत्र् जकानां
प्रदीपादिपदार्थानामिव शब्दा गामिप अर्थप्र काशकानां अर्थव्यत्र् जकानां अर्थव्यत्र् जकानां अर्थव्यत्र जकानां अर्थव्यत्र जकानां अर्थव्यत्र जकानां अर्थव्यत्र जकानां अर्थव्यत्र जकानां अर्थव्यत्र जकानां व्यत्र जकत्वरूषः, अनुभवसिद्ध एव । अविरोधश्च अविरुद्धश्चायं प्रतिक्षेप्यपद्वीं प्रतिषेपविषयां नावतरित न प्राप्नोति । शब्दनिष्ठमर्थव्यत्र जकातं ताकिकाणामियननिष्ट्याशयः ।।

तदेवाह—ना नकत्व इति । तार्किकाणां हि व चकत्वे अभिध व्यापार-विषयतायां, विप्रतिपत्तयः विरुद्धार्थप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्तां वर्तन्तामित्यर्थः। विप्रतिपत्तिस्वरूपमाह —िकमिदमिति । शब्दानां शब्दनिष्ठं, इदं वाचकत्व- भलौकिके ह्यर्थे ताकिकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु जीकिके।
न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं
विप्रतिपन्ना दश्यन्ते। न हि बाधारहितं नीलं नोलमिति बुवन्,
अपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां
दाब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दकाणां च चेष्ठादीनां यत् सर्वेषा-

उज्जीवनी ।

मभिषायक्तवम् । किं स्वाभाविकं द्वविनाभूतम् । अत्होस्वित् अथवा, सामयिकं समयात्, सङ्केतात् जायमानम् । इत्याद्याः विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्तामिति पूर्वेणान्वयः । तत्पृष्ठभ विनि वाचकत्वादनन्तरं भवति व्यञ्जकत्वे तु भावान्तरसाध।रसो भावान्तरेण प्रदोपादिना पदार्थान्तरेण तुल्ये, लो हप्रसिद्ध एव अनुगम्यमाने अनुस्त्रियमारो व्यञ्जकत्वे तु व्यञ्जकत्वं यद् शब्दनिष्ठं प्रसिद्ध तत्र विषये. विमतीनां विरुद्धमतीनां कोऽवसरः अवसरी नास्तीत्यर्थः । तदेवोपपादयंति - अ गौकिक इति । अलौकिके अप्रत्यक्षे इन्द्रियःविषय इति यावत्। अर्थे पदार्थे, निलिजाः सर्वाः, विनतयः विरुद्धमतयः, प्रवर्तन्ते सञ्जायन्ते । लौकिके इन्द्रियजनयस्य प्रत्यक्षविषये त्वर्थे विमतयो न प्रवतन्त इत्यर्थः । तदेशो (पादयति — नीलमधुरादिषु नीलादिषु रूपेषु मधुरादिषु रसेषु च अशेषखोकेन्द्रियगोचरे अशेषाणां सर्वेषां, लोकानां इन्द्रियविषये प्रत्यक्षप्रमाण-विषये बाधारहिते भ्रमशून्ये, तत्त्वे याथार्थ्ये प्रमात्वे, परस्परं विप्रतिपन्ना न दृश्यन्ते मिथो न विप्रतिपद्यन १ इत्यथः । किञ्च बाघारहितं भ्रमाविषयः, नीलं नीलरूपवद् वस्तु, नीलमिति नीनरूपवदिदमिति, बुवन् वदन्, अपरेण अन्येन केनापि, एतत् न नालं न नोलवत्. किन्तु एतुत् पीतं पीतरूपवत्, इति न हि प्रतिषिघ्यते न निषिध्यते । प्रकृते याजयन्नाह- तथंवेति । वाचकानामिभधेया-र्थप्रतिपादकानां, शब्दानां नानार्थं गब्दानाम्, अवाचकानामिश्वधाव्यापारा-विषयाणां, गीतध्वनीनां षड् मर्पमादिस्वरस्थानीयध्वनीनां, शब्दात्मक स्वरूप रहितानां, चेष्टादी नामभिनयादीनां च सर्वानुभविति समेव सर्वेषामनुभववेद्यमेव, यद् व्यञ्ज हत्व व्यञ्ज ।या अर्थबोधकत्वं, तत् केनापह् नूयते

१. 'रामाभिनिवेशाः प्र०' च

मनुभवसिद्धमेव तत् केनावह नूयते । अशब्दमधं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापाण निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्मु विविधा विभाव्यन्ते । तानुपहास्यतां अ तमनः पिहरन् कोऽति प्रन्दधीत सचेताः । बूयात्, अस्त्यतिसन्धानावसरः व्यञ्जन्तवं गब्दानां गमकत्वं, तच्च लिङ्गत्वं, अतश्च व्यङ्गचप्रतीतिलिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव तेषां, व्यङ्ग्यव्यञ्ज हन् भावो नापरः कश्चित् । अतर्चे तह्वस्यमेव बोद्धव्यं, यस्माद् वक्त्वभिप्रायापेक्षया व्यञ्ज कत्वमिद्दानोमेव त्वणा प्रतिपादितं, वश्चभिप्रायश्चानुमेयरूप एव ।

अत्रोच्यते - नःवेदमपि यदि नाम स्यात् तत् कि नश्छिन्नम् । वाचकत्व-

उज्जीवनी ।

को नापह्नोतु प्रभवति । अशब्दमिभिषाव्यापान्जन्यप्रतीत्यविषयं, रमणीयं चमत्कृतिजनकं, अर्थं भूचपन्तो द्योतयन्तः व्याहाराः सूक्तयः, तथा निबद्धाः पद्यक्षपाः, अनिबद्धा गद्यक्षपाः व्यापाराः कविव्यापाराः, विदग्धारिषतःसु पण्डितगोष्ठीषु विविधा नैकप्रकाराः, दश्यन्ते । तान् व्याहारान् व्यापारांश्च, आत्मनः स्वस्य, अपहास्यतां परिहासपात्रतौ परिहरन् अनिच्छन् सचेताः सहदगः कः अतिसदधीत न बहमन्येत, तान् व्याहारान् व्यापारांश्च रमणीयार्थ-व्यञ्जान् अबहुमन्यमानः कश्चित् परिहासभाजनमेव भवेदित्यर्थः ॥

ताकिकमतानुरोधेन पूर्वपक्षमाह - ब्रूयादिति । ताकिकेणेवमुक्तं स्यादि-त्याशङ्कचत इत्यर्थः । अतिसन्धानावसरः स्रतिसन्धानस्य अनादरस्य अवसरः अस्त्येव । शब्दानां गुमकत्वं व्यङ्ग्यार्थवोधजनकत्वरूपं व्यञ्जकत्वमस्ति, तत्र न विप्रतिपत्तिः । किन्तु तञ्च व्यञ्जकत्वं च लिङ्गत्वमेव अर्थावबोधहेतुत्वमेव । अतः व्यङ्ग्यप्रतीतिः व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतीतिः, लिङ्गिप्रतीतिरेव साध्य-प्रतीतिरेव । शब्दस्य हेतुत्वेऽर्थस्य साध्यत्वमित्यतः तयोः लिङ्गिलिङ्गभावः साध्यसाधनभावरूप एव भवति, अतः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाम अपरः कश्चित् व्यापारो नास्त्येव । अतश्च इदमपि अवश्यमेव बोद्धव्यं ज्ञातव्यम् । यस्मात् यतः त्वया युक्तिवादिना इदानीमेव मीमांसकमतिवचारावसरे वक्त्रभिप्रायापेक्षया छोकिकस्य वाक्यस्य वक्त्रभिप्रायप्रकाशनापेक्षया व्यञ्जकत्वं प्रतिपादितम्; तत्र वक्त्रभिप्रायः अनुमेयरूप एव व तु व्यङ्ग्यः ॥

समाधत्तै-अत्रीच्यत इति । ननु यदि नाम एवमपि स्यात् शब्दानां

गुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमिन कानि क्षतिः। तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्कृत्यमस्तु अन्यद्धाः। सर्वथा प्रसिद्धशान्दप्रकारिवलक्षणत्वं शब्दव्यापारिवषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवाव-योविवादः। त पुतर्यं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यञ्ग्य-प्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति ।।

यदिष स्वपक्ष सिद्धयेऽसमदुक्तमन् दितं त्वया वक्त्रभित्रायस्य व्यङ्ग्यत्वे-नाम्युपगमाद् तत्र काशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद् यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्य प्रतिपाधते श्रूयताम्—द्विविधः विषयः शब्दानाम् —अनुमेयः, प्रतिपाद्यश्च । अनुमेयो विवक्षालक्षणः । विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा-

उज्जीवनी।

व्यक्षकत्वं लिङ्गत्वा मकमेव यदि भवेत् तेन कि नः खिन्नम् सस्माकं न किमिषि
होयत इत्यर्थः । वाचकत्वगुणवृत्तिव्यातिरक्तः वाचकत्वाद् गुणवृत्तिश्च भिन्नः,
व्यक्षकत्वातमकः शब्दस्य कश्चिदति कि व्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरम्युपगतमङ्गीकृतम् । तस्य च शब्दव्यापारस्य व्यक्षकत्वातमकस्य एवमिष्
लिङ्गत्वरूति विद्या सर्वेषः । हि यतः तद् व्यक्षकत्वं लिङ्गत्वमस्तु
अन्यद् वा अस्तु । सर्वेषा सर्वेषकारेणापि तस्य व्यङ्ग्यत्वे गभिमतस्यार्थस्य,
प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं प्रसिद्धो यः शाब्दबोधप्रकारः वाच्यलक्ष्यत्वातमकः
तिद्वलक्षणत्वं तद्वचिति कित्व शब्दव्यापारविषयत्वं शब्दवन्यप्रतीतिविषयत्व
चास्तीति हेतोः आवयोविवादो नास्त्येव । तथापि सर्वेत्र व्यक्षकत्वं लिङ्गत्वमेवेति व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति च यदुच्यते स्थमर्थो न परमार्थः।

तदेव समर्थयति—यद्यति । "वक्तिभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात् तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेव" एवमस्माभिरुक्तम् । त्वया (ताकिकेण) स्वपक्षसिद्धये स्वमतस्थापनानुकूलतया अनूदितं यद्यपि, तदेवद् यथास्माभिरभिरितं यादशार्थतात्पर्येणास्माभिरुक्तं तद् वचनं तथा तेन प्रकारेण विभज्य प्रतिपाद्यते । श्रूयतां त्वयेति शेषः । शब्दानां विषयः शब्दप्रयोगाव्यवहित-कालिकप्रतिपत्तिविषयो यः स द्विविधः—अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च । तत्र द्विविध-विषयमध्ये यः अनुमेयः स विवक्षालक्षणो विवक्षारूपः, बन्तुरिच्छा विवक्षा । सा च द्विप्रकाषा द्विविधा । शब्दं प्रयुक्तिय इत्याकारिका शब्दप्रयोगेच्छा,

शब्देनाथप्रकाशनेच्या चेति द्विप्रकारा । तत्राद्या न शब्दव्यवहाराङ्गम् । सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिकला । द्वितीया तु शब्दविशेषावघारणावसितव्यवहि-तापि शब्द करणव्यवहारिनवन्यनम् । ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम् । प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रविष्यवनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः

स च द्वितिघः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च । प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशियतुं समीहते, कदाचित् स्वशब्दानिभिन्नेयत्वेन प्रयोजनायेशया कयाचित् । स तु द्वितिघोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्ग्गितया स्वरूगेण प्रकाशते । अपि तु कृत्रिमाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण । विवक्षाविषयत्वं हि

उज्जीवनी ।

तेन शब्देन अर्थं प्रकाशयेयमित्याकारिका अर्थप्रकाशनेच्छा चेति। तत्राद्या शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्दव्यवहाः स्य शब्दबोधस्याङ्ग न भवति। सा हि शब्दप्रयोगेच्छा तु प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिकला प्राणित्वमात्रस्य प्रतिपत्तिरनु-मितिः कलं यस्यास्तादशो ।।

शब्दप्रयोगे च्छाक्प कारणं विना शब्दप्रयोगानुकुलकृ िक्ष्प कार्यस्याभावात् प्रयुज्यमानस्य शब्दस्य श्रवणे सित तत्कारणीभूता सा प्रयुद्धा तया तस्य प्राणित्वमात्रमनुमीयत इत्यर्थः। न तया शाब्दज्ञानं भवति । द्वितीया तु अर्थप्रतिपिपादियिषा। शब्दविशेषावधारणाविस्ति व्यवहितापि शब्दविशेषस्य विवक्षितार्थवोधनसमर्थस्य यदवधारणं निर्धारणं तदविश्वतेन तदवसानेन व्यवहिता अन्तिश्वतापि, शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनं शब्दस्य करणभूतः प्रयोग-साधनीभूतः यो व्यवहारः शब्दजनकसामग्री तिश्ववन्धनं भवति तदाश्रित्यान्वतिष्ठा इति यावत् । ते तु द्वे अपि शब्दप्रयुद्धा, अर्थप्रविकाशियणं चेति द्विविधः शब्दानां विषयोऽ पे अनुमेय एव । प्रतिपाद्यस्तु प्रतिपादनविषयोनभूतस्तु प्रयोगन्तः अर्थप्रतिपादनविषयोनभूतस्तु प्रयोगनतः अर्थप्रतिपादनसमीहाविषयोक्कतोऽर्थः अर्थस्य अन्यं प्रति बुबोधयिषितस्य समीहाया इच्छाया विषयोक्कतः अर्थः।

स इति । स च प्रतिप्राद्यश्च द्विविवः द्विप्रकारः । वाच्यो व्यङ्गचश्च । प्रयोक्ता तु कदाचित् स्वराब्देन वाचकराब्देन अर्थं प्रकारायतुं समीहते चेष्टते, सोऽर्थो वाच्यः । कदाचिच्च स्वशब्दानभिषेयत्वे न वाचकशब्देनाभिधानं विना तस्यार्थस्य शब्दैनिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम् । यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात् तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिण्य त्वादिविवादा एव न प्रवर्तेरन् धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्त रवत् । व्यङ्गच्छार्थौ वाच्यसामर्थ्यः-क्षिप्तत्याः वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येत्र । साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्ध-स्याप्रयोजकः । वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं च वाचकत्वस्य प्रागेव दिशतम् । तस्माद् वक्षत्रभिश्रायद्भप एव व्यङ्ग्ये लिङ्गत्या शब्दानां व्यापारः । तिहष्यो-

उज्जीवनी !

कयाचित् प्रयोजनापेक्षया रमणीयार्थान्तरत्र गोतिरूरं किमपि प्रयोजनम्हिश्यार्थं प्रकाशियतं ईहते । सोऽयों व्यङ्गच इति । अयों द्विविधः प्रतिपाद्यः । द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां निङ्गितय स्वरूपेण साध्यत्वेन रूपेण न प्रकाशते । अपि तु किन्तु, कृत्रिमेण (तार्कि कमते) अकृत्रिमेण (मीमांसकमते) वा सम्बन्धान्तरेण अभिधा व्यञ्जनात्मकेन प्रकाशत इति शेषः। तस्यार्थस्य विवक्षाविषयार्थस्य यदविवक्षाविषयत्वं तत् शब्दैर्हेत्रभिः लिङ्कितया साध्यत्वेन प्रतीयते। अर्थस्य स्वरूपं तु साध्यत्वेन न प्रतीयते। अर्थस्य स्वरूपं तु साध्यत्वेन न प्रतीयत नानुमीयते । प्रयुक्तस्य शब्दस्य श्रवणे तादशशब्दप्रयोगेण हेतुना तःप्रतिपाद्यस्यार्थस्य वक्तृविवक्षितत्वमनुमीयत इत्यर्थः। तत्र शब्दानां व्यापार: शब्दार्थवो: सम्बन्धः। यदि च लिङ्गतया लिङ्गत्वेन स्यात्, भवेत्, तत् तर्हि शब्दार्थे शब्दस्यार्थे साध्यरूपे सम्यङ्भिध्यात्वादिविवादाः सम्यक्त्विभिध्यात्वादयः विवादा एव । न प्रवतेरन् धूमादिलिङ्गकानुमेयान्तर-वत् । धूमादोित यानि लिङ्गानि तैरनुमितेषु अनुमेयेषु वह्नचादिरूपेषु साध्येषु यथा सम्यङ्मिध्य त्वादयो विवादा न प्रवर्तन्ते । तथात्रापीत्यर्थः । व्यङ्गचः व्यञ्जनाव्यापारविषयः, अर्थेश्च, वाच्यतामध्यीक्षिप्ततया वाच्यस्याभिधेयस्यार्थस्य सामध्येनार्थान्तरबोधजनकत्वशक्तचा आक्षिप्तत्वात्, वाच्यवद् वाच्यो यथा शब्दस्य सम्बन्धी भवति तथा शब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव । हि यतः, साक्षाद-साक्षाद्भावः साक्षात्त्वमसाक्षात्त्वं वा शब्दार्थयोः सम्बन्धस्य अप्रयोजकिमत्यर्थः । व्यञ्जकत्वस्य व्यञ्ज्ञचव्यञ्जकभावस्य वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं वाच्यवाचकभावः कृते तु प्रतिपाद्यतमा। प्रशियमारै तस्मिन् समिप्रायरूपेऽनिभप्रायरूपे च वाचकत्वे नंद व्यापारः सम्बन्धान्तरेग वा । न ताबद्वादकत्वेन यथोक्तं प्राक्। सम्बन्धान्तरेण ■ झकत्वमेव । न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गृत्वरूपमेव आलोकादिष्वत्यया दृष्टत्वात् । तस्मात् प्रतिपाद्या विषयः शब्दानां न लिङ्गत्वेन सम्बन्धी वाच्यवत् । यो हि लिङ्गित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दिशतो विषयः स न वाच्यत्वेन प्रतीयते; अपि तूपाधित्वेन ।

उज्जीवनी ।

माश्रित्यैवावस्थानं, प्रामेव पूर्वमेव, दर्शितं प्रतिपादितमित्यर्थः । व्यञ्ज हत्वस्य व्यञ्जयव्यञ्जकभावस्य वाच्यवाचकभावाश्रयत्वं वाच्यवाचकभावमाश्रित्यैवा-वस्थानं प्रागेव पूर्वमेव दशितं प्रतिपादितमित्वर्थः। तस्याद् ततः, वक्त्रभि-प्रायरूपे व्यङ्ग्ये कब्दानां लिङ्गभावेन व्यापारः बोधकत्वम्। तद्विषयीकृते विवक्षाविषयीकृतंऽर्थे तू प्रतिपाद्यत्वं व्यापारः। शब्दस्य लिङ्गस्वात्; वक्त-भिप्रायरूपस्यार्थस्यानुमे त्वं, अर्थप्रतिषिपादियषयोच्चरितस्य शब्दस्य तु प्रतिपादकत्वमर्थस्य च प्रतिपाद्यत्वं, स चार्थो वाच्यो व्यङ्गचश्चेति द्विविधः। अभिप्रायरूपे वक्तृविवक्षाधोने, अनिभिप्रायरूपे च वक्तृविवक्षानधीने च प्रतीय-माने ॰यङ्ग्येऽर्थे, तस्मिन्नर्थे शब्दस्य व्यागारः प्रतिपादकत्वं कि वाचकत्वेना-भिधया उत सम्बन्धान्तरेणान्येन केनचिद् व्यापारेण इति प्रकृतः ॥ समाधत्ते---वाचकत्वेन तावद् व्यापारेण व्यङ्गचस्य बोघो न भवतीति प्रागेवोक्तम् । अतः सम्बन्धान्तरेण बोधकत्व व्यञ्जकत्वात्मकमेव व्यापा ने भवति । तद् व्यञ्जकत्वं च लिङ्गत्वरूपं लिङ्गत्वात्मकमेव भवति । हेतुमाह—आलोकादिब्विति । यथा शरावाद्यपिहितो दीपः तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते तथा व्यङ्गचस्यार्थस्य प्रकाशोऽभ्युपम्यते । तथा चालोकस्यार्थ-प्रकाशकत्वमेव न तु लिङ्गस्बं दृष्टम्। तस्मात् शब्दानां प्रतिपःचो विषयः व्यक्तचः अर्थः वाच्यवद् यथा वाच्योऽर्यः लिक्तित्वेतानुमेयत्वेन सम्बन्धी न भवतीत्यर्थः। यो हि तेषां शब्दानां लिङ्गित्वेन अनुमेयत्वेन (साध्यत्वेन) सम्बन्धी, यथा दशितो विषयः शब्दप्रयुयुक्षा, अर्थप्रकाशियषा चेति द्विप्रकारो विषयः अनुमेयरूपः स विषयो वाच्यत्वेन न प्रतीयते। अपि तु किन्तु, उपाधित्वेन वाच्यविशेषणःवेन प्रतीयत इत्यथः।

प्रतिपाद्यस्य च दिषयस्य लिङ्गित्वे तद्विषयाणां विश्वतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानां अभावः प्रसज्येतेति । एतच्चोक्तमेव ।

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्त शानुगमेत सम्यव्स्वप्रतीती किचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्त रविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारिविषयताहानि-स्तद्वद्वचङ्गचम्यापि । काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्य तिरूपणस्या-प्रयोजकत्वमेवेति तत्र श्रमाणान्तर उद्योक्षोपहासायै व सम्पद्यते । तस्मालिङ्गि-प्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् ।

यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद् ध्वनिव्यवहारस्या-प्रयोजकम् । कपि तु व्यञ्जकत्व अक्षणः शब्दानां व्यापारः औत्पत्तिकशब्दार्थ-

उज्जीवनी

प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य अर्थात्मकस्य, लिङ्कित्वे अनुमेयत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, तिद्विषयाणामर्थेविषयाणां, विप्रतिपत्तीनां विवादानां, लौकिकैरैव क्रियमाणानां, अभावः प्रसज्येत, यथा धूमात्मकेन लिङ्गेन, अनुमीयमाने वह्नौ विप्रतिपत्ती-नामवकःशो न विद्यते, तथा शब्दप्रतिपाद्यमानामर्थानामपि लिङ्गित्वा-म्युपगमे तत्रापि विप्रतिपत्तयो न भवेयुरित्यर्थः। एतदपि प्रागुक्तमेव ॥

वाच्यविषये, वाच्याथेविषये सत्यत्व सत्यत्वरूपविप्रतिप्रत्तौ सत्यां कवित् स्थळविषये, प्रमाणान्तरानुगमेनाप्तोच्चारितशब्दरूपस्य प्रमाणान्तरस्यानुगमेन साम्येन सम्यक्त्वप्रतीतौ सत्यत्वप्रतीतौ क्रियमाणायां अनुमीयमानायामित तस्य वाच्यस्य, प्रमाणान्तरविषयत्वे अनुमितिविषयत्वे सत्यपि शब्दव्यापारविषय-ताहानिः शब्दस्य अर्थप्रत्यायने यो व्यापारः अभिवारूकः, तद्विषयत्वहानिः यथा न भवति तथा व्यङ्ग्यस्याप्यर्थस्य शब्दव्यापारविषयत्वमक्षतमेव । काव्यविषये च, व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वरूपविप्रतिपत्तः निरूपणमप्रयोजकमेव । इति अतो हेतोः प्रणाणान्त रपरीक्षा सत्यनिर्णय उपहासाय परिहासायंत्र सम्पद्यते परिहास्यतां प्राप्तोतीत्यर्थः । तस्मात् सर्वत्र सर्वेषु स्थलेषु, व्यङ्ग्यप्रतीतिः व्यङ्ग्य स्यार्थस्य प्रतीतिः, लिङ्गिप्रतीतिरेव अनुमेयरूपव्यक्तप्रतीतिरेवित वक्तुं न श्वयते । तु किन्तु, यत् शब्दानां किनत् अनुमेयरूपव्यङ्गचविषयं अनुमेयरूपं सम्बन्धवादिनाध्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थभुपन्यस्तम् । तिद्ध व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन, कदाशिद्रपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिर प्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः। तदेवं गुणवृत्तिवाचक-त्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव ताबद्धिलक्षणं व्यञ्जकत्वं, तदन्तः पाति-त्वेऽपि तस्य हठादिभधीयसामे तिद्विशेषस्य ध्वनेर्यत् प्रकाशनं विप्रतिपत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये ता तत् क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव । निद्ध सामान्यमात्र-

उज्जीवनी ।

अनुमानप्रमाणगम्यो योऽथैस्तद्र्षं व्यङ्ग्यं विषयो यस्य तादशं व्यञ्जकत्वं, तद् ध्वनिव्यवहारस्य व्यञ्जहरूष शब्दस्य ध्वनिव्यपदेशस्य प्रयोजकं न भवति। अनुमेयार्थव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिव्यवहारो नेति यावत् । अभिप्रायरूपस्यार्थ-स्यानुमेयस्व।ङ्गीकारे (व्यङ्गचत्वानङ्गीकारे) तद्वोधकशब्दस्य व्विनव्यपदेशा-भावे च तस्य व्यञ्जारवं कथम् । पद्यते, किमर्थं च तदङ्गीकि त इत्याशङ्कायामाह-अपित्विति । व्यञ्जकत्वलक्षणः, व्यञ्जकत्वरूः शब्दानां शब्दसम्बन्धी व्यापारः, औत्यत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना औत्पत्तिको नित्यः, शब्दार्थयोः सम्बन्धः, इति ददता मीमांसकेनापि अभ्युपगन्तव्योऽङ्गीकरणीय इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम् । हि यतः तद् व्यञ्जभत्वं, बदाचिद् वक्त्रभिप्र।य-व्यञ्जनायां लिङ् गत्वेन, कदाचिदालोक्तसमवधाने पदार्थस्य प्रकाशन व्यञ्जनं यदा तदा प्रदोगदेः प्रत्यक्षप्रमाहरणत्वेन व्यञ्जकत्वम् । व च कानां शब्दानां, विवक्षितान्यपरवाच्ये (नानार्थस्यले) अभिधयार्थान्त व्यञ्ज त्वम् । अवि-विक्षतवाच्ये गुणवृत्त्या, अवाचकानां गीतादिध्वनीनां रसव्यञ्जकत्विभित्येवमा-दिकं, सर्ववादिभिरपि अप्रतिक्षेप्यं निराकरणानहमित्यत: अस्माभिः व्यञ्जकत्व-स्थानने व्यञ्जकत्वं स्थापियतुं यत्न आरब्धः। तत् तस्मात्, एवमुक्तरीत्या गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्र । रिभाः व। चकत्वलक्षकत्वादिभ्यः शब्दव्याप.रे-भ्यो वित्रक्षणं भिन्नं व्यञ्जनत्वम् । तदिति । तस्य व्यञ्जनत्वस्य, तदन्तः पातित्वे व्यापारसामान्यान्तर्गतत्वे. अभिधीयमाने वश्यमाने सति तद्विशेषस्य ध्वनेः, व्यापारविशेषतां प्राप्तस्य व्यञ्जनत्वस्य, हठाद् निर्बन्धेन यत् प्रकाशनं निरूपण, विप्रतिपत्तिनिरासाय विप्रतिपत्तीनां विमतीनां निरासार्थं, सहदय- लक्षरोनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुप्। एवं हि सति सत्तामात्रलक्षरो कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनस्कत्यप्रसङ्गः।

तदेनम् ---

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः ।

ध्विनसंज्ञितः त्रकारः काव्यस्य व्यिज्ञितः सोऽयम् ॥

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्गयः काव्यस्य दृश्यते ।

यत्र व्यङ्गयान्वये वाच्यन्तारुत्यं स्थात् प्रकर्षयत् ॥ ३४ ॥

व्यङ्गचोऽर्थो लल्लनाखावण्यप्रस्यो यः प्रतिपः दिन्स्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य तु वाच्यचास्त्वप्रकर्षे गुण भूतव्यङ्गचो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते । तत्र

उज्जोवनी ।

व्युत्पत्तये च सहृदयानां व्युत्पत्तिसिद्ध्यर्थं, च हियमाणं तत् व्यञ्जकत्वितिरूपणं, अनितिसन्धेयमेवाप्रतिषेध्यमव । सामान्यलक्षणेन व्यापारसाम न्यलक्षण-कथनेन उपयोगिविशेषलक्षणानां परपक्षप्रतिक्षेपः सहृदयव्युत्नस्यादिरूपोपयो-गयोग्यानां विशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपो निरासः न हि कर्तुं शक्यः न कर्तुं युज्यत इति यावत् । एवं हि सि विशेषलक्ष्यो प्रतिक्षिप्यमणे सित्तामात्रलक्षयो कृते 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' इत्वनेन तेषां त्रयाणामि सत्तावत्त्वरूपे सामान्यलक्षयो कथिते सति सकलसद्रस्तु कक्षणानां द्रव्यगुणकर्मणां पृथक्तया विशेषलक्षयो पौ रुक्त्यं स्यात् ।

उक्तमुपसंहरति—तदेविमिति। विमतीति। मनीषिणां विदुषी, विमति-विषयः विमतीनां विप्रतिपत्तीनां विषयः, सततं सर्वदा, अविदितसतत्त्वः अविदितं अविज्ञातं सतत्त्वं समानं यस्य (ध्वनेः) तादशः, घ्वनिसंज्ञितः घ्वनिनामा काव्यस्य प्रकारः काव्यभेदः यः, सोऽयं एतावता प्रबन्धेन प्रकाशित इत्यर्थः

इति ध्वनिनिरूपराम् ।

अथ गुणीभूतव्य ङ्गचाख्यं द्वितीयं काव्यप्रकारमाह - प्रकार इति । यत्र यस्मिन् काव्ये, व्यङ्गचस्य व्यङ्गचार्थस्य, अन्वये योगे सति, वाच्यच। रुत्वं वाच्यस्य वाच्यार्थस्य चारुत्वं चमत्कृतिजनकस्वं प्रकर्षवत् प्रकृष्टं स्याद् भवेत्, वस्तुमात्रस्य व्यङ्गचस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद् वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्गचता । यथा—

> लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोतपलानि शशिना सह सम्प्रवन्ते । उन्भवति द्विरदकुम्भत्ते च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डम्णालदण्डाः।

उज्जीवनी ।

सोऽयं गुणीभूतव्यञ्ज्ञचाल्यः अन्यः अपरः (द्वितीयः) काव्यस्य प्रकारः काव्यभेदः, द्दयते । तदेवाह व्यङ्गच इति । लचनालावण्यप्रस्यः लजनासु लावण्यमिव, व्यङ्गचः प्रतीयमानोऽयः यः सः प्रतिपादितः प्रथमोद्द्योते तस्य वस्त्त्रलङ्कार-रूपतया त्रिविधस्य व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं यत्र तद् ध्वनि गाव्यशित्युक्तम् । किन्तु वाच्यचाहत्वप्रकर्षे वाच्यस्य यच्चाहत्वं तस्य प्रकृष्टतायां तस्य व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेन अप्रधानतया, गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः गुणीभूतव्यङ्ग्य-संज्ञितः काव्यप्रकारः प्रकल्प्यते कल्प्यते। कदाचित् ति रस्कृतवाच्येभ्यः वाच्यस्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कारेणार्थान्तरप्रतिपादकेभ्यः शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य भते तिविषयस्य वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यवस्तुरू । स्यार्थस्य वाच्यरूप-वाक्यार्थापेक्षया वाच्यारूपः वाच्यात्मकः यो वाक्यार्थी वाक्यतात्वर्थविषयीभूतो-ऽर्थस्तदवेक्षया गुणोभावे सति अप्राधान्ये सति गुणोभूतव्यङ्ग्यता गुणीभूतव्यङ्ग्य-व्यपदेशविषयत्वं भवतीत्यर्थः। उदाहरति—यथेति। लावण्येति। नदीतीरे लावण्यवतीं कामपि ललनां विलोक्याद्भ तस्त्रिमितस्य कस्यचिद्यूनो वचन-विदम्। यत्र यस्यां लावण्यसिन्धौ, शशिना चन्द्रेग सह उत्प**ला**नि सम्प्रवन्ते प्रवन्ते। यत च द्विरदकुम्भतटी द्विरदस्य गजस्य कुम्भतटी कुम्भस्थली, उन्मज्जिति, यत्र अपरे अभ्ये, क्दलिकाण्डमृणालदण्डाः कदल्याः काण्डी, मृणालस्य दण्डौ च विद्याते, सा अपरैव अन्य हशो लावण्यसिन्धुः छावण्यनदी । अत्र नदी-तीरे दश्यमाना केयमिति प्रश्नः । अत्र सिन्धूतालशशिद्धि दत्कुमभतटी कदलीकाण्डदण्डशब्दानां, नदी, कुवलय, गजकुम्भ, कदलीकाण्डमृणालदण्डरूपा ये वाच्यार्थाक्षेत्रवामनुपपद्यमानतयात्यन्तति रस्कारेण, लञ्जनानयनयुग्मवदनस्तन-युगजङ्घायुगलबाहुद्वन्द्वरूपाणि वस्तूनि व्यञ्जनया, बोधयन्ति । अपरैव हि अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽषि शब्देभ्यः अतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद् वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभावव्यङ्ग्यताः यथोदाहृतम्—'अनुरागनती सन्ध्या' इत्येदमादि । तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतस्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्—'सङ्कैतकालमनसम्' इत्यादि । दस्यदिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावे रसवदलङ्कारो दिश्तिः, तज्ञ च तेषामःधिकारिक वाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहनत्रवृत्तमृत्यानुयायिराजवत् । व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः । तथा —

उज्जीवनी

कैयमिति वाक्यजन्यवाक्यार्थस्य प्राधान्यात् व्यङ्गचस्य गुणीभूतत्वाञ्च गुणीभूतव्यङ्ग्यात्मक: काव्यप्रकारोऽयम् ॥

अतिरस्कृतवाच्येश्यः अतिरस्कृतः वाच्यो येषां ताद्योश्यः शब्देश्यः अपि, प्रतीयमानस्य प्रतीतिविषयस्य व्यङ्ग्यस्यार्थस्य, काव्यच कृत्व पेक्षया, काव्यगतं यद्यारुत्वं तदपेक्षया वःच्यप्राधान्येन वाच्यस्यार्थस्य प्रधानतया, गुणीभावे सति अप्रधानतायां सत्यां गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव । यथोदाहृतमिति । 'अनुरागवती सन्ध्ये'ति । अत्र सन्ध्यादिशब्दानां वाच्यस्यार्थस्य तिरस्कारं विना अर्थान्तरस्य प्रतीयमानस्य वाच्यः विध्यया गुणीभावेन गुणीभूतव्यङ्ग्यता । इदं प्रथमोद्धोते प्रदर्शितम् । तस्यैव व्यङ्ग्यस्य स्वयपुक्तचा वचनेन प्रकाशीकृतत्वेन प्रकाशनिन, गुणीभावः, यत्र भवति तद्यपि काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यात्म । मेव । यथोदाहृति निति । सङ्केतेति । इदम् । दितीयोद्द्योते उक्तम् । व्यङ्ग्यस्यापि वस्तुनः बाकूतशब्दिविदित्वेत गुणीभावः । रसभावादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे यो विशेषस्तमाह । सादीति । रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य रसभावादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावः । रसभावादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावः । रसभावादिरूपस्य रसभावादिरूपस्य व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावः । रसवदलङ्कारिक्षावादार्थस्य व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावः रसवदलङ्कारिक्षाविरूपस्य व्यङ्ग्यार्थस्य गुणीभावः रसवदलङ्कारिक्षाविरूपस्य विरातः । दितीयोद्द्योते —

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु एसादय:। काव्ये तस्मित्रलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥ इत्यनैन,

तर्त्रेत । तत्र च रसवदाद्यलङ्कारेषु च, तेषां रसभावादीनां, आधिकारिक-वाक्यापेक्षया प्रधानवाक्यार्थापेक्षया, गुणीभावः अप्रधानता, विवहनप्रवृत्त- प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः । ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुपेधसा ॥ ३५ ॥

यै वैतेऽनरिमितस्वरूषा अपि प्रकशमानास्तथातिधार्थरमणीयाः सन्तो विवेकिनां मुखावहाः काव्यवन्थास्तेषु सर्वेष्वेत्रायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्गयो नाम योजनीयः। यथा—

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तं स घरिणिआ गङ्गा। अमिनिमअङ्का अ सुआ अही कुटुम्बं महो अहिणो।। लक्ष्मीर्द्धिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा। अमृतमृगाङ्की च सुतावहो कुटुम्बं महोदधेः।

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्गचांशानुगमे सति । प्रायेणैव परां छायां विश्रव्यक्षये निरीक्ष्यते ॥ ३६ ॥

उज्जीवनी।

भुत्यानुयायिराजवद् भुत्यस्य विवाहे प्रवृत्ते तमनुगच्छतो राज्ञो यथाप्रधानता तथा रसाद नामपीत्यर्थः । तथा व्यङ्ग्यालङ्कारस्य व्यञ्जनागम्यस्यालङ्कारस्य यदा प्रधानवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावः तदा, तद्विषयो दोपकादिरलङ्कारवर्गः ।

गुणोभूतव्यङ्ग्यस्य सर्वादरणीयतां दर्शयति - तथेति । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्नित । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्निति । प्रसन्नित । प्रसन्निति । स्वादगुणयुक्तानि न पदानि येषु तादशाः सुखावहाः सहृदयाह्नादजनकाः, ये काव्यवन्धाः, रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दसन्दर्भाः, तेषु काव्येषु, अयमेव प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्याख्यः सुमेधसा सुधिया कविना, योज्य आयोजनीयः, ये चेति । अपितितस्वरूगा अपितित स्वरूपं शब्दात्मकं येषां तादशाः प्रकाशमानाः शोभमानाः, तथाविधार्थरमणीया अपि तथाविधेनार्थन समणोयाश्च सन्तः, विवेकिनां सहृदयानां, सुखावहाः आह्नादजनकाः ये च एते काव्यवन्धाः काव्यप्रवन्धाः तेषु सर्वेषु काव्यवन्धेषु गुणीभूतव्यङ्गयो नाम अयं प्रकारः भेदः योजनीयः । उदाहरति—यथेति । "लच्छी" इति ।

वाज्याञ्जङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्खांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा यात्रा-योगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रत् लक्षणकारैरेकदेशेन वश्चितः। स तु तथारूपः प्रायेण सर्वे एव परीक्ष्यमाणे लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।

तथाहि—दोपकसमासोक्तचादिवदन्ये ज्यात ङ्काशः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्काश-वस्त्वन्तरसंस्पिक्षित्यो दश्यन्ते । यतः प्रथमं तावदिशयोक्तिगर्भता सर्वाबङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामिप काव्यच्छवि पुष्यति

उज्जीवती ।

समुद्रवर्णनिमदम्। खक्ष्मीः शमा, दुहिना पुत्री, हरिः विष्णुः, जामाता दुहितुः पतिः, तस्य समुद्रस्य, गङ्गा जाह्नवी, गृहिणी पत्नी, अमृतं सुधा, मृगाङ्कश्चन्द्रश्च, सुतौ तनयौ, अहो आश्चर्यम्! महोदधेः समुद्रस्य, कुटुम्बम्। अत्र लक्ष्म्या दुहितृत्वेन, हरेजीमातृत्वेन, गङ्गायाः पत्नीत्वेन, अमृतचन्द्रयोश्च पुत्रत्वेन च समुद्रस्य सर्वेलोकातिशायि सौभाग्यं प्रतीयमानमपि अहो, कुटुम्बं महोदधेरित्यहो शब्देन गुणभावं प्राप्नोति। एवमस्य गुणभूतवः ङ्ग्यत्वम्।

वाच्येषु अलङ्कारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणोभूतत्वे । चारुत्वं दर्शयति—वाच्येति । अयं बाच्यालङ्कारवर्गः वाच्यानामलङ्काराणां उपमादोनां वर्गः, व्यङ्ग्यांशानुगमे सति व्यङ्ग्यस्य प्रतीयमानार्थस्य अनुगमे सम्बन्धे सति परामुत्कृष्टां च्छायां चारुतां बिभ्रद् दवातः प्रायेण भूम्ना सक्ये निरीक्ष्यत एव दश्यत एव ।

तदेवाह—वाच्यालङ्कारेति । अयं वाच्यालङ्कारसमुदायः अलंकारस्य वस्तुमात्रस्य वा व्यङ्ग्यांशस्य, यथायोगं यथासम्भवमनुगमे अनुगतत्वे सिति शोभातिशयशाली, लक्षणकारैः अलङ्कारलक्षणकृद्धिः एकदेशेन प्रदर्शितः। तु किन्तु स सर्व एवालङ्काराणां वर्गः परीक्ष्यमाणः लक्ष्ये तथाविधः चारुत्वा-तिशयवान् निरीक्ष्यते दश्यते । समर्थयति—तथाहीति । दीपकेति । दीपक-समासोक्तचादिवद् यथा दीपके व्यङ्ग्योपमालङ्कारस्य समासोक्तौ अप्रस्तुतस्य वस्तुनः प्रथमोद्धातप्रदर्शितेषु आक्षेपादिषु केषुचिद् वस्तुनोऽलङ्कारान्तरस्य वा व्यङ्ग्यस्य संस्पश्चः तथा अन्येऽि अलङ्काराः प्रथ्येण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरस्य वस्त्वन्तरसंस्गर्थवन्तो बाहुत्येन दश्यन्ते । हेतुमाह—यत इति । यतः यस्मात् प्रथमं तावत् सर्वेषु अलङ्कारेषु वाच्यालङ्कारेषु सर्वत्र, अतिशयोक्तिरूपस्यान्तङ्कारस्यान्तभावरूपा । शक्यक्रिया शक्या क्रिया अतिशयोक्तरूपस्यान्तभावरूपाः । शक्यक्रिया शक्या क्रिया अतिशयोक्तरूपन्तभावना

धृतीय उद्द्यीतः

इति कथं ह्यतिशययोगिता स्वित्रवयौषित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोतकर्षमावहेत्।

भामहेनापि अतिशयोक्तितक्षाएं यदुक्तम् -

सेषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते । यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽबङ्कारोऽनया विना । इति

तत्रातिश्वयोक्तिर्यमकालङ्काः मधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्। तस्य चारुत्वा-तिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वोकरणयोग्यत्वेना भेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।—

तस्याश्चालङ्कारान्तरसङ्कीर्णत्वं कदाचिद् वाच्यत्वेन, कदाचिद् व्यङ्गच-त्वेन । व्यङ्ध्यत्वमिष कदाचिद् प्राधान्येन, कदाचिद् गुणमावेन । तताद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः । द्वितीये सु व्यन्तवन्तर्भावः । तृतीये तु गुणोभूत-व्यङ्ग्यरूपका ।

उज्जीवनी।

यस्यास्ताइशी भवतीत्यर्थः । महाकविभिः कृतैव सा अतिशयोक्तिगर्भता । कामिप अतिशयतां, काव्यच्छिव काव्यस्य शोभां पुष्पति पोषयति । हि यतः अतिशययोगिता अतिशयविशेषसंस्पता स्वविषयौवित्येन स्वस्वविषयस्य उचिततामनुसृत्य क्रियमाणा सती, काव्ये उत्कर्षं कथं नावहेत् । औवित्येन क्रियमाणोऽतिशयः काव्ये उत्कर्षमावहृत्येवेति यावत् । अतिशयोक्तिनक्षरो अतिशयोक्तिलक्षणकथनावसरे भामहेनोक्तमनुवदित यदुक्तमिति । सेषेति । या एतावता प्रतिपादिता अतिशयोक्तिः सेषा वक्रोक्तिरुक्तिवेचित्र्यमतिशयोक्ति । आवाः किवाशित्या अतिशयोक्तिः सेषा वक्रोक्तिरुक्तिवेचित्र्यमतिशयोक्ति । अतः किवाशित अतिशयोक्तिया, अर्थो विभाव्यते विचित्रतया अनुभूयते । अतः किवाश अत्यामतिशयोक्ती यतः प्रयतः वार्थः करणीयः । अत्या विना अतिशयोक्तिया विना कोऽलङ्कारः अतङ्कारस्य व्यपदेशिवषयः अलङ्कारोन् स्तीत्यर्थः तत्रेति । कविप्रतिभावशात् कवेः प्रतिभाषा बानुगुण्येन, अतिशयोक्तियं मलङ्कारमिलङ्कारमिविष्ठितः, यस्मित्रवङ् कारेऽत्तर्भावं भजते, तस्यालङ् कारस्य चारुत्वातिशययोगः अतिशयितचारुतासंसर्गः, अन्यस्य तु अतिशयोक्तयन्त-भविरहितस्य तु, अलङ्कारमात्रत्वम् । इति एवं, सर्वालङ्कारशर्शितः भविरहितस्य तु, अलङ्कारमात्रत्वम् । इति एवं, सर्वालङ्कारशर्शितः

अयं च प्रकारोऽन्येषान्ध्यलङ्काराणामस्ति, तेषां तु न सर्वविषयः । अतिशयोक्तेस्तु सर्वारुङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः येषु चालङ्कारेषु साद्ध्यमुखेन तत्त्वप्रतिल्हमः, यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानवर्मभुखेने यत् साद्ध्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तः गुणोभूनव्यङ्गचस्यैव विषयाः । समासोक्तचाक्षेप-पर्यायोकादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनेव तत्त्वव्यवस्थानात् गुणोभूत-

उज्जीवनी !

स्वीकरणयोग्यत्वेत सर्वेपामलङ्काराणां शरी रस्य स्वीकरणयोग्यतया, स्वेनेपायात् अभेदिशमारात् अभेदलक्षणात् । सेव अतिशयोक्तिरेव सर्वालङ्कार्ण्या इत्ययमेवार्थोऽवग्ग्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्याश्च अतिशयोक्तेश्च अलङ्कारान्तर-सङ्कीर्णत्वं अलङ्कारान्तरिश्चितत्वं च, कदाचिद् वाच्यत्वेतः, कदाचिद् व्यङ्ग्यत्वेतं च भवति । व्यङ्ग्यत्वमिप कदाचित् प्राधान्येन, कदाचिच् गुणीभावेत । तत्राद्ये पक्षे अतिशयोक्तेर्याच्यत्वे वाच्यालङ्कारमार्गः । द्वितःये व्यङ्ग्यत्वे प्राधान्य घवनावन्तर्भावोऽतिकयोक्तेः । तृतीयं व्यङ्ग्याया अतिशयोक्तेर्गृणभावे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्विमिति विवेकः ।

अयं चेति । अयं च प्रकारः खलङ्कारान्तरेऽनुप्रवेशरूपः अलङ्कारान्तराणां अन्येषामलङ्काराणां अस्ति, तु किन्तु तेषामन्यालङ्काराणां, अयं प्रकारः सर्वविषयः सर्वो विषयो यस्य तादशः, न भवति सर्वेषामण्यलङ्काराणां अलङ्कारान्तरेष्वनुप्रवेशो नास्तीत्यर्थः । अतिशयोक्तेस्तु अतिशयोक्तधलङ्कारस्य केवलं, अलङ्कारान्तरेऽनुप्रवेशः सर्वा उङ्कारविषयः सर्वोऽलङ्कारो विषयो यस्य तादशी अवित इत्ययं विशे गः वैलक्षण्यम् । येषु अलङ्कारेषु यथा दीपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु दीपके, उपमायां, तुल्ययोगितायां, निदर्शनादौ इव सादश्यमुखेन सादश्यद्वारा तत्त्वप्रतिलम्भः अलङ्कारत्वव्याप्तिः तेषु अलङ्कारेषु । गम्यमानधर्ममुखेनैव व्यज्यमानसाधारणधर्मपुरस्कारेण्यत् सादश्यं तदेव, शोभातिशयशालि शोभातिशयमाधत्त इति ते सर्वेऽपि तथाविधाः सर्वेऽपि अलङ्काराः चाहत्वातिशययोगिनः अतिशयितमाङ्कादं जनयन्तः सन्तः गुणीभूतव्यङ्गचस्यैव विषया धवन्ति ।

•यङ्गचता निविवादैव । तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायां अनङ्काराणां केषाश्चि-दलङ्कारविशेषगर्भतायां नियमः । यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगर्भते । केषाश्चिदलङ्कारमात्रदर्भतायां नियमः यथा सन्देशदीनामुपमागर्भते , केषाश्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भताशि सम्भवति । यथा दीपकोपमयोः । तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचित् दीपकच्छायानुयायिनी । यथा मालोपमा । तथा हि—'प्रभामहत्या शिख्येव दीपः' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छायां लक्ष्यते ।। तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्याः सित चारुत्वातिलययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं

उज्जीवनी।

समासोक्तयाक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु अलङ्कारेषु गम्यमानांशाविनाभावेनैव गम्यमानांशस्य व्यङ्गचांशस्य, अविनाभावेन नियत्वेन तत्त्वव्यवस्थानाद् अलङ्कारत्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निविदादैव, तेषां समासोक्तचा-दोनां गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे विवादो नास्ति । तत्र च केषाश्चिदलङ्काराणां गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे, अलङ्कारविशेषगर्भतायां अलङ्कारविशेषस्थान्तर्भवि नियमः । यथेति । सन्देहादोनामलङ्काराणां उपमागर्भत्वे नियमः । केषाश्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भता परस्परस्यान्तर्भवोऽपि सम्यवति । यथा दीपको गमयोः तत्र दीगकं देपकालङ्कारः उपमागर्भत्वे प्रसिद्धम् । कदाचिद् उपमापि दीपकच्छायानुयायिनी दीपकच्छायामनुगच्छति । यथेति । मालोपमेति । प्रभेति—

प्रभामहत्या शिखयेत दो । स्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः । संस्कारवत्येव गिरा मनीषी, तया स पूत्रश्च विभूषितश्च ॥

कुमारसम्भवे प्रथमसर्गस्थितमे त् पद्यम् । पूतस्विवभूषितस्वातमको धर्मः प्रस्तुतस्य हिमवतः, अप्रस्तुतानां दीपादीनां च साधारणतां प्राप्तः दीपकस्यो-पमाधामन्तर्गतत्वं प्रकाशयति । तत् तस्मात् एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, व्यङ्ग्यांश-संस्पर्शे सित व्यङ्ग्यस्यांशस्य संसर्गे सितः चारुत्वातिशययोगिनः अतिशयित-चारुत्वयुक्ताः, रूपकादयः सर्वे एवाबङ्काराः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनाङ्गीक्रियते । तेषां रूपकादीनाः तथाविधानां तत्सदशानां,

च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेदोक्तानुक्तानौं सामान्यम्। तल्क्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति। एकेकस्य स्वरूपिवशेष अथनेन तु सामान्यलक्षणरिहतेन प्रतिपद्याठेनैव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्; आनन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकतास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्त-रेणापि व्यङ्गचार्थातुष्य नक्षणोत् विषयत्त्रमस्त्येव। तदयं व्वनिनिष्यन्दरूपो दितीयोऽपि सहाकविविषयोऽनिष्यणीयो लक्षणीयः सहदयैः। सर्वथा नास्त्येव सहदयहदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौमाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिभविनीयम्।

मुख्या महाकविनिरामलङ्कृतिभुतामपि । प्रतीयमानच्छायैवा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ३७ ॥

उज्जीवनी।

उक्तानां दीपकादीनां, अनुक्तानां सन्देहादीनां चालङ्काराणां गुणीभूतव्यङ्गचत्वं सामान्यं तुल्यम् । तल्लक्षणे, गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य लक्षणे कृते सति, सर्वे एवैते सुलक्षिता सम्यग् लक्षिता भवन्ति । सर्वेषाम[्] ङ्काराणां लक्षणं सुष्ठूकतं भवति । आनन्त्यात् शब्दाः यथा प्रतिपदपाठेन तत्त्वतो निर्ज्ञातुं न शक्यन्ते । तथा सामान्यलक्षण रहितेन सामान्यलक्षणं विना, एकैकस्यापि अलङ्कारस्य स्वरूप-विशेषकथनेन प्रातिस्विकखक्षणकथनेन तत्त्वतो ज्ञातुं न शदयत इत्यर्थः । वाग्विकल्पाः वाचो विकल्पाः, अनन्ताः अलङ्काराश्च तत्प्रकारां एव वचनभेदा एव। व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षरोन व्यङ्ग्यार्थानुगतत्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य स्रक्षण-मिति प्रकारान्तरेणापि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य विषयत्वं खक्षितत्वमस्त्येव । घ्वनिनिष्यन्दरूपः ध्वनेनिष्यन्दात्मकः, अयं द्वितीयोऽपि तत् तस्मात्, गुणीभृतव्यङ्ग्याख्यो भेदः, महा त्विविषयः महाकवीनामुक्तिविषयः, अतिरमणीयः सहदयैः लक्षणीयो द्रष्टव्यः । यत्र काव्ये, प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन ध्यङ्ग्यार्थसंसर्गेण सौभाग्यं नास्ति, सहृदयहृदयहारिणः सहृदयहृद्याह्नादकस्य काव्यस्य, स तादशः प्रकारो नास्त्येव । तदिदं परमुत्कृष्ट काव्यरहस्यमिति सुरिभिविद्वद्भिः धावनीयं विभावनीयं म्।

मुख्येति । अलङ्कृतिभृतामि सालङ्काचाणामिष, महाकविगिरौ

अत्या सुत्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि काभनीवकमानीयते । तद्यथा—

विस्नम्भात्था मन्मथाज्ञाविषाने, ये मुग्बाक्ष्याः केऽपि लोलाविशेषाः । अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन, स्वित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ॥ इत्यत्र केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमिश्वव्यता इतीयमानं वस्त्विष्ठष्टमनन्त-मर्पयता का च्छाया नोपपादिता ।

अर्थान्तरगतिः काका, या चैषा परिदरयते । सा व्यक्तचस्य गुणीभावे, प्रकारमिसमाश्रिता ॥ ३८ ॥

या चैषा काका कचिदयन्ति रप्रतीति ईश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सित गुणीभावव्यङ्ग्यनंक्षणं काव्यभेदमाश्रयते । यथा—'स्वस्या भवन्ति मिया जीवित वार्तराष्ट्राः'। यथा वा—

उज्जीवनी।

महाकविवचनानां एषानन्तरोक्ताः प्रतीयमानच्छाया व्यङ्ग्यार्थसंस्वर्शेन या कान्तिः सा योषितामङ्गनानाः लज्जेव त्रपेव, मुख्या प्रधानभूता भूषा भूषणं भवति । अनया प्रतीयमानच्छायया, सुप्रसिद्धोऽपि अत्यन्तं प्रसिद्धोऽप्यर्थः किमिप अनिवैचनीयं रामणीयकं आनीयते प्राप्यते । उदाहरति—तद्ययेति । विस्नम्भोत्या इति । मन्मथान्नाविधाने मन्मथस्यालङ्क्षनीयशासन्स्य कामस्य, आज्ञाया विधानेऽनुष्ठाने, मुग्वाक्ष्यास्सुन्दर्याः, विस्नम्भोत्थाः लज्जादिपरित्यागो-पस्कृतात् विश्वासात् उत्पन्नाः, केऽपि अनिवैचनीयाः, अक्षुण्णाः अपरिचिताः, ये लीलाविलासाः विश्वमाः, ते ए गन्ते वि गने, स्थित्वा केवलेन व्यापाधान्तर-रहितेनः चेतसा मनसा सन्ततं भावनीयाः भाविषतुमुचिता भवन्ति । इत्यत्र इत्यस्मिन् पद्ये, केऽपि इत्यनेन शब्देन लीलानां पृथग्वचनेन अस्पष्टमभिद्धता स्फुटतयानभिद्धता कविना, प्रतीयमानं वस्तु व्यङ्ग्यं, अक्लिष्टं क्लेशं विना, अनन्त बहुरूपं, अपयता प्रकाशयता का छाया शोभाः नोपपादिता न सम्यादिता अतिशयिता कान्तिः प्रतिपादितेत्यर्थः ।।

काकाक्षिप्तं प्रतीयमानप्रकारं दशुँयति — अर्थेति । काकाध्वनेविकारेण, या चैषा अर्थान्तरगतिः अर्थान्तरस्य व्यङ्ग्यस्यावगतिः परिदश्यते सा अर्थान्तर- भाम असद्भौं औरम पद्य्वए ण तुए मलिणि अंसीलम्। कि उण जणस्त जा अव्य चन्दिल तंण कामेमी।।

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिषेयसामध्यक्षिप्तकाकुसद्वाया सती अर्थविशेष> तिपत्तिहेतुनं काकुमात्रम् । विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात् काकुमात्रात् तथा-

उज्जीवनी

गतिः व्यङ्ग्यस्य गुणोभावे अति प्रतीयमानार्थस्याप्राधान्ये सित इमं प्रकारं गुणोभूतव्यङ्ग्यः रूपं काव्यव्रकारं आश्रिता आश्रित्य वर्तत इत्यर्थः । तदेवाह— येति । या चेषा कचित् स्थले अर्थान्तरस्य व्यङ्ग्यस्य प्रतीतिर्देश्यते सा व्यङ्ग्यस्य गुणोभावे साति गुणीभूतव्यङ्ग्यज्ञक्षणं काव्यव्रभेदं काव्यभेदमाश्रयते इति । उदाहरति—यथेति । स्वस्था इति ।

लाक्षागृह।नलविषान्नसभाववेशैः
प्रागोषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपश्चिनकेशान्
स्वस्था भवन्ति मिय जीवति धार्तराष्ट्राः॥ इति पद्मम् ।

वैणीसंहारे प्रथमाङ्के भोमसेनस्योक्तिरियम् । अत्र 'स्वस्था भवन्ति' इति काका भोमे जीवति कथि चार्तराष्ट्राः स्वस्था न भवेयुरिति घार्तराष्ट्राणां स्वास्थ्यासम्भाव्यता व्यज्यते । तस्य च बाच्यार्थोपस्त्रारकतया गुणीभावाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यमिदं काव्यम् ॥

उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । अ!मिति । स्वमपहसन्तीमसतीं परिहसन्त्याः कस्याश्चिदुक्तिरियम् । आम् सत्यम् । असत्यो भवामः । त्वं उपरम परिहासवचनात् । पिहासो माभूदिश्यर्थः । हे ! पतिव्रते ! त्वया शीलं चारित्रं न मिलितिम् मिलिनं न कृतम् । कि पुनः किन्तुः लनस्यपश्कीयस्यः जायेव पत्नीवः नापितं शुरुकं न कामयामहे । असत्यो भवाम इति काकुः । अविनयातिशयो व्यङ्ग्यः । अत्र हि स्वाभिषेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया स्वस्य वाचकशब्दस्य अभिष्योऽभिषाव्यापारिवषयो योऽषंः तस्य सामर्थ्येनाक्षिप्ता काकुः सहायो यस्यास्तादशी सती शब्दशक्तिरेव शब्दव्यापार एव अर्थविशेष-प्रतिपत्तिहेतुः अर्थविशेषस्य प्रतिपत्तिरवगमस्य हेतुः कारणं न काकुमात्रम् ।

विभार्थप्रतिपत्त्यसंभवात् । स जार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारीपारूढो-ऽप्यर्थसामर्थ्यजभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव । वाच इत्वानुगमेनैव तु यश तिहिशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविवार्थचीतिनः काव्यस्य-व्यनदेशः व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिषायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्त्रम् ॥

> प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्तःचा प्रतीयते । विधातव्या सहद्येर्न तत्र ध्वनियोजना ॥ ३६ ॥

सङ्कीर्णो हि किश्विद् घननेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दश्यते मार्गः तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र घ्वनिराणिण धवितव्यम्।। यथा—

उज्जीवनी ।

विषयान्तरे अन्यविषये स्वेच्छाकृतात् अर्थान्तराभिसन्धिरहितात् का कुमालात् तथाविधस्य चमत्कृतिजन स्यायविशेषस्य प्रतिपत्तेरसभवात् । स चार्था अर्थविशेषः का कुविशेषसहायशब्दव्यापारोपाक्त्वोऽपि का कुविशेषः सहायः यस्य ताःदशस्य, शब्दस्य व्यापारेण, समादि । ऽपि अर्थेशः मर्थ्यं लभ्य इति हेतोः व्यङ्ग्यरूप एव व्यङ्ग्यात्मक एव । वाचकत्वानुगमेनैव वाच्यवाचकभावरूपशब्दव्यापारपश्चाद्भावेनैव हिशिष्टवः च्यप्रतीतिः व्यङ्ग्यविशिष्टस्य वाच्यस्य प्रतीतिः थदा भवति तदाः तथावधार्थद्योतिनः तादशार्थप्रकः शकस्य काच्यस्य प्रतीतिः थदा भवति तदाः तथावधार्थद्योतिनः तादशार्थप्रकः शकस्य काच्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यविशिष्टः व्यव्यापाद्यस्यः विशिष्टवाच्याभिधायिनः व्यङ्ग्यविशिष्टः व्यङ्ग्यविशिष्टतः वदिभिधायिनः तदिभिधायकः तदिभिधायकः तदिभिधायकः तदिभिधायकः व्यङ्ग्यविशिष्टः वाच्यः तदिभिधायकः तदिभिधायकः व्यङ्ग्यविशिष्टः वाच्यः तदिभिधायकः तदिभिधायकः व्यङ्ग्यत्वभ्यः ।

व्यक्ते गुणीभूतव्यङ् र घस्य च विषयविभागमाह— प्रभेदस्येति । यश्च व्यक्त्रघोऽर्थः युक्तघा चाहत्वप्रतोतितारतम्यपर्या गोचनया, अस्य गुणीभूत-व्यक्तघात्मकस्य प्रभेदस्य काव्यप्रकारस्य, विषयः प्रतीयते विषयत्वेनावगम्यते । तत्र सहदये ध्वेनियोजना ध्वनिसंज्ञाया आयोजनं, न विध्नतव्या न कर्तव्य-मित्यर्थः । हि यस्मात् ध्वनैः गुणीभूतव्यक्त्रघस्य च लक्ष्ये मार्गः सङ्कीणंः ध्रुयते, मार्गस्य सङ्कीणंतायां तत्र ध्वनित्वगुगीभूतव्यक्त्रघत्वयोर्मध्ये यस्य युक्ति सहायता ध्वनित्वस्य वा गुणीभूतव्यक्त्रघत्वस्य वा युक्ति प्रह्वायता युक्तिः पत्युः शिरश्चन्द्रकलागनैन, स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जियत्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।।
थशा च

प्रयच्छतीच्यै: कुसुमानि मारिनी, विपक्षणीत्रं दिवतेत लिम्सता न किञ्चिद्दे चरऐति केवलं, लिलेख बाल्पाकुललोचना भुवम्।। इत्यत्र 'निर्वचनं जधान' 'न किञ्चिद्देच' इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्गध-स्यार्थस्योक्तचा किञ्चिद्दिषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते। यदा वक्रोक्ति विना व्यङ्गचोऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम्। यथा 'एवंदाहिनि

उज्जीवनो ।

सहाया भवितः तत्र तादशस्थले तेन ध्वनित्वेन, गुणीभूतव्यङ्गध्यतेन वा व्यपदेशः कर्तव्यः । कर्तव्यतयावगन्तव्यः । अतः सर्वत्रः घविनरागिणा ध्वनिव्यपदेशकरणे सहदयेन रागवता न भवितव्यम् । उदाहरित— यथेति । पत्युरिति । कुमारसम्भवे सप्तमसर्गे पार्वतीवर्णनपरं पद्यमिदम् । सख्या वयस्यया, चरणी पादौ, रञ्जयित्वा लक्षारसेन रिञ्जतौ कृत्वा, अनेन पादेन, पत्युः भर्तुः परमेश्वरस्य, शिरश्चन्द्रकलां शिरुसि स्थितां चन्द्रकलां, स्पृशेति परिहासावं सोयहःसं कृताशीः कृतः दत्तः आशीर्यस्यं तादशी, सा पार्वती, माल्येन माल्या, तां सखीं, निर्वचनं न किञ्चिदपि ब्रुवाणा जघान तादितवती ।

उदाहरणान्तरमाह—प्रयच्छतेति। किरातार्जुनीये अष्टमसर्गे स्थितमिदं पद्यम्। उच्चैः उन्नतशाखायां स्थितानि कुमुमानि पुष्पाणि (अविचत्य) प्रयच्छता ददता, दियतेन पत्या, विपक्षगोत्रं विपक्षस्य सपत्त्या गोत्रं नामधेयं लिमता प्रापिता (काचिद्धसराः) मानिनी मानवती सती, न किञ्चिद् चे न किम्प्यवदत्। किन्तु केवलं, चरणेन पादेन, बाष्पाकुलनोचना बाष्पेण अकुले लोचने यस्यास्तादशी सती भुत्रं भूमि लिलेख। इत्यत्र प्रयम्श्लोके 'निर्वचन जघाने'ति वचनप्रतिषेधमुखेन व्यङ्गचस्यार्थस्येष्यदिः उक्तचा, किञ्चदत्पत्वेन विषयीकृतत्वात् गुणीभाव एव, वाच्यापेक्षया अप्रधान्यमेव शोभते। तथा द्वितीयश्लोकेऽपि 'न किञ्चद् चे' इति कोपस्य व्यङ्गचस्यापि वचनप्रतिषेधमुखेन उक्तचा किञ्चद् विषयीक्रणाद् गुणोभाव एव। यदा वक्रोक्ति विना उक्तिवैच्यं विना, भङ्गचन्तरेणाभिधानं विना, व्यङ्गचोऽर्थः

देवधौं इत्यादौ । इह पुनरुक्तिर्भङ्गचास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यन् । तत्मान्नात्रात्ररणन्रहण्यङ्गचस्वनिष्यादेशो विधेयः।

प्रकारोऽयं गुणीभृतव्यङ्गचोऽणि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसादितात्वर्थपर्यानोचनया प्रनः ॥ ४०॥

गुणीभूतव्यङ्गचोऽपि काव्यप्रकार:, रसभावादितारायिको देते पुनर्ध्वतिरेव सम्पद्यते । यथात्रैवानन्तरोदाहते श्लोकद्वये । यक्षाच—

> दुराराधा रावा सुभग यदनेनापि मृजत— स्तवैतत् प्रागोशाजधनवसनेनाश्रु पतितम् । कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैविरम हे कियात् कल्याणं वो हरिरनुनयेष्देवमुदितः ॥

उज्जीवनी ।

प्रतीयमानोऽर्थः, तास्पर्येण वनतृ विवक्षाधी तया प्रतीयते व्यज्यते तदा, तस्यं व्यङ्खस्य प्राधान्यम् । यथा 'एवंवादिनि देवधौं' इत्यादौ । तत्र लज्जायाः भावस्य व्यङ्गचत्वाद् प्राधान्याञ्च ध्वनित्वम् । इह पूनः 'निर्वचनिमिति', 'ते किञ्चिद्वचे' इति च उभयतापि भङ्गचा वैचित्र्येणोक्तिः व्यङ्गचस्योक्तिः अभिश्रीयमानत्वमस्तोति वाच्यस्यापि प्राधान्यम् । तस्मादत्र, अनुरणन्हान्व्यङ्गचध्वनिव्यपदेशः, न विधेयः न कर्तव्यः।।

किविद्गुणीभूतव्यङ्गचस्यापि काव्यप्रकारस्यघ्वितित्वमाह—प्रकारोऽयमिति।
गुणीभूतव्यङ्गचोऽपि, अयं काव्यस्य प्रकारः, रसादितात्रयंपर्यालोचनया पुनः,
रसादीनां रसभाव दीनां, तातायंस्य वक्तृविविक्षितत्वस्य पर्याकोचनायां तु,
घ्विनिष्यत्वं घत्त भजते घ्विनिष्य देशिवषयो भवति। तदेशह—गुणीभूतेति।
गुणीभूतव्यङ्गचोऽपि काव्यप्रकारः रसभावादिश्यिकोचने पुरः घ्विनरेव
सम्पद्यते। घ्वन्यात्मक एव प्रकारो भवतोत्यर्थः। उदाहर्तुमाह—यथेति।
अत्रवोदाहते, अनन्तरश्लोकद्वये अव्यवहितपूर्वतयोक्ते, पत्युरिति, प्रयच्छेति च
पद्यद्वये। रसस्य प्रधानत्या व्यङ्गचस्य, तात्पर्यपर्यानोचनायां रसापेक्षया
उभयत्रापि घ्वितिवं निविवादम्। उदाहर्शान्तरमण्याह—दुरादाधेति।

एवं स्थिते च 'न्यक्कारो हायमेव' इत्यादिश्लोकनिर्दिष्टानाः पदानां व्यङ्गच-विशिष्टवाच्यव्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्याधीभू रसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न तेषां पदानामधीत्तरसङ्क्रमितवाच्यव्यनिश्रमो विश्वातव्यः, विवक्षितवाच्यत्वात् तेषाम् । तेषु हि—व्यङ्गचिविशिष्टत्व वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्गचरूपपरि-णतत्वम् । दस्माद् वाक्यं तत्र व्यतिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्गचानि । न च केवलं गुणीभूतव्यङ्गचान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्गचव्यक्ष्वकानि, यावदर्श-

उज्जीवनी !

कुपिता राधा कृष्णमाह हे सुभग! सुन्दर! यद यस्मात्, अनेन तव प्र गोगाजधनवसनेन प्रागोशाया: प्रियतमाभूतायाः अन्यस्या जधनवसनेन परिधानीयेन वस्त्रेण, एतत् पतितं मनाश्रु बाष्यं, मृजता अपनयता, त्वया, षाधा अहं दुराराधा सःस्त्वियतुमशक्यः । स्त्रीचेतः स्त्रीणां वित्तं, कठोरं कठिनं च। तत् तस्मात् उपचारैः कृत्रिमैः सान्त्वनैः अनम् । हे अये विरम सान्त्वनाद् विश्तो भव। एवंप्रकारेण अनुनयेषु सान्त्वनावसरेषु (राधाया) एवं उदितः उक्तः, दशः कृष्णः, वो युष्माकं कल्याणं मङ्गलं क्रियात् विद्धीत । अत्र सुभगादिपदै: विरहासहिष्सुत्वादिकं यद् व्यङ्ग्यं तेन वाच्योऽर्थ उपस्क्रियते इत्यंशमादाय गुणीभूतव्यङ्गचत्वं, प्रबन्धव्यङ्गचस्येष्यविप्रलम्भश्यङ्गा सस्य घ्वनित्वं चास्तीति वेदितव्यम् । अन्यदप्यदाहरणं प्रदर्शयन्नाह—एवं स्थिते चेति। ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्गचस्य च उत्तप्रकारेण, विषयविभागे क्रियमाएं। सि 'न्यक्कारोह्ययमेवे'ति श्लोके निर्दिष्टानां 'असी', 'तापस' इत्यादिपदानां अक्षौ सनुष्य इत्यनेन राक्षसभक्ष्यत्वं, तापस **इत्यनेन** शास्त्रानभिज्ञत्विमित्यादिकं यद् व्यङ्ग्यं तद्, बाच्योपस्कारकत्वेन व्यङ्गच विशिष्टवाच्यप्रतिपादव त्वेन गुणोभूत सद् एतद्वाक्यार्थीभूतो एतद्वाक्य-तात्पर्यविषयीभूतो य प्राध न्येन प्रतीयमानो बीरो रसः तदपेक्षया व्यञ्जवत्वं च प्राप्य काव्यस्यार्थस्य ध्वनिव्यवदेश्यत्वं च सम्पादयति । तेषां न्यक्कार इत्यादिपद्यस्थितानां व्यञ्जमानां पदानां वाच्यस्याभिधाव्यापारबोध्यस्यार्थस्य विवक्षितत्वात् । तेषां पदान।मर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो न विघातव्यः न कर्तव्यः। तेषु पदेषु वाच्यस्य व्यङ्गचिविशिष्टत्वं वाच्यांशे प्रतीयते, •यङ्गचस्य विशेषणत्वेनावस्थानमेव।स्तीत्यर्थः। व्यङ्गचरूपेण परिणतत्वं न्तरसङ्क्रिनित्वाच्यानि व्वितिभेदक्ताण्यपि । यथात्रैव श्लोके 'रावण' इत्यस्य प्रभेदान्तरक्राव्यञ्जकत्वम् । यत्र तु वादये रसादितात्पर्यं नास्ति, गुणीभूत-व्यङ्ग्ये । पदै: उद्ध्रासितेऽपि तत्र गुणाभूतव्यङ्गचतैव समुदायधर्मः । यथा—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपि भुञ्जते । रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः ॥

इत्यादौ । वाच्यव्यङ्गचयोः प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः

उज्जोवनी ।

परिणामो नास्ति । तस्मात् तत्र ताद्याध्यले वाक्यघ्वनिः पदानि तु गुणीभूतव्यङ्गचानि । तथापि असलक्ष्यक्रमव्यङ्गच्घवनेः केवलं गुणीभूतव्यङ्गचानि
पदान्येव व्यञ्जकानोति निया नास्ति । किन्तु अर्थान्तरसङ्क्रमितदाच्यान्यिष
घविन्येदरूपाणि पदान्यि व्यञ्जकानि द्ययन्ते । यथा अत्रैव 'न्यक्कारो
ह्ययमेवे'त्यादिपद्य एव 'जीवत्यहो रावण' दत्यत्र 'रावण' शब्दस्य अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेनेव व्यञ्जकत्वम् । तु किन्तु यत्र वःक्ये, रसादितात्याँ
नास्ति, रसभावादिकं वक्तृनात्पर्यंविषयीभूतं न भवति, गुणीभूतव्यङ्ग्यैः
वाच्यविद्येषणतया प्रतीतैः व्यङ्ग्यैः उद्भासितेऽपि प्रकाशितेऽपि तत्र काव्ये,
गुणीभूतव्यङ्गचत्वमेव समुदायधर्मः । उदाहर्रत—ययेति । राजानमिति ।
कुश्चना लोकवृतान्तिन्दणाताः खलु मानवाः नराः राजानमिप सेवन्ते, पाजसेव मिप कुर्वन्ति । विषमप्यु । भुञ्जते विश्वभञ्चणमिप कुर्वन्ति । स्त्रोभिः
सह नारीभिस्साकं, रमन्ते विह न्ति च । अत्र राजसेव।याः, विषभञ्चणस्य,
स्त्रीभिः सह विहरणस्य च अतिक्लेशसाध्यत्वरूपं यद् व्यङ्ग्यं तिद्विशिष्टस्य
वाच्यस्यैवातं चाहतेति गुणीभू । मिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्येति भावः ।

योऽयं व्यङ्ग्यस्य विषयविभाग उक्तस्त्रस्यावश्यकतां प्रवर्शयतिवाच्येति । वाच्यव्यङ्ग्ययोः वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च प्राधान्य प्राधान्यविवेचने प्राधान्ये व्यङ्ग्यस्य ध्वनिरिनि, अप्राधान्ये गुणोभूनव्यङ्ग्यमिति अविवक्षितत्वे अलङ्कार इति च विवेकं ज्ञातुं पर उत्कृष्टः, प्रयत्ना यत्नः विधातव्यः, कर्तव्यः । येन ध्वनेः, गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य, अलङ्काराणां च, असङ्कीणः सङ्कीणंतारहितः

१. 'मु' च

येन घ्वनिगुगीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां जासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति । अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते । यथा—

> लावण्यद्दविणव्ययो न गणितः वितेशो महान् १ स्वीकृतः स्वच्छन्दस्य युषां चनस्य वस्तिश्चितः । एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावात् वराकी हता कोऽर्थश्चेतिस वेधसा वितिहितस्तन्व्यास्ततुं तन्वता ॥

इत्यत्र व्याचस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायि केनचित्, तन्न, चतुरस्रम् । यतोऽस्याभिधेयस्येतदऌङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायि न सुश्लिष्ट्रता । यतो ज तावदयं राजिणः कस्यचिद् विकल्पः ।

उज्जीवनी ।

विषयः विषयस्यासाङ् हर्यमिति यावत् सुज्ञातो भवति । अन्यया एवं विषय-विभागस्याज्ञातत्वे प्रसिद्धानङ्कारविषय: प्रसिद्धेष्वलङ्कारेष्वेव, व्यामोहः उदाहरति-यथेति । लावण्येति । लावण्यद्रविणव्ययः भ्रम: प्रवर्तते लावण्यरूपस्य द्रविणस्य वित्तस्य व्ययो न ाणितः। महान् क्लेशश्च स्वोकृतः विहितः। स्वच्छन्दस्य स्वेच्छ्या, सुख वसतो जनस्य, चिन्तानलश्चिन्तारूपोsिनः दोषित उद्दोषितः, एषापि एवं िर्मितानि वसकी तुल्यरमणाभावात् त्ल्यस्यारमनोऽनुरूपस्य रमणस्य वरस्याभावात् स्वयमेव हता नष्ट्रप्राया। एव तन्व्यास्तनुं तरुण्या देहं, तन्वता मृजतः, वेधसा ब्रह्मणा चेतसि हृदये, कोऽर्थः विनिहितः स्यात् कि प्रयोजनमुद्दिष्टं स्यादित्यर्थः । इत्यत्र इत्यस्मिन् पद्ये, व्याजस्तुतिरलङ्कार इति केनचिद् व्याख्यातम् । निन्दया स्तुति: स्तुत्या निन्दा च यत्राभिधी मते तत्र व्याजस्तुर्तिरलङ्कार इति लक्षणानुसारेण अस्मिन् पद्ये तरुण्याः सुष्टेनिन्दया तस्याः सीन्दर्यातिशयस्य स्तुतिरवगम्यत इति व्याजस्तुतिरलङ्कारोऽत्रेति केनचिदिभहितम्। न चतुरस्रं न युक्तमित्यर्थः। तस्य कारणमाह- यत इति । यतः यस्मात् अस्याभिधेयस्य एतत्पद्यस्य, यो वाच्योऽर्थस्तस्य एतदरुङ्काररूपमात्रायंवसायित्वे व्याजस्तुत्यलङ्कारमात्रे पर्यवसाने तन्मात्रविश्रान्ती, सुविलब्दता न सम्भवति । अयं विकल्पस्तर्कः,

१. 'नाजितः' च

२. 'न्दं चरतो ज॰' च

तस्य 'एषापि स्वयमेन तुल्यरमणाभावात् तराकी हता' इत्येवविधीः क्तचतुपपत्तेः। नापि नीरागस्य तस्यैवविधिविकलपपरिहारैकव्यापारत्वात्। न चार्य श्लोकः कचित् प्रवन्ध इति श्रूयतेः येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते। तस्मादप्रस्तुतप्रवातेयम्। यस्मादनैन वाच्येन गुणीभूतात्मना निःसामान्यगुणावलेयाध्मातस्य निजमहिमोतकर्षजनितसमत्सण्जनज्वस्य विशेषज्ञमात्मनो न किच्चदेवापरं पश्यतः परिदेवितमेलदिति प्रकाश्यते। तथा चार्यं धर्मकीर्तेः क्लोकः इति प्रसिद्धः सम्भाष्यते च तस्यैव। यस्मात्

उज्जीवनी ।

कस्यचिद् रागिणस्तावद् न सम्भवति । अयं विकल्पस्तर्कः, कस्यचिद् रागिणस्तावद् न सम्भवति । तस्य रागिणः, एषापि, स्वयमेव तुल्यरमणाभावात् वराकी हते ति अमङ्गत्रोक्ते स्नुपपत्ते:। नापि नोरायस्य विरक्तस्याधीयमुक्तिरिति वक्तुं न युक्तम्। तस्य नीरागस्यः एवंविधानां वितकीणां परिहार एवे को वयापारो यस्य तादशस्य भावस्तत्वं तस्मादित्यर्थः। अयं च श्लोकः कचिः वि प्रबन्धे वर्तत इति न ज्ञायते। येनास्य पद्यस्य तत्प्रकर गोनानुगतः अर्थः यस्य तादशस्य भावः परिकल्प्यते परिकल्पयतुं शक्यत इत्यर्थः । तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम् । इयमप्रस्तुतप्रशं गलङ्कृतिरिति वक्तव्यम्। यस्माद् यतः गुणीभूतात्मना अनेन वाच्येनार्थेन निःसाम न्य-गुणावलेपाध्मातस्य निःसामान्यस्य असद्शस्यः गुणस्यावलेपेन अभिमानेन आध्मातस्य उद्भूतस्य,निजमहिमोत्कषेजनितसमत्सरजनज्व रस्य निजस्य स्त्रस्य यो महिम्न उत्कर्षो महिमातिशयः तेन जनितस्य समत्सण्जनस्य मात्सर्यवतो जनस्य यो ज्वर: येन ताइगस्य, आत्मनोऽगरं स्वेतरं विशेषज्ञं कश्चिदेव एकमपि न पश्यतोऽनवलोकयतः, एतत् परिदेवितं परिदेवनमेतदिति प्रकाश्यते । यस्मादेवं तस्मादप्र-तुतप्रशंसेयमिति पूर्वेणान्वय:। तथा चायं श्लाक: धर्म-कीर्तेरिति प्रसिद्धिवर्तते। तस्यैवायं श्लोक इति च सम्भवदुक्तिकमित्यर्थः। सम्भवदुक्तिकतामेवाह-यस्मादिति। अनध्यवसितेति। अनल्यधीशक्तिनापि अनल्पा बह्वी, धियो बुद्धेः शक्तिः पदार्थग्रहणसामध्यं यस्य तादशेनापिः अन्ध्यवसितावगाहुन मनत्पधीशक्तिनाप्यद्द्ध्य रमः श्रीतत्त्वमधिकाभियोगैः पि ।
मतः ममः जगत्यलब्धसदस्त्र तिग्राहकं
प्रयास्यसि पयोनिधेः प्यद्व स्वदेहे जराम् ।।

इत्यनेतः पि श्लाकेनैवं विघोऽभिष्रायः प्रकाशित एव । अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद् विविक्षितत्वं, कदाचिद्विविक्षितत्वं, कदाचिद्विविक्षितत्वं इति त्रयो बन्धच्छायाः । तत्र विव क्षतत्वं यथा—

उज्जीवनी।

यन्य सितावगाहनं अन्य विश्वित अनिश्चितमवगाहनमवगननं यस्य तादशम्।
पयः पक्षे — अन्य विस्त मकृतं, अवगाहनगः लोडनं यस्य तादशम् अविकाभियोगेरिप अधिकैर्भूयोभिरिभयोगेरिप प्रयत्नेरि। अदृष्टपरमार्थतत्त्वं अदृष्टमज्ञातं, परममुत्कृष्ट अर्थतत्त्वं यस्य तादशम्। पयः पक्षे—अदृष्टमनवलोकितं,
अर्थतत्त्वं कौस्तुभरत्नादिधनवत्वं यस्य तादशम्। जगित लोके, अलब्धसदशप्रतिग्राहकं न लब्धः प्राप्तः सदशः प्रतिग्राहकं प्रतिगृहोता यस्य तादशम्।
पयः पक्षे—अलब्धः अप्राप्तः, सदशस्य पूर्वलब्धंरावत। दितुल्यस्य वस्तुनः
प्रतिग्राहकः स्वीकर्ता यस्य तादशम्। पयोनिधः समुद्रस्य, पय इव जलिवन,
स्वदेहे स्वाङ्गे, जरां प्रयास्यति जीणं भविष्यतीत्यर्थः। इत्यनेन श्लोकेनानि,
एवंविधः पूर्वोक्ताभित्रायतुल्यः, अभिप्रायः प्रकाशित इति। वाच्यस्यार्थस्यासम्भाव्यतायामि अप्रस्तृतस्य व्यङ्गचस्य प्रकाशनं दृश्यत इति। स्वपाण्डित्यप्रकर्षस्य प्रतिगृहोतृपुरुषान्ताभेन परिदेवनं किवना प्रकाश्यत इति अस्य पद्यस्य,
लावण्येत्यादिपद्यस्य च एकत्र तृं कत्वं वकतुं शत्यमित्याश्यः।

प्रसङ्गात् अप्रस्तुतप्रशंसायां बाच्यस्यार्थस्य प्रकारान् दर्शयति — अप्रस्तुतेति । अप्ररत्तुतप्रशंसायामलङ्कृतौ यद् वाच्यं वाच्योऽर्थः, तस्य कदाचिद् विवक्षितत्वं वस्तृतात्वर्यं विषयत्वं, कदाचिद् अविवक्षितत्वं विवक्षाभावः, कदाचिञ्च विवक्षिताविवक्षितत्वं केनचिद्रशेन तारपर्यविषयत्वं, अन्यांशेन तद-विषयत्विमिति च त्रयी बन्धच्छाया त्रिविधा प्रबन्धस्य शोभा भवतीत्यर्थः । उदाहरित — तत्र विवक्षितत्वं यथेति । परार्थेति । पद्यमिदं प्रथमोद्द्योते व्याख्यातम् । अत्र वाच्यस्येक्षुविषयकस्यार्थस्य विवक्षितत्वम् । स्वकीय-

परार्थे यः पोडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषानिह खलु विकारोऽप्यभिमतः । न सम्प्राप्तो वृद्धि यदि स शृशमक्षेत्रपतितः किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

यथा ममेव-

वमी ये दश्यन्ते ननु सुभगक्ष्याः सफलता भवत्येषां यस्य क्षणमुग्गतानां विषयताम् । निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरघुगा समं जातं सर्वेनं सममथवान्येरवयवैः॥

अन्योहि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एवः न च प्रस्तुते । महागुणस्याविषयपितत्वत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित् स्वरूपमुपवणियतुं द्वयोरिप श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात् ।

उज्जीवनी ।

मुदाहरणान्तरमाह - यथा वा ममैवेति। अमी इति । अमी सुभगरूपाः सुमगं सुन्दरं रूपं स्वरूपं येषां तादशाः ये पदार्था दश्यन्ते दिष्टिविययन्व भजन्ते एषां पदार्थानौ, यस्य चक्षुरिन्द्रियस्य, क्षणं क्षणमात्रं, विषयतामूपगतानां चक्षु-रिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयतां प्राप्तानां, सूभगता साफल्यं भवति। लोके भुवने जने च। निरालोके आलोकरहिते विवेक्त्युत्ये सति, कथिमदं प्रत्यक्षं प्रत्यान लोकस्य कारणत्वात्, तदभावे लौकिकानां वस्तूनां कथं चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वं, सम्पद्यते । अहो आश्चर्यम् । अधुना निरालोके सति लोके चशुः सर्वेरवय-वैस्तुल्यं जातम् । अथवा अन्यैरवयवैश्तुल्यं न जातम्। सत्यालोचे पदंशिन्तरदर्शनशक्तिमतश्रक्षुषः सत्यप्यानोके दर्शनशक्तिरहितैरवयवैः साम्यं वक्तुं न युक्तमित्यर्थः । अनयोहक्तयोर्द्धयोः श्लोकयोः 'परार्थै' इत्यादी, 'अमी य' इत्यादी च इक्षुचक्षुषी, प्रयमे इक्षु:, द्वितीये चक्षुश्च विवक्षितस्वरूपे विवक्षितं तात्पर्यविषयीभूतं स्वरूपं ययोस्तादशे भवत एव । तथापि न च ते प्रस्रुते, अप्रन्तुतप्रगंसायानप्रस्तुतस्यैव वाच्यत्वात् । महागुगस्य लोकोत्तरमहिमातिशयवतः अविषयपतितत्वात् उचितविषयज्ञाना-भावात् । अप्राप्तपरभागस्य अप्राप्तः परभागो गुणोत्कर्षः येन तादशस्य कस्यचित्

अविविधातत्वं यथा--

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं दैगायादिव विद्याः साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते । वामे गात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि से।।

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन समृद्धासत्पृष्ठ्यसमीपवितिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेशितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते ॥

विवक्षित।विवक्षितत्वं यथा-

चत्पहजाआएँ असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए । वेरीएँ वदं देन्तो पामद हो ओहसिज्जिक्षसि ॥

उज्जीवनी।

स्वरूपमुपवर्णयितुमुपपादयितं द्वयोरिप श्लोकयोः, तात्पर्येण तत्प्रतीतीच्छयोः च्चारितत्वेन प्रस्तुतत्वात् प्रकृतत्वात् । अविविक्षितत्वमुदाहरित—यथेनि । कस्त्विमिति । प्रश्नोत्तररूपं वद्यमिदम् । कस्त्वं भोः, वृश्लं प्रति कस्यचित् प्रश्नः । कथयामि ब्रवीमि । दैवहतकं मन्दभाग्यं मां शाखोटकं श्मशाने जातं वृश्लं विद्धि जानीहि इति वृश्लस्योत्तरम् । पान्यः—वैशायादिव विश्ल ब्रूषे । वृश्लः—साधु सम्यग् विदितं ज्ञातं त्वया पान्येनेति शेषः । पान्यः—इदमेवं कस्मात् कथ्यते उच्यते । वृश्लः—अत्र श्मशाने, वामेन मार्गाद्वामभागेन, वटः कश्चिदितं । तं अध्वगजनः पिथकजनः, सर्वातमना सर्वप्रकारेणापि सेवते आश्रयते । मे मम मार्गस्थितस्यापि मार्गे पथि स्थितस्यापि छायापि अनातपोऽपि परोप कारकरणी परेषामन्येषां उपकारं कर्नुं शीलमस्येति तादशी भवति । अत्र वाच्याप्रस्तुतस्य अविविक्षतत्वं प्रदर्शयति—न होति । पुरुषस्य कश्यचिद् वृश्लविशेषेण शाखोटकाख्येन सह उक्तिप्रत्युक्ती उक्तिः प्रतिवचनं च निहं सम्भवतः । वृश्लस्याचेतनत्वात् ।। इति एवं, अविविक्षताभिषयेन अविविक्षितस्तात्पर्यविषयताशून्यः, अभिषयो वाच्योऽर्थः यस्य तादशेन । अनेन श्लोकन कस्त्विमिति पद्येन, समृद्धासत्पुरुषसमोपवितनः समृद्धस्य सम्पन्नस्य,

तृतीय उद्धीत:

अत्र हि व च्यार्थी नात्यस्तं सम्भवी, न वासम्भवी। तस्माद् वाच्य-व्यञ्ज्ञचयी: प्राचान्याप्राधानये यत्नती निरूपणीये॥

प्रधानगुणमानाभ्यां व्यङ्गचस्यैवं व्यवस्थिते । काव्ये उम्ने ततीऽत्वय् यद् चित्रमित्यांभधीयते ॥ ४१ ॥

उज्जीवनी।

असत्पृष्यस्य समोपे वर्तमा १६४, निर्धास्य निःस्वस्यः यनस्विनः उदारस्य कस्यचित् परिदेवतं परिदेवनं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतं वाक्यतात्पर्यविषयीकृतं इति प्रतीयते अवगम्यते।

तृतीयप्रकारमुदाहुरति - विवक्षिताविवक्षितत्वं ययेति । उप्पहेति ।

उत्पथजाताया अशोभनायाः
फलकुसुमपत्ररहितायाः ।
बदयां वृति ददत् पाम ।
अवहसिष्यसे ॥ इति च्छाया ॥

भी पामर मूढ! उत्पयजाताया उत्पथे कुमार्गे अपरिशुद्धे वंशे जाताया उत्पन्नायाः । अशोभनायाः शोभारिहतायाः सौन्दर्यरहितायाश्च । फलकुमुम-पन्नरिहतायाः फलैः पुष्पैः, पर्णेश्च विरहितायाः अपत्यहीनायाश्च बदर्यः बदरीलतायाः, स्त्रीलिङ्गिनिर्देशन नार्याः । वृत्तिमावरणं, वस्त्रादिकं च, ददत् विद्धत् त्वं अपहुसिष्यसे परिहासपात्रं भविष्यसि ।

अत हि अस्मिन् पद्ये हि, वाच्यार्थः अत्यन्तं न सम्भवी। न चात्यन्तं असम्भवी। तस्माद् अत्रस्तुतप्रशंसायां वाच्यव्यङ्गचयोः प्राधान्याप्राधान्यविषये व्यामोहसम्भवात् व्यङ्गचस्य वा वाच्यस्य वा प्राधान्यमिति यत्नतः निरूषणीयम्॥

इति गुणीभूतव्यङ्गचप्रकरणम्

अथ चित्रकाव्यं निरूप्यते—प्रधामिति । एवमुक्तप्रकारेण व्यङ्गचस्य प्रतीयमानार्थस्य प्रधानगुणभावास्यां प्राधान्येन गुणीभूतत्वेन च, उभे काव्ये

चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् । तत्र किश्चिच्छब्दचित्रं वोच्यचित्रमतः पःम् ॥ ४२ ॥

व्यङ्गचस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितः काव्यप्रकारः, गुणभावे तु
गुणीभूतव्यङ्ग्यता । ततोङ्ग्यद् रसभावादितात्तर्यरितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाच कवैचित्रमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्वित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुनारो
ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छव्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि। वाच्यचित्रं ततः खब्दः
चित्रादन्यत् व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादि

उज्जीवनी ।

व्यङ्गचस्य प्राधान्ये ध्वनिरिति, गुणभावे गुणोभूतव्यङ्गचिमित च, द्वे कविकर्मणीः व्यवस्थिते । ततस्ताभ्यामन्यद् यत् काव्यं तिञ्चित्रमित्यिभिषीयते उच्यते । चित्रं च शब्दार्थभेदेन द्विविधं—शब्दिचत्रं, अर्थचित्रं चेति द्विप्रकारं व्यवस्थितम् । तत्र शब्दिचत्रार्थेचित्रयोः मध्ये किश्वित् शब्दिचत्रं, अतः परं अन्यत् वाच्य-चित्रं च भवति ।

तदेवाह - व्यङ्ग्यस्येति । व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिस् ज्ञितः काव्यप्रकारः । गुणभावे तु गुणीभू व्यङ्ग्यरूपः ततः अन्यद् ताम्यां भिन्नं, रसभावादि तात्पर्यरहितं रसस्य भावादेवी तात्पर्येण विवक्षया शून्यम् । व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनशक्तिशून्यं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रकाशने शक्तिरहितं च काव्यं वाव्यस्यार्थस्य वाच कस्य शब्दन्य च केवलं वैचित्र्यमात्रमाश्रित्य उपनिबद्धं निबद्धं, आलेख्यप्रख्यं आलेख्यं रूपं यदाभासते प्रकाशते तत् चित्रं काव्यम् मित्यर्थः । तव्च काव्यं न मुख्यम् । असी काव्यप्रकारः काव्यानुकारः काव्यस्यानुकरणात्मकः । तत्र कि श्वच्छब्दिचत्रं यथा—दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं तु ततः शब्दिवत्रादन्यत्, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य संस्पर्शेन रहितं, प्राधान्येन वाक्यार्थतया वाक्यतात्पर्यविषयोभूतार्थात्मतः स्थितं रसादिविवक्षान् स्यं उत्यक्षादिकम् । चित्रकाव्यं निरूयपयति—अथित । चित्रमिति यदुच्यते तत् कि नामेति प्रवतः । उत्तरमाह—यत्रेति । यत्र यस्मिन् शब्दसन्दर्भात्मके काव्ये प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्यार्थस्य संस्पर्शः सम्यक् स्वर्शः नास्ति । हि यतः

तात्पर्यर्हितमुत्प्रेक्षादि। अथ किमिदं चित्रं नाम? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्रर्शः। प्रतीयमाना ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदिश्तिः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्करान्तरं वा व्यङ्ग्यं नास्ति, स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्त्रं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्रशिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवस्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यतेऽन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किचित्रः यत्र चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किचित्रः यत्र चित्तवृत्तिविशेषा तदनुतादने वा किविविषयत्वेव तस्य न स्यात् किविविषयश्च चित्रतया कश्चित्रिक्ष्यते।

अत्रोच्यते— सत्यं न तादक् काव्यप्रकारोऽस्ति, यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वो । विवक्षी-निबद्दाति तदा तद्विवक्षापे अया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षी-पारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविवित्रक्षाविरहेऽपि

उज्जोवनी।

प्राक् पूर्वं प्रतीयमानो व्यङ्ग्योऽर्थः, त्रिभेदिस्त्रविधः प्रदिश्तः । तत्र वस्त्व-लङ्कः ररसात्मना विविधेषु प्रतीयमानेषु सत्सु, यत्न यस्मिन् काव्ये, वस्तु अलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्यं प्रतीयमानं नास्ति, स काव्यप्रकारः, चित्रस्य चित्र-काव्यस्य विषयः विषयत्वेन कल्प्यतां नाम । तु किन्तु, यत्र काव्ये, रसादीनां रसभावादोनां, अविषयत्वं संस्पर्शाभावः, स ताद्यः काव्यस्य प्रकारो न सम्भव-त्येव । यस्माद् यतः, काव्यस्य अवस्तुसंस्पिशता वस्तुनोऽर्थात्म कस्य संसार्शा-भावः, नोपपद्यते न युज्यते । जगद्गतं जगन्ति लोके विद्यमानं सर्वमेव च वस्तु पदार्थात्मकं, कस्यचित् यस्य कस्यापि, रसस्य भावस्य वा अङ्गत्वमङ्गभावं प्रतिपद्यते । अन्ततः पर्यन्ते, विभावत्वे । रसस्य भावस्य वा अङ्गत्वमङ्गभावं प्रतिपद्यते । अन्ततः पर्यन्ते, विभावत्वे । रसभावादेशालम्बन्त्वेन वा विषयोभव-न्तः हि यस्मात्, रसाद्यः रसभावादयः, चित्तवृत्तिविश्वाः चित्तस्य व्यापार-विशेषाः । यद् वस्तु चित्तवृत्तिविशेषं, नोपजनयित न जनयितः तञ्च किन्दिदपि वस्तु नास्ति । सर्वेषामि वस्तुनां चित्तवृत्तिविशेषप्रयोजकत्वमस्तीति यावत् । तदनुत्पादने तस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य साक्षादजनने, तस्य पदार्थस्य, कविविषयत्र कविव्यापारगोचरत्वं न भवेत् । चित्रतया चित्रकाव्यत्वेन, कविविषयश्च कविव्यापारगिवरत्वं न भवेत् । चित्रतया चित्रकाव्यत्वेन, कविविषयश्च कविव्यापारविषयञ्च कश्चित् काव्यप्रकारश्च निरूप्यते । कथमिदं सङ्गच्छत

तथा विघे विषये रसादिप्रतीतिभेवन्ती दुर्बला भवतीत्यदैनापि प्रशारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदमुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सित । अलङ्कारिवदन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥ रसाषिषु विक्षा तु स्यात् तात्यर्यवती यदा । तदा नास्त्येव तत् काव्यं, ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥

एतञ्च चित्रं कवीनां विशृङ्किनिष्णं रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति दर्शनादस्माभिः परिकलिःतम् इदानोन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमासे नास्त्येव इवनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रशादः।

इत्याशङ्का, समाधत्ते—अतोच्यत इति । सत्यमिति । यत्र काव्ये, रसादीनामप्रतीतिः, तादक् तथाविधः, काव्यस्य प्रकारो नास्ति इति यदुक्तं, तत् सत्यमेव ।
किन्तु कविः, यदा रसभावादोनां विवक्षारहितः सन्, शब्दालङ्कारमनुप्रासादिकं,
अर्थालङ्कारमुपमादिकं वा निवधनाति, तदा तस्य कवेविवक्ष नुसारेण अर्थस्य
रसभावादिशून्यत्वं कल्प्यते, कवेः रसभावादितात्पर्यविरहदशायां काव्यस्य
रसगून्यत्वं कल्प्यत इत्याशयः ।

तस्य हेतुवाह—विवक्षेति । हि यतः काव्ये किवकार्मण, शब्दानामयः विवक्षोपारूढ एव विवक्षित एव विषयो भवति । किविवक्षाविरहेऽपि कवेस्तात्पर्याभावेऽपि, तथा विघे विषये ताद्ये काव्ये वाच्यसामर्थं नशेन वाच्य-स्यार्थस्यार्थान्त रजननसामर्थं न, रसादिप्रतीतिर्भवन्ती यद्या प्रतीयते एसादिः तथापि सा दुवेला भवति, इति अनेन प्रकारेण एवंरीत्या नीरसत्वं रसभावादिशून्यत्वं परिकल्य वित्रविषयः चित्रकाव्यविषयो व्यवस्थाप्यते । तदेवाह—तदिदमुक्तमिति । एसेति । रसभावादिविषयकं यत् तात्पर्यं तस्य विरहे सित, यः अलङ्काशनिबन्धः यदलङ्कारस्य निबन्धनम् । स चित्रकाव्यस्य विषय इति सम्मतः । यदा तु रसादिषु तात्पर्यवती विवक्षा तत्परत्वेन विवक्षा स्यात् तदा, यत्र काव्ये, सोऽनङ्कारनिबन्धः घ्वनेनं गोचरः घ्वनिविषयो न भवति । तत् ताद्यं काव्यं, नास्त्व एतच्चेति । विश्वङ्कार्शनरां कवीनां, रसादितात्पर्यराहित्येन काव्ये प्रवृत्तिदर्शनात् काव्यनिर्मिते। प्रवर्तेन दष्टमित्यतः अस्माभिः एतत् चित्रकाव्यमिति परिकल्पितम्

यतः पिश्वा विवतां कवीनां स्वादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदिभिमतरसाङ्गनां नीयमानं न प्रगुणीभवति। अचेतना अपि हि भावा यथाययमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया च न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्। तथा चेदमुच्यते —

अपारे काव्यसंसारे किवरिकः प्रजापतिः। वयास्मै रोचते विद्यं तथेदं परिवर्त्तते॥ शृङ्गारी चेत् किवः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेक्षोरसं सर्वमैव तत्॥ भावानचेतनानिप चेतनवच्चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

उज्जीवनी।

इदानीन्तनानामाधुनिकानां कवीनां तु न्याययं न्यायादनपेते, काव्यनयस्य व्यवस्थापने क्रियमाणे विधीयमाने सितः ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः नास्त्येव । यतो यस्मात्, पश्चिकवतां कवीनां परिपक्षधयां कव्यक्ततृं णां, रसादितात्पर्यविरहे एसादौ तात्पर्यं यदि नास्ति तिहः, तस्य कवेव्यपारः कविनिर्मितिरूप एव न शोभते । रसादितात्पर्ये च सितः यद् वस्तु, अभिमत-रसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति प्रकृष्टगुणवन्न भवति, तद् वस्तु, नास्त्येव । भावा अचेतना अपि, यथायथमौचित्येन, उचित्तरसानां विभावत्वेत चेतन-वृत्तान्तयोजनया च ये रसाङ्गतां रसाङ्गत्वं न यान्ति न प्राप्तुवन्ति ते भावा न सन्त्येव । उक्तमेवार्थं विश्वदोकर्तुमाह—तथा चेशमुच्यत इति ।

अपारे इति। अपारे महति, काव्यसंसारे काव्यातमके प्रपञ्चे प्रजापतिः विधानाः कविः एकः कविरेव इत्यर्थः । अस्मै कवये, यया सेचते कवियेन प्रकारेणेच्छति तेन प्रकारेण इदं विश्वं मर्वं नात् ।रिवर्त्तते परिवृत्ति प्राप्नोति । कविः श्रुङ्गासी चेत् श्रुङ्गारर गानुक्रलभावनासम्पन्नो यदि, तिह् काव्ये तिर्मिते जगत् सर्वं रसमयं जातम् । जायत इति यावत् । स एव कविः वीतरागश्चेत् यदि वैराग्यसंपन्नः सर्वमेव तद् जगत् नोरसमेव रस्शून्यमेव स्यात् । सुकविः काव्ये स्वतन्वत्या स्वातन्त्र्येण, अचेतनानिप भावान् च तनवत्, चेतनान् भावान् अचेतनवच्च यथेष्टं व्यवहाष्यति । तस्मादिति । त मान्नास्यैव तद् वस्तु यत् सर्वातमा एसतात्पर्यवतः कवेस्तिदिच्छया तदाक्षिमत माङ्गतां न घते । तयौ । तिश्वध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति । सर्वमेनच्च महाकवीनां काव्येषु दश्यते ! अस्माधिरित स्वेषु काव्य-प्रवन्थेषु यथायथं दिशतमेव ! स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न घविन-घर्मतामित पतित रसाधपेक्षायां कवेर्गुणी भूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्ग-तामवलम्बत इत्युक्तं प्राक् । यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीना-मङ्गतया व्यवस्थानं हृदयवतीषु सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यङ्ग्यविशिष्टे प्राधान्यं तदिष गुणी भूतव्यङ्ग्यस्य घविन निष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक्—

उज्जीवनी ।

तेस्मादुक्तरीत्या, यद् वस्तुः सर्वात्मना सर्वप्रकारेणापि, रसतात्पर्यवतः ववेः रसप्रतीतिज नेच्छया काव्यतिमत्तुः, तदिच्छया तस्य कवेरिच्झया, तदश्मित-रसाङ्गरां तस्य क्वेरिभमतस्य रसस्याङ्गभावं न धत्ते न प्राप्नोति । तद् वस्तु लोके नास्त्येव । वा अथवा तथा तेन प्रकारेण उपनिबध्यमानं उपवर्णमानं वा चारुत्वातिशयं अतिशयितं सौन्दर्यं न पुष्णाति न पोषयति । तद् वा वस्तु नास्त्येवेति पूर्वेणान्वयः। एतच्च सर्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु दश्यते। अस्माभिरिप स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दिशतमेव । आनन्दवर्धनाचार्य-विरिचतेषु काव्यप्रसम्बेषु तैरैवेदं प्रदर्शितमिल्पर्थः । एवं स्थिते च, सर्व एव काव्यप्रकारः काव्यभेदः, ध्वनिधर्मतां ध्वनित्वं नातिपतति, गुणीभूतव्यङ्ग्य-लक्षणोऽपि काव्यप्र कारः, मुख्यवाक्याथपिक्षया गुणीभूतं व्यङ्ग्यमर्थम् आश्रित्य बाव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वाऽङ्गी कारेऽिप यत्र मुख्योऽप्यर्थो रसात्मको भवति, तदा तं मुख्य रसमपेक्ष्य तस्य व्वनित्वमेवेत्यपि प्रागेव प्रतिपादितम् । तु किन्तु, चादुषु प्रियवचनेषु, देवतास्तुतिषु वा रसादीनां रसभावादीनां, अङ्गतया अङ्गत्वेन व्यवस्थानम् । हृदयवतोषु प्राकृतकविगाथासु, सप्रज्ञकगाथासु सह्दयानां गाथासु च। कासुचित् व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये व्यङ्ग्येताङ्गभूतेन विशिष्टं यद् टाच्यं नस्य प्राधान्यं यदा भवति, तदिप गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दरूपत्वमेव ध्वन्यात्मकमेव इतोदमपि पूर्वमेवोक्तम् । तत् तस्मःत्, एवमुक्तरीत्या इदनीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे इदानीन्तनानां कवीनां काव्य-नयस्योपदेशे क्रियमाएं विधीयमाने सति प्राथमिकानां काव्यं कर् प्रथमतया

तदेवभिदानीन्तन कविक व्यनयोपदेशे क्रियमः गो प्राथमिकानामञ्यामाथिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमात स्थितमेतत्। तदयसव सङ्ग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते । संवृत्त्याभिहिता वस्तु यत्रालङ्कार एव वा ।। काव्याध्वनि ध्वनिव्यंङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः । सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयेजनैः ।।

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः। सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा ॥ ४३ ॥

तस्य च व्वनेः स्वप्रभेदैः, गुणीभूतव्यङ्ग्येन, वाच्यालङ्कारैश्च सङ्कर-संसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदना तक्ष्ये दश्यते । तथाहि स्त्रप्रभेद-सङ्कीर्णः स्वप्रभेदसंसृष्टो, गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो, गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो, वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः, संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः, संसृष्टालङ्कारसंसृष्ट्यचेति बहुषा व्वनिः प्रकाशते ।

उज्जीवनी।

प्रवृत्तानां काव्यव्युत्पत्तौ प्रवृत्तानां, अभ्यासं चार्थयमानानां यदि चित्रेण चित्रनामना व्यवहारः काव्यस्य । तु किन्तु, प्राप्तपिणतीनां लब्धच्युत्पत्त्यभ्यासानां
प्रौढानां व्यवहारः काव्यस्य । तु किन्तु, प्राप्तपिणतीनां लब्धच्युत्पत्त्यभ्यासानां
प्रौढानां व्यवित्रेय काव्यं, काव्यं सर्वं व्यवित्रामनेव व्यविह्रयत इति एतत्
स्थितम् । अमुमर्थं सङ्ग्रहेणाह्य—तदयमत्र सङ्ग्रहं इति । यस्मिन्निति ।
यस्मिन् काव्याव्यनि, रसो रत्यादिः, भावो ना निर्वेदादिर्वा तात्पर्येण ववतृविवक्षया प्रकाशितौ, वा अथवा, वस्तु अलङ्कारश्च व्यङ्गचौ संवृत्याभिहितौ
प्रकारान्तरेणाभिहितौ, तस्मिन् काव्याव्यनि, व्यङ्ग्यप्राधान्यकिनिबन्धनः
व्यङ्ग्यस्य प्रतीयमानस्यार्थस्य प्राधान्यमेव एकं मुख्यं निबन्धनं यस्य ताद्यः
व्यक्तिः, तत्र सर्वत्र ताद्शे सर्वस्मिन्निष काव्ये सहदयेर्जनेः, विषयो विषयित्वेन
ज्ञेपः अवगन्तव्यः।

अथ घ्वनेः प्रकारान्तरमाह्—सगुणीभृतिति । स घ्वनिः सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः गुणोभूतव्यङ्ग्यस्य ये प्रकारास्तैः सह वत्तन्त इति ताद्यः स्वैः स्वकीयैः अविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वादिभिः प्रभेदैः सह समृष्टिसङ्कराभ्यां

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णःवं कदाचिदनुष्रः ह्यानुष्राहकभावेत । यथा 'एवं वादिनि देवधौ' इत्यादौ । अत्र हि अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यन्वनि-प्रभेदोऽनुगृह्यभाणः प्रतीयते । एवं कदाचित् प्रभेददयसम्पातसन्देहेन ।

यथा---

खणपाहुणिआ देअर एसा जाआएँ कि वि हे भणिदा।
रुबद्द पडोहरवलहीघरिस्स असुणि इत उत्तराई॥
[क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया कि मणिता।
रोदिति शून्यवलभोगृहेऽनुनीयतां वराकी॥] ॥ इति छाया॥

उज्जीवनी।

संसृष्टचा एकरूपया, अनुग्राह्यानुग्राहकभावसन्देहैकवाचकानुप्रवेशरूपेण विविधेन सङ्करेण च. पुनरपि बहुधःनैकविधः उद्द्योतते प्रकाशते ॥

तदेवाह—तस्मेति। तस्य च एतावता प्रबन्धेन निरूपितस्य ध्वमैः ध्वनिकाव्यस्य स्वप्रभेदैः स्वस्यात्मनः, अविविक्षित्वाच्यत्वादिभिः प्रकारैः गुणीभूतव्यङ्येन, वाच्येरलङ्कारैश्च सह सङ्करसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमःणायां बहुप्रकारता अनेकविधत्वं लक्ष्ये दश्यते । तथा हि—स्वप्रभेदसङ्कीणः स्वप्रभेदै सङ्करव्यवस्थया भासमानः, गुणीभूतव्यङ्ग्येन सङ्कीणः गुणीभूतव्यङ्ग्येन संसृष्टः, वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कोणः, वाच्यालङ्कारान्तरसमृष्टः , संसृष्टेनालङ्कारान्तरेण सङ्कीणः, संसृष्टालङ्कारान्तरसमृष्टः चेति बहुधा बहुप्रकारेण ध्वनिः प्रकाशते । खदाहरति—तत्रेति । कदाचित् स्वप्नभेदेन सङ्करः, अनुग्राह्यानुग्राहकभावे । भवित । यथित । 'एवं वादिनि देवषौं' इत्यवार्थशक्तिम्नानुरणनध्वनिप्रभेदेन प्रतीयमानेन, लज्जाक्ष्यव्यभिचारिणा भावध्वनिरूपतां प्राप्तेन असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदः, आभिलाधिक-सम्भोगशृङ्गाररूपः अनुग्रह्यमाणः प्रतीयते प्रकाशते । एवं कदाचित् प्रभेद-द्वयस्य द्वयोः स्वप्रभेदयोः सम्पातेन सन्देहरूपः सङ्करो दश्यते । उदाहरति—यथिति । खरोति देवरानुरक्तामुपनायिकां उत्सवागता देवरपत्न्याधिवकृतामनुनेतुं देवरं प्रति कयाचिदेव पुच्यते । हे सुभग, सुन्दर, देवर, ते तव, क्षणप्राधुणिका,

अत्र ह्यतुनीयतामित्रेत् पदमर्थान्त्रस्सक्किनितवाच्यत्वेन विविक्षितान्य-परवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते । न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति । एक-व्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यञ्जकत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वश्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति । यथा—'स्निग्धश्यामरु' इत्यादौ । स्वश्रभेदसंसुष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव अवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यात्यन्तितरस्कृत-वाच्यस्य च ससर्गः । गुणो सूतव्यङ्गंचसंङ्कीर्णत्वं यथा— 'त्यक्कारो ह्ययमेत्र मे यदरयः ।' इत्यादौ । यथा वा—

उज्जीवनी

क्षामी उत्संवेऽभ्यागता, ते तवः जायया पत्न्या, किमपि अवाच्यं भणिता। उक्ता, गृहस्य पश्चाद्भागे यद् वलभीगृहं उपरितनभवनं, तत्र रोदिति अत: वराकी दीना, सा त्वया अनुनीयताम् । अत्र अस्मिन् पद्ये, 'अनुनीयतामि'त्येतत् पदं अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेन अर्थान्तरे, उपभोग-लक्षणो सङ्क्रमितत्वेन, विविक्षितान्यपरवाच्यत्वेन अनुरणनन्याये । वा उपभोग-रूपमर्थान्तरं व्यनक्तीति सन्देहः। अत्रान्यतर क्षिनिर्णये अन्यतरस्य द्वयोरे इस्य पक्षस्य निर्णये निश्चये, प्रमाणं 🔻 नास्ति । अलक्ष्यक्रमन्यङ्गचस्य व्यनैः तु एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन एकेनैव व्यञ्जकेन द्वयोव्यं ज्ञचत्वं स्वप्रभेदान्तरापेक्षया स्वस्यान्यं प्रभेदमपेक्ष्य, बाहुल्येन अधिकतया सम्भवति । उदाहरति-यथेति । स्निग्धेति । व्याख्यातमिदं प्राग् द्विशीयोद्द्योते । अत्र व्यञ्जकेनैकेन रामपदेन। व्यङ्गचस्य स्वावधीरणस्य विप्रलम्भरसस्य च व्यङ्गचमिति, एकव्यञ्जकानु-प्रदेशरूपसङ्करस्योदाहरणिवदम् । स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं स्वप्रभेदेन ध्वनै: संसृष्टत्वं च पूर्वोदाहरण एव 'स्निग्धक्यामले'स्यादिपद्य एव । अधीन्तरसङ्क्रमित-वाच्यस्य रामपदव्यङ्गचस्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य 'लिप्ते'तिः 'पयोदसुह् दामि'ति च पदाम्यां व्यङ्गचस्य चार्थस्य संसर्गी भवति । गुणीभूतव्यङ्ग्येन व्वनेः सङ्करमुदाहरति— गुणीभूतसङ्कीर्णत्वं यथेति । 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय' इत्यादाविति । कल मे अरयः इत्यादि पृत्रक् पदैरुपस्थापितानां गुणीभूतव्यङ्गचानां, प्रधा व्यङ्गचस्य रौद्रस्य चाङ्गाङ्गिधावेन सङ्करः।

उदाहुरणान्तरमाह-यथा वेति । कर्त्तेति । वेगीसंहारे पञ्चमाङ्के

क्तां चूतच्छलानां जतुमयशा णोहीपनः सोऽभिमानी कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपदुः पाण्डवा यस्य दासाः। राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं कस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा दृष्टुमम्यागतौ स्वः।

अत्र हा १६४क मन्य क्रयस्य वाक्यार्थीभूतस्य न्यक्रियविशिष्टवाच्याभिमान् यिभि: पदै: सम्मिश्रता । अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणोभूतन्यक्रयस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च व्वनेः सङ्कीर्णत्यामिष न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत् ! ययाहि व्यक्तिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कोर्यन्ते, पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि ।

किञ्चैकव्यङ्गचाश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुद्धचते न तु व्यङ्गचभेदा-पेक्षथाः ततोऽप्यस्य न विरोधः। अयं च संकरसंसृष्टिव्यवहारी बहून मेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्गचव्यञ्जकभावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः। यत तु

उज जीवनी

कुद्धयोभीमार्जुनयोर्वचनिमदम् । द्यूतच्छलानां द्यूतस्य व्याजानां, कर्ता प्रयोक्ता जतुमयशरणोद्दोपनः जतुमयस्य जतुनिर्मितस्य, शरणस्य गृहस्य उद्दीपनः अभिमानी गर्विष्ठः, कृष्णाकेशोत्तरीयव्ययनयनपटुः कृष्णाया द्रौपद्याः केशानामुत्तरीयस्य चापनयन आकर्षेशे निपुणः, यस्य दासाः पाण्डवा इति वदन् । दुःशासनादेरनुजशतस्य अनुजानामनुजातानां शतस्य गुरुज्येष्ठः अङ्गराजस्य मित्रं स्निग्धः, स तादशः दुर्योधनोऽसौ, राजा क कृत्र आस्ते वर्त्तते । कथयत ब्रूत । आवां रुषा रोषेण तं ब्रष्टुं नाभ्यागती स्वः ना गती भवाव:। अत्र हि वाक्यार्थीभूतस्य प्रधानवाक्यार्थस्य अलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्यस्य हत्रनेः, व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिघायिभिः व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यमभिदघानैः पदैव्यञ्जकैः सम्मिश्रितः सङ्करः वर्तत इति शेषः । अतापि गुणीभूनव्यङ्ग्य-ध्वने: अङ्गाङ्गिभावेत सङ्करो दश्यते। अत एव च एवं सम्मिश्रदर्श गदेव च गुणीभूतव्यं इ्यस्य पदार्थाश्रयत्वे पृथक्षदस्यार्थमाश्रित्य, व्वनेर्वास्यार्था-श्रयत्वे प्रधानवाक्यार्थीभू तत्वेन च मङ्कीर्णनायामिष सङ्करेऽिष स्वप्रभेदा-न्तरवत् स्वस्य घतनेः प्रभेद न्तरेगोव न विशोधः। तदेवाह—यथा हीति। व्वितिप्रभे गन्तराणि परस्परं व्विनैः प्रभेदः कोऽपि तस्य प्रभेदान्तरैः सह यथा यथा सङ्कीयंते पदार्थवानयार्थाश्रयत्वेन सङ्कीर्णतायां न विरुद्धानि ।

पद। निकानिचिद्दिविक्षितव। च्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यवाच्यानि वा तत्र घ्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम् । यथा—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ । अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणां' इत्येते पदे घ्वनिप्रभेदरूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणोभूतव्यङ्ग्यरूपे ।।

वाच्यालङ्कार सङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्यापेक्षया रसवित सालङ्कारे कान्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम् । प्रभेदान्तराणामपि कदावित् सङ्कीर्णत्वं भवत्येव । यथा समैव—

उज्जीवनी

एकव्यञ्ज हानुप्रवेशरूपसङ्करविषये यो विशेषस्तमाह्-किञ्चेति । व्यञ्ज ह-स्यैक्तवे यदि व्यङ्ग्यस्याप्येकत्वं तहि तत्र गुणप्रधानभावा विरुद्धचते। च्यङ्ग्यभेदापेक्षया तु व्यङ्ग्यस्य भेदे तु कस्यचित् प्राधान्यमन्यस्य गुणभाव इति तयो: सङ्करो न विरुध्यत इत्यर्थः । एकत्रैकस्मिन् पद्ये बहूनामर्था गं सङ्करसंसृष्टिव्यवहार: सङ्कर इति वा, संसृष्टिशिति वा व्यवहार: व च्य-वाचकभावे वाच्यालङ्कारेषु इव. व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि ध्वनाविप निर्विगेध एव विरोध रहित एव मन्तब्यः वेदितव्यः । तु किन्तु, यत्र काव्ये, कानिचित् पदानि अविवक्षितवाच्यानि अविवक्षितं वाच्यं वाचयोऽर्थो येषां तादशानि, अनुरणनरूपव्यङ्भ्यवाच्यानि अनुरणनरूपं व्यङ्ग्यं येषां तादशानि वाच्यानि येषां तादशानि वा कानिचित् पदानि, तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गचयोः ध्वने: गुणीभूतव्यङ्गचस्य च संसृष्टत्वं संसृष्टिः भवति। उदाहरति—यथेति। 'तेषां गोपवधूविलाससुहुँदां' इत्यादाविति । अत्र हि विला**मसु**हृदािनिति, षाधारहः साक्षिणामिति च पदे लतावेशमनामचेनन नां विशेषणत्वेनायात्ते । तत्र चेतनधर्मस्य सौहदस्य स'क्षित्वस्य च।विवक्षितत्वात् व्विनिपभेद ब्पे अविवक्षितवाच्यध्वतेः प्रभेदरूपे । ते जाने इत्येते च पदे, अनुरणनरूपव्यङ्ग्य-वाच्यापेक्षया गुणी भूतत्वात् गुणी भूत ध्य ङ्गचातमके इति गुणीभूनव्यङ्ग्ययो: संसृष्टिः।।

वाच्येति अनक्ष्यक्रमध्यङ्गचापेक्षया त्रसमक्ष्यक्रमध्यङ्ग्यत्वमाश्चित्य रसविनि, सालङ्कारे वाच्यालङ्कारविति च सर्वत्र काव्ये वाच्यालङ्कार-सङ्कीर्णत्वं सु॰यवस्थितं सम्यग् त्र्यवस्थितम् । कदाचित् प्रभेदान्तरः,णामिष या व्यापारवती रसान् रस्थितुं काचित् कदीनां नवा इिट्या परिनिष्टिताथेविषयोन्मेदा व वैपश्चिती। ते द्वेऽप्यवलम्ब्य विश्वमतिश निर्वर्णयन्तो वयं श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वद्धितितुल्यं गुखम्।।

दत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्धान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ध्वनित्रभेदस्य सङ्कीर्णन्वम्।

वाच्यालङ्कारसंसृष्ट्रत्वं च पदापे प्रयंव । यत्र हि कानिचित् पदानि वाच्यालङ्कार भाष्ट्रि, कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि । यथा—

उजीवनी

वस्त्वलङ्कारध्विनिह्नपाणामन्येषां ध्विनिष्ठभेदानामिष सङ्कीणंत्वं सङ्करः भवत्यव स्वकीयमुदाहरणं दर्शयित—यथा ममैवेति । येति । कवीनां लोकोत्तरवर्णनिष्ठणानां रसान् रत्यादीन् स्थायिभावान्, रसयितुं सहृदयहृद-यगोचरीकत्तुं, व्यापारवती तदनुक्तृ नशब्दप्रयोगात्म क्व्यापारवती या कावित्, नवा नवनवोन्मेषशालिप्रज्ञारूषा दृष्टः प्रतिप्रारूषा एका दृष्टिरित्यर्थः । या चान्या, परिनिष्ठितार्थविषयोन्नेषण परिनिष्ठितार्थक्षे विषये उन्मेषः प्रकाशो यस्प्रास्तादशी, वैपश्चिता विद्वतम्बन्धिनी दृष्टः । ते द्वे अपि दृष्टो अवलम्ब्य, विद्वत सर्वं, निर्णयन्तो वर्णयन्तः श्रान्ताः क्षीणाः, हे ! अब्धिश्चयन ! विष्णो ! त्वद्भक्तितुत्यं तव भजनतुत्यः यद्वा स्वयि या भक्तिः भगवद्विषयकरत्याख्यो भावः तेन सदश यत् सुखं, तत्तु न लब्बमित्यर्थः । अत्रास्थिन् पद्ये विरोधा सङ्गरेण, प्रतिभावदृद्धयस्याभ्यां दृष्टभ्यां निर्वणनं चाक्षुषप्रत्यक्षं न सम्भवतीति मानस्त्रानार्थकत्वे पर्यवसानात् तत्परिहारश्च भवतीति यो विरोधाभासा-सङ्गर्भः तेन सह निवणनशब्द्याच्यार्थस्य चाक्षुषप्रत्यक्षस्याविवक्षित्रवेन ज्ञानरूपे अर्थान्तरे सङ्क्रमणाद् अर्थान्तरसङ्क्रमित्रवः च्यस्यास्य ध्वनेश्च वाङ्क्रणित्वम् ॥

ध्वत्यलङ्कारसंसृष्टिनृदाः त्र्त्वीवाह—वाच्येति । वाच्यालङ्कार संसृष्टत्वं वाच्येनालङ्कारेण सह ध्वनेः प्रभेदस्य संसृष्टत्वं संसृष्टिश्चः पदापेक्षयेवः न तु वाक्यक्ष्यवाचकापेक्षया । यत्र हि संसृष्टे कानिवित् पदानिः, वाच्यालङ्गार- दीर्घीकुर्वन् पटुमदकल क्रुजितं सारसानां प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलाभोदभैत्रीकषायः। यत्र स्त्रीणां हरति सुरतम्लानिमङ्गानुकूतः। शियावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचादकारः॥

अत्र हि मैती । दमविवक्षितवाच्यो घ्वनिः । पदान्तरेष्वलङ्कारानाराणि ।

संसृष्टालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा—

उन्तक्षतानि करजेश्च विगाटितानि

प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरोरे।

दत्तानि रक्तमनसा सृगराजवध्वा

जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि॥

उज्जीवनी

भाक्षि वाच्यालङ्कारं भजन्ते, कानिचित् पदानि ध्वनिप्रभेदयुक्तानि । उदाहर्यनित यथेति । दीर्घीकुर्विति । मेघदूतस्थितं पद्यमिदम् । यत्र विशालानगर्योः शिप्राया नद्या माहतः, सारसानां पद्य स्पुटं मदेन कलमन्यक्तमधुरं कृ गनं दीर्घीकुर्वेन् वर्धयन् प्रत्यूषेषु अहर्मु खेयु, स्पुटितकमलामोदमैत्रीकषायः स्पुटितानां विकसितानां, कमलानां पद्मानां, आमोदस्य सौरभस्य, मैत्र्या मित्रभावेन योगेन कषायः सुरिभलः, अङ्गानुकूलः अङ्गानां श्रमक्षीणानां, अवयवानां श्रमापनयनानुकूलः सन्, प्रार्थानाचाटुकारः प्रार्थनायां प्रियवचनं कुर्वन् । प्रियतम इव स्त्रीणां सुर्वेन्तानां सुरत्जनितां कु निन हर्गते अपनयति । वत्र हि अस्मिन् पद्ये हि, मैत्रीपदं अचेतनेनामोदेन अचेतनस्य मैत्र्या असम्भवात् बाधितमुख्यार्थं सम्बन्धित्वरूपं अर्थं लक्षयन् सौरभस्यातिश्चितत्वं व्यनिक्तं इति अविवक्षितवाच्यध्वनिरूपम् । पदान्तरेषु प्रियतम इवेत्यादिषु, उपमादि-रूपाणि अलङ्कासन्तराणि च वर्तन्त इति वाष्यालङ्कारध्वन्योः संसृष्टः ।

अथालङ्कारेण कैनचिद् संसृष्टेनालङ्कारान्तरेण ध्वनेः सङ्करमुदा-हरित—यथेति । दन्तेति । स्वापत्यभक्षणप्रवृत्तायै सिद्धौ निजवारीरं दत्तवन्तं बोधिसत्त्वं दृष्ट्वा कस्यचिदुक्तिरियम् । प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके प्रोद्भिन्न उद्भूतः, सान्द्रो निबिडः, पुलको घोमाञ्चो यस्मिस्यादशे भवतः शरीरे देहे । रक्तमनसा अत्र हि समासोक्तिसंभृष्टेन विरोधालङ्कारेण सङ्कीर्णस्यालक्ष्यक्रम-व्यङ्गचस्य व्यनै: प्रकाशनं; दयावीरस्य परमार्थतो वावयार्थीभूतत्वात् ॥

संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्वं ध्वनैर्यशा--

अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु विअहेसु । सोहइ पसारिअसिआणं णिच्चअं मोरवन्दाणम् ।ः

अत्र ह्युपमारूपकाक्यां सन्दशनत्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्गचस्य ध्दनेः संस्टरत्वम् ।

उज्जीव भी

रक्ते शोणिते, मनो यस्यास्ताद्दया, रक्तमनुष्यतं मनो यस्यास्ताद्दयाः च मृगराजवध्वा सिद्धा, दलानि कृतानिः दन्तक्षतानि दन्तैः क्षतानि, करजै नलैः विपाटितानि विपाटनानि च, जातस्पृहैः सञ्जाताभिलाषैः मुनिभिषपि अवलोकितानि दष्टानि॥

अत्राप्रकृतनायिकावृतान्तपरिस्फूर्त्यां समासोक्तिः । मृनिभिः रक्तमनसा-वलोकितानीस्यनेन मुनीनामनुरागस्य विरुद्धस्वात् विरोधः । तस्य अपि नाम वयपपि बौधिसत्त्व इव जीवकारुण्यप्रदर्शनायावसरं लभेमहि इति अभिलाषो मुनीनाभित्यर्थेन परिहारः । एवं समासोक्तिसंसृष्टेन विरोधा-लङ्कारेण दयावीरस्य वाक्यार्थीभूतत्वात् । संसृष्टेनालङ्कारेण ध्वनैः संसृष्टि-मुदाहरति यथेति । अहिण इति ।

> अभिनवपयोदरसितैषु पथिव श्यामायितेषु दिवसेषु । शोभते प्रसारितग्रीवाणां नृत्तं मयूरवृन्दानाम् ॥ इति छाया ।

अभिनवानां नूतनानां पयोदानां मेघानां रसितं येषु ताहशेषु, पथिकश्या-माथितेषु पथिकानां रात्तिरूपतां प्राप्तेषु । दिवसेषु दिनेषु, प्रशारितग्रीवाणां प्रसारिता ग्रीव। येषां ताहशानाम् । मयूरवृन्दानां मयूरसमूहानाम् । नृत्तं शोभते । अत्र पहिअसामाइएसु इति प्राकृतपदस्य पथिकश्यामायितेषु इति पथिकसामाजिवेषु इति च छाया । श्यामावदाचरन्तीति श्यामायिता इति नयच् प्रत्ययेन लुप्तोपमा, पथिका एव शामाजिका इति रूपकं च । एवं संसृष्टाभ्यामु ।मारू काभ्यां शब्दशक्तिम्लानु रणनघनेः ससृष्टाः । उपसंहरतिः एवं घ्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ! सङ्ख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदग्रक्तमस्माभिः ॥ ४४ ॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः, सहदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम् ।

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विदेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः । सत्कान्यं कतु^६ वा ज्ञातुं वा सम्पगिसयुक्तैः ॥ ४५ ॥

उक्तस्व रूपध्वनिनिरूपणितपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति ॥

> अर्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् । अशक्नुबद्धिव्यकितुँ रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ४६ ॥

उज्जीवनी।

— एवमिति । एवमुक्ता कारेण घ्वतेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च अवान्तरभेदाश्च, संख्यातुं गणियतुं केन शक्यन्ते । न कश्चिदिष शक्तोति इत्यर्थः । अतः अस्माभिः दिङ्मात्रं मागप्रदर्शनमात्रमिदमुक्तम् । तदेवाह—अनन्ता हीति ध्वतेः प्रभेदा अवन्ता एव । सहदयानां व्युत्पत्तये व्युत्पत्ति अम्पादनाय तेषां ध्वनिप्रकाराणी दिङ्मात्रमुपदिश्वतम् ॥

इति एवं । उक्तनक्षणः उक्त लक्षणं यस्य तादनः, या ध्वनिः ससरकाव्यं उत्तमं काव्यं कतुँ वा ज्ञातुं वा, अभियुक्तैरुद्युक्तैः कविभिः सहृदयैश्च, प्रयत्नतः सम्यग् विवेच्यः विविच्य ज्ञातव्यः ।

तदेवाह—उक्तेति । उक्तरूपस्य प्रदिशतस्वरूपस्य ध्वनैः निरूपणे निपुणाः समर्थाः सत्कवयः सहृदयाश्चाः नियतमेव काव्यविषये, परां प्रक्षंपदवीं परमो-त्कृष्टं स्थानं आसादयन्ति प्राप्नुवन्ति

ध्विनमुपवण्यं तस्य मुख्यत्वं प्रदर्शयति —अस्फुटेति । यथोदितं एतावता प्रवन्धेन, उक्तमभिहितम् । एतत् काव्यतत्त्वं काव्यस्य काव्यपदव ग्वदेशविषयत्वं, अस्फुटस्फुितं अस्फुटं स्वष्टं यथा न स्यात् तथा स्फुरितं स्फुरणं यस्य तादशं एतत् ध्वि प्रवर्तेनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदलक्तुः द्भिः प्रतिपादियतुं वैदर्भी भौडी, पाञ्चाली चेति ीतयः प्रवितिः। रीतिलक्षण-विधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतत् अस्फुरतयः मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया समप्रदिशिते । येट रीतिनक्षणेन न किञ्चित्।

शब्दनन्वाश्रयाः काश्रिद्यतन्त्रयुजोऽपराः । वृत्तयाऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यसभ्यो ॥ ४७ ॥

अस्मिन् व्यङ्गचव्यञ्जकभावविदेचतमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति, याः काश्चित् प्रसिद्धाः इपनापरिकाद्याः कव्यतत्त्वाध्ययाः वृत्तयो याश्चाधेतत्त-सम्बन्धाः कैश्ववयादयस्ताः सम्यग् रीतिपदवीमव अस्ति । अस्यथा दु
तासामदृष्टार्थातामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यात् नानुभवसिद्धत्वम्

उज्जीवनी ।

व्याकतुं व्याख्यातुं अज्ञहनुवद्भिः अज्ञवतैः कैश्चित्, रीतयः विज्ञिष्टा पदरचना रीतिरिति लक्षणलिक्षताः सम्प्रवित्ताः । तदेवाह — एतदिति । एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन एतस्य पूर्वोक्तस्य ध्वनैः प्रवर्तनेन प्रतिपादिनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वं, अस्फुट-तया स्फुरितं सत् स्वयं प्रतिपादियतुम शक्नुवद्भिः किविभः वैदर्भी, गौडी, पाश्चाली चेति तिस्रः रोतयः प्रवित्ताः । हि यतः, पीतिलक्षणिवधायिनां रीति काव्यात्मत्वेनाङ्गेकृत्य तल्लक्षयतां, एतत् काव्यतत्त्वमस्फुटतया मनागोषदिव स्फुरितमासोदिति लक्ष्यते ज्ञायते । तत् तस्मात्, अत्र स्फुटतयाः सम्प्रदिशिते काव्यतत्त्वे, अन्येन तद्भित्राया रीतेः, लक्षणोन लक्षणकरणोन न किश्चिदि प्रयोजनिमत्यर्थः । कि च, शब्दतत्त्वाश्रयाः, शब्दधर्ममाश्चित्य वर्तमानाः काश्चित् अपरा अपराः, अर्थतत्त्वयुतः अर्थवर्ममाश्चिताश्च वृत्तयः अस्मिन् काव्यलक्षणो ज्ञाते सित प्रकाशन्ते ।

तदेवाह—भस्मित्रिति । वणङ्गचवणञ्जाभाविति व नामये वयङ्गचव्यञ्जकः भावस्य विवेचनात्मके, काव्यस्य व्यक्ति व्यस्य, व्यस्य, व्यस्य ज्ञते सति, याः काश्चित् शब्दतत्त्वाश्रयाः, उपनागित्का,परुषा,ग्राम्याख्यास्तिस्रो वृत्तयः, याश्च अर्थतत्त्व-सम्बन्धिन्यः केशिक्याद्यास्ताः रीतिपदवीमवतरन्ति रीत्यात्मकृतवं भजन्ते । अन्यथा तु रीतिपदमनुपगतानां तु तासां वृतीनामदष्टार्थानामिव, अश्चद्वेयत्वं एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य घ्वनेः । यत्रं शब्दानामथीतां च कैषाश्वित् प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्विमिवं रत्नविशेषाणां चारुत्यमनाख्येय-मवभावते, काव्ये तत्र घत्रनिव्यवहार इति यस्त्रसणं घ्वनेष्ठच्यते केनिवत्तद-युक्तमिति नाभिधेयतामहति । यतः शब्दानां स्वरूपाश्रयस्तावद् अस्ति इत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः । वाचकाश्रयस्तु प्रसादा व्यञ्ज कत्वं चेति विशेषः । अर्थानी च स्कुटत्वेगावभासनं व्यङ्गचपरत्वं व्यङ्गचांशाविशिष्टत्व चेति विशेषः ।

तौ च विशेषौ व्याख्यातुमशक्यौ व्याख्यातौ च बहुप्रकारम् । तद् व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूळैव यस्मादन्याख्ये।

उज्जीवनी

स्यात्। सनुभवसिद्धत्वं तु वक्तुं न शक्यते। एवं घ्वने: स्वरूगं स्फुटतयैवं लक्षणीयम्। एवं च वृत्तिरीत्योरङ्गीकारेण घ्वनेरभावं वदन्तो निराकृताः। अनाख्येतावादम्पि निराकरोति — यत्रेति। यत्र काव्य, केषाश्चित् व्यञ्जकानां शब्दानामर्थानां च चारुत्वं प्रतिपत्तृत्विशेषणैव सवेद्यं प्रतिपत्यहंम्। रत्निवशेषाणां जात्यत्वं कैश्चिदेव यथा संवेद्यते तथा, अनाख्येयमिनवंचनीयं, अवभासते प्रकाशते। तत्र काव्ये घ्वनिव्यवहार इति यञ्जलपनाख्येयत्वरूपं ध्वनेर्य-दुच्यते केनिचत् तद्युक्तमित्यतः तञ्जक्षणमनभिधेयतामहंति। तत् काव्यञ्जभण-मिति न वक्तव्यमित्यर्थः। कारणमाह् — यतः इति। शब्दानां स्वरूपात्रयः स्वरूपात्रयो यस्य (धर्मस्य) तादशो धर्मस्तावच्छव्दिनिष्ठः, अविश्वष्टत्वं-श्रुतिकटुत्वरूपदेषश्चर्यत्वं, अप्रयुक्तप्रयोगः प्रयुक्तस्य पुनः प्रयोगाभाव वत्वं, अभौनरुक्तचिष्वर्थः। ध्वं वाचकाश्रयो वाच स्थव्दाश्चरस्तु, प्रसादः प्रसाद-गुणवत्त्वं, व्यञ्जव्यार्थं श्चित्वर्थः प्रसादः प्रसाद-गुणवत्त्वं, व्यञ्जव्यार्थं श्चित्वर्थः । स्वं वाचकाश्चयो वाच स्थव्दाश्चरस्तु, प्रसादः प्रसाद-गुणवत्त्वं, व्यञ्जव्यार्थं श्चित्वर्थः । स्वं वाचकाश्चयो वाच स्थव्दाश्चरत्वं, प्रसादः प्रसाद-गुणवत्त्वं, व्यञ्जवर्थं श्चित्वर्थः। अर्थानां व स्फुटरवेन स्पष्टत्वया, अवभासनं प्रतिपत्तः, व्यञ्जचपरत्वं व्यञ्जचार्थताः पर्यवत्वं वेति विशेषः।

ताविति । तौ च शब्दाश्चितावर्षाश्चितौ च विशेषौ व्याख्यातु गुगवणं यितुं शक्यते, बहुप्रकारं बहुधा प्रकारेण व्याख्यातौ प्रतिपादितौ च । एवं स्थितेऽपि तव्द्यतिरिक्तस्य तिद्भित्रस्य अन्यस्य आख्यातुभशक्यस्य विशषस्य सम्भावना संशयस्तु, विवेकावसादभावमूलैव विवेकस्य योऽवसादो नाशः, अतिवे ६ः तस्य भाव उत्पत्ति: मूलं कारणं यस्यास्तादशी भवतीत्यर्थः । ध्वनेरन। ख्येयत्वं वदतो

यत्व सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित् सम्भवति । अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात् । सामान्यसंस्पश्चि विकल्पशब्दगोचरत्वे सति। प्रकाशमानत्वं तु यदनाख्येयत्वमुच्यते कचित् तदिप काव्यविशेष णां रत्निवशेषाणामिव न सम्भवति । तेषां लक्षणकारैव्यक्तितस्पत्वात् । रत्निवशेषाणां च साम न्यसम्भावनयेव मूल्यस्यितिपरिकल्पनादर्शनाञ्च । उभयेषामिप तेषां प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव । वैकिटि का एव रत्नतत्वविदः, सहस्या एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कम्यात्र विप्रतिपत्तिः ।

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वनक्षणिषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपीयष्यामः । इहं तु ग्रन्थान्तरश्रवणः वप्रकाशन सहुदयवैमनस्य-प्रदायोतिः न प्रक्रियते ।। बौद्धमते वा यथा प्रत्यक्षादिस्रक्षणं तथास्याकं

उज्जीवनी।

विवे म शुन्यत्वमेव हेत्रिति या हत् यस्मात् यतः, अनास्यैयत्वं सर्वेशब्दा-कोचरत्वं सर्वेषःमिक शब्दाकां अविषयत्वरूपं तेन कस्यचिदिष अर्थस्य तल्लक्षण न सम्भवति । अन्तनः अनाख्येयस्यार्थस्य अनाख्येयशब्देनैवाभिधानं सम्भवेत्। परैनियुक्तमनारुयेयत्वं निर्विश्य दूषयति—सामान्येति । सामान्य-संस्पर्शिवि कृत्पशब्दागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वम नाख्येयत्विनिति निरुक्तिः । सामान्यं जातिः, तत्संस्पर्शीयो विकल्पः विशेषणविशेष्यसंसर्गाः वगाहि ज्ञानं (सविकल्पकज्ञानं) तज्जनको यः शब्दस्तदविषयत्वं प्रसिद्धविषयत्वं चेत्यर्थः। ईंदशमनाख्येयत्वं यत् तैयनाख्येयतावादिभिः कचिद्च्यते तदिष काव्यविशेषाणां न सम्भवितुमहंतीति एत्नविशेषस्यानाख्येयत्वं वक्तुं न युक्तम् । तेषाँ काव्यविशेषाणां लक्षणकारैः लक्षणकर्तृभिः, व्याकृतरूपत्वात् व्याख्यातः रूपत्वात् । रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैत्र सामान्यरूपेणेव, मूल्यस्य स्थिते: व्यवस्थाया: परिकत्पनाया दर्जनात् । नभगेषामपि तेषां काव्यविशेषाणां रत्निको "णां च, प्रतिपत्तृिकोषसंवेद्यस्वं प्रतिपत्तृिकोषेण विशिष्टेन प्रतिपत्रा-संवेद्यत्वं ज्ञेयत्वमस्त्येव । हि यतः वैकटिका एव रतनपरीक्षका एवः रतनतत्त्व-विदः रत्नानां जात्यत्वं क्रानन्ति । तथा काव्यानां रसज्ञाः सहदया एवे शि कस्यात्र विप्रतिपत्तिः कस्यापि विप्रतिपत्तिनिस्तीत्यर्थः ।

घ्विनिकक्षण भविष्यति । तस्माल्लकणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वः च तस्योक्तमेव घ्विनिक्षणं साधीयः । तदिदमुक्तम् —

> अनारुयेथांशभामित्वं दिविच्यार्थतया घ्वनैः। न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्।।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविर्विते ध्वन्यालोके वृतीय उद्द्योतः ।

उज जीवनी

क्षणिकवादिबौद्धमते सर्वे रामपि पदार्थानामनिर्वचनीयत्या ध्वनेरपि तत्त्वं कतो न भवतीत्याशङ्क्षय समाधते - यत्त्विति । यत्ते बौद्धानां क्षणिक-बादिनां मते। सर्वेलक्षणविषयं सर्वेषामि पदार्थानां लक्षणविषयीभूतं अनिर्देश्यत्वं प्रसिद्धम् । तत् तन्मतपरीक्षायां बौद्धमतपरीक्षायस्य ग्रन्थान्तरे विनिश्चयनामकबौद्धग्रन्बस्य, आनःदवर्धनाचार्यविर**चितायां** घर्मोत्तमानाम्न्यां निरूपिषयामः । अत्र तु तन्न प्रस्तुतमित्यर्थः । ध्वन्यालोके तु, ग्रन्यान्तरश्रवणलवप्रकाशनं ग्रन्थान्तरे प्रकाशितस्यार्थस्य लवस्य अरुश्स्यः पि श्रवण सहदयानाँ वैमनस्यं वैरस्यं प्रददातीति न क्रियते। अथवा बौद्धमते सर्वेषां क्षणिकत्वेऽपि यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं, तथास्माकं इबनिलक्षणमि भविष्यति । तस्मात् तस्य इवनै: लक्षणान्तरस्याघटनात् अशब्दार्थःवाच्च शब्दवाच्यस्वस्याभावाच्च, उक्तमेवास्मद्क्तमेव, व्वनिलक्षणं घ्वनेर्लक्षणं, यत्रार्थः शब्दो वेत्यनेन कृतं, साधीयः साधुतरम्। उक्तमुपसहरति— त्तदिदम्ति मिति । अनाख्येति । ध्वनेनिवच्यितया निवच्यः निवंबत् शक्यः अर्थः यस्य तादशस्य भावस्तत्ता तया । अनाख्येयांशभासित्वं अनाख्येयस्या-निर्वचनीयस्यांशस्यावभासनात्मकं अनिर्वचनीयत्वं न लक्षणं भवति । तु विन्तु-अस्य ध्वने:, यथोदितं यथास्माभि ध्वतं तदेव साधीय: ॥

> इति ध्वन्यालोकोज्जीवन्यां उज्जीवन्याख्यायां तृतीय उद्द्योतः ।

चतुर्थ उद्योतः

एवं ध्विन सप्र ञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्वाद्य तब्द्युत्पादने **प्रयोज**नान्तरपृच्यते ।

ध्वनेर्यः सगुणीभृतव्यङ्गचस्याध्वा प्रकाशितः । अनेनानन्त्यपायाति कवीनां प्रतिमागुणः ॥ १ ॥

उज्जीवनी।

एवं तिभिहद्योतैः व्वितः सप्रक्चं व्युत्यदितः। आद्य खद्योते प्रथमतः 'तेन ब्रूमः सह्दयमनःप्रीतये तत्स्व हाम् द्रयत्न सहदयमनःप्रीतये इति चतुष्यं तेन स्विधिकोधितस्यः अविद्यमानत्वभाक्तत्वानाख्येयत्वरूपविप्रति-पित्तिरसनपूर्वकं, व्विनिह्णणस्य सहदयहृदय।ह्नादनं, तृतीयोद्योतान्ते च "इत्युक्तलक्षणो यो व्विनिविवेच्यः प्रयत्नतः सद्भः । सःकाव्य कर्नुं वा ज्ञातुं वा सम्यगिभयुक्तैः''।। इति निरूपितस्य व्विनेः तत्त्वविवेकपुरःसरं व्विनिकाव्यं कर्नुं निपुणता (व्युत्पित्तः)च प्रयोजनं च प्रदिशितम्। काव्यस्य वारणं प्रतिभा, सैव शिक्तिरत्युच्यते। तस्याश्च कारणं व्युत्पत्त्यभ्यासौ। तथा च व्वनेस्तत्त्व-ज्ञानेन व्विनिकाव्यकरणनिपुणतां (व्युत्पत्ति) सम्पाद्यः अभ्यासेन च प्रतिभां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रज्ञामिष्यतः कश्चित् सुकविभेवति । तत्कृतनः च काव्येन सहदयानां मानसं सम्झसति। एवं च काव्यस्य मुख्यं कारणं प्रतिभा, फलं च परनिवृंतिरिति च सिद्धम्।

ध्वनितत्त्वज्ञानेन कवीनां न केवलं निपुणता किःतु प्रतिभासम् हास रूप-मन्यदिप प्रयोजनं भवतीति प्रतिपादियतुं चतुर्थं द्द्योतम रभते—एविमिति । एवं उद्योतत्रयोक्तप्रकारेण । ध्वनि प्रतीयमानमर्थं, सिवस्तरं, विप्रतिपत्ति-निरासार्थं विप्रतिपत्तिनिरसनपूर्वकं, व्युत्पाद्य निरूप्यं, तब्द्युत्पादने तस्य ध्वनेनिरूपणे प्रयोजनान्तरमन्यत् प्रयोजनम् । उच्यते कथ्यते । ध्वनेरिति । सगुणीभूतव्यङ्गधस्य गुणीभूतव्यङ्ग्येन सहितस्य ध्वने: ध्वनिगुणीभूतव्यङ्गध- य एव ध्वतेर्गुणीभूतव्यङ्गचस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कवि। प्रतिभानन्त्यम् । कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभृषिता । वाणी नवत्वमायाति प्रवीर्थान्ययवत्यपि ।। २ ॥

अतो व्वतेव्काप्रभेदमव्यादन्यतमेतानि प्रकारेण तिभूषिता सती दाणी पुरातनकविनिबद्धार्थसंस्कृतंदत्यपि नवत्वमायाति । तथा ह्यविवक्षितवाच्यस्य व्वते: प्रकारद्वयसमाश्रयणोत नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि । यथा—

उजीवनी।

योः । यः अव्या मार्गः प्रदक्षितः निरूपिग्न प्रकाशितः, अनेन ज्ञायमानैन (ज्ञानविषयेण) ध्वनिना । यद्वा ध्वनितत्त्वज्ञानेन कवीनां प्रतिभागुणः शक्तचात्मकः आनन्त्यमनश्वरतां आयाति प्राप्नोति । तदेवाह – य इति । ध्वने गुणोभूनव्यङ्गचस्य च मार्गः य एष प्रकाशितः तस्य कविप्रतिभागन्त्यात्मक- मन्यदिप फलमस्ति ।

प्रतिभानन्त्यप्राप्तिप्रकारं तत्फलं च प्रतिपादियतुमाह—कथमिति । अत इति । यतः अनेन ग्रन्थेन व्युत्पादितं ध्विनगुणीभूतव्यङ्गचयोभेंदप्रभेदजातं व्युत्यद्य प्रतिभानन्त्यं प्रपद्यते किनः अतः हि अत एव हि, एवं व्युतः त्या अभ्यासेन च कःव्यकरणे प्रवृत्तस्य कवेः मुखान्तिस्सरन्ती काव्यक्ष्पा वाणी अन्य-तमेनापि ध्वनैः अनन्तेषु प्रकारेषु एकेनापि प्रकारेण भेदेन, विभूषितालङ्कृता, पूर्वार्थान्वयवत्यपि पुराणकविप्रतिपादितेनार्थेन संस्पर्शं प्राप्नुवत्यपि नवत्वं नवीनतामायाति प्राप्नोति । तदेवाह—अत इति । अतः प्रतिभानन्त्यसम्पादनात् ध्वनेः उक्तप्रभेदमध्याद् उक्ता ये प्रभवास्तेषां मध्याद् अन्यतमेनापि एकेनापि, विभूषिता सतीः भूषिता सती कवेः काव्यक्षा वाणी, पुरातनकविनिबद्धार्थं-संस्पर्गवत्यपि पुरातनैः पुराणः, वाल्मीक्षिप्रभृतिभिः कविभिः निबद्धेन प्रति। पादितेनार्थेन सह संस्पर्गं प्राप्तापि, नवत्वं नूननतामायाति । उदाहरति— तथ होति । अविवक्षितवाच्यस्वनैः लक्षणाम् रुध्वनैः, प्रकाषद्वयसमाश्रयऐन अर्थान्तरसङ्क्रमित्वाच्यात्यन्तित्रसङ्गतवाच्यात्मकभेदद्वयसमाश्रयऐन ताद्शः प्रकारद्वयेऽपिः पूर्वार्थानुगमेऽपि पूर्वार्थान्वत्वत्यपि नवत्वमाह्—यथेति । स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः परिस्पन्दो वाचा मभिनवविनासोमिस (सः। गतानामारम्भः किसलयितलोला परिमलः स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हिन रम्यं भृगदशः॥

इहयस्य

सर्विज्ञमित्मितोद्भेदाः ङोजाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः । नितम्बालसगामिन्यः काभिन्यः वस्य न प्रियाः ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वि तिरस्कृतवाच्यध्विसमाश्रयेणापूर्वत्वमेव, प्रतिभासते । तथा यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हतहस्तिबहलपललाशी ।

उज्जीवनी

मृगाक्ष्याः कस्याश्चित् तारुण्याचम्भं वर्णयति—स्मितिमिति । किञ्चिद् स्मितं मन्दस्मितं, मुग्धं सुन्दशम् । दृष्टिविश्ववः दृष्टरीक्षणस्य विश्ववो वैदग्ध्यं, तरलमधुरः तरलश्चलः मधुरः स्निग्धः च । वाचां वचनानां, परिस्पन्दः पश्चिकुषणम् । अभिनवविलासोनिसरसः अभिनवा ां, नवनवानां, विखासानां विश्वमाणां ऊर्मिशः परम्पशिभः सरसः सारस्ययुक्तः । गतानां गतीनां आरम्भः उपक्रमः किसलयित्विलापरिमलः किसलयितानां सङ्घात-किसलयानां आविर्भूतानामिति यावत् । खोळानां विलासानां, परिमलः सोरभ्यं यत्र तादशः, भवतीति शेषः । मृगाक्ष्याः हिरणायनायाः तारुण्य स्पृशन्त्याः तारुण्यः स्पृशन्त्याः तारुणारमभदशां प्राप्नुशन्यः, किमित् हि रम्य न भवति सर्वमिष रमणीयमेव भवतीति यावत् ॥

एतदर्थाव बोधकं प्राचीनपद्यमाह—सिविश्रमेति। सिविश्रमो विश्रमेण विलासेन सिहतः स्मितस्य उद्भेद स्थाविश्वावो यासां ताद्द्यः। लोलाक्ष्यः लोले तक्ले अक्षिणो यासां ताः प्रस्खलद्विरः प्रस्वलन्त्यः प्रकर्षेण स्खलन्त्यः गिरो वाचो यासां ताः, नितम्बालसगामिन्यः नितम्बगौरवेणालसं यथा तथा गमनशीलाः कामिन्यः कस्य प्रिया न स्युनं भवेयुः। पुरातन विवर्णितोऽय-मैवार्थः पूर्वपद्येनापि वर्ण्यते। अयमत्र विशेषः। स्मितेत्यादिपद्ये मुग्ध-मधुर-

१. "परिकरः" च

श्वापदगरोषु सिंहः सिहः केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य,

स्वतेजः क्रीसमहिमा केनात्येनातिशय्यते महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते ॥

उज्जीवनी

विभव-सरस-किसलयित-परिमलस्पर्शनादिपदानि तत्तन्मुख्यार्थानां समिनव्याहृततत्तत्पदार्थेः साक्षमन्वयतास्पर्यानुपन्तयाः अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यानि
नैस्गिकसौन्दर्यः सर्वजनम् गोहारित्वं, अप्रतिहनप्रसरत्वं, सन्तापोपशमनपाटवं,
अतिशयितसौकुमार्यं सार्वकालिकसंस्कारानुवर्तनं, अभिलषणीयत्वं च व्यञ्जनया
बोधयन्ति । अतः पूर्विर्धान्वयवत्यपि कवेरियं वाणो अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यातमकेन व्वनिप्रभेदेन भूषिता नवत्वमायाता । तदेवाह—इत्येवमादिष्त्रिते ।
सत्स्विप सिवभ्रमस्मितोद्भदा इत्येवमादिषु श्लोकेषु, स्मितमित्यादिश्लोकस्य
तिरस्कृतवाच्यव्वनिसमाश्रयणेन अत्यन्तित्रस्कृतवाच्यव्वन्यात्मकलक्षणामूलक्विनयोगेन, अपूर्वत्वं नवत्वं, प्रतिभासते प्रकाशते ।

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिना भूषिताया वाण्या नवत्वं प्रदर्शयित—
तथेति । य इति । यः प्रथम उत्कृष्टः, स तु प्रथमः उत्कृष्टपदवाच्यः भवति ।
उपपादयित—तथाहोति । हतहस्तिवह नपनलाशी स्वयमेव हतानां हृस्तिनां
गजानां बहुलं बहुलं पललं मांसमशितुं शोलमस्येति तादशः सिहो मृगराजः,
श्वापदगरोषु श्वापदानां हिस्राणां मृगाणां समूहेषु, सिहः हिस्नतमः, केनान्येन
श्वापदेन अधरीक्रियते अग्वष्णं प्राप्यते । अत्र द्वितीयः प्रथमशब्दवाच्योऽर्थोऽसाधारण्यादिरूपेऽर्थान्तरे, तथा द्वितीयः सिहुशब्दवाच्योऽर्थः, वीरत्वादिरूपार्थान्तरे सङ्क्रमितः ।

प्राचीनपद्यमाह्न—स्वेति । स्वतेजः क्रीतमहिमा स्वस्यात्मन एव तेजसा प्रतापेन क्रीतः महिमा माहात्म्यं येन तादशः कश्चित्, अन्येन क्रेन अतिशय्यते अतिश्वितेन भूयते । समर्थयति —महिद्धिति । महिद्धः महाकायैरपि मातङ्गैः गजैः सिहो मृगेन्द्रः किमिभभूयते किमु परिभूयते । न केनचिदिप परिभूयत द्दयर्थः । यः प्रथम इत्यस्य पद्यस्य स्वेतजः क्रीतमहिमेत्यादिषु

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वष्यथन्तिरसङ्क्रमितवःच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम् । विवक्षितान्यपरवाच्यस्यापि उक्तप्रकादसमाश्रयेण नवत्वम् । यथा—

> निटाकैतविन: प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-बोंबत्नासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगकोलं स्थिता । वैलक्ष्याद् विमुखीभवेदित पुत्रस्तस्याप्यनारम्भिणः साकाङ्क्षप्रतिपत्तिनाम हृदयं यातं तु पारं रते: ॥

इत्यादेः श्लोकस्यः

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्यं पत्युर्शुखम् ।

उजीवनी

श्लोकेषु सत्सु विद्यमानेषु प्राचीनकविनिबद्धार्थकोधकस्यापि यः प्रथम इत्यादि श्लोकस्य अर्थान्तरसङ्क्रमितवःच्यव्वनिसमाश्रयगोप, कविवाणी नवत्व-माप्नोति। तेन कवेः प्रतिभानन्त्यमवगम्यते।

विविक्षतान्यपरवाच्यध्वनिविभूषिताया वाण्या नवत्वं प्रदर्शयित—
यथेति । निद्रेति । वधूर्नवोढा, निद्राकैतिवनः व्याजनिद्रावतः, प्रियस्य
दियतस्य वदने आनने । वक्तं वदनम् । विन्यस्य निधाय । बोधत्रासितरुद्धचुम्बनरसापि बोधात् प्रियस्य प्रबोधात् यस्त्रासो भयं तेन निरुद्धः चुम्बनरसी
यस्यास्तादशी सत्या, आभोगलोलं आभोगेन निद्रायाः परोक्षरो यः प्रयतनः
तेन छोलं चच्चलं यथा भवति तथा। स्थिता अभूदिति शेषः । वधूः पुनः चुम्बने
कृते। वैलक्ष्याद् लज्जया, विमुखी पराङ्गु वो भवेदिति विविन्त्यः अनाग्मिभणः
चुम्बनाय।रम्भमकुर्वाणस्य साकाङ्क्षप्रतिपत्ति साकाङ्क्षा सतृष्णा प्रतिपत्तिः
अवस्थितिः यस्य तादशं हृदयं मनस्तु, रतेः प्रीतेः पारं संपूर्णास्वाद्यां न यातं
न प्राप्तं नाम ध्रुवम् ।

शून्यमिति । अमरु कशतके मुग्यावर्णन गरं पद्यमिदम् । वासगृहं भय्यागृहं श्रून्यं निर्जनम् । विलोक्य विशेषेण स्ष्ट्वा शयनात् शयनीयात्, किञ्चिदिव शनैर्मन्दमुत्थायः निद्राव्याजं नायिकाया अनुसागिकशासयेव निद्राया व्याजं

विस्रब्धं परिचु व्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं लजानम्रमुखो वियेण इसता बाला चिरं चुम्बिता।।

इत्यादेषु श्लोकेषु सरस्वि नवत्वम्। यथावा — "तरङ्गभ्रमङ्गा" इत्यादिश्जोकस्य "नातारिङ्गिश्रमद्भूः" इत्यादिश्लोकापेक्षयान्यस्वस् ।

ेयुक्तचानयानु तत्व्यो रसादिवेह्नविस्तरः। मिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गी यदाश्रयात् ॥ ३ ॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदानासतत्त्रशमन तक्षणी मार्गे यथारवं विभा-वानुभावप्रभेदकलनया यशोक्तं प्राक् । स सर्व एवानया य्युक्तचान्सर्तव्यः !

उज्जीवनी।

व्याजनिद्राम्। उपागतस्य प्राप्तदतः पत्युः प्रियस्यः मुखं वदनं, सुविरं चिराय, निर्वर्ण्य निकामं दृष्ट्वा, विस्नब्धं यथा तथा चुम्बितवत्यां सत्यां गण्ड-स्थली पुलकिता जाता । तां गण्डस्थलीं, आलोक्य स्थूा, बाला सा, लज्जानम्र-मुखी लज्जया नम्नं मुखं यस्यास्तादशोः हसता त्रियेण सहासेनः त्रियेणः दिरं यावत् लज्जापगमः सम्भोगोन्मुख्यं च तावत् चुम्बिता।। इत्यादिषु प्राचीनकवि-निबद्धार्थवतस्विप पद्येषु सत्यु निद्राकै अविन इत्यादिपद्यस्य विविक्षितान्यपर-वाच्यध्वनिप्रभेदात्मकस्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्गचस्य शृङ्गाररसध्वनिसमाश्रयणेत नवत्वम् ॥

उदाहरणान्तरमाह-यथावेति। तरङ्गभूभङ्गेति। पद्यमिदं द्वितोयोद्द्योते व्याख्यातम् । तत्राचेतननदीवृतान्ते चेतनमानिनीवृत्तान्तसमारो गणेन चमत्कृति-जनकत्वाद् रसवत्वम्। तस्य च 'नानाभङ्गिभ्रमद्भूरि'त्यादिश्लोकापेश्चया नवत्वमित्यर्थः ।

युक्तयेति । यदाश्रयात् यस्य इसादेराश्रितत्वेन, बहुविस्तरः बहुप्रकारः काव्यमार्ग: व्यक्तिमार्ग:, मिथ: परस्परमिक, अनन्ततामानन्त्यं प्राप्तः, स रसादिः रसभावादिः, अनया युक्तचाः एतावत्रोक्तप्रकारेण, अनुसर्तव्यः कवि-वाण्या नवत्वप्रतिपत्त्यर्थं अन्यतमस्यापि ध्वनिभेदस्यः निबन्धनं करणीयनिति

१. "दिशान०" छ. २. "दिशानु०"

यस्य रसादेराश्रयःदयं काव्यमागः पुरातनः कविभः सहस्रसङ्ख्यैरसङ्ख्यैवि बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मिथोऽप्यतन्ततामेति । रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावा-नुभावव्यभिचारिसमाश्रयादगरिमितःवम् । तेषां चैकेकप्रभेदापेक्षयापि तावद् वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादःयथा स्थितमन्यथैव विवर्तते । प्रतिप।दितं चैतिश्चत्रविचारावसरे ।

गाथा चात्र कृतैव महाकविना-

अतहिंदुए वि तह्सिण्ठिए व्व हि अअंमि जा णिवेषे इ। अत्यविसेसे सा जअइ विकडकङ्गो शरा वाणी ॥ [अतथास्थितानिय तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति । अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥ इति च्छाया]

उज्जीवनी ।

यावत्। तदेवाह—बहुविस्तर इति । रसभावतदाभासतत्त्रशमनलक्षणः अयं मार्गः, यथास्वं विभावानुभाववयभिचारिभावादिप्रभेदानां कल्पनया बहविस्तर इति प्रागेवोक्तम् । संसर्व एव रमादिः अनया युक्तचा उक्तयैव युक्तचा अनुसर्तव्यः अनुसरणीयः । यस्य च उद्द्योतत्रयेण सुनिपुणं सुनिरूदितस्य, रसादेः आश्रयादायोगेन अयं काव्यमार्गः, पुरातनैः प्राचीनैः सहस्रसङ्ख्यैः असंख्यैवी कविभि: बहुप्रकारं बहुधा, क्षुण्णत्वाद् मिथः अपि आनन्त्यमेति प्राप्नोति । हि यतः, रसभावादीनां, प्रत्येकं पृथस् विभावानुभावादीनां समार श्रयरोन, अपरिमितन्वं असङ्खोयत्वम् । तेषां च रसादीनां, एकैकप्रभेदापेक्ष-यापि एकमेकं प्रभेदमाश्रित्यापि, उपनिबध्यमानं उपनिबन्धनविषयीभूतं-अन्यया अन्यप्रकारेण, स्थितं विद्यमानं जगद् लौकिनवस्तुजातं, मुकविभिः तदिच्छावशादिच्छान्सारेण, अन्यथैव अनन्यसाधारण्येनैव विवर्तते परिण-मति । एतत् वित्र हाव्यनिरूपणावसरे प्रतिपादितम् । अत्र विषये महा हविना गाथां कृतामाह-अनहड्ठिए इति । अतथास्थितानि अन्यस्य कस्यचिद् रूपेण अविद्यमानानपि अर्थविशेषान् वस्तुविशेषान्, वस्तुतः मुखादे र्थस्य उपमेणस्य चनद्रत्वेन स्थित्यभावेऽि आह्लादकत्वादिधर्मेण, तथासंस्थितानिव चन्द्रत्वेन रूपेण विद्यमानानिव, हृदये सहृदयहृदये निवेशयति आरोपयति । सा विकटकविगोचरा उत्कृष्टकविनिबद्धार्थविषया वाणी, जयति सर्वोत्कर्षेण तदित्थं रसभावादाश्रयेण काव्यायीनामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् । एतदेवी पपादित्तु मुच्यते—

दृष्टपूर्वी अपि हार्थाः कान्ये रसपरिग्रहात् । सर्वे नवा इवामान्ति मधुमास इव द्रमाः ॥ ४ ॥

तथःहि विवक्षितान्यपरव चास्यैव ज्ञब्दशक्तयुद्भवानुरणनरूपव्यङ्गय-प्रकारसमाश्रयेण नवन्त्रम् । यथा—धरणीधारणायाधुनात्वं शेवः—इस्यादेः ।

> शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिशः । यदलङ्कितमर्यादाश्चलन्तीं विश्वते भुगम् ॥

उज्जीवनी।

वर्तते । एवं रसभावादिसमाश्रयऐत काव्यायातामानन्त्यं सम्यक् प्रतिपा-दितम् । एतदेवोपपादियतुं पुतरप्याहः—दिन्देति । काव्ये कविप्रयुक्तशब्द-सन्दर्भात्मके, दष्टपूर्वाः पूर्वं ज्ञाताः, पुरातनकविविणितत्वेन ज्ञानविषयीभूताः, सर्वेऽपि अर्थाः अभिधेयाः, रसपरिग्रहात् रसादीनां व्यङ्गचानां व्यञ्जाद् मधुमासे वसन्तकाले दष्टपूर्वाः पूर्वं वसन्तादवलोकिताः द्रुपा वृक्षा इव नवत्वं नवीनतां प्राप्ता इति आभान्ति शोभन्ते ।

तदेवोपपादियतुमाह—तथा होति। विविक्षतान्यपरवाच्यस्य ध्वतेः शब्दशक्युद्भवः यः अनुरणनरूपव्यक्ष्यस्य प्रकारः तदाश्रयणेन नवत्वं भासते। उदाहरति—यथेति। घरणीतिः वाणभट्टविरचिते हर्षचिति स्थाति वावयिदम्। तृतीयोद्द्योते व्याख्यातिमदम्। अत्र नानार्थस्य शेषशब्दस्य प्रकृतार्थवोधानन्तरं शब्दशक्तिमूलेनानुरणनेन वासुकिहर्षयोः सादश्यरूप उपमालङ्कारो व्यव्यते। एतदर्थकं प्राचीनपद्यमाह—शेष इति। कश्चित् राजानं सौति। शेषः अविश्वरा, हिमिलिरः हिमालयः, स्वं राजा च एते महानः महिताः गुरवः, स्थिराः अचलस्थितयश्च, यद् यस्मात् अलङ्कितमर्यादा अनिकान्तपर्यादाः चलन्तीं चञ्चलाः भुवं भूमि विश्वते विश्वति। अत्र भूमेभरणाय शेषः, हिमाचलः, राजाचित त्रयः समर्था इति पूर्वोपविणतोऽष्यः, घरणोधारणायेत्यत्र शब्दशक्तिम् तुरणनध्वनिसमाश्रयणेन कविनोपनिबध्यन् मानो नवत्वमःयाति।

इत्यादिषु सत्स्विप । तस्यैवार्थंशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यक्त्यसमाश्रयेण नवत्वम् । यथा—'६वं वादिनि देवषौं' इत्यादिवनोकस्य ।

> कृते वरकथालापे कुमार्यः पुतकोद् मै: । सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लेज्जयावनताननाः ॥

इत्यादिषु सत्सु अथशक्त्युद्भवानुरणक्षपवयङ्गचस्य कविषीदेशेकितिषात्र-शकीरत्वेन नवत्वम् । यथा-'सज्जेड सुर्हिमासो' इत्यादेः

> सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रव्हर्भवन्ति रमणीयाः । रागवतामुरकलिकाः सहैव सह धर विकाभिः ॥

इत्यादिषु सत्स्वण्यपूर्वत्वमेव । अर्थशक्तयुद्भवानुरणः रूपव्यञ्ज्यस्य

उज्जीवनी

तस्यैव (विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव) अथंशक्तिम् गनुरणनव्यङ्गधनाश्रयणेन नवत्वमाह—यथेति । एवंवादिनीति । व्याख्यातिमदं दितीयोद्द्योते ।
अत्र अर्थशक्तिम्लानुरणनव्यङ्गधस्य लज्जाख्यव्यभिच।रिभावस्य समाश्रयणन
नवत्वम् । प्राचीनपद्यमाह—कृत इति । वर्षस्यानापे वरस्य कथाया आलापे
भाषणे कृते सति । लज्जया भावेन, अवनतं नम्रमाननं यस्याः ताद्दयः कुमार्यः
पुलकस्योद्गमैराविभिवैः अन्तर्हं दि, स्थितां स्पृहामभिलाषं सूचयन्ति । अत्र
लज्जाख्यो भावो वाचकशब्देनाभिधोयते । इत्यादिषु . सत्स्वि एवंवादिनि'
इत्यादिपद्यस्य अर्थशक्तिम्लानुरणनरूपव्यङ्गचस्य नवत्वम् ।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणकरूपव्यङ्गचस्य किविशौढोक्तिनिर्मितश्ररीरत्वेन नवत्वमुदाहरति—यथेति । सज्जेइ इति । द्वितीयोद्द्योते व्याख्यानतमिदम् । अत्राचितनस्य वसन्तस्य मदनवाणसञ्जीकरणात्मको वस्तुरूपो व्यञ्जकोऽर्थः किविशौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । तेन वस्तुना वसन्तस्य मन्मथोन्याथकारि-त्वारम्भरूपं वस्तु व्यज्यने ।

नवीनपद्यमाह—सुरिमसमय इति। सुरिभसमये वसन्तकाले, प्रवृत्ते सित, सहकारकिकाभि: सहकारवृक्षाण क लक्षाभि: मुकुलै: सहैव, राग-वतामनुरागवतां, रमणीयाः कमनीयाः, उत्कलिकाः उत्कण्ठा जायन्ते । अत्र सहकारकिकानां रागवतामुक्किकानां सहभागत्मकः सहोक्त्यलङ्कारो

कवि बद्धवक्तृत्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न-शरोरत्वेन नवत्वम् * । यथा-प्वाणिअद हृत्यिदता इत्यादिगाथा र्यस्य ।

> करिणोवेहव्वअो मह पुत्तो एक्क कांडिविणवाह । ह असोण्हाए तह कही जह कांडिकरंडवं वहुइ ॥ (करिणोवैधव्यक्तरो मम पुत्र एककाण्डिविनिपाली । हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डिकरण्डकं वहित । इति छाया)

एव मादिण्दर्थेषु सत्स्विप अनालीहतैय। यथा व्यङ्गचभेदसमाश्रयणेन ध्वने: काव्यार्थीनां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि। तत्तु

उज्जीवनी

वाच्य एव । सज्जे इ इति एदो न तु अस्यै वार्थस्य व्यङ्गच समाश्रयणे । निवासि स्थानि व्यङ्गच स्थानि स्थ

 [&]quot;यथा — साप्ररिवइण् गुजीव्वरणहत्था नं वं समुण्णमन्ते हि । श्रव्भुद्वाणिमव-मम्महस्त दिण्ण तुह थणोहि ॥ श्रस्य हि गाथार्थस्य उदिश्र.....क श्रामोश्रा जह जह थएण्या विर्णाति बालार्णा। तह तह लद्धावासो व्व मम्महो हिश्रयमाविसइ ॥ एतद्गायार्थेन न पौनरुक्तचमु । पण वा" (इति भागोऽ-धिकतया दृश्यते ।) च

ग्रन्थविस्तरभयात्र लिख्यते । स्वयमेव सहदर्यरभ्यूह्मम् । अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेद पुच्यते—

व्यङ्गचव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भदत्यपि । रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ ५ ॥

अस्मिन्नयात्त्रत्यहेतौ व्यङ्गचव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यांपि कित्रपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्गचव्यञ्जकभावे यत्नादवदधोत । रसभावतदाभासक्ष्पे हि व्यङ्ग्ये वः ञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णगदवावय-रचनात्रबन्धेष्ववहितमतसः कवेः सर्वमपूर्वं क व्यं सम्भवते । तथा च रामायण-महाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनःपुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते—

उज्जीव नी

तत्त् ग्रन्थविस्तरभयात् ग्रन्थक।रेण नोच्यते । स्वयमेव सहदर्ये हृह्यम् । पून:पुनरभिहितस्यापि ध्वनिप्रयोजनस्य सारांशं प्रतिपादयन्नाह-अत्र च पूनः पुनरुक्तमपि सारतयेदम्चयत इति । व्यङ्ग्येति अस्मिन् पूर्वोक्ते, व्यङ्गच-व्यञ्जकभावे व्यञ्जन त्वारमके व्यापारे, विचित्रे वैचित्र्ययुक्ते, सम्भवत्यपि यद्यपि सम्भवति तथापि रसादिमये रसमावादिमये अर्थे एकस्मिन् कवि: अवधानवान् स्यात् कविनावहितेन भाव्यमित्यर्थः ॥ तदेवाह - अस्मिन्निति । अस्मिन् एतावता निरूपिते, शब्दानां अर्थानन्त्यहेती अर्थानामानन्त्यस्य कारणे. व्यञ्जचव्यञ्जनभावे व्यञ्जनतात्मके व्यञ्जनाव्यापारे विचित्रे सम्भवत्यपि, वस्त्वलङ्काररसात्मना वैचित्र्यं प्राप्तवत्यपि, अपूर्वार्थलाभार्थी नूतनस्य, अर्थस्य लाभं अर्थयमानः कविः, रसादिमये रसभावादिरूपे, एकस्मिन् व्यञ्जधव्यञ्जहभावे, यत्नाद् यत्नेन्। अवदघीत अवधानं कुर्वीत हि यत:, रसभावतदाभासादिरूपे व्यङ्ग्ये तद्व्यञ्जकेषुव्यञ्जनयार्थप्रतिपादनेन प्राप्तेषु यथानिदिष्ठेषु वर्णपदवात्र्यरचनाप्रबन्धेषु कः व्यकर्तुः काव्यं सर्वं अपूर्वं नूतनं सम्पद्यते । तदेवोपपादयति -तथ।चेति । राम।यणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः युद्धादयः पुनः पुनरभिहिता अपि असकृत् प्रतिपाद्यमाना अपि नवनवाः प्रत्येकमिनवा एव प्रकाशन्तेशोभन्ते ॥

प्रजन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति । व स्मिन्निवेति चेत्--यथा रामायणे यथा वा महाभारते । रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः शोकः रखोकत्वमागत इत्येवंवादिना । निर्ध्दश्च स एव शोतात्यन्तिवयोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता । महाभारतेऽि शास्त्ररूपकाव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डविदरसावसान-वैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विदक्षा-विषयत्वेन सूबितः । एत्रचांशेन विष्ठतमेवान्येव्याख्यादिधायिभः । स्वयमेव

उज्जीवनी।

प्रजन्धे च एक एव रसः श्रृङ्गारादिः बङ्गो अङ्गित्वेनोपनिवध्यमान एव अर्थविशेषस्य विशिष्टार्थस्य लाभं छायातिशयं शोभातिशयं च पृष्णाति पोषयति । इष्टान्तम्पदर्शयन्नाह—कस्मिन्निवेति । रामायरो वा महाभारते वा । एक एव रसः प्राधान्येनोपनिबद्धः । हि यतः रामायणे आदिकविना वाल्मीकिमहर्षिणा करुणः रक्षः शोकस्थायिभावकः स्वयमासूत्रितः। एतेन तमसातीरे व्याधशरेणानुविद्धं क्रीव्यमिथुनादेकं पुमां सं दृष्ट्वा समुपजातकारुण्यस्य महर्षेः वदनारितन्दादाविर्भूतः "मा निषादे''त्यादिरलोकः । तिन्नशमनमतु प्रादुर्भूतेन परमेष्टिना रामायणप्रबन्ध नुपनिबन्धं अज्ञ पितः स महर्षिः करुण-रसस्योपनिबन्धनादारम्य सीताया अत्यन्तवियोगपर्यन्तं स्वस्य रामायणाख्यं प्रबन्धं उपरचयता स एव करुणो रसः निर्व्यूट इति एकस्य रसस्य प्रबन्धे प्राधान्येनोपनिबन्धने काव्यस्य शोभातिशयः सञ्ज यत इत्यस्य दृष्टान्त: प्रदर्शितो वेदितव्यः । तथा महाभारतेऽपि शास्त्ररूपकाव्यच्छयान्वयिनि शास्त्रत्वेर काव्यत्वेन च शोभामावहति । वृष्णोनां यादवानां पाण्डवानां च विरसावसानेन वैमनस्यं बोधयन्ती समाप्ति निबध्नता महामूनिना व्यासेन स्वप्रबन्धस्य महाभारताख्यस्य प्राधान्येन वैराग्यजननतात्पर्यं परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य स धनं यद् वैराग्यं निर्वेद ख्यः स्थायीभाव: तदुत्पादनतत्परत्वं दर्शयता, मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया प्राधान्येन विवक्षा-विषयत्वेन विवक्षितत्वेन सूचितः । एतच्च महाभारतस्य प्राधान्येन शान्तरसप्रतिपादनेन काव्यविशेषभूतघ्वनित्वं, परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य

चैतदुद्गीणं तेनोदीणंमहामोहमग्नमुक्तिहीषंता लोकमतिविमलज्ञानालोक-दायिना लोकनाथेन---

> यथा यथः विपर्येति लोकतन्त्रमसः रवत्। तथा तथा विरागीऽत्र जायते नात्र संशयः॥

इत्यादि बहुशः वथयता । ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैमोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपस्जंनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महानारततात्पर्यं सुन्यक्तपेवावभासते । अङ्गिः ङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव पारमाधिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमण्यविरुद्धम् । ननु महाभारते यावान्

उज्जीवनी

मुख्यतयोपनिबन्धनेन ज्ञाम्ब्रत्वं च, अन्यैरपरै:, व्याख्याविधायिभि: व्याख्या-कारैः अंशेन विवृतं पूर्णत्वेन न व्याख्यातम् । अत्र प्रामाण्यं प्रदर्शयति स्वय-मिति । उदीर्णमहामोहमानं उदीर्णे उद्भूते महामोहे महति मिथ्याज्ञाने मग्नं निमग्न, लोकं भुवनगतान् जनान् उज्जिहोर्षता उद्धर्त्त्मिच्छताः अतिविमल-ज्ञानालोकदायिना अतिविमलस्य अत्यन्द्रनिर्मलस्य ज्ञानालोकस्य ज्ञानप्रकाशस्य प्रदाता, लोकनाथेन व्यासमहर्षिणा बहुशो बहुवारं, प्रथा यथा इत्यादि कथयता वदता, एतद् अयं विषय:, स्वयमेव उदीणं मुक्तं च । कथिते विक-माह-यथा यथेति । यथा यथा येन येन प्रकारेण लोकतन्त्रं धर्यार्थकामाच्यं पुरुषार्थत्रयं, तद्पायभूतं लौक्तिं कार्यजातं विद्यमानत्वेन भासमानमपि। असारं निः मारं विवर्धेति विवर्धयं अविद्यमानतां प्राप्नोति । तथा तथा तेन तेन प्रकारेण, अत्र लोकतन्त्रे, विशागो वैराग्यं जायते, अत्र संशयो नास्ति। फलितमाह-त इचेति। शान्तो रसः आस्वाद्यमानो निर्वेदाख्यः स्थायी, रसान्तरे वीरशृङ्गार दिभिः तद्पसर्जनत्वेन वीरादीनामङ्गत्वेर तथा मोक्षलक्षण: मोक्षारू पृष्य थी: पृष्य यी तरै: धर्मार्थकामारूपेस्त्रिभि:, तदुपसर्जनत्वे । मोक्षाङ्गत्वे न अनुगम्यमानः अनुस्त्रियमाणश्च (शान्तो मोक्षश्च) अङ्गित्वेन प्राधान्येन, विवक्षाविषयो विवक्षित इति महाभाषतस्य तात्यर्गः सुव्यक्तमेव स्पष्टमेवावशासते। रसानां श्रङ्गारादीनां अङ्गाङ्गिभावप्रकारश्च पूर्वं प्रतिपादित एव ॥

विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रकोधहेतुत्वं सर्वः सगर्भत्वं च महाभारतस्य, तस्मिन्नुहेशे स्वशब्द-निवेदितत्वेन प्रतीयते । अत्रोच्यते – सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ् निद्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थे न्यः प्राधान्य मित्येतन्न स्वशब्दा निवेयत्वेना नुक्रमण्यां दिशितम् । दिशतंतु त्यङ्ग्यत्वेन —

'भगवान् व!सुदेवश्च कीत्यंतेऽत्र सनातनः'

इत्यस्मिन् वाक्ये । अनेन हायमर्थी व्यङ्ग्यत्येत त्रिवितितो यदत्र महा-भारते पाण्डवादिचरितं यत् कीर्यंते तत् सर्वमवसानिवरसमविद्याप्रपञ्चरूपं

उज्जीवनी

महाभारते शृङ्गारादीनां धर्मादीनां च प्रतिपानं कथमित्याशङ्कायान माह-पारमाथिकेति । पारमाथिकं वास्तवं यदन्तस्तत्त्वं प्रधानीभूतार्थतत्त्वं तस्यानपेक्षया अविषयोकरऐ।त, शरीरस्येव अङ्गिनं देहिनमपेक्ष्य, अङ्गभूतस्य श ीर स्येव रसादे: अङ्गी य: शान्तो रसस्तदपेक्षया अङ्गभूतस्य श्रङ्गारवीरादे:, तथा अङ्गिरूपं मोक्षाः लयं षुरुषार्थभपेक्ष्य अङ्गभूताना धर्मार्थ हामानां च, स्वप्राधान्येन अङ्गस्य पसादेः धर्मादेश्च चारुत्वं चमत्कृति गनकत्वमपि अविरुद्धं न विरुध्यत इत्यर्थः। आशङ्कते -- निवित । महाभारते विवक्षाविषयः विवक्षित:-प्रतिपिपादियिषित:, स तावानर्थ:, सर्व एव अनुक्रमण्यां अनुक्रान्तः अनुक्रमेण प्रदर्शितः। एतच्च यदुक्तं शान्तरसस्य प्राधान्य(मतरेषां शतानामङ्गत्वं, मोअस्य प्रव्धान्यम्, इतरेषामप्राधान्यं च, तत् तत्र अनुक्रमण्यां न दश्यते, प्रत्युत्त वै । रोत्येन । तस्मिन्नुद्देशे अनुक्रमण्यात्मक उद्शग्रन्थे, महाभारतस्य सर्वपुरुष र्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वेषामि पुरुषार्थानां प्रबोधनं, सर्वरसगभंत्वं सर्वेषां रसानां प्रतियादनं च, स्वशब्दनिवेदितत्वेन वाच कशब्दैरिभधीयमानमेव प्रतीयते ज्ञायते । समाधत्त - अत्रोच्यत इति । सत्यमेवेति। उक्तिनिदं तथ्यमेवः यद् अनुक्रमण्यां शान्तस्याङ्गित्विमतरेषां अङ्गत्वं, तथा मोक्षस्य।ङ्गित्वमन्येषां अङ्गत्वं च स्वशब्दनिवेदितं, तथापि तदिदं व्यङ्ग्यत्वेन प्रतिपादितमेव । भगवान् इति । अत्र महाभारते, भगवान् वासुदेवः वसुदेवात्मजः श्रीकृष्णः कीत्येते स्तूयते । इत्यनेन वाक्येनायं विषयो क्यङ्ग्यत्वेन प्रतिपादितः। प्रतिपादनप्रकारमाहु-अनेनेति । अनेन भगवान

च परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुरेवोऽत्र कीत्यंते । तस्मात् तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निःसारासु रागिणो गुरोषु वा नयविनयपराक्रम।दिष्वमीषु केवलेषु केषुचित् सर्वात्मना प्रतिनिविष्ठिधयः । तथाचाग्रे—पश्यत, निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं चोतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहोतश्च शब्दः । एवंविधमेशार्थं गर्भोकृतं सन्दर्शयन्तोऽ ग्नारक्लोका लक्ष्यन्ते 'सिह् सत्यम्' इत्यादयः— अयं च निगूढरमणोथोऽथीं मह्यभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाति विद्यता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक् स्फुटीकृतः । सनेन चार्थेन संसारातीते तन्त्वान्तरे भक्तचित्रयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको

उज्जीवनी

वासुदेवश्चेत्यादिवचदेन। अत्र अस्मिन् महाभारते, यत् कीर्त्यते वर्ण्यते पाण्डवादीना चरितं, तत् सर्वं मवसाने विरसं रसशून्यं अविद्याप्रपश्चरूपं च मिथ्यारूपंच, तु किन्तुः परमार्थसत्यस्वरूपः यथार्थसत्यात्मकः भगवान् वासुदेव: श्रीकृष्णः अत्र महाभारते कीत्र्यते स्तूयते । इत्थयमर्थः व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षाविषय एव । तस्म।दिति । तस्मिन्नेव परमेश्वरे परमैश्वर्ययुक्ते, भगवति वासुदेवे भावितचेतसः भावितं चेतो यैस्ताइशा भवत स्थात । निःसारासु असारासु विभूतिषु ऐश्वर्येषु, रागिणः अनुरक्ताः, मा भूत मा भवत । अथवा नयविनयपराक्रमादिषु गुरोषु केवलेषु निकृष्टेषु गुरोषु, सर्वात्मना सर्वप्रकारे-णापि, प्रतिनिविष्टिषियः प्रतिनिविष्टा अभिनिवेशवती, धीः बुद्धियेषां तादशाः, मा भूत। तथा अग्रे उत्तरग्रन्थे च 'संसारस्य निःसारता पश्यत' इत्यमुमेवार्थं द्योतयन् प्रकाशयन्, व्यञ्जकशक्तचा व्यञ्जकत्वेन (व्यञ्जनया) अनुगृहीतश्च शब्दः श्रूयते । अनन्तरक्लो स्थ एवं विधमेवार्थं गर्भीकृतं अन्तःकृतं सन्दर्शयन्तः प्रतिपादयन्तश्च लक्ष्यन्ते इरुपन्ते । ते च राज्दाः स. हि सत्यमित्यादयः ॥ अस्पिन् विषये प्रामाण्यं दर्शयितुमाह-अयमिति । निगूढरमणीयः निगूढो रमणीयश्चायमर्थः, महाभारते मुख्यो रसः शान्तः मोक्षश्च परमः पुरुषार्थं इत्ययमर्थः महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन हरेविष्णोः वंशस्यो पाख्यानेन समाप्ति समापनं विद्वता कुर्वता, तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन व्यवहार: पूर्व गक्षीकृती न्यक्षेण प्रकाशते । देवतातीर्थंतपःप्रभृतीनां च प्रभावा-तिशयवर्णनं तस्यैव पर ब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तिह्नभूतित्वेनेव देवताविशेषाणाम् अन्येषां च । पाण्डवादि वित्तवर्णं स्यापि वैराय्यजननतात्पर्याद्, वैराय्यस्य च मोक्षमूलत्वानोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात् पर ब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव । परम्परया वासुदेवादिशंज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमित-शक्त्यास्यदं परं ब्रह्म गीतादिष्रदेशान्तरेषु तदिभिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धिमाथुर-प्रादुभीवानुकृतनकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरपादुभीवांश एव, सनातन-शब्दिविशेषितत्वात् रामायणादिषु चानया संज्ञया भगवन्यूत्यंन्तरे व्यव-हारदर्शनात् निर्णीतिश्चायमर्थः शब्दतत्त्विविद्भरेव ॥

उज्जीवनी।

व्यासेनः सम्यक् स्फुटोकृतः प्रकाशितः । संसारातीते तत्त्वान्तरे परब्रह्मतत्त्वे भक्तचित्रायं प्रवर्तयता निर्वर्तयता, अनेन अर्थेन पूर्वोक्तेनार्थेन, सांसारिकः संसारसम्बन्धी सकल: सर्व एव व्यवहार: नण्क्षेण साकल्येन पूर्वपक्षत्वेन कृत इति प्रकाशते । देवतानां तोथानां तपसामेवमादोनामन्येषां च, प्रभावातिशयस्य वर्णनं, तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्यूणायतया भवति । अन्येषां देवतादीनां वर्णनमिष त्तद्विभूतित्वेन भगवदंशातम्कत्वेन च प्रभावातिशयवर्णनं परिणतं भवति ॥ पाण्डवादीनां धर्मपुत्रादीनां च यञ्चरितं वर्णितं तस्य वैदाग्यजननतात् यित् वैराग्नोत्पादनतत्परतयाः वैराग्यस्य मोक्षमूलत्वात् मोक्षहेतृत्वात्, मोक्षस्य, च भगवत्याप्त्युपायत्वेन गीतादिषु मुख्यतया प्रधानत्वेन, प्रदश्चितत्वाञ्च परब्रह्म-प्राप्त्युपायत्व अस्त्येव । वासुदेवादिशब्दानां परब्रह्मवाचकत्वं प्रदर्शयित— परम्परया। गीनादिषु प्रयुक्ता वासुदेवादिशब्दाश्च न लौकि कनामधेयत्ल्याः। तेषां लौिकानां तत्तद्व्यक्तिष् वक्त्यदच्छासन्निवेशितत्वात् । पिन्: वस्देव-संजाभ वेऽि गुत्रसर व सुदेवसंजादशंनःत्। गीतादिषु प्रयुक्ती वासुदेव शब्दश्च परब्रह्मपर: । वसुदेवस्कापत्यं पुमानिति मुख्यार्थस्य कधि परम्परया अनादिप्रयोगप्रवाहेण 'कर्मण कुशल' इत्यादाविव निरूढलक्षणया ब्रह्म गेधक-स्वमसीत्यशिष्रायः। अतो गीतादिषु श्रुतो वासुदेवादिशब्दः वासुदेवसंज्ञाभि-घेयत्वे त वाबुदेव दिसंज्ञाभि: अभिषाविषयत्वेन, अपिशितशक्तास्पदं अपरिमिताया अप्रमेयायाः शक्तेः आसादं आस्थानं, गीतादिप्रदेशान्तरेषु

तदेवमनुक्रमणीनिदिष्टेन वावयेत भगतद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानि-त्यतां प्रकाशयतः मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रक्ष्ये, काव्यनये च तृष्णाक्षय परिपोषलक्षणः शास्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेत विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्गधन्वेनंत दिशतो न तु

उज्जीवनी ।

गीता विषु स्यळान्तरेषु । तदिभिधानत्वे परब्रह्मसंज्ञात्वे । लब्धप्रसिद्धिः लब्धा प्रसिद्धिये स्य तादशं, माथुरप्रादुभिवानुकृतसकलस्व हां माथुरेण मथुरायां भवेन प्रादुभिवेन अवतारेण अनुकृतं सकलं सर्वं स्व हपं येन तादशम् । परं ब्रह्म विवक्षितम् । न तु माथुरप्रादुभीवाश एव विवक्षितः । 'भगवान् वासुदेवश्च, कीत्यैतेऽत्र सनातन' इति सनातनशब्दे । विशेषितत्वात् भगवतः । पामायणादौ च, अनया संज्ञया वासुदेवसंज्ञया भगवनमूर्यन्तरे किपलवासुदेवादौ व्यवहारदर्शनात् । अयमर्थः शब्दतत्त्वविद्धः वैयाकरणैः निर्णितः निश्चितः ।

महाभारतस्य काव्यात्मकत्वं शास्त्रात्मकत्वं च पूर्वेमुक्तं स्फुर यति — तदेविमिति । तत् तस्मात्, एवं उक्तप्रकारेण, अनुक्रमणीनिर्दिष्टेन, वाक्येन—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्यंतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पिवत्रं पुण्यमेव च ।।
शाश्चतं ब्रह्म परमं श्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ।।
असत् यत् सदसच्वैव यस्माद् देवाद् प्रवतंते ।
सन्ततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्म मृत्युः पुनर्भवः ॥
अध्यात्मं श्रूयते यच्च पश्चभूतगुणात्मव म् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥
यत् तद्यतिवरा युक्ता ध्यानयोगवलान्विताः ।
प्रतिबिम्बिमवादर्शे ५ स्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥
श्रद्धानः सदोद्युक्तः सत्यधमंपरायणः ।
आसेविश्वममध्यायं नरः पापात् प्रमुच्यते ॥

१. ''यसुखप०" च

वाच्यत्वेत । सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेत प्रकाशितः सुतरामेव शाभा गवहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदिभमततरं वस्तु व्यङ्गधःवेत प्रकाश्यते, न तु माझाच्छब्दवाच्यत्वेत । तहमात् स्थितं एतत्— सङ्गिभूतरसाश्चयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलामो भवतिः बन्धच्छाया च महती समाद्यत इति । अत एव च रसानुगुणाथिवशेषोपनिन्बधनमखङ्काशन्तर-विभहेऽपि छायालिश्चययोगि लक्ष्ये दश्यते । यथा—

उज्जीवनी

अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः । आस्तिकः सततं श्रुण्यन् न कृच्छे व्यवसोदिति ॥ इत्यादिना

भगवद्वयतिरे िणः भवदितिरिक्तस्य, सर्वस्यापि जगतः अनित्यतां अनित्यत्वं प्रकाशयता (भगवान् वास्देवश्च इत्यादिवानये । शास्त्रनये, मोक्षज्ञणः मोक्षरूप एव परः पुरुषार्थः, परमपुरुशार्थः एकः मुख्यः प्रधानभूतः, काव्यनये च महाभारतस्य काव्यात्मकत्वे च तृष्णाक्षयपरिपोषलक्षणः तृष्णायाः क्षयस्य वैराग्यस्य यः परियोषः पोषणं, तल्लक्षणः तद्रपः शान्तो रसः, अङ्गित्वेन प्रधानतया विवक्षितः वक्तृतात्यर्यविषयीभूत इति । सुप्रतिपादितं सुष्ठु प्रतिपादितम्। अत्यन्त सारभूतश्च अतिप्रधानभूतश्च, अयमर्थः पूर्वोक्तः व्यङ्गत्वेनैव व्यञ्ज गव्यापारगम्यःवेनैवः दिशतः, तु किन्तु, वाच्यत्वेन अभि-धावगापारिवषयत्वे र, न दिशितः। युक्तिमाह—सारभूत इति । हि यतः, सारभूनः अतिशयितच पत्कृत्याधाय कः अर्थः, स्त्रशब्दान भिधेयस्वेन स्व शब्देन वाच म्शब्देन यदिविधेयत्वं पिभवानं तदिविषयत्वे । प्रमाशितः प्रकाशमूपगतः, सुतरामेत अत्यन्तमेव जोभाम् आवहति। विदाधविद्वत्यरिषतम् विदाधानां विद्वां परिषत्स् सभाप्, इयं एवंभूताः प्रसिद्धिः प्रख्यातिः, अस्त्येव विद्यत एवं। यद् प्रभिम नतरं अति नयेन अभि पतं वस्तु व्यङ्गात्वेन व्यञ्जन व्यापार-गम्यत्वेन प्रकाश्यते प्रकाशं नायते । तु किन्तु, नाक्षात् शब्दवाच्यत्वेन अभि-धाविषयत्वेन न प्रकाश्यते । उत्तस र्रोत — स्मादिति । अङ्गिभूतरसाश्रयेण अङ्गिभूतं रसमाश्रित्य, काव्ये कवि कर्मणि, क्रियम एो विधोयमाने, नवार्थ-छाभः नवस्यापूर्वस्य अर्थस्य रसात्मनो लाभः, भवति । बन्धच्छ या बन्धस्य

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः। येनैकचुलुके दृष्टी तौ दिव्यी मत्स्यकच्छवी।। इत्यादौ।

अत ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलुके मत्स्यकच्छपदशन छायातिशयं पृष्णाति । तत ह्योकचुलुके सकलजलिशसिक्षधानादिष दिव्यम्तस्यः च्छपदर्शनमञ्जूष्ण-त्वादद्भुतरसानुगुणम् । क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्धचाद्भुतम्पि नाश्चर्यकारि भवात । न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्येवानुगुणं यावद्रसान्तर-स्यापि । तद्यथा—

> सिज्जइ रोमश्विज्जइ वेदइ रत्थातुलगापडिलगो। सोपासो अज्ज वि सहअ जेगासि वोलीणो।।

उज्जीवनी ।

प्रवन्धस्य, छाया शोभा च महती सम्पद्यत इति । अत एव हेतोः, अलङ्कारा-न्तरविरहेऽपि लक्ष्ये काव्ये रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धनं रसानुगुणस्यार्थ-विशेषस्य निबन्धनं छायातिशययोगि भवति शोभातिशयं पुष्णःति । हरति-यथेति । मृनिरिति । येन अगस्त्येन, एक चुलुके एकस्मिन् चुलुके, दिव्यौ देवतात्मानीः ती मत्स्यकच्छपी मत्स्यः कुर्मश्च, दृष्टी अवलोकिती, स योगीन्द्रः योगिवय: महातमा महामहिमशाली कुम्भसम्भव: तदाख्यो मुनिः महर्षिः, जयित सर्वीतकर्षण वर्तते । इत्यादी काव्ये अत्र एक चुलुके मत्स्यव च्छपदर्शन-रूपं यद् वाच्यं तद् अद्भुतरसस्यानुगुणं सत् छायातिशयं शोभातिशयं पुष्णाति वर्धयति । यदि तु एकचुलुके सक्छजलिधिसिन्निधानं अद्भुतरसोनुगुणं, तथापि तस्य बहुभिर्वणितपूर्व इति तस्मादि पूर्वमवणितं दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शन, अद्भुत रसस्य सुतरामनुगुणम् । हि यतः क्षुण्णं वस्तु अद्भुतमि लो । प्रसिद्धचा आश्चर्यं न जनयति । अक्षुण्णं हि वस्तु उपनिबध्यमानं वर्ण्यमानं, न केवलमद्भुतरसस्प्रैवानुगुणं किन्तु रसान्तरस्यापि अनुगुणमेवेत्याशयः। उदाहर ति—तद्यथेति । सिजाइ इति । "स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्र-प्रतिपन्नः। स पार्श्वोऽद्यापि सुभग ! तस्या येन।स्याधिगतः " इति च्छाया । हे सुभग! तस्या नायिकायाः येन पाइर्वेन येन भागेन, रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः रथ्यायां विशिरव्यायां तुलाग्रेण काकतालीयेत प्रतिलग्नः संस्पृष्टः, त्वमति-

एतद्गाथार्थाद् भाव्यमानाद् या रमप्रतीतिर्भवति सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्थेवंविधादर्शद् प्रतीयमानात् मनागपि नो जायते ।

तदेवं ध्वितिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्याथितां नवत्वं जायते तथा तथा प्रतिपादितम्। गुणीभूतव्यङ्गचस्यापि विभेदव्यङ्ग्यापेक्षयाः ये प्रकारा-स्तत्समाश्यदेणापि काव्यवान्त्रतां नवत्वं भवत्येव। तत्तु विस्त एका सोति नोदाहृतं; सहृदये: स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्।

ध्वनेरित्थं गुणीभुतव्यङ्गचस्य च समाश्रयात् । न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिमागुणः॥ ६ ॥

सत्स्विश पुरातन स्विप्रज्ञन्धेषु यदि स्यात् प्रातभागुणः तस्मिरत्वपति न किञ्चिरेव कवेर्वस्त्वस्ति । बन्धच्छायःपि अर्थद्वयानुकाशब्दसन्निवेशोऽयंत्रति-

उज्जोवनी

गतोऽसि अतिकान्तोऽसि म पार्षाः अद्यापि इदानीमिति बहोः कालादान्तर-मिषि, स्विद्यति स्विन्नं वर्तते रोमाश्विति रोमाश्विनाप्रोति वेषते कम्पते च भाव्यमानात् भावनाविषयीभूतात् एतद्गाधार्थाद् एतस्या गाथाया अर्थात् प्रतिपाद्यात् या श्रृङ्गारस्य प्रतीतिः भवति सा त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति, रोमाश्विति वेषते इत्येवं रूपादर्थात् प्रतीयमानात्मना प्रकाशरूपेण नो जायते न सम्भवति।।

तदिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण काव्यार्था । काव्यक्ष्यशब्द सन्दर्भविशेषप्रतिपाद्यानाम् । व्वनिप्रभेदसमाश्रयेण व्वनैः यं कमि भेदं सम श्रित्य नवत्वं
नूननत्वं यथा जायते, तथा प्रतिपादितम् । त्रिभेदव्यङ्गचापेक्षयाः एवं त्रिभेदव्यङ्गचापेक्षण वस्त्वलङ्कारसादिक्ष्पभेदत्रयातम्क यद् व्यङ्ग्यं प्रतीयमानं वस्तु
तदपेक्षया तदनुसारेण ये प्रकारा भेदाः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि तत्समाश्रयणेनापि, तान् भेदान् आश्रित्यापिः काव्यवस्तुनां काव्यप्रतिपाद्यानाम् । नवत्वं
भवत्येव । तत् तु अतिविस्तारकरोति ग्रन्थेऽस्मिन् नोदाहृतम् । तथापि
सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयं स्वयमेव सम्भ वनीयम् ।

प्रतिभायाः काव्यहेतुत्वं निगमयति—ध्वनेश्ति । इत्थं एवंप्रकारेण ध्वनै: गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् समाश्रयणेन, प्रतिभागुणः कवेः प्रति-

भानाभावे कथमुपपद्यते । अनपेक्षितार्थिविशेषाक्षरस्वनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहदयानाम् । एवं हि सत्यर्थिनरपेक्षयतुरमधुरवचनरचनाय मिष काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत । शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्दे कथं तथ विधे विषये काव्यव्यवस्येति चेत् परोपनिबद्धार्थरचने यथा तत्काव्यत् व्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ।

न चार्थानन्त्यं व्यङ्गचार्थापेअयैव यावद् वाच्यार्थापेक्षयापि इति प्रतिपादिवतुमुच्यते—

उज्जोवनी

भारूपो गुणः यदि स्याद् वर्तेत चेत्, काव्यार्थविरामः काव्यार्थानां काव्यस्य शब्दसन्दर्भरूपस्य, अर्थानां आकाङ्क्षायोग्यतादिभि : प्रतिपाद्यानां, अञ्जनाङ्-गलावण्यवत् प्रतीयमानानां च, विरामोऽवसानं, न भवेदित्यर्थः । तदेवाह— सत्स्वपोति । पुरातनकवीनां वाल्मीकिप्रभृतीनां, प्रबन्धेषु सत्स्विप, प्रतिभागुणः आध्निकव वेर्यद्यस्तिः तहिः तस्य वाणी नवस्वमायात्येव । तस्मिन् प्रतिभागूरो असति अविद्यमाने, तस्य कवेर्वर्णनीयं किन्दिदपि वस्तु नास्ति । अर्थप्रतिभा-नाभावे काव्यार्थस्य प्रतिभानं कवेर्यदि नास्ति, तर्हि, अर्थद्वयानुरूपशब्द-सन्निवेशः व्वनेः गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य चेत्यर्थद्वयस्यानुरूपाणां शब्दानां सिन्निवेशो निवन्धनं, बन्धच्छाया काव्यस्य शोभारूनः भवति । अर्थस्य कस्य-चिदपि प्रतिभानाभावे बन्धस्य प्रबन्धस्य छाया कथम्पपद्यते नोपपद्यत इत्यर्थः । अर्थविशेषमनपेक्ष्यैव क्रियमाणा अक्षररचना बन्धच्छायेति तु नैदं सहृदयानां नेदीयः अनिभनतमित्यर्थः। एवं हि तथा सति अर्थापेक्षारहितायां चतुरायां मधुरायां च वचन रचनायां काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत । तस्या अपि काव्यत्वं वक्तव्यंस्वादित्याक्षेत्रः । समाधत्ते -शब्दार्थयोगिति । नखलु शब्दस्य अर्थस्य वा केवलं काव ग्रन्वं किन्त् अर्थमाहित्येनैव अर्थविशिष्टत्वेनैव शब्दस्य काव्यत्विमिति अर्थानपेक्षशब्दरचनायां काव्यत्वं नास्ति । तत्रापि काव्यत्व-मङ्गीकृर्वतां मते तु तथाविधे विषये काव्यव्यवस्था काव्यव्यपदेशः कथमुपपद्यत इति चेत् परो गनिब द्धस्यार्थस्य विश्चने निबन्धने तःकाव्यत्वव्यवहारः न मुख्यः, तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणामपि मुख्यत्वं नाङ्गीक्रियत इत्यर्थः ।

अवस्थादेशकालादिविशेषरिपि जायते । आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥ ७॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्गचस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावनः । स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्याभेदाद् देशभेदात् कालभेदात् स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति । तैश्च तथा व्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धाने कस्वभावानु सरण्डप्या स्वभावोक्तचापि तावदुशनिबध्यमानै निर्वविद्या काव्यार्थः सम्पद्यते । तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा—

भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चये र' इत्यादिभि हक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि, पुनर्भगवतः सम्भोलीचनगोचस्मायान्ती

उज्जीवनी

एवं व्यङ्गचार्थिक्षया अर्थानामानन्त म्यूपदिशतम् । तयापि न व्यङ्गचाः शिष्क्षयेव तेषामानन्त्यं किन्तु वाच्यार्थिक्षयापि अर्थानन्त्यं, तेन कविवाण्या वाच्यार्थिवषयाया अपि सहृदयरज्ञाच्यत्वं सारभ्तत्वं च भवतीति ग्रन्थकृदाशयः स्फुट एवावगम्यते । तत्प्रतिपादनायोच्यते—अवस्थेति । शुद्धस्यापि व्यङ्गचार्थान् पेक्षाविरहितस्यापि वाच्यस्य केवलस्य अवस्थादेशकालः दिविशेषैरपि अवस्थानिशेषेण, देशविशेषेण, कालविशेषेण, आदिपदात् स्वरूपविशेषेणाि स्वभावतः आनन्त्यमेव जायते । तदेवाह —शुद्धस्येति । अनपे क्षतव्यङ्गचस्य शुद्धस्य वाच्यस्यापि स्वभावत आनन्त्यं जायत एवेत्यर्थः । हि यसमात् अयं वाच्यानां स्वभावः, वेतनानामचेतनानां च, अवस्थाभेदाद्, देशभेदात्, कालभेदात् स्वालक्षण्य (स्वरू) भेदाच्च अनन्तता अर्थानन्त्यं भवति । तथा व्यवस्थितैः अवस्थादिभेदेन भिक्ष्यः सिद्धः तैः वाच्येः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्तचापि प्रसिद्धस्य अनेकस्य स्वभावस्य वर्णनरूपया स्वभावोक्तचापि स्वभाववर्णनेन अलङ्कारात्मना उपनिबद्धमानैः काव्यार्थः निरविधः सम्पद्धते । तेन च वाणी नवतां याति । उदाहरति—तथाहोति । अवस्थाभेदान्नवत्वं यथेति ।

कुमारसम्भवे काव्ये भगवती पार्वती 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा-प्रदेशं विनिवेशितेन । सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसीन्दर्यंदिदक्षयेव'। 'वसन्तपृष्यभरणं वहन्ती' मन्मयोप करणभूतेन अङ्गचन्तरेणोपवणिता । सैव च पुनर्नवोढोद्वाहसमये प्रसाध्यमानः 'तां प्राङ्युखीं तत्र निवेशयन्तीं' इत्या-चुंक्तभिनंवेनेव प्रकारेण निरूधितरूपसौष्ठवा । न च ते तस्य कवेरे श्त्रैवासकृत् कृता वर्ण अपन्यक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिशासन्ते । दिशितमेव चैतद् विषमवाणकोलायाम्—

> ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति वह वि पुणहत्ता । जे बिडभमा पिआण अत्था वा सुक्विवाणीणं।।

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनःनां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभि-माक्तिवप्रसिद्धं हिमवद् रङ्गः दीकाम् । तच्चोचितचेतनविषयस्व रूपयोजनयो-पनिषध्यमानमायदेव सम्पद्यते । यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्व रूपस्य हिमवतो

उजीवनी

िक्मारसम्भव: I. 49] इत्यादिभिः वचनैः प्रथममेव वर्णिता । तत्र परिसमापितमपि तद्वर्णतं पूनः भगवतः शिवस्य लोचनगोचरमायान्ती तपस्यतः शिवस्य प्रोभ्वि प्रत्यक्षीभवन्तो देवी तदवस्थायां "अशोकिनिर्भितिपद्मराग-माकृष्टहेमद्यति कर्णिकारम्। मुक्ताकलापीकृतसिन्द्वारं वसन्तपृष्पाभरणं वहन्ती" [क्रमारसम्भव: III. 59] शिवस्य कामोद्दीपनसामग्रीरूपेण भङ्गद्य-न्तरेणोपवर्णिता । सैव पार्वती नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना अलङ् क्रियमाणा "तां प्राङ् पुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरी निषण्णाः । भूतार्थ शोभिाह्रियमाणनैताः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः।।" [कुमारसम्भवः-VII. 13.] इत्यादिभिरुक्तिभि: नवेनैव नूतनेनैव प्रकारेण निरूपितरूपशीष्ठवा निरूपितं वर्णितं रूपस्य सीष्ठवं यस्यास्तादशी । ते च वर्णनप्रकाशाः एकत्रैव एकस्यामेवावस्थायां असकृत् न कृताः । अतः अपूनरुक्तत्वेन, किन्तु अवस्था-भेदेनैव वर्णिताः प्रतिभागन्ते पुनरुक्तत्वेन न प्रतिभासन्ते । नवनवार्थ-पूर्णत्वेन प्रतिभागन्ते च दिश्विमिदं विषमबाणलीलायाम्। गोति। "न च तेषां घटतेऽवधिः न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः । ये विभ्रमाः प्रियाणां अर्था वा सुनविवाणीनाम्" इति च्छाया। प्रियाणां कामिनीनां विभ्रमा विलासाः, सु हविवाणीनां अर्था वा ये तेषामुभयेषामपि अविधः सीमा न विद्यते । ते पुनकक्ताश्च पुनविहिताश्च न स्थ्यन्ते । अपरः अन्यश्च, अयमवस्था-

वर्णनं पुनः सप्तिषिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्त्र ह्यापे तया प्रदिश्तितं तदप्रवेमेव प्रतिभाति, प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः । इदं च प्रस्थानं किव्युत्पत्तये विषमबाणलोलायां सप्रपञ्च दिन्तम् । चेनन नां च वाल्याद्यवस्थाभि न्यत्वं सत्कवोनां प्रसिद्धमेन । चेनन नां च वाल्याद्यवस्थाभि न्यत्वं सत्कवोनां प्रसिद्धमेन । चेननानः मवस्थाभेदेऽपि अवान्तरावस्थाभेदात्रानात्वम् । यथा कुरारोणां कुपुभशरिभन्नहृदयानामन्यासां च । तत्रापि विनीतानां लिशितानां च । अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदिभन्नानामेकैक्शः स्वह्मपुपनिबद्धयनामानन्त्यमेवोष्याति । यथा —

हंसानां ििवेदेषु यैः कवलितैरासज्यते क्रूजता— मन्यः कोऽपि कषायकण्डलुठनादाघर्षरो विभ्रमः ।

उज्जीवनी

भेदवकारः वर्तते । यत् सर्वेषां अवेतनानां हिमवद्गङ्गादीनां अभिमारित्व प्रसिद्ध आभिषानिकं दितीयं रूपं वर्तते । तच्च आभिमानिकं रूपं च । . अचितं चेननविषयकं च यत् स्वरूपं तस्य योजनया तदायोजनैन उपनिबध्यमानं वर्ण्यमानं सद् अन्यदेव अन्यत्वेनैव सम्पद्यते । उदाहरणमाह-यथेति । कुमारसम्भवे पर्वतस्वरूपस्य हिमवतः वर्णनं, पूनः पश्चात् सप्तर्धीणां प्रियवचनाव गरे चेतनतत्स्व छ गपेक्षणा आमिमानिक रूपवर्रवे । प्रद्शितं वर्णितं यत् तत्पूर्वत्वेन प्रतिभाति । अयं च मार्गः सत्कवीनां प्रसिद्ध एव । इदं च प्रस्थानं कविव्यूत्पत्तये कवीनां व्यूत्पत्तिसिद्धचर्यं विषमत्राणलीलायां सप्रसञ्जं बाल्यादिश्वरवस्थाभि: चेतनानां वर्ण्यमानानां स्वरूपस्यापि प्रदर्शितम् । अन्यत्वं नूतनत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव । चेननानां तु अवस्थाभेदानामप्यवा-न्तरभेदाः वर्तत इति नानास्त्रं चावस्थानाम् । यथेति । कुमाीणां कृसुम-शंभिन्नहृदयत्वं कासाञ्चिदायं गां 🔻 न तथाविधत्वम् । तत्रापि काश्चन विनीताः काश्चनाविनीताः अचेतनानां भावानां वस्तुनामारम्भादयो या अवस्थास्तामां भेदेन सिन्नहरू सणां एकैकशः एकैकावस्थाक्रमेण स्वरूपं वर्ण्यः मानमानन्त्यमेवोपयाति प्राप्नोति । उदाहरति यथेति । हंसानामिति । कवलितैः भक्षितैः यैः (बसंः) कूजतां शब्द।यमानानां हंसानां निनदेषु निना-

१. ''सरसोषु'' च

तैं सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदःताङ्कुरस्पधिनौ निर्धाताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः ।

एवसन्यश्रापि दिश्यानयानुसर्तव्यम् ॥

देशभेदाशानात्वं अचेतनानां तावत् । यथा तायूनां नानादिग्देशचाचिणामन्येषामपि सिल्लकुसुमादोनां प्रसिद्धमेव । चेतनानानि मानुषपशुपिकप्रभृतीनां प्रामारण्यसिलिलादिसमेधितानां परस्परं वशन् विशेषः समुपलक्ष्यत
एव । स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तर्थवानन्त्यमायाति । तथाहि—
मानुषाणामेव तावत् दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचिताः
विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम् ; विशेषतो याषिताम् । उपनिबध्यते चः
तत् सर्वमेव सुकविश्ययंथाप्रतिभम् ।

उज्जीवनी

देषु कषायकण्ठलुठनात् कषाये मघुरस्वरे कण्ठे लुठनात् परिवर्तनात् । अन्यः नृतनः कोऽपि अनिवंचनीयः विश्वमो विलासः, आसज्यते आयोज्यते । ते (बिसाः) सम्प्रति वसन्तारम्भे, अकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पधिनः अकठोरः मृदुः, वारणवध्वाः करिण्याः, यो दन्ताङ्कुरः सद्यःप्रादुर्भवद्दन्तः तत्स्पधिनः तत्तुत्याः । कमलाकरेषु कमलसण्यःसु बिसिनोकन्दाग्रिमग्रन्थयः बिसिन्याः पद्मिन्याः कन्दस्याग्रिमाः अग्रे भवाः ग्रन्थाः निर्याताः, नवीनप्ररोहत्वेनान्वर्भूता इत्यर्थः ।। अत्राचेतनस्य बिसस्यावस्थाभेदेन स्वरूपमेदवर्णनेनान-न्त्यम् । अनया अन्यत्रापि अनुसर्तव्यम् ।

अचेतनानौ देशभेदान्नानात्वमुदाहरति—यथेति । नानादिक्षु देशेषु च सञ्चरतां वायूनां, अन्येषां सिलल्क सुमादीनां च नानात्वं प्रसिद्धमेव । तथा चेतनानामिष मनुष्य,पशु,पिक्षप्रभृतीनां ग्रामे, अ ण्ये, सिलले तथाविधेऽन्यत्र च संविधितानां परस्परं महान् विशेषः भेदः समुपलक्ष्यत एव दश्यत एव । तदेवौ-पपादयति—तथाहीति । दिख्देशादिभिन्नानां दिग्भेदजन्मना देशभेदजन्मना च भिन्नानां मानुषाणां, एव ये विशेषा भेदाः तेषामन्तः केन यन्तुं शक्यते, न कोऽपि तेषाम्अन्तर्गन्तुं समर्थः । तत् सर्वमेव च सुरविभिः यथाप्रतिभं स्वस्वप्रतिभानुसारेण उपनिब्धयते वण्यंते ॥ कालभेदान्त नानात्वम् । यथर्तुभेदात् दिग्व्योमसनिलादीनामचेत-नानाम् । चेतनानां चौत्सुवयादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव । स्वालक्षण्यप्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव । त्तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिक्षध्यक्षानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादण्ति ।

सन् के विदानकीरन् — यथा सामान्यातमना वस्तृनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते, न विशेषात्मनाः तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादोनां तन्नित्तानां स्वरूप-मन्यत्रारोपयद्भिः स्वररानुभूतरूपमानन्यमात्राश्चयेणोपनिक्ष्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानं च परिचितादिस्वनक्षणं योगिभिष्वि प्रस्यक्षी-क्रियते। तच्चानुभाव्यानुभवसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाश्चारणं परिणितस्वात् पुरातनानामेव गोचरीभूत तथास्य विषयत्वानुपन्तेः। अत एव स प्रकारविशेषो

उज्जीवनी

कालभेदादिप नानात्वं वर्तते । यथा—अचेतनानां दिशां, व्योम्नः, सिल्लादीनां च ऋतुभेदमाश्चित्य वर्णनेन सानन्त्यम् । तथा चेतनानां काल्ठ-विशेषाश्चियणः कालविशेषमाश्चित्य प्रवर्तमानाः औत्सुक्यादयः प्रसिद्धा एव ! स्वालक्षण्यभेदःत् स्वरूपभेदाच्च, सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं निबन्धनमिप प्रसिद्धम् । तच्च स्वरूपं च यथास्थितमि तत्तद्भागनितक्रम्य स्वरूपावस्थितमिप, तावद्, उपनिबध्यमानं काव्यार्थस्थानन्ततां अप्यादयत्येव ।

केषाश्चित् पक्षं प्रदर्शयति — अत्रेति । अत्र अस्मिन् विषये । के चिदाचक्षी यन् ब्रूयुः । वस्तूनि पदार्थक्षपाणि सामान्यात्मना सामान्यक्ष्पेण यथा प्रतिपाद्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते । तानि हि वस्तूनि, स्वयमात्मना, अनुभूतानां स्वज्ञानविषयीभूतानां स्वचन्दनादी । स्वक्ष्पम् । अन्यत्र मुखादिषु तिष्मित्तभूतेषु, आरोपयद्भिः किविभः स्वेन परेश्चः अनुभूतमनुभवविषयीभूतं यद् कष्मामान्यं तदाश्रयेण तदाश्चित्य उपनिबध्यते वर्णयेते । तैः किविभः अतीतं भूतं, अतागतं भविष्यत्, वतंमानं च पष्चित्तादिस्वलक्षण परिचतादिस्वरूपं योगिभिस्व योगिभिषयेथा योगाभ्यास्जनित्राक्तिविशेषेण अतावानगतादिकं प्रत्यक्षीक्रियते, तथा-

१. ''नमविगतीमें'' व.

यैरद्यतनैरभिनव्द्वेन प्रतीयते । तेषा भिभानभात्रमेव भणितिकृत वैचित्रयः भःत्रमत्रास्तीत ।

*तत्रोच्यते—यत्त्वतं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमित-रवेद प्रागेत्र गोचरीकृतत्वात्रास्ति नवत्वं काव्यत्रस्त्रनामितिः तद्युक्तम् । यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किकृतस्तिहि महा कविनिवृध्यमानानः काव्यार्थानानिकः वाल्योर्थनामितिक्यः । वाल्नीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य विद्यार्थस्याभावत् ।

उज्जीतनी

न्यैर्न प्रत्यक्षीकतु शक्यते । तच्वानुभाव्यानुभावकसामान्यं मुखाद्यनुभविषयः सामान्यं अनुभवजनकस्ववन्दनादिसामान्यं च सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं सर्वेषां प्रतिपत्तृणां ज्ञातृणां समानं परिमितत्वात् परिच्छित्रत्वात् पुरातनामानेव गोचधीभूतं प्राचामेव ज्ञानविषयीभूतम् । तथा तेनैव प्रकारेण अस्य विशेषस्य योगिभिन्नजनसामान्यानुभवविषयत्वाभावादेव । स प्रकारविशेषः वस्तुविशेष- रूपः प्रकारः, अद्यतनैः आधुनिकः, अभिनवत्वेन प्रनियते नूतनत्वेन ज्ञायते। तेषां अत्रविषये भणितिकृतं वैचित्र्यं उक्तिवैचित्र्यमात्रभेवेति यदुच्यते तदिभमानमात्रभेव भ्रम एवेत्यर्थः ।

तद् दूषयति—तत्रोच्यत इति । सामान्यमात्राश्रयेण सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यप्रवृत्तिः काव्यस्य कविकमंणः प्रवर्तनं, तस्य च परिमित्तवेन परिचिक्षत्र-त्वेन, प्रागेव पूर्वमेव, गोचरीकृतत्वात्, काव्यवस्त्नां काव्यप्रतिपाद्यानां वस्तूतां, नवत्वं तृतनत्वं नास्ति इति यत्तु उक्तं तदयुक्तम् । अयुक्ततामेवाह—यतइति, यतः यसमात् कारणात् । सामान्यमात्रमाश्रित्य पदार्थान् सामान्यक्षेण यद्वणंनं तदात्मना, काव्यं कविकमं, यदि प्रवर्तते महाकविभिः निवध्यमानानां कोऽतिशयः किकृतश्चःतिशयः । अतिशयो नृतनत्वं न भवेदेवेत्ययंः । सामान्यस्य सामान्यक्षेण चादिकविना वाल्मोकिनैव प्रदिश्चितत्वात् विणितत्वात् । सामान्य-व्यतिरिक्तस्य अन्यस्य काव्यार्थस्याभावात् । वाल्मोकिव्यतिरिक्तस्य वाल्मोकिन

१. "षां भ्रममा०" च

ततोच्यते — यदि सामान्याश्रयेण काव्यश्वृत्तिः तत्प्रदिशतप्रकारं काव्यवैचित्र्यं -मवस्थाविशेषात् कि पुनरुक्तमेवात्तु । न चेत् तत् तथा तत् कथं न काव्या-नन्त्यम् ।" (इत्यधिकतया पाठो हश्यते ।) च

सामान्यस्य चादिकविनैव प्रविश्वतस्वात् । उक्तिवैचित्र्यान्नैव दोष इति चेत्— किमिदमुक्तिवैचित्र्यम् । उक्तिहि वाच्यविशेषप्रतिपादितवचनम् । तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम् । वाच्यवाचकयोरिनाभावेन प्रवृत्तेः । वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद् रूपं तत् तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते । तेनोक्ति-वैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम् । तद्यमत्र संक्षेपः—

> वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यानि कस्यचित् । इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्त्वानन्त्यमक्षणम् ।

कि च उक्तिवैचित्र्यं यत् काव्यनवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव । यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग् दिशतः, स सर्वे एव पुनरुक्तिवैचित्रपाद् द्विगुणतामापद्यते । यश्चायमुगमादलेषादिरलङ्कारवगैः प्रसिद्धः

उज्जीवनी ।

भिन्नस्य अन्यस्य कस्यचिद्यपि व वित्वव्यपदेश एव वा न स्यात् । गोत्वादिनाः सकलगवादिव्यक्तीनां वर्णनविषयोभूतत्वात् गोत्वादिशून्यस्य कस्याश्चिदिषि गवादिव्यक्तेरसम्भवात् । वर्णनीयत्वेन व्यक्तीनामप्रसिद्धिः सामान्यद्वारेण सर्वासां व्यक्तीनां वर्णितपूर्वत्वात् ।

न च सामान्यरूपेण वणितस्यापि विशेषरूपेण वर्णनैनोक्तिवैचित्र्यमेवेति नायं दोष इति वाच्यम् । उक्तिवैचित्र्यस्य वाच्यविशेषप्रतिपादकवचनारम ६त्वे तस्यैव वाच्यवैचित्र्यात्मकत्वात् । वाच्यवाच कयो रिवनाभावेन तादात्म्येन प्रवृत्तेः । काव्ये प्रतिभासमानानां वाच्यानां वस्तूनां, यद् रूपं सामान्यं तत्तु प्राह्माणां ग्रह्मविषयाणां विशेषः सह अभेदेन प्रतीयते । तेन ततः, उक्तिवैचित्र्यम् मङ्गीकुवंता वाच्यवैचित्र्यम् । अनिच्छतापि अकामेनापि । अवश्यवभ्युपगन्तव्यमङ्गीकरणीयम् । फलितमाह—अयमत्र संक्षेप इति । वाल्मोकि । वाल्मोकि च्यतिरिक्तस्य वाल्मोकिभिन्नस्य, कस्यचिदेकस्यापि अर्थेषु विशेषरूपेग प्रतिभाव्यदि इष्यते यद्यनुमन्यते, तत् तिह, तदानन्त्यमयिनन्त्यं ग्रक्षयमनश्वरम् । किञ्चक्राव्यस्य नवत्वे यदिदमुक्तिवैचित्र्यं निबन्धनमित्युच्यते, तदसमत्पक्षस्यानुगुणम् अनुरूपमे । तस्य हेतुमाह—यत इति । यतः यस्मात्, काव्यार्थानन्त्ये काव्यार्थानाम् हेतुः कारणीभूतः, यावान् प्रकारः प्रदर्शितः, स सर्वं एवः उक्तेः

स अणितिवैचित्र्यादुपनिबन्धमानः स्वयमेवानविधर्धते पुनः शतशाखताम् । भणितिश्च भ्रम्बभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्य-निबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति । यथा ममैव—

> मह यह इति भणंतउ वज्जदि कालो जणस्स । तोइ ण देउ जणहण गोअरी भोदि मणसी ॥

इत्थं यथा पथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यायीनाम् । इदं त्चयते—

अवस्थादि विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् । यत् प्रदक्षितं प्राक् ।

उज्जीवनी

वैचित्र्यात् विचित्रतया पुनरपि, द्विगुणतामनेकगुणताः आपद्यते प्राप्नोति । प्रसिद्धः यश्चायमुपमारलेपादिरलङ्कारवर्गः, स भणितिवैचित्र्यात् उक्तिवैचित्र्येण, उपनिबध्यमानः पुनः, अनवधिः अवधिरहितः,स्वयमेव शतशाखतां अनन्ततां धत्ते प्राप्नोति । भणितिश्च स्वस्वभाषाभेदेन व्यवस्थिताः प्रतिनियतासु तत्तद्भाषासु, प्रतीतिविषयस्यार्थवैचित्रयस्य निबन्धनं पुनः काव्यार्थानामपरमन्यदिप आनन्त्य-मापादयति । उदाहरति - यथा ममैवेति । मह महेति । "मम मम इति भणतो व्रजित कालो जनस्य। तथापि न देवो जनादंनो गोचरो भवति मनसः॥" इति च्छाया। "जनार्दनो नम" "जनार्दनो मम" इति भणत: वदतः, जनस्य कालो वर्जात गच्छति। तथापि देवो जनार्दन: मनस: गोचरो न भवति इत्यर्थः। जनार्दनस्य ज्ञानगोचरत्वं विनामम जनार्दन इति कथं वनतं युक्तमिति तथा सर्वदा भणतोऽपि जनार्दनो न बुद्धिविषय इति विरोधाशासा-छङ्कारः। अत्र मह मह इति सैन्धवभाषामयी उक्तिः, अर्थस्य वैचित्र्यं सम्पादयति । इत्थं एवं यथा यथा येन येन प्रकारेण निरूप्यते वर्ण्यते तथा तथा तेन वैन प्रकारेण, काव्यायनि काव्यक्ष शब्दप्रतिपाद्यानां वस्तूनां अन्तः अवसिति:, न लभ्यते नास्ति ! तु किन्तु, इदमस्माभिरुच्यते । अवस्थेति । अवस्थादिविधिन्नानां अवस्थादेशकालविशेषादिभेदेन भिन्नानां, वाच्यार्थानां निबन्धनम् । यदस्माश्चः प्राक्षुवं प्रदर्शितं उक्तम् । भूम्ना बाहुल्येनः लक्ष्ये

१. ''कथामेo" च २. ''मेदमिo" छ

भूमनैव दृश्यते लक्ष्ये न तच्छक्यमपोहितुम्

वत्तु भावि रसाश्रयात् ॥ = ॥

तदिदमत्र संक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय ॥

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी । अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥ ६ ॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम्।

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रोगि यत्नतः । निबद्धा या क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतानिव ॥ १० ॥

यथा हि जगत्त्रकृति स्तोत कल्यपरम स्याधिर्भृतविचित्रवस्तु प्रयश्चा सतो पुनिरदानीं परिक्षीणा भवस्पदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधालम्। तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताधिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहोयते।

उज्जीवनी ।

द्ययत एव । अतः तत् अपोहितुं त्यक्तुं न शक्यम् । किन्तु तत् निबन्धनं, रसाश्रयात् रसादेराश्रयात् भाति प्रकाशते ।

उक्तमुपसंहरन्नाह—तदिदमिति । तदिदं पूर्वोक्तं सत्कवीनामुपदेशाय सत्कवित्वमीप्सत उपदेष्टुं संक्षेपेण अभिधीयते सङ्गृह्य उच्यते ॥

रसेति । औचित्यानुसारिणी औचित्यानुसारेण प्रवर्तमानाः देशकालादिन भेदिनी देशविशेषकालविशेषादिभेदवतीः रसभावादिसम्बद्धा रसभावादिभिन् र्युक्ता, वस्तुगतिः यदि अन्वीयते अनुस्त्रियते तत् तिह परिभितशक्तीनां परिभिता काव्यनिर्माणशक्तिर्येषां तादशानाम् । अन्येषां कवीनां का गणना तै: कविन् भिवंणितत्वादिति न ब्रूमः किन्तु वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रेरिप बहुभिबंह-स्पतिभिन्नि, यत्नतः निबद्धा सा वस्तुगतिः जगतां प्रकृतिरिव जगतो मूल-कारणोभूता प्रकृतिरिव क्षयं नैति न प्राप्नोति । तदेवाह—यथाहीति । यथा,

१. "पदार्थनि०"च

प्रत्युत नवनवाभिव्युत्पत्तिभिः परिवर्धते । इत्थं स्थितेऽपि-

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुन्येन सुमेश्रसास्।

स्थितं ह्योतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः। किन्तु

नेक्रपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता !! ११ ।।

कथमिति चेत्-

संवादी ह्यन्यसादश्यं यत् प्रुनः प्रतिविम्ववत् । आलेख्याकारवत्तुन्यदेहिवच शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

संवादो हि काव्याथस्योच्यते, यदन्येन काव्यवस्तुना साद्द्यम् । तत् पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्यकारवत्, तुल्यदेहिवच्व त्रिधा व्यवस्थितम् । किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्तवन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पं, अन्यदालेख्यप्रख्यं, अन्यत् तुल्येन शरीरिणा सदशम् ।

उज्जीवनी।

हि, जगतप्रकृतिः जगतो मूलकारणीभूता प्रकृतिः अतीतासु कर्यपरम्परासु अ। विभूतः विचित्रवस्त्नां प्रपञ्चः यस्यास्तादशी सती पुनः इदानीं परपदार्थ- निर्माणशक्तिः परेषामन्येषां पदार्थानां निर्माणे शक्तिः सामध्यं, परिक्षीणेत्यभि- धातुं न शक्यम् तद्वदेव इयं काव्यस्थितिः । अनन्ताभिः किषमितिभिः उपभुक्तापि इदानीं न परिहोयते, न क्षीणा भवति । प्रत्युतः नवनवाभिः च्युत्पत्तिभिः परिवर्धते । एवं सत्यपि सवादा भवन्त्येवत्याह—संवादा इति । सुमेत्रसां घोमतां, बाहुल्येन भूमना, संवादाः साद्यानिः भवन्त्येव । मेघाविनां बुद्धयः संवादिन्य इति स्थितमेवदम् । अतः विपिश्चता दोषज्ञेन, ते सर्वे एकरूपत्या न मन्तव्याः । उपपादयित कथिनित चेदिति । संवाद इति । संवादो हि, अन्यमादश्यम् । तत् पुनः मादश्यं, शरोरिणां देहिनां, प्रतिविभववत्, आलेख्याकारवत् , तुल्यदेहिवच्चेति विविधं भवति ।

तदेवाह् संवाद इति । हि यतः काव्यार्थस्य अन्येन काव्यवस्तुना यत् साद्ध्यं, स एव संवाद इत्युच्यते । तत् पुनः साद्ध्यं शरीशिणां प्रतिबिम्बवदालेख्यकारवत्, तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम् । किस्वित् तत्र पूर्वमनन्यातम तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धातम नान्यसाम्यं त्यजेत् कविः ॥ १३ ॥
तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बक्तत्यं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना ।

यतस्तदनन्यात्म तात्तिक कारी रशुन्यम् । तद्यनन्तरमालेख्यप्रस्यमन्यसाम्यं धारीरान्तरयुक्तमिष तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्नकमनीय शरीरसञ्ज्ञावे सति ससंवादमिष काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना । निह्न शरीरी धारीरिणाव्येन सहशोऽप्येक ५वे त शक्यते वक्तुम् ।

एतदेवोषपादियतुः पुच्यते —

आ'त्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि । वस्तु भातितरां तन्त्र्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥ १४ ॥

उज्जीवनी

काव्यवस्तु वस्तवन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बात्मकम्। अन्यद् आलेख्यप्रख्यं, अन्यत् तुल्येन देहिना तुल्यम् । तत्र किं ग्राष्ट्रामित्याह—तत्रेति । तत्र पूर्वं आद्य प्रतिबिम्बरूपम् अनन्यातम् अनन्य आत्मा स्वरूपं यस्य तत् । तदनन्तरं तुच्छात्म तुच्छः आत्मा यस्य तादशम् । तृतीयं प्रसिद्धात्म प्रसिद्ध आत्मा—यस्य तत् । अतः सर्वंथा अर्थसाम्यं कविः न त्यजेत् नोपेक्षेत । तदेवाह—तत्रेति । तत्र त्रिरूपे तस्मिन् साद्यये पूर्वं प्रथमं प्रतिबिम्बक्त्यं काव्यवस्तु, सुमितना पिहतंव्यम् । यतः यस्मात् कारणात्, तदनन्यात्म तात्त्विकश्चरीरशून्यं, तदनन्तरं द्वितीयमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तं अपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतोयं तु साद्ययं विभिन्नस्य कमनीयस्य शरीरस्य सद्भावे सितं सस्वादमपि सद्शमपि काव्यवस्तु किना न त्यक्तव्यम् । हि यतः, शरीरी देही, अन्येन शरीरिणा देहिना सदशोऽपि तुल्योऽपि एक एवेति वक्तुं न शक्यते ।

एतदेवोपपादियतुमुच्यत इति—आत्मन इति । शशिच्छायं शशिनश्चन्द्रस्य, छायेव (शोभेव) च्छाया (शोभा) यस्य तादशं, पूर्वस्थित्वनुयाय्यपि पूर्वमेव

१. ''तत्त्वस्यान्य∘" च

तत्त्वस्य सारभूतत्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पृतेस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् । पुराणरमणीयच्छायानुगुणं हि वस्तु शरीरवत् परां शोभां पुष्यति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ।

एवं तावत् ससंवादानां समुदायरूपाणा वाक्याथिनां विभक्ताः सीमानः । पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसङ्ज्ञानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपाद-यितुमुच्यते—

> अक्षरादिरचनेव योज्यते, यत्र वस्तुरचना पुरातनी । नृतने स्फ्ररति काव्यवस्तुनि, व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥ १४ ॥

उज्जीवनी ।

चन्द्रतुल्यमिष, अन्यस्य अवयवसमुदायादन्यस्य, आत्मनः लावण्यरूपस्य सारभूतस्य वस्तुनः, सद्भावे योगे सितः, तन्व्याः कृशाङ्गचाः साननं वदनिमव,
पूर्वस्थित्यनुयाय्यषि पुरातनकविप्रतिपाद्यार्थतुल्यमिष वस्तु प्रतिपाद्यं अन्यस्य
वाच्यादितिरिक्तस्य आत्मनः प्रतीयमानार्थवत्त्वस्य, सद्भावे भातितरां अतिशयेन
शोभते ।

विवृणोति तत्त्वस्येति । आत्मनः इत्यस्यार्थंकथनिनदं सारभूतस्येति पदम् । वाच्यातिशायिचमत्कृतिजनकस्य तत्त्वस्य प्रतीयमानार्थंवत्त्वस्य व्यङ्गचस्येति यावत् । अन्यस्य वाच्यादन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्य पि पूर्वस्थिते: संवाद्यपि वस्तु भातितराम् । हि यतः पुराणच्छायानुगुणं पुरातन्याः कान्त्याः अनुगुणं अनुरूपं वस्तु अर्थात्मकं शरीरवत् शरीरमिव, परां शोभां पुष्यिति वर्षयिति । पुनक्कत्वेन तु नावभासते न भासते । शशिच्छायं तन्त्या आननमिव ।

एवं तावत् उक्तविधया ससवादानां पूर्वप्रतिपाद्यार्थसंवादभाजां वाक्या-र्थानां सीमानो मर्यादाः, विभक्ताः विभज्य प्रदर्शिताः एव वस्त्वन्तरसद्शानां वस्त्वन्तरसंवादवतां पदार्थरूपाणां च काव्यवस्तूनां काव्यार्थानामपि दोषो नास्त्येवेति प्रतिपादयितुमुच्यते—अक्षरादीति । नूतने नवीने काव्यवस्तुनि न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वीणि घटियतुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरूप्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि रहेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि । तस्मात्—

> यदिष तदिष रस्यं तत्र लोकस्य किश्चित् स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युजिजहीते । अनुगतमिष पूर्वच्छायया वस्तु तादक् सुकविरुपनिवध्निद्मित्वां नोपयाति ॥ १६ ॥

स्फुरशोयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते। तदनुगतमिप पूर्वंच्छायया वस्तु तादक् तादशं सुकविभिः विविक्षितव्यङ्गचत्राच्यार्थसमपंण-

उज्जीवनी

काव्यार्थे, स्फुरित प्रकाशमाने, यस्मिन् काव्ये अक्षरादिरचनेव अक्षराणां पदानां च रचनेव पुरातनी वस्तुरचना प्राचीनकविनियद्धा पदार्थरचना योज्यते आयोज्यते सा रचना व्यक्तमेव न दुष्यति खलु । विशदयति नहीति । वाचस्पतिनापि गोष्पतिनापि, अपूर्वाणि पूर्व अविद्यमानानि कानिचिदक्षर्थण पदानि वा घटियतुं वाक्ये योजयितुं न शक्यत्ते । तु किन्तु । तानिपरानि तान्येव तदूरेणैव उपनिबद्धानि काव्यादिषु नवतां नूतनत्वं न विरुध्यन्ति नवत्वस्य विघातकानि न भवन्तीति भावः । तथैव पदार्थक्याणि श्लेषमयानि अर्थतत्त्वान्यपि न विरोधीनि भवन्ति । तस्माद् इति । यदपीति । तत्र काव्यार्थे लोकस्य सहदयलोकस्य । स्फुरितं स्फुरणं इदमिति एतदिनि, इयमेतादशो, बुद्धिर्श्वानम्, यदपि अभ्युक्तिहोते उदेति, तदपि किश्चिदपि, रम्यं रमणीयम्, वस्तु अर्थतत्त्वम्, पूर्वेच्छाययः पुरातनकविनिबद्धार्थस्वादेन अनुगतमपि युक्तमपि, ताद्य्य वस्तु, निबध्नन् कविः निन्द्यतां नोपयाति न प्राप्नोति । इयं काचित्, स्फुरणत्येव सहदयानां चमस्कृतिहत्यद्यते जायते । तदिति । पूर्वच्छाययानुगत-मपि तादक् तत्सद्यां वस्तु, सुकवः, वृक्षवः, विवक्षितस्य, तात्पर्यविषयस्य व्यङ्गचस्य वाच्यस्य च अर्थस्य, समर्पणे, समर्थानां शब्दानां, रचनाह्यया निबन्धन्य स्यान्वस्य च अर्थस्य, समर्पणे, समर्थानां शब्दानां, रचनाह्यया निबन्धन्व स्या

समर्थशब्दरचनारूपया बन्धच्छाययोपनिबध्नन् निन्द्यतां नैव यःति । तदित्थं स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमि तिविविधार्थामृतरसा न वादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये। परस्त्रादानेच्छाविस्तमनसो वस्तु सुक्वेः सरस्वत्येवैषा घटयति स्थेष्टं मगवती ॥ १७॥

सन्ति नदाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थवि रचने न कश्चित् कवेर्गुण इति भावियत्वा।

परस्वादाने च्छाविरतमत्तसः सुक्तवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुक्तवीतां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां पशोपर-चितार्थपरिग्रहिनःस्पृहाणां स्वव्यागारो न कचिदुपयुज्यते । सैव भगवती

उज्जीवनी

बन्धच्छायया प्रबन्धस्य शोभया, उपनिबध्नन् निन्द्यतां नैव याति ।

उपसंहरन्नाह —तिद्रत्यं स्थितिनित । प्रतायन्तामिति । निमितानां पूर्वेः प्रयुक्तानामेन पदानां निविधा येऽथाः तेषां अमृतिमन सुधेन रसः यासु ताद्दयः वाचः काव्यक्षाः शब्दसन्दर्भाः प्रतायन्तां विस्तायंन्ताम् । अनवद्ये निर्देषि, स्विवषये स्वप्रतिभाविषये । किविभिः वादः विवादः न कर्तव्यः । सन्तोति । नवा नूतनाः, काव्यार्थाः सन्त्येन । एवं स्थिते परोपनिबद्धस्यार्थस्य विरचने कृषेः न कश्चित् गुण इति भाविष्टत्वा विचिन्त्यः परस्वादानेच्छाविरतमनसः परकीयस्य स्वस्यः आदानेच्छायां विरतं निःस्पृहं मनो यस्य ताद्दशस्य, सुकवेः, एषा प्रत्यः भूता, भगवती सरस्वत्येन वाय्देवतेन यथेष्ट घटयति सम्पादयति । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपा क्वशेन प्राक्तनस्य पूर्वाजितस्य पुण्या-भ्यासस्य यः परिपाकः तद्वशेन काव्ये प्रवृत्तिः प्रवर्तनं, तेषां परोपरचितार्थानां परिग्रहे स्वीकारे निःस्पृहाणां कविदिपं कर्मणि स्वव्यापारः कवेः प्रयत्नपूर्वको

१. 'चि॰' च

२. ''सादः'' च

सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविभीवयति । एतदेव हि महाकवित्वं महाकवी-नामित्योम् ।

> इत्यक्तिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो यसमाहस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते । काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोयाने ध्वनिर्देशितः सोऽयं कत्पतारूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥ सत्काव्यतत्त्वनयवत्भे चिरश्रसुप्त— कल्पं मनःसु परिपक्षधियां यदासीत् ।

उज्जोवनी

व्यापारः नोपयुज्यते नापेक्ष्यते । सैव भगवती सरस्वती स्वयं दक्षिमतमर्थ-माविश्ववियति । महाकवीनां महाकवित्वं एतदेव हि इदमेव खलु । ॐ

"तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपं" इत्यारम्य

"परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवे:

सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥" इत्यन्तेन ग्रन्थेन निर्कति घवनी विज्ञाते व्युत्तस्यभ्यासी विनापि सरस्वतोत्रसादजन्यया प्रतिभवा महाकाव्यनिर्माणितिपुणो महाकवि: सम्पद्यत इति ख्यापितं श्रोमदानन्द-वर्धनाचार्यै: ॥

ग्रन्थान्ते आशीर्व ननस्पं मङ्गलमुपनिबध्नानि — इतोति । इति उत्त-प्रकारेण । अक्तिष्टस्य रसस्य आश्रयो यः शब्दसन्दर्भः तस्योचितानां गुणानामलङ्काराणां च शोभां बिभर्तीति तादशात् । यस्मात् काव्यात्, सुकृति-भिः पुण्यविद्धः समोहितमोप्सितं सर्वं वस्तु समासाद्यते । तस्मिन् काव्याख्ये काव्याभिषे अखिलसौख्यधाम्नि अखिलानां सर्वेषां सौख्यानामाश्रये, विदुषा-द्याने नन्दने, ध्वनिद्शितः प्रकाशितः । सोऽयं कल्पतस्त्रपानमहिमा कल्पत सः कल्यवृक्षः उपमानं यस्य तादशो महिमा माहात्म्यं यस्य तादशः ध्वनिः-भव्यात्मनां सुकृतिनां योग्यः आस्वादनविषयः भवतु ॥

स्वनामधेयप्रदर्शनपूर्वकमुपसंहः ति सदिति । यत् सत्कावगतत्त्व तयवत्मे सतः काव्यस्य यत् तत्त्वं प्रतोयमानार्यवत्त्वरूपं वस्तु तस्य नयवत्मे नयनमार्गः।

तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधान: ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके

चतुर्थ उद्द्योतः।*

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

उज्जीवनी

परिपकिषयां परिणतबुद्धोनां, मनस्सु हृदयेषु चिरप्रसुप्त हल्यं चिराय प्रसुप्तिमव, आसीद् अभूत् । तत् सत्काव्यतत्त्वनयवत् । आनन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः प्रथितं अभिधानं यस्य ताद्द्याः । सहृदयोदयख भहेतोः सहृदयान म् उदयस्याभ्युदयस्य लाभाय सहृदयमनःप्रीतये व्याकरोत् व्याख्यातवान् ।।

^{* &#}x27;'इति सहदयालोके चतुर्थ उद्द्योत: แ" छ

ध्वन्यालोककारिकाधीनुक्रमणी

| | 34 | | iv | अवस्थादेशकालादि • | न् द इ |
|---------|--------------------------|-------------|------|-------------------------------------|---------------|
| उद्द्यी | न: | पृष्ठा ङ् | iii | अविरोधी विरोधी वा | २६८ |
| iti | अकाण्ड एव विच्छितिः | २ ४२ | ii | अविवक्षितवाच्यस्य ध्वने० | 97 |
| ii | अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः | 909 | iii | अविवक्षितवाच्यस्य पद० | 750 |
| ìv | अक्षरादिरचनेव योज्यते | ३९४ | il | अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा | १८४ |
| i | अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेः | ওব | iii | अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं | ३५७ |
| iv | अतो ह्यन्यतमेनापि | 353 | ii | असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः | ९६ |
| iv | अनुसतमपि पूर्वच्छायया | ३९५ | iii | असमासा समासेन | ५०३ |
| ii | अनुस्वानोपमव्यङ्गचः | १६३ | iii | अस्फुटस्फुरितं काव्य∎ | ३५७ |
| iii | अनुस्वानोपमात्मा पि | २३४ | | आ | |
| iv | अनेनानन्त्यमायाति | ३६२ | ii | आक्षिप्त एवालङ्कारः | १३९ |
| iv | अन्वीयते वस्तुगतिः | ३९१ | iv | आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे | ३९३ |
| ii | अपृथग्यत्ननिर्वत्र्यः | 929 | iv | आनन्त्यमेव वाच्यस्य | ३८३ |
| ii | अर्थशक्तेरलङ्कारः | १६३ | iv | आलेख्याकारवत् | ३९२ |
| ii | अर्थशक्तचुद्भवस्त्वन्यः | १५४ | i | आलोकार्थी यथा | * 8 |
| iii | अर्थान्तरगतिः काक्वा | ३३१ | | 3 | |
| ii | अर्थान्तरे सङ्कमितम् | ९२ | ••• | ₹ | |
| ii | अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयः | १६० | iii | इतिवृत्तवशायातां | २२३ |
| ii | अलङ्कारान्तरव्यङ्गच | १८० | iv | इत्यक्लिष्टरसा ■ | ३९८ |
| ii | अलङ्कारा तरस्यापि | १६५ | iii | इत्युक्तलक्षणो यो | ३५७ |
| iii | अलङ्कृतीनां शक्ताव 🤊 | २२३ | | ड | |
| i | अलोकसामान्यमभिवानिक | ३९ | i | उक्तयन्तरेगाशक्यं | 57 |
| iii | अवधानातिशयवान् | R 1.9 | iii | उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट ० | २२३ |
| iv | अवस्थादिविभिन्नानां | ३९० | -iii | उद्दीपनप्रशमने | २२३ |
| | | | | | |

| | ए | | | त | |
|-----|--|-----|--------|---------------------------|--------------|
| iii | एकाश्रयत्वे निर्दोष: | २७३ | iii | त एव नु निवेश्यन्ते | १९९ |
| jii | एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः | २६६ | ii | तत्परत्वं न वाच्यस्य | १६५ |
| iii | एतद् यथोक्तमौचित्यं | २२० | iii | तत्र किञ्चिच्छब्दचितं | зХХ |
| iii | एवं ध्वतेः प्रभेदाः | ३५७ | iv | तत्न पूर्वमनन्यात्म | ३०,३ |
| | औ | | i | तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः | २३ |
| *** | • • | | iii | तथा दीर्घसमासेति | २०३ |
| iii | औचित्यकान् यस्ता एताः | २=५ | iii | तथा रसस्यापि विधौ | २६७ |
| | क | | iii | तदन्यस्यानुरणन | २८७ |
| i | वस्यचिद् ध्वनिभेदस्य | 5 9 | iii | तदा तं दीपयन्त्येव | १९९ |
| iii | कार्यमेकं यथा व्यापि | 756 | i | तदुपायतया तद्वत् | 88 |
| ii | काले च ग्रहणत्यागौ | 976 | i | तद्वत् सचेतसां सोऽर्थः | ४७ |
| iii | काव्यप्रभेदाश्रयतः | २१६ | iii | तद्विरुद्धरसस्पर्शः | २७५ |
| i | काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति | X X | ii | तव्द्यक्तिहेतू शब्दार्थौं | 997 |
| i | काव्यस्यात्मा स एवार्थः | 3 X | ii | तन्मयं काव्यमाश्रित्य | 999 |
| iv | काव्याख्येऽखिलसौख्य | 390 | ìv | तद्वचाकरोत् सहृदयोदय | ३९८ |
| iii | काव्ये उभे ततोऽन्यद् | ३४३ | ii | तनर्थमवलम्बन्ते | १०९ |
| ii | काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो | 88 | ii | तस्याङ्गानां प्रभेदा ये | 999 |
| iii | कृत्तद्धितसमासैश्च कृत्तद्धितसमासैश्च | २३७ | iv | तृतीयं तु प्रसिद्धात्म | ३९३ |
| i | केचिद् वाचां स्थित० | 9 | ii | तेऽलङ्काराः परां छायां | १७८ |
| ji | क्रमेण प्रतिभात्यात्मा | 9३७ | ii | तेषामानन्त्यमन्योन्य = | ११७ |
| i | कौञ्चद्वनद्ववियोगोत्थः | ३४ | i | त्रायन्तां वो मधुरिपोः | ٩ |
| | W | | | द | |
| ••• | | | ii | दिङ्मात्रं तूच्यते येन | ११९ |
| iii | गुणानाश्चित्य तिष्ठन्ती | २०४ | iv | दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः | 3 <i>६</i> ९ |
| | च | | | 9 6 | 11, |
| ii | चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्गचः | 950 | | ध | |
| iii | चित्रं शब्दार्थभेदेन | 388 | iii | धत्ते रसादितात्पर्यं ० | ३३५ |

| ii | ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासा | १७९ | iii | प्रबन्धस्य रसादीनां | २२३ |
|-------|-------------------------------------|---------------|-----|-----------------------------|-------------|
| iii | ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु | २३४ | iii | प्रबन्धे मुक्तके दापि | ∜४,५ |
| ii | ध्वनेरात्माङ्गिभावेन | 613 | iii | प्रभेदस्यास्य दिषयो | ३३३ |
| iv | ध्वनेरित्थं गुणीभूत० | ३० ∶ १ | iii | प्रसन्धगम्भीरपदाः | ३२४ |
| iy | ध्वनेर्य: सगुणीभूत० | ३६२ | iii | प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां | २६६ |
| ji | ध्वन्यात्मन्येव श्रृङ्गारे | ११६ | iii | प्रायेणैव परां छायां | ३ २४ |
| ii | ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमका० | १२० | ii | प्रौडोक्तिमात्रनिष्पन्न | १६० |
| ii | ध्यन्यात्मभूते श्रङ्गारे समीक्ष्य | १२६ | | : r | |
| | _ | | | ब | |
| | न | | i | बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः | २३ |
| iv | न काव्यार्थविरामोऽस्ति | ३८१ | iii | बाध्यानामङ्गभावं वा | २५६ |
| iii | न तु केवलया शास्त्र ० | २२३ | ii | बुद्धिरासादितालोका | 998 |
| iv | निबद्धायाक्षयं नैति | ३९१ | i | बुद्धौ तत्त्वार्थदिशन्यां | ४७ |
| ii | निर्व्यूढाविप चाङ्गत्वे | १२७ | | .= | |
| iii | निवर्तते हि रसयोः | २७५ | | भ | |
| iv | नूतने स्फुरति काव्य | ३९४ | i | भक्तया बिर्भात्त नैकत्वं | ७७ |
| iv | नैकरूपतया सर्वे | ३९२ | i | भट्टोद्भटप्रभृतिभिः | २३ |
| iii | नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य | २६७ | iii | भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि | २७७ |
| | ų | | iv | भूम्नैव दश्यते लक्ष्ये | ३९१ |
| | • | | | 77 | |
| iv | परस्वादानेच्छा■ | ३९६ | | # | |
| iii . | परिपोषं गतस्यापि | २४२ | ii | माधुर्यमार्द्रतां याति | ११२ |
| iii | परिपोषं न नेतव्यः | २६८ | iv | मिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः | ३६७ |
| iii | प्रकारोऽन्यो गुणीभूत० | ३ २२ | i | मुख्यां वृत्ति परित्यज्य | 53 |
| iii | प्र कारोऽयं गुणी भूत० | ३३५ | iii | मुख्या महाकविगिरां | ३३० |
| iv | प्रताथन्तां वाचो | ३९६ | | T | |
| i | प्रतीयमानं पुन० | २४ | | य | |
| iii | प्रतीयमानच्छाय <u>ै</u> षा | ३३० | i | यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं | २४ |
| iii | प्रधानगुणभावाभ्यां | ३४३ | iii | यत्नः कार्यः सुमतिना | २५१ |
| ii | प्रधानेऽन्यत वाक्यार्थे | ९९ | i | यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ | ४३ |
| | | | | | |

| ii | यत्न प्रतीयमानोऽर्थः | 959 | iii | रसान्तरसमावेशः | ३६७ |
|-----|---------------------------|-----------------|------------|----------------------------|------------|
| iii | यत्र व्यङ्गचान्वये वाच्य० | ३२२ | iii | रसान्तरान्तरितयोः | २७५ |
| i | यलार्थः शब्दो वा | ४७ | i | रूढा ये विषयेऽन्यत | ५ २ |
| ii | यताविष्क्रियते स्वोक्तया | १५७ | ii | रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति | १२६ |
| i | यथा पदार्थद्वारेण | ४४ | ii | रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो | 958 |
| i | यथा व्यापारनिष्यती | ४६ | <u>i</u> 1 | रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य | १२७ |
| iv | यदिंग तदिप रम्यं | 2 84 | ii | रौद्रादयो रसा दीप्त्या | ११२ |
| i i | यदुद्दिश्य फलं तत | 5 3 | | ल | |
| ii | यद् व्यङ्गचस्याङ्गिभूतस्य | 9 = ሂ | | • | |
| ii | यस्तात्पर्येण वस्त्वःयत् | १५४ | i | लक्षणेऽन्यैः कृते | 55 |
| iii | यस्त्रलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः | १९९ | i | लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते | 53 |
| ii | यस्मिन्नगुक्तः शब्देन | 9 ३ % | | व | |
| iv | युक्तचानयानुसर्तव्यः | ३६७ | iv | वस्तु भातितरां तन्व्याः | ३९३ |
| iii | ये च तेषु प्रकारोऽयं | ३२५ | iii | वाक्ये सङ्घटनायां च | 999 |
| i | योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः | २० | i | वाचकत्वाश्रयेणैव | 28 122 |
| | ₹ | | iv | वाचस्पतिसहस्राणां | ३९१ |
| iii | रचनाविषयापेक्षं | 229 | į | वाच्यप्रतीयमानाख्यौ | 70 |
| ii | रस्भावतदाभास० | 90 | ii | वाच्यस्याङ्गतया व पि | 959 |
| iv | रसभावादिसम्बद्धा | ३९९ | iii | वाच्यानां वाचकानां च | २५० |
| iii | रसबन्धोक्तमौचित्यं | २२९ | i | वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् | 6ሂ. |
| iii | रसस्यारब्धविश्रान्तेः | २२३ | iii | वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं | ३२५ |
| iii | रसस्य स्याद् विरोधाय | २५२ | iv | वाणी नवत्वमायाति | ३६३ |
| iì | रसाक्षिप्ततया यस्य | 9.29 | iii | विज्ञायेत्थं रसादीना | २८० |
| ii | रसादिपरता यत्र | 99 | iii | विधातव्या सहदयैः | ३३३ |
| iv | रसादिमय एकस्मिन् | ३७२ | iii | विधिः कथाशरीरस्य | २२२ |
| iii | रसादिविषयेणैतत् | २८० | iii | विनेयानुन्मुखीकर्त् | २७८ |
| iii | रसाद्यनुगुणत्वे । | २५१ | iii | विभावभावानुभाव■ | २२२ |
| iii | रसास्तन्नियमे हेतु० | २०४ | iii | विरुद्धैकाश्रयो यस्तु | २७१ |
| iii | रसान्तरव्यवधिना | २.७३ | iii | विरोधमविरोधं च | २७७ |
| | | | | | |

999

998

i

स्वेच्छाकेसरिणः

ii

शृङ्गारस्याङ्गिनो

83

٩

ध्वन्याजीकपरिकरश्लोक। धीनुक्रमग्री

| | अ | | iii | तेषां निबन्धने भाव्ये | २५५ |
|---------------|---|---------------------------|----------|--|-------------------|
| ंद्योत iii | ः अनःख्येयांशभासित्वं | गृष्ठाङ्कः ३६ १ | | घ | |
| iii | अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वत् | १५१ १ ९८ | iii | ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः | ३२२ |
| iii | अनौचित्याद्ये नान्यद् | २२६ | i ii | ध्वनेः स एव विषयो ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे | ७२ १ २५ |
| iii iii | अपारे काव्यसंसारे | ३४७ | 11 | • | 14% |
| ii | अलङ्कारनिबन्धो यः अलङ्कृतीनां सर्वासां | ३४६ १०४ | • | न | |
| iii | अन्युत्पत्तिकृतो दोषः | २ ११ | i iii | न ध्वनिर्यत्न वातस्य न लक्षणं लक्षणंत् | ७२ ३६१ |
| | \$ | | iii | नीरसस्तु प्रबन्धो यः | ર ૧ ૧ |
| iv | इष्यते प्रतिभार्थेषु | इद९ | | q | |
| | Ų | | iii | पदद्योत्येन सुकवे: | १९६ |
| ii | एकेनैव प्रयत्नेन | १२५ | iii | पदानां स्मारकत्वेऽपि | १९८ |
| | ₹ | | iii | पूर्वे विशृङ्खलगिरः | २५६ |
| iii | कथा शरीरमृत्पाद्य वस्तु | २३० | iii | प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु | २२६ |
| iii | कथाश्रया न तैर्योज्या | २३० | | भ | |
| iii | काव्याध्वति ध्वतिव्यं ज्ञच | इ४९ | iii | भावानचेतनानपि | इ४७ |
| | त | | | म | |
| i | तत्परावेव शब्दार्थौ | ७३ | iiì | मुख्या व्यापारविषयाः | २५५ |
| iii | तदभिप्रायबाह्योऽयं | २५६ | 1 | | 144 |
| i ii | तंदा नास्त्येवं तत् कोव्यं | 886 | | य | |
| iii | तान् समाश्रित्यं न त्याज्या | २५६ | iii | येथा रसमयं सर्वं | २३० |
| iii | तेन ध्वनेः प्रभेदेषु | १९८ | iii | यथास्मै रोचते विश्वं | ₹%0 |

| ii | यमकादिनिबन्धे तु | १२४ | i | व्यङ्गचस्य प्रतिभाषाते | ७२ |
|-----|------------------------|------|-----|-------------------------------|-----|
| iii | यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य | २११ | i | व्यङ्गचस्य यत्राप्राधान्यं | ७२ |
| iii | यस्मिन् रसो वा भावो ता | ३४९ | i | ब्य ङ्गचव्यञ्जनसम्बन्ध | ५२ |
| | ₹ | | iii | व्यवहारयति यथेष्ट | ३४७ |
| ij | रसभावादितात्पर्यं ० | १०४ | | रा | |
| iii | रसभावादि विषय ० | ३ ४६ | ii | शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं | १२५ |
| ii | रसविति हि वस्त्ति | १२४ | iii | शृङ्गारी चेत् कविः काव्य | 380 |
| iii | रसादिषु विवक्षा तु | ३४६ | iii | श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तः | १९५ |
| ii | रसाभासाङ्गभावस्तु | १२४ | | 5 | |
| | व | | iii | स एव वीतरागश्चेद् | ३४७ |
| i | वाच्यवाचकचारुत्व | ५२ | iii | संवृत्त्याभिहितौ वस्तु | ३४९ |
| iv | वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य | ३८९ | iii | स तेनाकविरेव स्यात् | २५५ |
| iii | वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च | २५६ | iii | सन्ति सिद्धरसप्रख्या | २३० |
| ii | विच्छित्तिशोभिनैकेन | १९८ | i | समासोक्तचादयस्तव | ७२ |
| iii | विमति विषयो | ३२२ | iii | सर्वत तत्र विषयी | ३४९ |

ध्वन्याजोकोदाहृतगद्यपद्यानुक्रमणिका

| | अ | | | आ | |
|-------------|------------------------|--------------|-------------|---------------------------|-------------|
| उद्योत | : | पृष्ठाङ्कः | ii | आकन्दाः स्तनितैः | 938 |
| ii | अङ्कुरिन: पल्लवितः | ঀ७७ | iii | आम असङ्ओं | ३३२ |
| i | अज्जाए पहारो | ರ , 0 | i | आहूतोऽपि सहायै० | ५९ |
| iii | अण्णत्तबच्च बाळअ | २४२ | | 4 | |
| iv | अतहट्टिए वि | ३६८ | ii | ई साकळुसस्स वि | १७४ |
| iii | अतिकान्तसुखाः कालाः | २४० | | | (- |
| i | अत्ता एत्थ णिमज्जइ | २द | | ্র | |
| | (गाथासप्तशती—७.६७) | | ii | उच्चिणुसु पडिअकुसुमं | १८४ |
| ii | अत्रान्तरे कुसुम० | १४८ | iii | उत्कम्पिनी भयपरि० | २०० |
| | (हर्षचरितम्) | | | (तापसवत्सराजम्) | |
| iii | अनध्यवसितावगाहन∎ | 380 | ii | उद्दामोत्कलिकां | १२९ |
| | (धर्मकीर्तिः) | | | (रत्नावली) | |
| iii | अनवरतनयनजल | २०६ | ii | उन्नतः प्रोल्लसद्धारः | १४९ |
| i | अनुरागवती सन्ध्या | ५६ | i | उपोढरागेण विलो ल ० | ሂ३ |
| iii | अमी ये दश्यन्ते | ३४१ | i ii | उपहजाआएँ | 385 |
| | (आनन्दवर्धनः) | | | Ų | |
| ii | अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा | १५८ | iii | ए क्कंतो रुअइ पिआ | २६९ |
| i ii | अयमेकपदे तया | २४२ | iii | एमेअ जणो तिस्सा | • |
| | (विक्रमोर्वशीयम्) | | | | १९० |
| iii | अयं स रशनोत्कर्षी | २६४ | 11,1 | v एववादिनि देवषौ | १५४, ३७० |
| | (महाभारतम्-स्त्री–२४-१ | ९) | ••• | (कुमारसम्भवम्) | |
| iii | अवसर रोउं चिअ | २४१ | iii | एहि गच्छ पतीतिष्ठ | २६ १ |
| iii | अहिणवगओ अरसि एसु | ३४६ | | 奉 | |
| iii | अहो बतासि स्पृहणोय • | २४५ | iii | कण्ठान्छित्त्वाक्षमाला ० | २६९ |
| | (कुमारसम्भवम्) | | ii | करोले पत्नाली | 922 |
| | | | | | |

| ji | कमळा अरा णं मळिआ | 95२ | | च | |
|----------|---|-------|-----------|---|-------|
| iv | करिणीवेहव्वअरो | ই'ভ ঀ | ii | चकाभिघातप्रसभा० | १२८ |
| iii | कर्ता द्यू त च्छलानां | ३५२ | ii | चञ्चद्भजभ्रमितः | 993 |
| | (वेणीसंहारम्) | | 10 | (वेणीसंहारम्) | 111 |
| iii | कः सन्नद्धे विरह | 955 | ii | चन्दनासक्तभुजग | ৭'ভ হ |
| • • • | (मेघदूतम्) | | ji | चंदमऊहेहिं णिसा | १६५ |
| iii | कस्त्वं भोः कथराभि | 385 | ii | चमहिअमाणस | १४५ |
| i | कस्स व ण होई रोसो | ₹ ≎ | ii | चलापाङ्गां इहिंट | 979 |
| iii | किमिव हि मधुराणां | १८९ | | (शाकुन्तलम्) | 110 |
| :: | (शाकुन्तलम्) | | i | चुंबिज्जइ असहुत | ७९ |
| ii | किं हास्येन न मे | १०५ | iii | चूअंकुरा वअं सं | १९४ |
| i ::: | कुविआओ पसण्णाओ | 50 | | ,, - | |
| iii | कृतककुपितैः (रामाभ्युदयम्) | २०२ | | ন | |
| iv | कृते वरकथालापे | ३७० | ii | जाएज्ज वणुद्देसे | १७२ |
| | ्रकृत परक्ष्यालाय i कोपात् कोमललोल० १३५, | • | | ण् | |
| 11,11 | (अमरुकशतकम्) | , 145 | iv | ण अ ताण घडड | ३८४ |
| iii | कामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलि | २६५ | 1,4 | 1 4 (114 40) | 4-0 |
| iii | ्उ क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व | २५५ | | a | |
| | (विक्रमोर्वशीयम्) | , , | ii | तं ताण सिरि सहोअर | १६९ |
| | क्ष | | *** | (विषमबाणलीला) | |
| ii i | ः ii क्षिप्तो हस्तावलग्नः १०२ | 250 | iii ii | तद्गेहं नतभित्ति | २४७ |
| 11, 1 | (अमरुकशतकम्) | , (40 | 11 | तन्वी मेघज लाई० (विक्रमोर्वशोयम्) | 909 |
| | ख | | ii | तरङ्गभूभङ्गा | 900 |
| iii | खणपाहुणिआदेअर | ३५० | | (विक्रमोर्वशीयम्) | |
| ii | खंयेऽत्युज्ज्वलयन्ति | 942 | ii | तस्या विनापि हारेण | १४३ |
| | ग | | iv | तां प्राङ्मुखीं तत्र | ३८४ |
| ii | गअणं च मत्तमेहं | ९६ | iii | (कुमारसम्भवम्) वस्त्रीः शिक्तवस्याः | 554 |
| ii | गावो वः पावनानां | १४९ | 111 | तालै: शिञ्जद्वलय० (मेघदूतम्) | २४० |
| | स्वतं चार्वाच्यास | 102 | | (80.1) | |

| ìi | ताळा जाअंतिगुणा (विषम गणलीला) | 68 | į, ii | ! परार्थे य: पीडा० (भर्तृहरिः) | ८०, ३४१ |
|------------------------|---|--|----------------------------------|---|---|
| | ii तेषां गोपवधू० | १०८, ३४३ | i | परिस्लार्न पीनस्तन ० | ७९ |
| ii | लाता कुलः परिपतन् (माघम्) | १७५ | iii | (रत्नावली) पाण्डुक्षामं | २५९ |
| | द | | iii | प्रभ्रश्यत्युत्तरीय० (सूर्यशतकम्-४) | २४४ |
| ii | दत्तानन्दाः प्रजानः | ष्४९ | iii | प्रयच्छतोच् चै : कुसु गानि | ३३४ |
| iii | दन्तक्षतानि करजैश्च | ३५५ | | (कि रातार्जुनीयम्) | |
| iii | दीर्घीकुर्वन् पटु | ३ ሂሂ | iii | प्राां धनैर्यं जनस्य | १६२ |
| | (मेश्दूतम्) | | ii | प्राप्तश्रीरेष कस्मात् | 9६७ |
| iii | दुराराधा राधा | ३३५ | iii | प्रिये जने नास्ति | χοş |
| ii | देव्वाएत्तंमिफले | 900 | | भ | |
| i | देआ पसिअ णिवत्तसु | २९ | iv | भगवान् वासुदेवश्च | ३७५ |
| ii | इष्टचा केशव | १४६ | i | भम धंमिअ वीसद्वं | २७ |
| | | | | 1 | |
| | ঘ | | | (गाथासप्तशता-१.७५ |) |
| <u>.</u> | ધ | | iii | (गाथासप्तशती-१.७५ भूरेणुदिग्धान् |) २७६ |
| iv | धरणोद्यार णा याधु ना | ३६९ | iii i i ,iii | भूरेणुदिग्धान् | • |
| iv | धरणीधार णा याधु ना (हर्षचरितम्) | ३६९ | | भूरेणुदिग्धान् | २७६ |
| iv | धरणोद्यार णा याधु ना | ३ ६९ | | भूरेणुदिग्धान् i भ्रमिमरतिमलस म | २७६ २४ ४ ,२५९ |
| iv iv | धरणीधार णा याधु ना (हर्षचरितम्) | म् ६ <i>९</i> ३६६ | ii,iii | भूरेणुदिग्धान् । भ्रमिमरतिमलस म मनुष्यवृत्या समुपाचरन्त | २७६ २४ ४ ,२५९ 1 २४ ५ |
| | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न | | ii,iii iii iii | भूरेणुदिग्धान् । भ्रमिमरतिमलस म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुमरेणु | २७६ २४ ४ ,२ ५ ९ 1 २४ ५ २०६ |
| iv | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निद्राकैतविनः | 73 E E | ii,iii iii | भूरेणुदिग्धान् अमिमरतिमलस म मनुष्यवृत्त्या समुगाचरन्त मन्दारकुसुमरेणु मह मह इति भणंत उ | ₹७६ ₹४४,२५९ Т २४५ ₹०६ ३९० |
| iv | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निद्राकैतविनः नीवाराः शुक्रगर्भ० (शाकुन्तरम्) नो कल्पापायवायो० | 73 E E | ii,iii iii iii iv iii | भूरेणुदिग्धान् अमिमरतिमलस म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त् मन्दारकुसुनरेणु मह मह इति भणंतउ मा पंथं हंधीओ | ₹७६ २४४,२५९ 1 २४५ २०६ ३९० २४१ |
| iv jii | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निद्राकैतविनः नीवाराः शुकगर्भ० (शाकुन्तःम्) नो कल्पापायवायो० (सूर्यशतकम् २३) | ३६६ २ ४३ | ii,iii iii iii iv iii iv | भूरेणुदिग्धान् म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुमरेणु मह मह इति भणंतउ मा पंथं हंधीओ मुनिर्जयति योगीन्द्रो | ₹७६ ₹४४,२५९ 1 |
| iv jii | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निदाकैतविनः नीवाराः शुक्रगर्भ० (शाकुन्तरम्) नो कल्पापायवायो० (सूर्यशतकम् २३) न्यक्कारो ह्ययमेव | ३६६ २ ४३ | ii,iii iii iii iv iii | भूरेणुदिग्धान् म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुनरेणु मह मह इति भणंत उ मा पंथं रुंधीओ मुनिर्जयित योगीन्द्रो महुरङ्गुलिसंवृता | ₹७६ २४४,२५९ 1 २४५ २०६ ३९० २४१ |
| iv jii | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निद्राकैतविनः नीवाराः शुकगर्भ० (शाकुन्तःम्) नो कल्पापायवायो० (सूर्यशतकम् २३) | ३६६ २ ४३ १ ३२ | ii,iii iii iii iv iii iv | भूरेणुदिग्धान् म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुनरेणु मह मह इति भणंतउ मा पंथं रुंधीओ मुनिर्जयित योगीन्द्रो महुरङ्गुलिसंवृता (शाकुन्तलम्। | ₹७६ ₹४४,२५९ 1 |
| iv jii | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निदाकैतविनः नीवाराः शुक्रगर्भ० (शाकुन्तरम्) नो कल्पापायवायो० (सूर्यशतकम् २३) न्यक्कारो ह्ययमेव | ३६६ २ ४३ १ ३२ | ii,iii iii iv iii iv iii iv | भूरेणुदिग्धान् म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुमरेणु मह मह इति भणंतड मा पंथं हंधीओ मुनिर्जयित योगीन्द्रो मुहुरङ्गुलिसंवृता (शाकुन्तलम्। | २७६ २४४,२५९ Т २४ ५ २०६ ३९० २४१ ३८० २४३ |
| iv jii ii iii | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निद्राकैतविनः नीवाराः शुक्रगर्भ० (शाकुन्तःम्) नो कल्पापायवायो० (सूर्यशतकम् २३) न्यक्कारो ह्ययमेव (हनूमन्नाटकम्) | ३६६ २ ४३ १ ३२ २३८, ३ ५ ९ | ii,iii iii iiv iii iv iii iv iii | भूरेणुदिग्धान् म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुमरेणु मह मह इति भणंतउ मा पंथं रुंधीओ मुनिर्जयित योगीन्द्रो मुहुरङ्गुलिसंवृता (शाकुन्तलम्। य यः प्रथमः प्रथमः | 795 788,749 784 705 789 789 783 |
| iv jii | धरणीधारणायाधुना (हर्षचरितम्) न निद्राकैतविनः नीवाराः शुक्रगर्भ० (शाकुन्तःम्) नो कल्पापायवायो० (सूर्यशतकम् २३) न्यक्कारो ह्ययमेव (हनूमन्नाटकम्) | ३६६ २ ४३ १ ३२ | ii,iii iii iv iii iv iii iv | भूरेणुदिग्धान् म मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्त मन्दारकुसुमरेणु मह मह इति भणंतड मा पंथं हंधीओ मुनिर्जयित योगीन्द्रो मुहुरङ्गुलिसंवृता (शाकुन्तलम्। | २७६ २४४,२५९ Т २४ ५ २०६ ३९० २४१ ३८० २४३ |

| ii | यत्रच्च मातङ्गगामिन्यः (हर्षचरितम्) | 949 | ii | रिवसंङ्कान्तसौभाग्य० (वाल्मीकिः) | ९५ |
|-----------|--|------------|------------|--|-------------------|
| iv iii | यथा यथा विपर्येति यद्वःचनाहितमति० | ३७४ २४६ | iii iii | राजानमपि से वन्ते रामेण त्रियजीवितेन | ३३७ १५२ |
| i iii | यस्मिन्नस्ति न वस्तु या निशा सर्वभूताना | १४ १९० | | (आतन्दवर्धनः) | |
| 4.5.2 | (भगवद्गीता) | 150 | | ल | |
| iii | या व्यापारवती रसान् | ३५४ | ii | लावण्यकान्तिपरि० | વૃ <i>દ</i> ્ષ્કુ |
| | (आनन्दवर्धनः) | | iii | लावण्यद्रविणव्ययो | ३३८ |
| iii | ये जीवन्ति न मान्ति | २४५ | iii | लावण्यक्तिन्दुरप <i>रै</i> व | ३२३ |
| ii | येन ध्वस्तमनोभदेन (चन्द्रककवि:) | २३९ | | व | |
| ii,iii | यो यः शस्त्रं बिभितः ११४, | 292 | 1 | वच्च मह व्विअ | 95 |
| | (वेणीसंहारम्) | | ii | वत्से मा गा विषादं | १५७ |
| | · · | | iv | व स न्तपुष्पाभरणं | ३८४ |
| ii | रक्तस्त्वं नवपल्लवे ० | 930 | | (कुमारसम्भवम्) | |
| ii | रम्या इति प्राप्तवतीः | १७६ | | 7 वाणिअअ हत्थिदन्ता | १९५,३७१ |
| | (माघम्) | | ii | वाणी रकु डंगोड् डीण | १८३ |

उन्जीवन्युङ्कृत**प**द्या**नुक्रम**ण्का

| | अ | | 1 | आदिमध्यान्तविषयाः | ५८ |
|-------------|---|-----------------------|-----|-----------------------------|-----------|
| 'उद्योत | τ : | 'गृ ळाड ू. | | (भट्टोद्भटः) | |
| ii | अगू ढम प रस्याङ्गं | १८३ | | इ | |
| i | अधिकारादपेतस्य | ६७ | i | इति चिन्तयतस्तस्य | ૫૫ |
| | . (भामहः) | | • | (भट्टोद्भटः) | ~~ |
| iv | अध्यात्मं श्रूयते यच्च | ३७८ | i | इत्थं स्थितिर्वरार्था | ६४ |
| iv | अनुऋमणिकाध्यायं | ३७९ | | (भट्टोद्भटः) | Α, |
| i | अनेकार्थस्य शब्दस्य | ४९ | i | इष्टमर्थ मनाख्याय | Ęq |
| i | अनेकालङ् क्रियोल्लेखे | \$ 3 | | (काव्यादर्शः) | |
| | (भट्टो:ड्रटः) | | iii | इष्टस्यार्थस्य रचना | २,३३ |
| i | अपह्नुतिरभीष्टा च | ५८ | | (४ पङ्क्तयः) | |
| ii | (भट्टोद्भटः) | D ./A | | ਰ | |
| 11 | अ लङ्कारान्तरगतां (भरोज्यः) | १४१ | , | • | |
| i ii | (भट्टोद्भटः) अलं स्थित्वा श् म शाने | مُ مَا مُ | ì | उपकृतं ब हु | क्ष ६ |
| 111 | भल स्थित्वा इमशान (महाभारतम्) | २३६ | | Ų | |
| iv | अशोकनिर्भरिसतपद्म० | ३८४ | ii | एकप्रयत्नी च्चार्याणां | १४१ |
| | (कुमारसम्भवम्) | | | (भट्टोद्भटः) | |
| iv | असत् यत्सदसच्चैव | ३७८ | i | एतत् तस्य मुखात् | ६७ |
| i | अहो स्मरस्य माहात्म्यं | ሂሂ | i | एतद्धि न तपः सत्यं | ४९ |
| | (भट्टोद्भटः) | | | (भट्टोद्भटः) | |
| | आ | | i | ऐन्द्रं धनुः पाण्डु० | ४७ |
| iii | आख्यायिका कथावत् | 220. | | (वामनः) | |
| i | आदाय वारि परितः | ६९ | | क | |
| iii | आदित्योऽयं स्थितो | २३७ | iii | कथायां सरसं वस्तु | २१९ |
| | (महाभारतम्) (४ पङ् | क्तयः) | | (४ पङ्क्तयः) | . , - |

| i | करतलनिर्गलदविरल० | ३२ | ₹ | |
|-----|--------------------------------------|---------------|---------------------------------------|--------------|
| | (जगन्नाथ:) | | iii दत्तानन्दाः प्रजानां | খ্ৰও |
| iii | कृतककुपितैबिष्पा० (रामाभ्युदयम्) | 505 | i दशत्यसौ परभृतः | ६२ |
| í | कारणान्यथं कार्याणि | \$ \ 6 | (दण्डी) | |
| -3. | (४ पङ्क्तगः) | η. Ο | वं | |
| | (काव्यप्रकाश:) | | iii धृतिः क्षमा दया | 955 |
| | क्ष | | (मह ाभारतम्) | |
| iii | • | ന ് ക | 4 | |
| 111 | क्षिप्तो हस्तावलग्नः (अमरुकशतकम्) | २५० | र्ग परस्परोपका रे ण यत्ना० | ξĶ |
| | • | | i परस्परोपकारेण यदा | ६६ |
| 4 | ग | <i>6</i> ~ | (भामहः) | |
| 1 | गृहेष्द्रध्वसु वा (भामहः) | \$ 7 | ं पर्यायोक्तं यदन्येन (भट्टोद्भटः) | ۶, ۵ |
| | • | | र पटा ३००.) iii पाण्डुक्षामं वदन | হ্ম ৎ |
| | ৰ | | i प्रतिषेध इवेष्टस्य | X X |
| 1 | चतुर्वर्गफलप्राप्तिः | १९ | (भट्टोद्भटः) | • • |
| 511 | (साहित्यदर्पणम्) | 5 - 11 | iii प्रत्याख्यानरुचेः कृतं | १८९ |
| iii | चुंबिज्जइ असहुँतां | ५७५ | iii प्रधानेऽत्यत वाक्यार्थे | ३२४ |
| | छ | | iii प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि | , ४४४ |
| fii | छन्दोबद्धपदं पद्यं | ₹.9७ | (सूर्यशतकम्-४) | |
| | त | | i प्रवातनीलोत्पल 🗸 | £ £ |
| i | तत्साद्दश्यं तदन्यत्वं | 80 | भ | |
| iii | तन्मध्ये च स्फटिक० | २४१ | iv भगवान् वासुदेवश्च | ३७इ |
| | (मेघदूतम्) | | मं | |
| ív | तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य | ३८४ | iii मनुष्यवृत्त्याः समुपरि | २४५. |
| | (कुमारसम्भवम्) | | i मुख्यार्थवाधे तद्यागे | ባ ሂ |
| i | त्वामस्मि विच्मि विदुषां | 58 | (काव्यप्रकाशः) | |
| iii | त्वामारूढं पवन० | ٩ؚ६६ | i मैवमेवात्थ सच्छाय | ६४ |
| | (मेघदूतम्) | | (भट्टोद्भटः) | |

| | य | | | ल् | |
|----------|--|-------------------|----------|--|-------------|
| 1 | यत्नोक्तौ गम्यतेऽ [.] योऽर्थः (भामहः) | ४४ | | दयं न मुख्यं गव्यप्रकाशः) | 58 |
| i | यदि भवति वच० (वामनः) | Ę | jii लाध | तागृहानल ः तेणोसंहारम्) | ३३२ |
| i | यस्य प्रतीतिमाधातुं (कात्र्यत्रकाशः) | r S | iii ર્સ | ोलादाढग्गुद्धरिञ मधु मथनविजयम्) | २३४ |
| iii | यो यः शस्त्र बिर्भात (वेणीसंहारम्) | २१२ | | व | |
| i | यतार्थः शब्दो वा (आनन्दवर्धनः) | Å | | क्तृबोद्धव्यकाकूनां काव्यत्रकाशः) | 3 |
| i | र यद्यप्यत्यन्तमुचितो (भट्टोद्भटः) | ६व | iii व्री | ाडायोशा न्नतवद नयः | २९ २ |
| i | यत् सामग्रचेऽपि शक्तीनां (भट्टोद्भटः) | ५९ | | श क्तिनिपुणता | ४० |
| iv i | यत्तद् यतिवरा युक्ता याताः किं न मिलन्तिः (अमरुकशतकम्) | ३७ ८ ६८ | i য | काव्यप्रकाशः) ब्दार्थवर्त्यलङ्कारा भट्टोद्भटः) | ६४ |
| i | ्युवतेरिव रूप० (वामनः) | Ę | | ब्दार्थशासन आनन्दवर्धनः) | २८३ |
| i | येन लम्बालकः सास्रः (भट्टोद्भटः) | ६० | | प्राभ्यां रेफसंयोगैः भट्टोद्भटः) | 90 |
| | ₹ | | iv श | श्वतं ब्रह्म परमं | ३७८ |
| | • | | _ | ङ्गारहास्यकरुण० | ३८ |
| i | रतिर्हासश्च शोकश्च | ३८ | | षैर्वर्णैर्यथायोगं | 90 |
| i | रसवद् दिशतस्पष्ट० | 97 | (| भट्टोद्भटः) | |
| | (भट्टोद्भटः) | • | iv প্র | द्धानः सदोद्युक्तः | ३७८ |
| i | राजन् राजसुता | ६९ | _ | त्या सम्बन्धविरहाद् | १६ |
| 1 | राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे | ₹9 | | भट्टोद्भटः) | |
| | (जगन्नाथः) | | | विः प्रसादः समता | 97 |
| iii | रूढा ये विषये० | ४०६ | (| दण्डी) | |

| | स | | iii | सुवर्णपुष्पां पृथिवीं | ३०६ |
|-----|---|-----|--------|---|-------------------|
| iii | सरसिजमनुविद्धं (शाकुन्तलम्) | १६९ | i i | सुहृद्वधू बाष्पजल सोऽपि येन कृत ः | ધ્ <i>દ</i> ૬૦ |
| i | संयोगी विश्वयोगश्च | ४९ | | (भट्टोद्भटः) | , |
| i | सरूपव्यञ्जनन्यासं | 90 | iii | स्मरनवनदी∎ | २०३ |
| i | (भट्टोद्भटः) सरूपसंयोगशुता (भट्टोद्भटः) | 90 | ii | (अमरुक श तकम्) स्वयं च पत्लवाताम्र० (भट्टोद्भटः) | १४१ |
| i | सङ्गमय्य सखीं यूना | ६२ | | ह | |
| i | सञ्जहार शरत्कालः (भट्टोद्भटः) | ५८ | i | हरेणेव स् मरव्या ध ० (भट्टोद्भटः) | ६५ |
| iv | सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन (कुमारसम्भवम्) | ३५३ | iii | हुंमि अवहत्थिअरेहो (विषम बा णलीला) | २३६ |
| iii | सुराः समभ्यर्थयितार० (कुमारसम्भवम्) | २४५ | | (, | |

स्मृतग्रन्थानां ग्रन्थकतृ णां च परिचयः

अमर्कशतकम ६८, १३४, २०२, २०३, २४९, २६० आनन्दवर्धनः 8, 959, 253, 389, 388 3, 94, 36, 80, =3,=8 काव्यप्रकाशः काव्यादर्श: 80 किरातार्जनीयम् 338 कुमारसंभवम् १५४, २४५, ३३४, ३७०, ३८३, ३८४ गाथासप्तशती २७.२5 चन्दककवि: २३९ जगन्नाथ: ३१, ३२ तापसवत्सराजम् 200 दण्डी १२, ६२ धर्मकीति: 380 नागानन्दम् २७४ भगवद्गीता 990 भट्टोद्धट: १०, १२, १६, ४४, ४८, ५९, ६०, ६३, ६४, ६४, १४१ भर्तृहरिः ८०, ३४१ भामहः ५४, ६२, ६६, ६७ मध्म थन विजयम् २३४ **महाभारत**म् १८८, २३६, २३७, २६४ माघम् १७५, १७६ मेघदूतम् पुट्ट, २४०, २४१, ३५१ रत्नावली ७९, १२९ रामाभ्युदयम् 207 वामनः ६, ५७

94

वाल्मीकि:

विक्रमोर्वशीयम् १०७, २४२, २४८ विषमबाणलीला ९४, १६९, २३६ वेणीसंहारम् ११३, ११४, २१२. ३३२, ३५२ १२७, १५९, २४३ शाकुन्तलम् साहित्यदर्गण ग् 98 १३२, २४४ सूर्वशतकम् २३८, ३५१ हनूम न्नाटकम् १४८, २५१ ३६९ हर्षचरितम्

PANDITARAJA MAHO-PADHYAYA S. NEELA-KANTA SASTRY, born in 1904. learned Sanskrit in the traditional way and passed Mahopadhyaya with first rank in 1924. Sri. Sastry was Professor and Head of the Department of Nyava in the Government Sanskrit Col-Trivandrum. leae. from where he retired in 1959. He is the recipient of gold medal from H. H. The Maharaia of Travancore. the title "Panditaraia" from H. H. The Maharaja of Cochin and "certificate of honour" from the President of India.

An eminent scholar in Sahitya, Tarka and Vyakarana, Sri. Sastry has a number of books to his credit. Notable among them are (1) Savitri—A short play in Sanskrit, (2) SriRamacaritam—A translation of 'Kambaramayana', (3) Katyayanivratam — A translation of 'Andal Tiruppavai.'

DHVANYALOKOJJIVANI. the new commentary of Panditaraja, Mahopadhyaya Sri. Neelakanta Sastry is studded with such instances of uninhibited interpretations, and I have no doubt that this work, the fruit of years of systematic study and critical discrimination. respectful attention of impartial merits the On going through considerable scholars. portions of the methodical and original comments offered by Sri. Sastri on the Dhvanyaloka, I was agreeably surprised to note that, despite the ceaseless commentatorial activities of scholars down the centuries, there is yet room for further useful clarifications, amplifications, and even straightforward paraphrases of the pregnant utterances of Anandavardhana.

Dr. A. G. Krishna Warrier